ॐ

# रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला

द्वितीयवर्ष ] [ अंक १६.

## स्याद्वादमञ्जरी

( अध्यात्मकल्प )

एकात्मक - [illegible]

# विज्ञापन।

विदित हो कि स्वर्गवासी तत्त्वज्ञाता शतावधानी कविवर श्रीरायचन्द्रजीने तत्त्वज्ञानपरिपूर्ण अतिशय उपयोगी और अलभ्य ऐसे श्रीउमास्वाति, श्रीकुन्दकुन्दाचार्य, श्रीहरिभद्रसूरी आदि आचार्योंके रचे हुए महान् शास्त्रोंका सर्वसाधारणमें प्रचार करनेके लिये **श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडल**की स्थापना की थी. जिसके द्वारा आज तो वर्षसे **रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला** नामक द्विमासिक पुस्तक प्रकट होकर तत्त्वज्ञानाभिलाषी भव्यजीवोंको आनंदित कर रहा है।

इस शास्त्रमाला द्वारा प्रत्येक वर्षमें मूल और हिन्दी भाषानुवाद सहित १००० पृष्ठ ग्राहकोंके यहां भेजे जाते हैं। जिनमें अनुमान ५०० पृष्ठ श्वेताम्बर संप्रदायके और ५०० पृष्ठ दिगम्बर संप्रदायके शास्त्रोंके होते हैं। यह योजना विज्ञ पाठकोंको दोनों संप्रदायोंके अभिप्राय विदित होनेके लिये ही की गई है। अग्रिम वार्षिक मिटमल्य आजतक सहित ३॥) है। जो महाशय पांच ग्राहक बनाकर भेजते हैं उनको पहले गुरुवर्षमें ६ पुस्तक दिये जाते हैं। इस लिये आत्मकल्याणके इच्छुक भव्यजीवोंसे प्रार्थना है कि इस पवित्र शास्त्रमालाके ग्राहक बनकर अपनी एक लक्ष्मीको सफल करें और तत्त्वज्ञानपूर्ण अनमोल शास्त्रोंका पठन-पाठनद्वारा प्रचारकर हमारी इस परमार्थयोजनाके परिश्रमको सफल करें। प्रत्येक सरस्वतीभण्डार, सभा और पाठशालामें इसका संग्रह अवश्य करना चाहिये।

**रायचन्द्रजैनशास्त्रमालाद्वारा प्रकाशित पुस्तकें.**

| सं. | नाम | रु. आ. | सं. | नाम | रु. आ. |
|---|---|---|---|---|---|
| १ | पुरुषार्थसिद्ध्युपाय. | १—४ | ५ | द्रव्यानुयोगतर्कणा. | २—० |
| २ | तत्त्वार्थाधिगमभाष्य. | २—० | ६ | आत्मसिद्धि. | ०—१ |
| ३ | पंचास्तिकाय. | १—८ | ७ | बृहद्द्रव्यसंग्रह. | २—० |
| ४ | सप्तभंगितरंगिणी. | १—० | ८ | भक्तामरस्तोत्र (सचित्र) | ०—४ |

**अन्य गुजराती भाषाकी पुस्तकें.**

| सं. | नाम | रु. आ. |
|---|---|---|
| १ | मोक्षमाळा. | ०—१२ |
| २ | भावनाबोध. | ०—४ |
| ३ | मार्गानुसारी. | ०—३ |

पूर्वोक्त सब पुस्तकोंके मिलनेका पता—श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडल जौहरीबाजार बंबई.

# [illegible] लिये योजना।

[illegible] है [illegible] [illegible]। [illegible] है कि [illegible] [illegible]।

[illegible]।

| | | | |
|---|---|---|---|
| [illegible] | [illegible] | [illegible] | १००) |
| [illegible] | [illegible] | [illegible] | १५०) |
| [illegible] | [illegible] | [illegible] | १५०) |
| [illegible] | [illegible] | [illegible] | १५०) |
| [illegible] | [illegible] | [illegible] | २५०) |

[illegible] किया है

| | | | |
|---|---|---|---|
| [illegible] | [illegible] | [illegible] | ८००) |
| [illegible] " " | [illegible] | [illegible] | २००) |
| [illegible] | [illegible] | " | १००) |

सूचना—[illegible] मासिक [illegible] है, [illegible] नहीं [illegible] है [illegible] है। [illegible] है।
[illegible] ([illegible]) [illegible] है।

# आवश्यक सूचना.

रायचन्द्रजैनशास्त्रमालाके अंकोंको देखकर बहुतसे मुनिमहाराजों, विद्वानों और अंग्रेजीपढ़ोंने समय समयपर प्रशंसापत्र भेजे हैं। और सज्जनोंको ग्राहक बननेकी प्रेरणायें की हैं। जिनको हम यहां स्थानाभावसे प्रकट नहीं करते हैं।

मुनिमहाराजों और सज्जन विद्वज्जनोंसे प्रार्थना है कि जिन ग्रंथोंका भाषानुवाद कराके छपानेसे जैनसमाजको विशेषलाभ होनेकी संभावना हो; उन ग्रन्थोंके नाम और पतेसे हमको सूचित करें तथा आजतक इस शास्त्रमालाद्वारा जो ग्रन्थ प्रकट हुए हैं उनमें जो त्रुटियें हों उनसे भी सूचित करें जिससे कि उन त्रुटियोंको दूर करनेके लिये आगामी कालमें यथाशक्य प्रयत्न किया जावे। और आगेके वर्षमें जिन २ शास्त्रोंका प्रकट करना अत्यावश्यक है उनके विषयमें भी विचारपूर्वक संमति प्रदान करें।

श्रीयुत शेठ रतनजी धीरजी भावनगरवालोंकी ऐसी सूचना आई कि, यदि स्याद्वादमञ्जरी शास्त्राकार खुले पत्रोंमें छपाई जावेगी तो मुनिमहाराजोंको विशेष अनुकूल पड़ेगी। तदनुसार ही हमने अबकी वार इसको शास्त्राकार खुले पत्रोंमें पुष्ट व सांचेकागजमें छपाकर पुट्ठे तथा स्वदेशीवस्त्रके वेष्टन (भेठण) सहित ग्राहकोंकी सेवामें भेजी है। और यह स्याद्वादमंजरी न्यायविषयका अत्युत्तम तथा कठिन ग्रंथ है; अतः इसको विचारपूर्वक धीरे २ छपाने आदि कितने ही विशेष कारणोंसे इस ११ वें अंकके भेजनेमें अत्यंत विलम्ब होगया है; सो ग्राहकमहाशय ग्रंथकी उत्तमतापर ध्यान देकर विलम्बजनित अपराधको क्षमाकरें और आगामी १२ वे अंकमें स्याद्वादमंजरीके शेषभागको (जो कि प्रायः इस अंकसे दूना बड़ा होगा) एक ही साथमें भेजकर रायचन्द्रजैनशास्त्रमालाके द्वितीयवर्षको पूर्ण करनेका विचार है; इसकारण ग्राहकगण आगामी कालमें जो विलम्ब हो; उसको भी निष्प्रयोजन न समझकर धैर्यको धारण करें; यह प्रार्थना है।

रायचन्द्रजैनशास्त्रमालासम्बन्धी सर्वप्रकारके पत्रव्यवहार करनेका पता—

**शा. रेवाशंकर जगजीवन जौहरी.**

आगेरेरी व्यवस्थापक—श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडल. जौहरी बाजार—बम्बई.

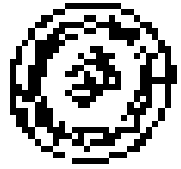

# राजचन्द्रजैनशास्त्रमाला.

अंक २१—२२ वे ( संयुक्त )

## स्याद्वादमञ्जरी

पंजीयनसंख्या ए बी ४७५ ] मासाष्टीका [ किंमत ८ ०

अत्र पक्षान्तर-तत्त्वसंख्यानिर्णयापरनामधेयकल्पलतादिग्रन्थेषु
तुल्यत्वा निर्देशात्तदाकाङ्क्षाऽभावे पद ११ श्लोकद्वय॥ पुनरपेक्षित सम्पादन नीति '
पद ११५८ हि ः ः वि अत्र विस्तरानुसार लेखन पद्धति अनुसरेछे एवं ह्रस्व मात्राओ लगते है

# विज्ञापन ।

विदित हो कि स्वर्गवासी तत्त्वज्ञता शतावधानी कविवर श्रीरायचन्द्रजीने तत्त्वज्ञानपरिपूर्ण अतिशय उपयोगी और अलभ्य ऐसे श्रीउमास्वाति, श्रीकुन्दकुन्दाचार्य, श्रीहरिभद्रसूरि आदि आचार्योंके रचे हुए महान् शास्त्रोंका सर्वसाधारणमें प्रचार करनेके लिये श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडलकी स्थापना की थी. जिसके द्वारा आज पर्यंत **रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला** नामक छूटक अंक और पुस्तक प्रकट होकर तत्त्वज्ञानाभिलाषी भव्यजीवोंको आनंदित कर रहा है ।

इस शास्त्रमाला द्वारा मूल और हिन्दी भाषानुवाद सहित २१०० पृष्ठ ग्राहकोंके पास भेजे गये है । जिनमें अनुमान १०५० पृष्ठ श्वेताम्बर संप्रदायके और १०५० पृष्ठ ही दिगम्बर संप्रदायके शास्त्रलोंके हैं । यह योजना विज्ञ पाठकोंको दोनों संप्रदायोंके अभिप्राय विदित होनेके लिये ही की गई है । इस लिये आत्मकल्याणके इच्छक भव्यजीवोंसे प्रार्थना है कि इस पवित्र शास्त्रमालाके पुस्तकका ग्राहक बनकर अपनी चल लक्ष्मीको अचल करें और तत्त्वज्ञानपूर्ण जैनसिद्धान्तोंका पठनपाठनद्वारा प्रचारकर हमारी इस परमार्थयोजनाके परिश्रमको सफल करें । प्रत्येक सरस्वतीभण्डार, सभा और पाठशालामें इसका संग्रह अवश्यमेव करना चाहिये ।

## रायचन्द्रजैनशास्त्रमालाद्वारा प्रकाशित पुस्तकें.

१ **खसमंगितरंगिणी** भा. टी. यह न्यायका अपूर्व ग्रंथ है । इसमें ग्रन्थकर्ता श्रीनिमलदासजीने स्याद्स्ति, स्यान्नास्ति, आदि भंगोंका वर्णन बहुत ही अच्छा किया है । लिछरावल रु० १)

२ **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** भा. टी. यह श्रीअमृतचन्द्रस्वामी विरचित प्रसिद्ध शास्त्र है । इसमें आचार संबन्धी सब २ मूल रहस्य है । लिछरावल रु० १) ( द्वाल खलास है )

३ **पञ्चास्तिकाय** भा. टी. यह श्रीकुंदकुंदस्वामी कृत मूल और श्रीअमृतचन्द्रसूरी कृत टीकासहित प्रसिद्ध शास्त्ररत्न है । इसमें जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, और आकाश इन पांच द्रव्योंका उत्तम रीतिसे वर्णन है । लिछरावल रु० १॥)

५ आत्मार्थिन आत्मा होने वाले के पुरुषार्थ स्वतंत्र पुरुषार्थ करना चाहिए। [illegible] रु.

६ पुरुषार्थसाध्य या होने वाले कर्मोदयानुसार मुझे फेर अन्यथा करने की शक्ति मुझ में नहीं है। ऐसी श्रद्धा करने से पुरुषार्थ हतोद्यम होता है। इसलिये ऐसी श्रद्धा करना योग्य नहीं है। [illegible] रु.

७ [illegible] होने वाले कर्मों को भोगने में [illegible] रु.

८ [illegible] ऐसा [illegible] ऐसा [illegible] ऐसा [illegible] रु.

९ [illegible] रु.

१० [illegible] रु.

११ [illegible] रु.

१२ [illegible] रु.

१३ [illegible] रु.

१४ [illegible] रु.

१५ [illegible] रु.

१६ [illegible] रु.

१७ [illegible] रु.

१८ [illegible] रु.

१९ [illegible] रु.

२० [illegible] रु.

२१ [illegible] रु.

# आवश्यक सूचना.

रायचन्द्रजैनशास्त्रमालाके अंकोंको देखकर बहुतसे मुनिमहाराजों, विद्वानों और ग्रेजुएटोंने समय समयपर प्रशंसापत्र भेजे हैं। और सज्जनोंको ग्राहक बननेकी प्रेरणायें की है। जिनको हम यहां स्थानाभावसे मात्र एक प्रगट करते है.

पोरबंदरसे मुनिश्रीचारित्र विजयजी गुजराती भाषामें लिखते हैं, जिसका सारांश यह है कि:-"रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला" के परम पूज्य ग्रन्थ हमको मिले पढनेसे परम प्रसन्नता हुई। यथार्थमें ऐसे ही ग्रन्थोंका भाषान्तर (भाषा टीका) होना चाहिये। जैनतत्त्वज्ञान सम्बधी ऐसे अन्थोंके सिवाय हालमें जो अन्यान्य अन्थ छपते हैं, उनसे कुछ लाभ नहीं होगा, परन्तु आपका प्रयास अवश्यही अभिनन्दनीय है। जैनसमूहमें ऐसे २ अपूर्व अन्थोंका जब ज्ञान होगा, तब ही हमलोग जैनी कहलाने के योग्य होंगे, और श्रद्धा निर्मल होगी, अतः यह प्रयत्न निरन्तर जारी रखनेके लिये हम प्रेरणा करते हैं और प्रत्येक जैनीको भी स्नेहपूर्वक सूचना देते है कि, ऐसे ग्रन्थोंके ग्राहक होके अपनी लक्ष्मी सफल करो, और प्रत्येक भंडारोंमें ऐसे २ ग्रन्थोंका संग्रह करो.

मुनिमहाराजों और सज्जन विद्वज्जनोंसे प्रार्थना है कि जिन ग्रंथोंका भाषानुवाद कराके छपानेसे जैनसमाजको विशेषलाभ होनेकी संभावना हो; उन ग्रन्थोंके नाम और पतेसे हमको सूचित करें तथा आजतक इस शास्त्रमालाद्वारा जो ग्रन्थ प्रगट हुए है उनमें जो त्रुटियें हों उनसे भी सूचित करें जिससे कि उन त्रुटियोंको दूर करनेके लिये आगामी कालमें यथाशक्य प्रयत्न किया जावे। और अग्रिम वर्षमें जिन २ शास्त्रोंका प्रगट करना अत्यावश्यक है उनके विषयमें भी विचारपूर्वक संमति प्रदान करें।

स्याद्वादमञ्जरी न्यायविषयका अत्युत्तम तथा कठिन ग्रंथ है; अतः इसको विचारपूर्वक छपाने आदि कितने ही विशेष कारणोंसे अत्यंत विलम्ब होगया है; सो ग्राहकमहाशय ग्रंथकी उत्तमतापर ध्यान देकर विलम्बजनित अपराधको क्षमा करें १२ वा अंक स्याद्वाद-मञ्जरीका शेषभाग (जो कि प्रायः प्रथम अंकसे दूना बड़ा हो गया है) एक ही वारमें भेजकर रायचन्द्रजैनशास्त्रमालाका द्वितीयवर्षको पूर्ण किया है इसकारण ग्राहकगणमें जो विलम्ब हो गया है उसको भी निष्प्रयोजन न समझकर क्षमाप्रदान करें; यह प्रार्थना है।

रायचन्द्रजैनशास्त्रमालासम्बन्धी सर्वप्रकारके पत्रव्यवहार करनेका पत्ता—

शा. रेवाशंकर जगजीवन जौहरी.

आनरेरी व्यवस्थापक—श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडल. जौहरी बाजार—बम्बई नं० २.

श्री

# सूचना

श्रीहेमचन्द्र सूरि [illegible] के [illegible] विद्वान [illegible] हैं। [illegible] भी [illegible] हुई है। [illegible] ईसवी सन् [illegible] में [illegible] निर्वाण हुआ है। [illegible] कुमारपाल राजा [illegible] था। [illegible] करते रहे।

श्रीहेमचन्द्र सूरिने [illegible] की। [illegible] नाम निम्नलिखित हैं।—[illegible], [illegible], अनेकार्थकोश, [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible] [illegible] हैं।

[illegible] अन्ययोगव्यवच्छेदिका [illegible] है। [illegible] किया गया है। [illegible] है।

[illegible] टीकाका नाम स्याद्वादमञ्जरी है और इस टीकाके कर्ता श्रीमल्लिषेण सूरि हैं। [illegible] है। [illegible] हो सकता है। [illegible] किया गया है। [illegible] है। [illegible] होता है [illegible] किया गया है। [illegible] भी [illegible] किया है

तथा पीछेसे निराकरण भी बहुत ही उत्तम रीतिसे किया है। इसमें किन किन विषयोंका प्ररूपण है यह बात आगे लिखी हुई विषयसूचीसे मालुम पड़ सकती है।

सूचना

इस ग्रन्थका हिन्दीभाषामें अनुवाद तथा संशोधन प्रारंभसे पृष्ट १०८ तक तो जयपुरनिवासी पं० जयदिरलालजी साहित्यशास्त्रीके द्वारा हुआ परंतु कई कारणवश जब पण्डितजी साहब यहां नहीं रह सके तब बाकीका अनुवाद तथा संशोधन मैंने किया। यह अनुवाद जो मैंने किया है सो मेरा पहिला ही कार्य है तथा हिन्दी भाषा मेरी मातृभाषा होनेपर भी साहित्य विषयमें जितना परिचय चाहिये उतना मुझे परिचय नहीं है इसलिये भूल होना बहुधा संभव है परंतु अधूरे कार्यको पूर्ण कर देना कर्तव्य समझकर मैं इसमें प्रवृत्त हुआ इसलिये विद्वान् मनुष्य मेरी त्रुटियोंको अविवक्षित नयोंके समान उदासीनतासे देखते हुए इस ग्रन्थका लाभ उठानेमें मुख्यतासे ध्यान लगावें ऐसी मेरी प्रार्थना है।

इसके कर्ता यद्यपि श्वेताम्बर सम्प्रदायके आचार्य हैं परंतु इसमें ऐसा एक भी विषय नहीं है जो किसी एक ही जैन संप्रदायको मान्य हो। इसलिये आशा है कि इसका आदर दोनो सम्प्रदायोंमें एकसा ही होगा।

विद्वानोंका अनुरागी,

**बंशीधर शुक्ल.**

# विषयानुक्रमणिका


| विषय | पृष्ठ |
|---|---|
| [illegible] | १ |
| [illegible] | २ |
| [illegible] | ३ |
| [illegible] | ११ |
| [illegible] | १२ |
| [illegible] | १३ |
| [illegible] | २६ |
| [illegible] | ४१ |
| [illegible] | ४७ |
| [illegible] | ५० |
| [illegible] | ५१ |
| [illegible] | ५४ |
| [illegible] | ५६ |
| [illegible] | ६४ |
| [illegible] | ७५ |
| [illegible] | ८५ |
| [illegible] | १०७ |
| [illegible] | ११६ |
| [illegible] | ११८ |
| [illegible] | १२१ |

| विषय. | पत्र. |
|---|---|
| पदार्थसे उत्पन्नता है इत्यादि विचारोंका खंडन.... | १२६ |
| जगत्को ज्ञानमय माननेका खंडन.... ... | १३४ |
| ,, ,, ,, खंडन.... .... | १३८ |
| प्रमाणप्रमेयादिको न माननेवाले शून्यवादियोंका खंडन | १४१ |
| क्षणिकवादियोंके तत्त्वोंको माननेसे संसार मोक्ष आदि कुछ भी नहीं सिद्ध होसकता है ऐसा निरूपण | १५३ |
| बौद्धकी वासना आदि कल्पनाओंका खंडन .... | १५८ |
| चार्वाक मतका खंडन .... .... .... | १६२ |
| वस्तुकी सिद्धि स्याद्वादके विना नहीं होसकती है ऐसा निरूपण .... .... .... | १६९ |
| कथंचित् भेदाभेद पक्षोंका निरूपण .... .... | १७३ |
| मिथ्यादृष्टियोंके खोटे ज्ञान तथा सम्यग्दृष्टियोंके यथार्थ ज्ञान होनेके दृष्टान्त .... .... .... | १७४ |
| अस्तिनास्ति आदि सात भंगोंका निरूपण .... | १७७ |
| मोक्षके कारण-कालादि आठ निमित्तोंका वर्णन .... | १८१ |

| विषय. | पत्र. |
|---|---|
| एक वस्तुमें अनेक धर्मोंकी सिद्धि .... .... | १८४ |
| वस्तु स्यात् नश्वर है स्यात् नित्य है, तथा स्यात् सामान्यरूप है स्यात् विशेषरूप है, तथा स्यात् वाच्य है स्यात् अवाच्य है, एवं स्यात् सत् है स्यात् असत् है ऐसे चार मुख्य पक्षोंका निरूपण .... .... .... | १८७ |
| अनित्यवादीके द्वारा सर्वथा नित्यवादका तथा नित्यवादीके द्वारा सर्वथा अनित्य वादका खंडन .... | १८९ |
| मिथ्या नयोंके साथ सात नैगमादि सात सच्चे नयोंका वर्णन | १९८ |
| प्रमाणका संक्षेपसे स्वरूप .... .... .... | २०५ |
| जीव अनंते हैं और इसीलिये मोक्षको चले जाने हुए भी संसारका कभी अभाव नहीं होगा ऐसा निरूपण | २०७ |
| अनुमानद्वारा पृथिवी आदिमें जीवोंकी सिद्धि .... | २०९ |
| जैन दर्शनमें ही जगत्के उद्धार करनेका सामर्थ्य है, अन्योंमें नहीं है ऐसा युक्तिपूर्वक निरूपण .... | २११ |
| टीकाकारकी प्रशस्ति .... .... .... | २१८ |

ॐ नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यः ॥

# रायचन्द्रजैनशास्त्रमालायां—

श्रीमल्लिषेणसूरिविरचिता

## स्याद्वादमञ्जरी

श्रीजगद्गुरुगच्छाधिपतिविनिर्मितहिन्दीभाषानुवादसहिता

( अनुवादकस्य मङ्गलाचरणम् । )

यस्याः श्रीमुखसूरुदात्समुदितां स्याद्वादमन्थाचिनो
सद्वस्तूत्तमफलप्रदां मुनिपिकाः आस्वाद्य वाचञ्जरीम् ।
ज्ञुर्पन्मधुरं जनाम्नदखिलं शुद्धान्न मिथ्यादृशां
काकस्तां विरसं जहुः पलपनं तं सन्मतिं नौम्यहम् ॥ १ ॥
श्रीरेगचन्द्रयतिभिर्निजबुद्धिधीजाद्भुतादिता स्तुतिलताऽतिवाहिनी गा ॥
सवर्ण्य शुक्तिसलिलैर्मुनिपल्लिपेभः स्याद्वादमञ्जरसुतां किले तां चकार ॥ २ ॥
गीर्वाणगीर्लिपनदीत्वनाम्बिलोप्त्र राद्धमञ्जरी विरचितानतिखिलचित्त ॥

तेभ्योऽहमार्यजनवाक्पवनेन तस्या गन्धं तनोमि निजबुद्ध्यनुरूपमत्र ॥ ३ ॥

( ग्रन्थकर्तुर्मङ्गलाचरणम् )

यस्य ज्ञानमनन्तवस्तुविषयं यः पूज्यते दैवतै-
निंत्यं यस्य वचो न दुर्नयकृतैः कोलाहलैर्लुप्यते ।
रागद्वेषमुखद्विषां च परिषत्क्षिप्ता क्षणादेन सा
स श्रीवीरविभुर्विधूतकलुषां बुद्धिं विधत्तां मम ॥ १ ॥
निस्सीमप्रतिभैकजीवितधरौ मिश्रोपधूमिस्पृशां
पुण्यौघेन सरस्वतीसुरसुरू स्याद्वैकरूपैः दधत् ।
यः स्याद्वादमसाधयद्विजवपुर्दृष्टान्ततः सोऽस्तु मे
सद्बुध्यम्बुनिधिप्रबोधविधये श्रीहेमचन्द्रः प्रभुः ॥ २ ॥
ये हेमचन्द्रं मुनिमेतदुक्तग्रन्थार्थसेवाभिपतः श्रयन्ते ।
सम्प्राप्य ते गौरवमुज्ज्वलानां पदं कलानामुचितं भजन्ति ॥ ३ ॥
मातर्भारति सन्निधेहि हृदि मे येनेयमासस्तुते-
र्निर्मातुं विवृतिं प्रसिद्ध्यति जवादारम्भसम्भावना ।
यद्वा विस्मृतमोष्टयोः स्फुरति यत्सारस्वतः शाश्वतो
मन्त्रः श्रीउदयप्रभेतिरचनारम्भो ममाहर्निशम् ॥ ४ ॥

भावार्थ—अनन्तवस्तुविषय अर्थात् अपरिमित पदार्थोंको विषय करनेवाला जिनका ज्ञान है, जो देवोंकरके नित्य पूजे जाते हैं, जिनका वचन खोटे नयवालों अर्थात् अन्यमतावलम्बियों द्वारा किये हुए कोलाहलोंसे लुप्त (नष्ट) नहीं होता तथा जिन्होंने उस राग और द्वेष



( १ ) बुद्धिं नवनवोन्मेषशालिनीं मतिभां विदुः ।

[illegible] ॥ १ ॥

[illegible] श्रीहेमचन्द्रस्वामी [illegible] ॥ २ ॥

[illegible] भावार्थ—[illegible] ॥ ३ ॥

[illegible] भावार्थ—[illegible] ॥ ४ ॥

[illegible] ( [illegible] दीपिका )

इह हि [illegible] हेमचन्द्रसूरिणा [illegible]

---

( १ ) [illegible]

करविरचितद्वात्रिंशद्वात्रिंशिकानुसारि श्रीवर्द्धमानजिनस्तुतिरूपमयोगव्यवच्छेदाऽन्ययोगव्यवच्छेदाऽभिधानं द्वात्रिंशिकाद्वितयं विद्वज्जनमनस्तत्त्वाऽवबोधनिबन्धनं विदधे। तत्र च प्रथमद्वात्रिंशिकायाः सुखोज्ञेयत्वाद्व्याख्यानमुपेक्ष्य द्वितीयस्यास्तस्या निःशेषदुर्वादिपरिषदधिक्षेपदक्षायाः कतिपयपदार्थविवरणकरणेन स्वस्मृतिबीजप्रबोधविधिर्विधीयते। तस्याश्चेदमादिकाव्यम् ॥—

रा.जै.शा.

॥ २ ॥

## अवतरणिका।

इस लोकमें भयंकर पंचमकालरूपी रात्रिको दूर करनेके लिये सूर्य समान तथा स्वर्गसे पृथ्वीतलमें उतर कर आई हुई जो अमृतकी नहर उस जैसा जो उपदेशोंका समूह उसके द्वारा परम जैनी किया हुआ जो श्रीकुमारपाल महाराज उसकरके प्रवर्त्ताया हुआ जो अभयदान नामक जीवनौषधि उससे जीवनको प्राप्त हुए जो बहुतसे जीव उन करके दिये हुए जो आशीर्वाद उनके प्रभावसे कल्पकालपर्यन्त रहने वाला है निर्मल यशरूपी शरीर जिनका ऐसे, और दोषरहित जो व्याकरण, आगम, साहित्य और तर्क ( न्याय ) नामक चार विद्या हैं, उनको रचनेके लिये ब्रह्माके समान ऐसे, श्रीहेमचन्द्रजी सूरीने जगत्प्रसिद्ध श्रीसिद्धसेनजी दिवाकरकी बनाई हुई 'द्वात्रिंशद्वात्रिंशिका' का अनुसरण करके श्रीवर्द्धमान जिनेन्द्रकी स्तुतिरूप और ज्ञानी जनोंके मनमें तत्त्वज्ञान उत्पन्न करनेको कारणभूत ऐसे अयोगव्यवच्छेद तथा अन्ययोगव्यवच्छेद नामके धारक द्वात्रिंशिकायुगलको किया। भावार्थ—'श्री जिनेन्द्र यथार्थवादी ही हैं' इस प्रकार जहांपर विशेषणके साथ एव ( ही ) पद लगाया जावे वह तो अयोगव्यवच्छेद है, और 'श्रीजिनेन्द्र ही यथार्थवादी हैं' इस प्रकारसे जहां विशेष्यके साथ 'एव' लगाया जावे वह अन्ययोगव्यवच्छेद है। उनमें पहली जो अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका है वह सुगमसे समझमें आनेवाली है; इसलिये उसके व्याख्यानको उपेक्षित करके अर्थात् न करके, समस्त एकान्तवादियोंकी सभाका खंडन करनेमें समर्थ जो वह दूसरी अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका है, उसके कितने ही पदार्थोंका विस्तारसे वर्णन करके मैं ( मल्लिषेण ) मेरा जो स्मृति (धारणा) रूप बीज है उसके उदयका विधान करता हूं। और उस अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तोत्रका प्रथम काव्य यह है—

॥ २ ॥

---

1 विशेषणसङ्गतैवकारोऽयोगव्यवच्छेदबोधकः यथा—सद्गुरुः पाण्डुर एवेति। अयोगव्यवच्छेदस्य लक्षणं चोद्देश्यतावच्छेदकसमानाधिकरणाभावप्रतियोगित्वम्। २ विशेष्यसङ्गतैवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदबोधकः यथा—पार्थ एव धनुर्धरः। अन्ययोगव्यवच्छेदो नाम विशेष्यभिन्नतादात्म्यादिसम्बन्धावच्छेदः।

अनन्तविज्ञानमतीतदोषमबाध्यसिद्धान्तममर्त्यपूज्यम् ।
श्रीवर्द्धमानं जिनमाप्तमुख्यं स्वयम्भुवं स्तोतुमहं यतिष्ये ॥ १॥

अन्वयार्थ —अनन्तज्ञानके धारक, दोषोंसे रहित, अबाधित सिद्धान्तवाले, देवोंके पूज्य, [illegible] सबोंमें प्रधान और स्वयमेव ज्ञानको प्राप्त हुए ऐसे श्रीवर्द्धमानजिनेन्द्रकी स्तुति करनेके लिये मैं प्रयत्न करूँगा ॥ १ ॥

व्याख्या । श्रीवर्द्धमानं जिनमहं स्तोतुं यतिष्ये इति क्रियाकारकसम्बन्धः । [illegible] अनन्तविज्ञानम् । [illegible] अतीतदोषम् [illegible] अबाध्यसिद्धान्तम् [illegible] अमर्त्यपूज्यम् ॥

भावार्थ — मैं (समन्तभद्र मुनि) श्रीवर्द्धमानजिनेन्द्रकी स्तुति करनेके लिये [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥ भावार्थ—मैं (समन्तभद्र) केवलज्ञानके धारक, दोषोंसे रहित, [illegible] और देवोंसे पूज्य ऐसे श्रीवर्द्धमानजिनेन्द्रकी स्तुति करनेके लिये यत्न करूँगा ।

अत्र च श्रीवर्द्धमानस्वामिनो [illegible] [illegible] ॥ [illegible] । तथाऽनन्तविज्ञानमित्यनेन

भगवतः केवलज्ञानलक्षणविशिष्टज्ञानाऽनन्त्यप्रतिपादनाज्ज्ञानाऽतिशयः । अतीतदोषमित्यनेनाऽष्टादशदोषसंक्षयाऽभिधानादपायापगमाऽतिशयः । अबाध्यसिद्धान्तमित्यनेन कुतीर्थिकोपन्यस्तकुहेतुसमूहाऽशक्यबाधस्याद्वादरूपसिद्धान्तप्रणयनभणनाद्वचनाऽतिशयः । अमर्त्यपूज्यमित्यनेनाऽकृत्रिमभक्तिभरनिर्भरसुराऽसुरनिकायनायकनिर्मितमहाप्रातिहार्यसपर्यापरिज्ञापनात्पूजाऽतिशयः ॥

इस श्लोकके पूर्वार्धमें आचार्यने विशेषणों द्वारा श्रीवर्द्धमानजिनेन्द्रके चार मूल अतिशयोंका कथन किया है। उनमें 'अनन्त विज्ञान' यह जो विशेषण है इससे भगवान्के केवलज्ञानरूप लक्षणके धारक ज्ञानकी अनन्तता कही गई है; इस कारण पहिला ज्ञानातिशय कहा गया। और 'अतीतदोष' इस विशेषणसे अठारह दोषोंका नाश कहे जानेसे भगवान्के दूसरा अपायापगम नामक अतिशय कहा गया ॥ १ ॥ तथा 'अबाध्यसिद्धान्त' इस विशेषण द्वारा अन्य कुमतावलम्बियोंकरके दिये हुए जो बुरे हेतु उनके समूहसे बाधाको प्राप्त नहीं हो सकनेवाले स्याद्वादस्वरूप आगमको भगवान्ने रचा है इस प्रकारके अर्थको कहनेसे तीसरा वचनातिशय सूचित किया ॥ ३ ॥ एवं 'अमर्त्यपूज्य' इस विशेषणसे सच्ची भक्तिके भारसे निर्भर अर्थात् अन्तरंगसे उत्पन्न हुई जो भक्ति है उसके बोझेसे दबे हुए ( नीचे हुए ) ऐसे जो देव तथा असुरोंके समूह उनके जो स्वामी ( इन्द्र ) उन करके की हुई जो महाप्रातिहार्य पूजा उसको जनानेसे चौथे पूजातिशयको कहा ॥ ४ ॥

अत्राह परः। अनन्तविज्ञानमित्येतावदेवास्तु नाऽतीतदोषमिति गतार्थत्वात्। दोषाऽत्यये विनाऽनन्तविज्ञानत्वस्यानुपपत्तेः। अत्रोच्यते—कुनयभक्ताऽनुसारिपरिकल्पितासच्यवच्छेदार्थमिदम्। तथा चाहुराजीविकनयानुसारिणः—"ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्त्तारः परमं पदम्। गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि भवं तीर्थनिकारतः।१।" इति। तन्नूनं न ते अतीतदोषाः। कथमन्यथा तेषां तीर्थनिकारदर्शनेऽपि भवावतारः ॥



१ अन्तरायदानलाभवीर्यभोगोपभोगगाः। हासो रत्यरती भीतिर्जुगुप्सा शोक एव च ॥ १ ॥ कामो मिथ्यात्वमज्ञानं निद्रा चाविरतिस्तथा। रागो द्वेषश्च नो दोषास्तेषामष्टादशाप्यमी ॥ २ ॥ इत्यष्टादश दोषाः। २ आजीविको बौद्धः।

[illegible] शंका [illegible] होती है कि, [illegible] 'अनन्तविज्ञान' [illegible] गाथामें और 'आदिदोष' पद [illegible] न [illegible] । क्योंकि- [illegible] दोनोंको [illegible] हुए [illegible] ही नहीं होने; [illegible] 'अनन्तविज्ञान' [illegible] ही [illegible] है । [illegible] 'गुणपाठ' [illegible] है कि [illegible] 'आदिदोष' [illegible] है तो [illegible] नहीं है, किन्तु [illegible] ( [illegible] ) [illegible] है, [illegible] । [illegible] ( [illegible] ) [illegible] है कि " [illegible] और [illegible] है । । । " [illegible] है [illegible] हैं ]

[illegible] । [illegible] । अनन्तविज्ञान [illegible] विज्ञान- [illegible] । न [illegible] । [illegible] "[illegible] ।१।" [illegible]- "[illegible] । [illegible] ।२।" [illegible] । विज्ञानानन्त [illegible] । [illegible]- " [illegible] । [illegible] ।" [illegible] "[illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] ।१।।

[illegible] है कि- [illegible] 'आदिदोष' [illegible] है, [illegible] 'अनन्तविज्ञान' [illegible] है [illegible] है, [illegible]

१ [illegible] "[illegible] ।" [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] ।

व्यर्थ है। क्योंकि जब भगवान् दोषरहित हो गये, तो उनके 'अनंतविज्ञान' अवश्य (जरूर) ही होगा, फिर व्यर्थ विशेषण क्यों देते हो। **समाधान**—कितनोंहीने दोषोंका अभाव होने पर भी अनन्त विज्ञान नहीं माना है, इसलिये तुम्हारी शंका ठीक नहीं। सो ही वे लोग कहते हैं कि "हमारा ईश्वर सब पदार्थोंको देखे अथवा न देखे; केवल वांछित तत्त्वोंको ही जाने। क्योंकि यदि आपके जिनेश्वर कीड़ोंकी संख्या जानते है तो उनका यह कीड़ोंकी संख्या जाननेरूप ज्ञान हमारे किस प्रयोजनमें आता है?। १।" तथा वे ही फिर कहते हैं कि "इसलिये हमारे ईश्वरके अनुष्ठानमें प्राप्त हुआ ज्ञान ही विचारना चाहिये। और यदि जिसका ज्ञान उपयोगमें न आवे, ऐसे दूरदर्शीको ही आप प्रमाण मानते हो, तो लो हम गीध पक्षियोंकी सेवा करते हैं; क्योंकि वे भी दूरके पदार्थको देखने वाले हैं। तात्पर्य यह कि—अनुपयोगी पदार्थोंको जानने वाले आपके जिनेन्द्रसे हमको कोई भी प्रयोजन नहीं है॥ २॥" इस पूर्वोक्त प्रकारसे जो कोई ईश्वरको असर्वज्ञ मानते हैं, उनके मतको दूर करनेके लिये जो हमने 'अनन्तविज्ञान' यह विशेषण दिया, सो दोषरहित ही है अर्थात् व्यर्थ नहीं है। क्योंकि अनन्तविज्ञानके विना एक भी पदार्थ यथार्थ रीतिसे नहीं जाना जाता है। और इस कथनमें प्रमाणभूत ऋषियोंका वचन भी है कि "जो एकको जानता है, वह सबको जानता है, जो सबको जानता है वह एकको जानता है" तथा "जिसने एक पदार्थको परिपूर्ण रीतिसे देखा, उसने सब पदार्थ पूर्ण रूपसे देखे। और जिसने सब पदार्थ सर्वथा देखे, उसने एक पदार्थ सर्वथा देखा अर्थात् जाना॥ १॥"

**ननु तर्हि अबाध्यसिद्धान्तमित्यपार्थकं[1] यथोक्तगुणयुक्तस्याऽव्यभिचारिवचनत्वेन तदुक्तसिद्धान्तस्य बाधाऽयोगात्। न। अभिप्रायाऽपरिज्ञानात्। निर्दोषपुरुषप्रणीत एव अबाध्यः सिद्धान्तो नापरेऽपौरुषेयाद्या अस्मर्यादिदोषाघातत्वात् इति ज्ञापनार्थं, आत्ममात्रतारकमूकाऽन्तकृत्केवल्यादिरूपमुण्डकेवलिनो यथोक्तसिद्धान्तप्रणयनाऽसमर्थस्य व्यवच्छेदार्थं वा विशेषणमेतत्॥**

**शंका**—यदि ऐसा है तो 'अबाध्यसिद्धान्तवाले' यह जो भगवान्के विशेषण लगाया गया है सो निरर्थक है। क्योंकि, पूर्वोक्त जो अनंतविज्ञानता तथा दोषरहितता रूप दो गुण हैं, उन करके सहित जो कोई हैं उनके वचन व्यभिचारी नहीं

॥ ४ ॥

---

१ निरर्थकं। २ सांख्यादिवन्मता ननु पौरुषेयो वर्णात्मको वेद इति स्फुटं च। पुंसश्च तालवादि तत्रः कथं स्यादपौरुषेयोऽयमिति प्रतीतिः। ३ बाह्यालिङ्गापरहित।

हेते अन्तर दिखाई दी अंधमें अन्तर नहीं होते हैं : इस कारण जो कोई यह कहा है कि अन्तर दी नहीं हो सकता है सामाधान—इसमें कुछ विशेष नहीं आता, इसलिये वह तो ॥॥ लेख अन्तर दी भी ठीक नहीं है। क्योंकि इसमें जो यह लेखेकल्प दिया है जो लिखित पुस्तक पाने वाला इसका लेखकत्व दी आगामिक सिद्धान्त है और आगम आदि देखोलहित होनेसे सब जो अलेखित आदि सिद्धान्त हैं, वे पुस्तकारूढ नहीं हैं। इस कारण लिखित अलेखित जैसे लगता है। सामाधान—जैसाने दी पेाल कहा है कि, पेर आदि अलेखित है सर्वत्र लिखे हुएके कारण कुछ नहीं है। कहना उसका यह सामान्य ठीक नहीं है। क्योंकि वेद पठनरूप हैं। और वे अक्षर पद आदि सामेाे उच्चारण होते हैं। अब वे वायु आदि आठ पदार्थके होते हैं। इसलिये पुस्तकमें लिखे किया जैसे आदि अक्षरात्मक नहीं हैं सामने हैं, यहां स्थापना मात्र दृश्य है' इत्यादि आदि से और भी अनेक लेख दानेाेंके अलेखित लक्षणेाे होते हैं। इस कारण 'लिखित पुस्तामे रखे हुआ शास्त्र ही आगामिक है, पुस्तक कारूढ नहीं उनसे दूर सारा अनागमिक नहीं है' । इस विवादके पूर्तिका कारणेाे लिये 'अनागमिकाभाव' विशेषण है। अथवा एक अक्षरके एक अनन्तपर्यायी आदि रूप ज्ञान अर्थात् अक्षरके अतिशयसे सहित केवली होते हैं. जो अक्षरसन्निपातके पास भी है और देवाधिक भी है। वस्तु ये केवल अक्षरी आगमका ही उपदेश करते हैं, कुशेाे कल्पेक देखेने पुरुष ( मुनि ) होते हैं। इसलिये वे भी गणधर श्रुतकेवलीको अपेक्षासे अनागमिक है। इस कारण अनागमिकाभाव लिये 'अनक्षरश्रुतम्' यह विशेषण देना चाहिये है॥

अन्यत्रापि : अमनस्कादीनामकिंचित् न प्राप्नुयात्। यतो गर्भोपदिष्टसुगमार्थविषय त्रिभुवनविभोरमर्त्यपूज्यस्य तत्कल्पेषु अनिश्चयादीति। तदयुक्तम्। लौकिकानां हि अपरेषां पद्य पूर्वजनपद पक्षिजातीनामपि भाषाविशेष पूर्वक इति विशेषेणोपदेशेन ज्ञानसद्भावात्। परमेश्वरस्य वचनातिशयगुणोपपत्तेरिति॥ पद पूर्वार्द्धे चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां ज्ञानम्।

यह कुमार यहां शंका करता है कि—' अनक्षरश्रुतम् ' यह लेखेकल्प आगमके नहीं लेख चाहिये। क्योंकि, गर्भस्थोंको पहिले कहे हुए अनक्षरज्ञान आदि गुणोंसे गणि ( मुनि ) आदि होने लेखेसे होती है. तथा देवादि गुणका किसी प्रकारसे भी अनिश्चयादि पास नहीं होती है तथा वे लिखनेसे देवोंके पूजे नहीं है। समाधान—यह प्रकारसे तुम्हारा यह कथन

---

१ पाठान्तरम्।

अत्र चाचार्यो भविष्यत्कालप्रयोगेण योगिनामप्यशक्यानुष्ठानं भगवद्गुणस्तवनं मन्यमानः श्रद्धामेव स्तुतिकरणेऽसाधारणं कारणं ज्ञापयन् यत्नकरणमेव मदधीनं न पुनर्यथावस्थितभगवद्गुणस्तवनसिद्धिरिति सूचितवान् । अहमिति च गतार्थत्वेऽपि परोपदेशान्यानुवृत्त्यादिनिरपेक्षतया निजश्रद्धयैव स्तुतिप्रारम्भ इति ज्ञापनार्थम् ।

'यतिष्ये' अर्थात् यत्न करूंगा । यहांपर जो आचार्यने भविष्यत्कालका प्रयोग किया है, इससे भगवान्के गुणोंकी स्तुति योगियोंसे अर्थात् दिव्यज्ञानके धारक मुनियोंसे भी नहीं हो सकती है । इसप्रकार मानते हुए और स्तुतिके करनेमें भक्ति ही एक असाधारण कारण है, ऐसा दूसरोंको जनाते हुए आचार्यने ' भगवान्के गुणोंकी स्तुति करनेमें यत्नका करना ही मेरे आधीन है और भगवान्में जैसे गुण विद्यमान हैं, वैसे गुणोंके स्तवनकी सिद्धि मेरे आधीन नहीं है । ऐसा आशय सूचित किया है । और ' यतिष्ये ' यहांपर जो उत्तम पुरुषका एक वचन दिया गया है, इससे यद्यपि ' अहं ' यह कर्ताको बोधन करनेवाला शब्द स्वयं ही आसकता था, तथापि परके उपदेशकी और अन्य (दूसरे) की अनुवृत्ति आदिकी अपेक्षा न करके मैं मेरी भक्तिके वशसे ही स्तुतिका प्रारंभ करता हूं, यह समझानेके लिये ' अहं ' यह पद दिया गया है ॥

अथवा—श्रीवर्द्धमानादिविशेषणचतुष्टयमनन्तविज्ञानादिपदचतुष्टयेन सह हेतुहेतुमद्भावेन व्याख्यायते । यत एव श्रीवर्द्धमानमतएवाऽनन्तविज्ञानम् । श्रिया कृत्स्नकर्मक्षयाविर्भूताऽनन्तचतुष्कसंपद्रूपया वर्द्धमानम् । यद्यपि श्रीवर्द्धमानस्य परमेश्वरस्यानन्तचतुष्कसंपत्तेरुत्पत्त्यनन्तरं सर्वकाले तुल्यत्वाद्व्ययापचयौ न स्तस्तथापि निरुपचयत्वेन शाश्वतिकावस्थानयोगाद्वर्द्धमानत्वमुपचर्यते । यद्यपि च श्रीवर्द्धमानविशेषणेनानन्तचतुष्कान्तर्भावित्वेनानन्तविज्ञानत्वमपि सिद्धम् । तथाप्यनन्तविज्ञानस्यैव परोपकारसाधकतमत्वाद्भगवत्प्रवृत्तेश्च परोपकारैकनिबन्धनत्वादनन्तविज्ञानत्वं शेषानन्तत्रयात्पृथम् निर्द्धार्याचार्येणोक्तम् ।

अथवा ' श्रीवर्द्धमानं ' इत्यादि जो श्लोकके उत्तरार्धमें चार विशेषण हैं, उनका 'अनन्तविज्ञानं ' इत्यादि पूर्वार्धके चार पदोंके साथ हेतुहेतुमद्भावसे अर्थात् ' श्रीवर्द्धमान ' यह तो हेतु ( कारण ) है और ' अनन्तविज्ञान ' यह हेतुमत् ( कार्य ) है । इस रूपसे व्याख्यान करते हैं । भगवान् श्रीवर्द्धमान हैं अर्थात् संपूर्ण कर्मोंके नाशसे प्रकट हुई जो अनन्तचतुष्कसंपदारूप लक्ष्मी है,

[illegible] है । इसी [illegible] उनके [illegible]
[illegible] और [illegible] नहीं है ; [illegible]
[illegible] है [illegible] अर्थात् [illegible] किया जाता है ।
[illegible] 'परिवर्तन' [illegible] सिद्ध हो गया । क्योंकि, [illegible]
[illegible] किया जाता है । [illegible] उसका [illegible] है और
[illegible] है, [illegible] एक काल है । [illegible] तौर से [illegible]
[illegible] है. उसके [illegible] कुछ [illegible] करते हैं ॥

[illegible] विज्ञाने [illegible]
[illegible] स्वामी [illegible]
[illegible] । इति [illegible] । [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] । तथा [illegible] ज्ञानमिति ।

शंका—[illegible] सिद्ध है, [illegible] द्वारा [illegible], [illegible] भी [illegible]
[illegible] है, [illegible] । [illegible]
[illegible] है, [illegible] है । इसलिये [illegible]
[illegible] ? अब [illegible] समाधान करते हैं कि, '[illegible]' पर्याय भी [illegible]
है, [illegible] है । [illegible] भी [illegible] है । इसलिये [illegible] नहीं है ।

1 [illegible] । 2 [illegible] । 3 [illegible] । 4 [illegible] । 5 [illegible] ।

क्योंकि, ज्ञानकी मात्रा जो है वह केवलज्ञान और केवलदर्शन इन दोनोंमें समान है । कारण कि—सामान्य धर्मोंको गौण करके विशेष धर्मोंसहित जो पदार्थ ज्ञानसे जाने जाते हैं, विशेष धर्मोंकी गौणतापूर्वक सामान्य धर्मोंसहित हुए वे ही पदार्थ दर्शनसे जाने जाते हैं क्योंकि, ये जीवके स्वभाव हैं । भावार्थ—विशेषको किया है गौण जिसमें और सामान्य है प्रधान जिसमें, ऐसा जो पदार्थका ग्रहण है, सो दर्शन कहलाता है । तथा जिसमें सामान्य गौण और विशेष मुख्य है, ऐसा जो पदार्थका ग्रहण करना है, उसको ज्ञान कहते हैं ॥

तथा यत एव जिनमत एवातीतदोषम् । रागादिजेतृत्वाद्धि जिनः । नचाजिनस्यातीतदोषता । तथा यत एवाप्तमुख्यमत एवाबाध्यसिद्धान्तम् । आप्तो हि प्रत्ययित उच्यते । तत आप्तेषु मुख्यं श्रेष्ठम् । आप्तमुख्यत्वं च प्रभोरविसंवादिवचनतया विश्वविश्वासभूमित्वात् । अत एवाबाध्यसिद्धान्तम् । न हि यथावज्ज्ञानावलोकितवस्तुवादी सिद्धान्तः कुनयैर्बाधितुं शक्यते । यत एव स्वयम्भुवमत एवामर्त्यपूज्यम् । पूज्यते हि देवदेवो जगत्त्रयविलक्षणलक्षणेन स्वयंसम्बुद्धत्वगुणेन सौधर्मेन्द्रादिभिरमर्त्यैरिति ।

तथा वे भगवान् जिन हैं, इसीकारण दोषरहित हैं । जो रागादिकको जीतनेवाले हैं, उनको जिन कहते हैं । जो जिन नहीं हैं, वे दोषरहित भी नहीं हैं । और वे श्रीमहावीरस्वामी आप्तोंमें मुख्य हैं, इसीकारण बाधारहित सिद्धान्तवाले हैं । क्योंकि जो प्रतीतिवाला होता है, वह आप्त कहलाता है । आप्तोंमें जो मुख्य अर्थात् श्रेष्ठ हो, वह आप्तमुख्य कहा जाता है और विसंवादरहित वचनके धारक होनेसे भगवान् समस्त जीवोंके विश्वासके स्थान हैं इसी कारण आप्तमुख्य हैं । तथा आप्तमुख्य हैं, इसी कारण भगवान् बाधारहित सिद्धान्तके धारक हैं । क्योंकि; ज्ञानद्वारा जिस प्रकारसे स्थित पदार्थोंको देखे हैं, उसी प्रकारसे कहनेवाला जो सिद्धान्त है, वह अन्य कुनयावलम्बियोंसे बाधित नहीं हो सकता है । एवं भगवान् स्वयंभू हैं, इसीलिये देवोंसे पूज्य हैं । क्योंकि भगवान् तीन जगत्से भिन्न लक्षणका धारक जो स्वयंसंबुद्धत्व ( स्वयं ज्ञानको प्राप्त होनेरूप ) गुण है, उससे ही सौधर्मेन्द्र आदि देवोंद्वारा पूजे जाते हैं ॥

॥ ७ ॥

तदयोगव्यवच्छेदाभिधानप्रथमद्वात्रिंशिकाप्रथमकाव्यव्ट-

[illegible] । 'श्रीमद्वैष्णवा[illegible]विषयालङ्कारस्य' इति विशेष्यमनुवर्तमानं पुनरपि प्रकरणार्थं विशेषणात् । तथा हि प्रायपक्षपतिभैक्षिविशेषणवत् । यदुक्तं भाष्यकारैः सामानाधिकरण्यं पदयोरभेदान्वयार्थमिति यावत् । आनुपूर्व्या च विशेषणस्यापि विशेष्यसङ्गत्या ऽन्वयसम्भवेन विशेषणवैयर्थ्यं पदसमूहार्थः ॥ ६ ॥

इस सूत्रमें जो 'श्रीमद्वैष्णवादे' इस पदका विशेषणसमास [illegible] है वह अधीतालङ्कारेण सम्बन्धी पाठके समान हुआ [illegible] ( पहली पक्तिमें ) है, उसीके स्वरूपको [illegible] पदसे विधान 'श्रीपर्वसाधारणकल्पकस्य' इस विशेषणमें भी पूर्वकी बुद्धिसे अन्वय करना हुआ समझना चाहिये । यहांपर 'आनुपूर्व्य' पद नैरर्थक्य है । अतएव सम्बन्ध अथवा जो है वह आनुपूर्व्य अर्थात् पाठक्रम है, जानो । अथवा [illegible] पदोंके [illegible] अर्थात् 'श्रीमद्वैष्णव' इस पदके अर्थ विशेषणमें भेदसम्बन्धसे पहले करके लगाना चाहिये । इसका यह अभिप्राय अर्थ है ॥ ७ ॥

अथवा च [illegible]योगव्यवच्छेदेऽपि [illegible]कृतवच्चस्य च तीर्थान्तरीयपरिच्छिन्नस्वामानाधिकरण्येन [illegible]णासम्भवः व्यवच्छेदः । तस्य च व्यापकस्य अवच्छेदकस्वरूपस्यैवं [illegible]स्वरूपेण [illegible] । अतः [illegible]-[illegible]णादृष्टेति [illegible]पगुणविशिष्टवाक्यत्वे वाक्यभेदप्रसङ्गात् [illegible] पर्वविशेषसाधनत्वेऽपि [illegible]वसा-[illegible]पेक्षत्वात् ।

इस हानिमें अन्ययोगव्यवच्छेदसे अर्थात् दूसरोंके तीर्थको भिन्न करना जैसा यहां है और उसका 'अन्यतीर्थों करके व्याप्त जिन श्रुत्यादि हैं, उनका त्याग करके, उन अन्यतीर्थोंको छोड़ने जैसा अर्थ' यह तात्पर्य है । और यह [illegible] पदसे [illegible] जिन है, जैसा कहनेवाले गुणका पाठकपना [illegible] से ही [illegible] है । इत्यादिका [illegible] अर्थ व्याख्यानमें [illegible] अनुक्रमसे [illegible] दूसरी [illegible] [illegible] है, और भी व्याख्यानग्रन्थोंको [illegible] जो एक [illegible] है, उसीका [illegible] करनेके लिये अपने अभिप्रायको प्रकट करते हुए [illegible] [illegible] करते हैं ॥

---

॥ पदीक ।

अयं जनो नाथ तव स्तवाय गुणान्तरेभ्यः स्पृहयालुरेव ।
विगाहतां किन्तु यथार्थवादमेकं परीक्षाविधिदुर्विदग्धः ॥ २ ॥

काव्यभावार्थः— हे नाथ ! परीक्षा करनेमें दुर्विदग्ध अर्थात् अपनेको पंडितके समान माननेवाला यह मैं (प्रत्यक्षीभूत हेमचंद्र नामक आचार्य) आपके अन्य गुणोंकी स्तुति करनेके अर्थ इच्छावान् ही हूं । परन्तु एक यथार्थवादनामक गुणको ही स्तुतिसे व्याप्त करता हूं ॥ २ ॥

व्याख्या । हे नाथ अयं मल्लक्षणो जनस्तव गुणान्तरेभ्यो यथार्थवादव्यतिरिक्तेभ्योऽनन्यसाधारणशारीरलक्षणादिभ्यः स्पृहयालुरेव श्रद्धालुरेव । किमर्थं स्तवाय स्तुतिकरणाय । इयं तादर्थ्ये चतुर्थी पूर्वत्र तु स्पृहेर्व्याप्यं वेति लक्षणा । तव गुणान्तराण्यपि स्तोतुं स्पृहावानयं जन इति भावः । ननु यदि गुणान्तरस्तुतावपि स्पृहयालुता तत्किमर्थं तद्योपेक्षेत्याशङ्क्योत्तरार्द्धमाह । किंत्वित्यभ्युपगमपूर्वकविशेषद्योतने निपातः । एकमेकमेव यथार्थवादं यथावस्थितवस्तुतत्त्वप्रख्यापनाख्यं त्वदीयं गुणमयं जनो विगाहतां स्तुतिक्रियया समन्ताद् व्याप्नोतु तस्मिन्नेकस्मिन्नपि हि गुणे वर्णिते तद्व्यान्तरीयदेवतेभ्यो वैशिष्ट्यख्यापनद्वारेण वस्तुतः सर्वगुणस्तवनसिद्धेः ॥

व्याख्यार्थः— ' नाथ ' भो स्वामिन् ? ' अयं ' यह 'जनः' हेमचन्द्र नामक मनुष्य ' तव ' आपके ' गुणान्तरेभ्यः ' यथार्थवादसे भिन्न और अन्य देवोंमें नहीं रहनेवाले शरीरलक्षण आदि जो गुण हैं, उनको ' स्तवाय ' स्तुतिगोचर करनेके अर्थ अर्थात् स्तुतिमें लानेके लिये 'स्पृहयालु एव' अभिलाषा (इच्छा) का धारक ही है [ 'स्तवाय ' यहां तादर्थ्यमें चतुर्थी विभक्ति है और 'गुणान्तरेभ्यः' यहांपर "स्पृहेर्व्याप्यं वा" इस सूत्रसे स्पृह धातुके कर्ममें विकल्पसे चतुर्थी विभक्ति है ।] भावार्थ—यह मैं आपके अन्य गुणोंकी स्तुति करनेके अर्थ भी इच्छा रखता ही हूं । 'जो अन्यगुणोंकी स्तुति करनेमें भी इच्छा है तो उन गुणोंकी स्तुति करनेमें अनादर क्यों है ? ' इसप्रकार आशंका करके आचार्य उत्तरार्द्धको कहते हैं । ' किन्तु ' किन्तु ( परंतु ) [ किन्तु यह स्वीकार किये



१ स्वकृतके- तदिदमन्यपि स्तोष्यति स्व इत नेत्याशंक्योत्तरार्द्धमाह । इति पाठः ।

अब जो कुमतावलम्बी कुशास्त्रोंकी संगसे वासको प्राप्त हुए चित्तसे तीन लोकके स्वामी श्रीजिनेन्द्रको स्वामी नहीं मानते हैं, उनको भी तत्त्वोंका विचार करनेके लिये शिक्षा देते हुए आचार्य इस अग्रिम काव्यका कथन करते हैं ॥—

**गुणेष्वसूयां दधतः परेऽमी मा शिश्रियन्नाम भवन्तमीशम् ।**
**तथापि सम्मील्य विलोचनानि विचारयन्तां नयवर्त्म सत्यम् ॥ ३ ॥**

काव्यभावार्थः—हे नाथ ! यद्यपि गुणोंमें ईर्षाको धारण करनेवाले ये कुमतावलम्बी आपको स्वामी न मानें, तथापि नेत्रोंको मींच करके सच्चे न्यायमार्गका विचार करें ॥ ३ ॥

अमी इति । 'अदसस्तु विप्रकृष्टे' इति वचनात्तत्त्वातत्त्वविमर्शबाह्यतया दूरीकरणार्हत्वाद्विप्रकृष्टाः परे कुतीर्थिका भवन्तं त्वामनन्यसामान्यसकलगुणनिलयमपि मा ईशं शिश्रियन् मा स्वामित्वेन प्रतिपद्यन्ताम् । यतो गुणेष्वसूयां दधतो गुणेषु बद्धमत्सराः । गुणेषु दोषाविष्करणं ह्यसूया । यो हि यत्र मत्सरीभवति स तदाश्रयं नानुरुध्यते । यथा माधुर्यमत्सरी करभः पुण्ड्रेक्षुकाण्डम् । गुणाश्रयश्च भवान् । एवं परतीर्थिकानां भगवदाज्ञाप्रतिपत्तिं प्रतिषिध्य स्तुतिकारो माध्यस्थ्यमिवास्थाय तान् प्रति हितशिक्षामुत्तरार्द्धेनोपदिशति । तथापि त्वदाज्ञाप्रतिपत्तेरभावेऽपि लोचनानि नेत्राणि सम्मील्य मिलितपुटीकृत्य सत्यं युक्तियुक्तं नयवर्त्म न्यायमार्गं विचारयन्तां विमर्शविषयीकुर्वन्तु ।

व्याख्यार्थः—' अमी ' ( ' अदस् शब्दका दूरवर्त्ती पदार्थको प्रकट करनेके लिये प्रयोग होता है ' इस वचनसे ) तत्त्व और अतत्त्वके विचारसे रहित होनेके कारण दूर रखने योग्य ' परे ' कुमतावलम्बी ' भवन्तं ' अन्य देवोंमें नहीं रहनेवाले ऐसे संपूर्ण गुणोंके स्थान आपको ' नाम ' भी ' ईशं ' स्वामी ' मा ' मत ' शिश्रियन् ' स्वीकार करो । क्योंकि, वे ' गुणेषु ' गुणोंमें ' असूयां ' ईर्षाको ' दधतः ' धारण करनेवाले हैं; अर्थात् गुणोंमें ईर्षा रखते हैं । भावार्थ—गुणोंमें दोषोंको प्रकट करना ही

१ इदमः प्रत्यक्षवृत्ते समीपतरवर्त्ति चेतदो रूपम् । अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात् । १ ।

और रोगी उस कडवी औषधको अपने आराम होनेके लिये नेत्र बंद करके पी जाता है। वैसे ही यद्यपि वर्त्तमानमें यह उपदेश उनको अच्छा नहीं लगेगा। तथापि भविष्यमें सुख देनेवाला है, इसलिये इस उपदेशपर उनको नेत्रबंद करके विचार करना ही चाहिये।



**ननु च यदि परमेश्वरे पचसि तेषामविवेकातिरेकादरोचकिता तत्किमर्थं तान्प्रत्युपदेशक्लेश इति । नैवं । परोपकारसारप्रवृत्तीनां महात्मनां प्रतिपाद्यगतां रुचिमरुचिं वानपेक्ष्य हितोपदेशप्रवृत्तिदर्शनात्। तेषां हि परार्थस्यैव स्वार्थत्वेनाभिमतत्वात्। न च हितोपदेशादपरः पारमार्थिकः परार्थः। तथा चार्षम्।—"[1]रूसउ वा परो मा वा विसं वा परियत्तउ॥ भासियव्वा हिया भासा सपक्खगुणकारिया[2]। १।" उक्तं च वाचकमुख्यैः—"[3]न भवति धर्मः श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततो हितश्रवणात्॥ ब्रुवतोऽनुग्रहबुद्ध्या वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति।१।[4]इति वृत्तार्थः।**

शंका—यदि अज्ञानकी अधिकतासे उनको अर्हन्त परमेश्वरके वचनमें अरुचि है, तो आप उनके प्रति उपदेश देनेका परिश्रम किसलिये करते हैं? समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि, अन्यका उपकार करना ही है सारभूत वर्त्तन जिनके, ऐसे जो महात्मा हैं, वे शिष्यकी रुचि अथवा अरुचिकी अपेक्षा न करके ही हितरूप उपदेशके देनेमें प्रवृत्ति करते हैं, ऐसा देखा जाता है। क्योंकि, वे परार्थ (परोपकार) ही को स्वार्थरूप मानते हैं। और परमार्थसे (वास्तवमें) हितोपदेशके सिवाय दूसरा कोई परोपकार नहीं है। इस विषयमें ऋषियोंका वचन भी है कि, "जिसको उपदेश दिया जावे वह रोष करे अथवा न करे, वा चाहे वह उस उपदेशको विपरीत समझे। परन्तु ऐसे ही वचन बोलने चाहियें जो कि निजपक्षको गुण करें अर्थात् जिसमें अपना हित हो, वैसा ही उपदेश देना चाहिये, १।" और वाचकमुख्य (श्रीउमास्वातिजी) भी कहते हैं कि—"हितरूप उपदेशके श्रवण करनेसे संपूर्ण श्रोताओंको धर्म होवे ही, ऐसा एकान्त अर्थात् निश्चय नहीं है, परन्तु अनुग्रह बुद्धिसे जो हितोपदेशका कहनेवाला है उसको तो नियमसे धर्म होता ही है। १।" इस प्रकार तृतीय काव्यका अर्थ है॥ ३॥

**अथ यथावन्नयवर्त्मविचारमेव प्रपञ्चयितुं पराभिमततत्त्वानां प्रामाण्यं निराकुर्वन्नादितस्तावत्काव्यषट्केनौलूक्यमताभिमततत्त्वानि दूषयितुकामस्तदन्तःपातिनौ प्रथमतरं सामान्यविशेषौ दूषयन्नाह॥**



---

१ रुष्यतु वा परो मा वा, विषं वा पर्येतु। भाषितव्या हिता भाषा, स्वपक्षगुणकारिका।१। इतिवृत्तार्थः। ४ उमास्वातिरिति।

अब सामान्य तथा विशेषरूप ही [illegible] पदार्थ हैं [illegible] करते हुए [illegible] आचार्य [illegible] सामान्य और विशेष [illegible] हैं उनको [illegible] करते हैं ॥—

स्वतोऽनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजो भावा न भावान्तरनेयरूपाः ।
परात्मतत्त्वादतथात्मतत्त्वाद्द्वयं वदन्तोऽकुशलाः स्खलन्ति ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—पदार्थ अपने आप ही अनुवृत्ति तथा व्यतिवृत्तिको धारण करते हैं। उनका स्वरूप अन्य किसी पदार्थसे अधीन होने योग्य नहीं है। इसकारण जो अकुशलवादी अभिन्नस्वरूप और पदार्थोंसे भिन्न ऐसे सामान्य तथा विशेषसे अनुवृत्ति (सामान्य) और व्यतिवृत्ति (विशेष) रूपका कथन करते हैं वे पतनको प्राप्त होते हैं ॥ ४ ॥

व्याख्या । भवन्ति, भवन्ति भविष्यन्ति चेति भावाः । पदार्थाः आत्मपुद्गलादयस्ते स्वतः इति । सर्वे हि भावाः [illegible] सामान्यविशेषात्मकत्वादनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजः । [illegible] अनुवृत्तिः, व्यतिवृत्तिर्व्यावृत्तिर्विशेषः [illegible] अपि [illegible] अनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजः भावाः पदार्थान्तरं इत्यर्थः ।

भावार्थः—'भावाः' जो हो चुके, हो रहे हैं और होवेंगे, वे भाव अर्थात् आत्मा, पुद्गल आदि पदार्थ हैं। वे 'स्वतः' [यहाँ स्वतः पद [illegible] है, [illegible] है] अपने आप ही 'अनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजः' इस वाक्यका [illegible] शब्दसे [illegible] है, उसको अनुवृत्ति (सामान्य)

१ [illegible] । २ [illegible] ।

कहते हैं, और विजातीय पदार्थोंसे जो सर्वथा जुदापना है, उसको व्यतिवृत्ति (विशेष) कहते हैं। मिले हुए इन दोनोंको भी जो धारण करें, वे अनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाव हैं। अर्थात् सामान्य तथा विशेष इन दोनों स्वरूप हैं।

अस्यैवार्थस्य व्यतिरेकमाह। न भावान्तरनेयरूपा इति। नेति निषेधे। भावान्तराभ्यां पराभिमताभ्यां द्रव्यगुणकर्मसमवायेभ्यः पदार्थान्तराभ्यां भावव्यतिरिक्तसामान्यविशेषाभ्यां नेयं प्रतीतिविषयं प्रापणीयं रूपं यथासंख्यमनुवृत्तिव्यतिवृत्तिलक्षणं स्वरूपं येषां ते तथोक्ताः। स्वभाव एव ह्ययं सर्वभावानां यदनुवृत्तिव्यावृत्तिप्रत्ययौ स्वत एव जनयन्ति। तथा हि घट एव तावत्पृथुबुध्नोदराद्याकारयान् प्रतीतिविषयीभवन् सन्नन्यानपि तदाकृतिभृतः पदार्थान् घटरूपतया घटैकशब्दवाच्यतया च प्रत्याययन् सामान्याख्यां लभते। स एव चेतरेभ्यः सजातीयविजातीयेभ्यो द्रव्यक्षेत्रकालभावैरात्मानं व्यावर्तयन् विशेषव्यपदेशमश्नुते। इति न सामान्यविशेषयोः पृथक्पदार्थान्तरत्वकल्पनं न्याय्यम्। पदार्थधर्मत्वेनैव तयोः प्रतीयमानत्वात्। न च धर्म्मा धर्म्मिणः सकाशादत्यन्तं व्यतिरिक्ताः। एकान्तभेदे विशेषणविशेष्यभावाऽनुपपत्तेः। करभरासभयोरिव धर्म्मधर्म्मिव्यपदेशाऽभावप्रसङ्गाच्च। धर्म्माणामपि च पृथक्पदार्थान्तरत्वकल्पने एकस्मिन्नेव वस्तुनि पदार्थानन्त्यप्रसङ्गः। अनन्तधर्मकत्वाद्वस्तुनः।

अब इसी अर्थके व्यतिरेकका कथन करते हैं। 'न भावान्तरनेयरूपाः' [यहां 'न' निषेध अर्थमें है] पदार्थ वैशेषिकोंके माने हुए जो द्रव्य, गुण, कर्म और समवाय नामक पदार्थ हैं, उनसे भिन्न जो सामान्य तथा विशेष हैं, उन करके नेय अर्थात् प्रतीतिके गोचर करने योग्य है स्वरूप जिनका, ऐसे नहीं है। क्योंकि सब पदार्थोंका यह स्वभाव ही है कि, वे अनुवृत्ति और व्यतिवृत्ति प्रत्ययको स्वयं ही उत्पन्न करते हैं। सो ही दिखलाते हैं कि, जैसे पृथु (मोटे) और बुध्न (गोल) ऐसे उदर (पेट) आदिके आकारको धारण करनेवाला घड़ा जब प्रथम ही प्रतीत होता है, तब अपने जैसे आकारको धारण करनेवाले जो अन्य (दूसरे) पदार्थ हैं, उनको भी घट रूपतासे और 'घट' इस एकशब्दवाच्यतासे विदित करता हुआ 'सामान्य' इस नामको धारण करता है। और यही घड़ा अपनी जातिवाले जो दूसरे घट हैं, उनसे तथा अपनी जातिसे भिन्न जो पट आदि हैं, उनसे द्रव्य, क्षेत्र, काल



१ उच्चारणं। २ अनिष्टापादनं प्रसङ्गः।

और नञ्समास अवश्य करना चाहिए " विरोध " का अभाव अर्थ करना चाहिए। इस प्रकार दोनों ही व्याख्याएँ अर्थ विरोधके कारण दोषपूर्ण सिद्ध होती हैं, तो उचित ( उचित ) नहीं है। क्योंकि वे दोनों वाक्य व्याख्यानसे अर्थकी प्रतीति होती है। अतः व्याख्या की आवश्यकता सिद्ध नहीं है। क्योंकि, यदि वर्ण और आदि शब्दोंका भेद मान लिया जाये तो " यह विशेषण है और यह विशेष्य है " इस प्रकारका जो विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध है, उसकी सिद्धि न होगी। और जैसे द्रव्य और गुण (गुणों) में स्वरूप (अपने) आश्रयके कारण अर्थक्रियाका अभाव नहीं है सकता है, वैसे ही यहाँ भी अपने विशेषणके कारण 'अर्थक्रियाका न होना' सम्भव नहीं है; और यह अर्थ ( कथन ) इस कारणसे भी असंगत है, कि पदार्थका तो स्वभाव है, उसके स्वभावका अभाव होना। अथवा एसी कल्पना भी नहीं करनी चाहिए, एक ही पदार्थमें अनेक धर्मोंका सम्बन्ध होना। क्योंकि, वस्तु अनेक धर्मोंका पात्र है।

तत्रेदं वाक्यान्तरविशेषणे। व्यक्तस्य वर्णाविशेषणमुच्चारणस्य अक्रमस्य क्रमवर्तिभिर्विशेषैरुपलक्षणमिति। शब्दस्य स्वाश्रयवर्णाधिष्ठानस्य तिरस्कारिणः प्रकाशनीयस्य। व्यञ्जनेन वर्णेन पाकादिक्रियानीयमानेन व्याप्तस्य। किं पुनर्व्याप्तिः। द्वयं वस्तुपरिस्पन्दात्मकत्वे सामानाधिकरण्यम्। क्रमवर्तिनोऽनवयवस्य वर्णस्य [ग्रहणग्राह्यत्वात्] स्पष्टो यदार्थस्यैव व्यञ्जनेन्द्रियबुद्धयोर्विषयो न च तौ व्यापारविशेषौ तयोर्गौणमुख्ययोर्विशेषणविशेष्यभावः। " गम्यमानः कर्मापदेशे " इत्यनेन पञ्चमी। वर्णमूलादपहाय्यत्वादिवत्। सत्यापसरत्त्वात्। पाकेनापनीयमानस्य पटस्यादर्शनस्य पाचकव्यापारेण विशेषणमसिद्धम्। यथा पाकेनापनीयमानस्य पटस्यादर्शनेन आवरणेन परोक्षत्वेन न क्रमा तेन भवतोऽक्रमत्वे स्वकर्म वरणं तत्त्वतः सङ्गात्। यतः पदार्थेष्वपि गुणादेर्न सामान्यविशेषौ पर्यायौ। तेन तौ नेत्यन्ता गतत्वेन वस्तुतो पतत्वे व्यापारे तयोरुपलक्षणमात्रम्।

तो व्याकरण ( व्याकरण ) और विशेषके सम्बन्धको समझकर ( ऐसा है ) [ ] को व्याख्या करते हुए ' अक्रमस्य ' अक्रमका व्याख्यान करनेके लिए ( यदि ) कहते हैं, उसकी ' क्रमवर्तिभिः ' इत्यादि से लेकर ' विशेषैः ' अर्थात् क्रमवर्ती होते

---

1 व्याकरण। 2 व्याकरणेन।

हैं । [ यहांपर ' स्खलन ' इसके कहनेसे ' प्रामाणिक जनोंसे हंसे जाते हैं ' यह अर्थ ध्वनित होता है ] । क्या करते हुए स्खलित होते हैं ' द्वयं ' अनुवृत्ति और व्यावृत्तिरूप लक्षणके धारक जो दो प्रत्यय हैं, उनको ' तदन्तः ' कहते हुए स्खलित होते हैं । किससे इन दो प्रत्ययोंको कहते हुए स्खलित होते हैं ' इस आशंकामें कहते हैं कि ' परात्मतत्त्वात् ' पदार्थोंसे भिन्न होनेके कारण अन्य और आपसमें एक दूसरेकी अपेक्षा ( जरूरत ) को नहीं धारण करनेवाले ऐसे जो सामान्य और विशेष हैं, उनका जो आत्मतत्त्व अर्थात् अनुवृत्ति तथा व्यावृत्तिरूप स्वरूप है, उससे अर्थात् उसका आश्रय करके [ यहांपर ' गम्यपपः कर्मीधारे ' इस सूत्रसे पंचमी विभक्ति हुई है ] कैसे परात्मतत्त्वसे ' इस आशंकापर कहते हैं ' अतथात्मतत्त्वात् ' [ अन्य मतियोंद्वारा माना हुआ जो परात्मतत्त्व है वह सत्य न हो इसलिये यह विशेषण दिया गया है ] जिस एकान्तभेदरूप लक्षणके धारक प्रकारसे वैशेषिकोंने माना है, उस प्रकार नहीं है स्वरूप जिसका ऐसे परात्मतत्त्वसे । क्योंकि, सामान्य तथा विशेष ये दोनों पदार्थोंमें व्याप्त होकर स्थित है और वैशेषिकोंने इन दोनोंको पदार्थोंसे पर ( जुदे ) माने है । परका अर्थ अन्य है और वह अन्यपना सर्वथा भेद माने विना नहीं हो सकता है ।

**किञ्च पदार्थेभ्यः सामान्यविशेषयोरेकान्तभिन्नत्वे स्वीक्रियमाणे एकवस्तुविषयं अनुवृत्तिव्यावृत्तिरूपं प्रत्ययद्वयं नोपपद्यते । एकान्ताभेदे चान्यतरस्यासत्त्वप्रसङ्गः, सामान्यविशेषव्यवहाराऽभावश्च स्यात् सामान्यविशेषोभयात्मकत्वेनैव वस्तुनः प्रमाणेन प्रतीतेः । परस्परनिरपेक्षपक्षस्तु पुरस्तान्निर्लोठयिष्यते । अत एव तेषां वादिनां स्खलनक्रियोपहसनीयत्वमभिव्यज्यते । यो ह्यन्यथा स्थितं वस्तुस्वरूपमन्यथैव प्रतिपद्यमानः परेभ्यश्च तथैव प्रज्ञापयन् स्वयं नष्टः परान्नाशयति न खलु तस्मादन्य उपहासपात्रम् । इति वृत्तार्थः ॥ ४ ॥**

और यह भी विशेष है कि, यदि पदार्थोंसे सामान्य और विशेषके सर्वथा भेद मानलिया जाये, तो एक वस्तुमें विषयके धारक अनुवृत्ति और व्यावृत्तिरूप दो प्रत्यय सिद्ध न होवें । तथा यदि सर्वथा अभेद मानें तो दोनोंमेंसे किसी एकके असत्वका प्रसंग आवे, और सामान्यविशेषरूप जो व्यवहार है, उसका भी अभाव होवे । क्योंकि, प्रमाणद्वारा सामान्य तथा विशेष इन दोनों रूपतासे ही वस्तुकी प्रतीति होती है अर्थात् सामान्य-विशेष स्वरूप ही पदार्थ प्रमाणसे जाना जाता है । [ सामान्य और विशेष ये दोनों परस्पर अपेक्षा

[illegible] है, वह भी कहा जाता है, इसलिये अनेक अर्थोंके [illegible] इसी लिये अनेकान्तोंके [illegible] किसी ग्रन्थकी [illegible] की गयी है। क्योंकि, जो अन्य मतवालोंके लिये अनुचित [illegible] है और अन्य पुरुषोंको भी अनिष्ट [illegible] है, वह बात जानकर पण्डित पुरुषोंको नहीं करना चाहिये। इसलिये विद्वानको उसके लिये कोई [illegible] नहीं है। इसलिये यह [illegible] है। ५ ॥

अथ तत्त्वविप्लवसंरक्षणाभिलाषी पूर्वपक्षयति ।

अब [illegible] जो एकान्त सिद्धान्त [illegible] अनित्य [illegible] है, उन दोनों एकान्तवादोंमें दोष देते हुए आचार्य अग्रिम कारिका कहते हैं।—

आदीपमाव्योम समस्वभावं स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु ।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः ॥ ६ ॥

कारिकार्थ।—दीपकसे लेकर आकाश पर्यन्त सभी पदार्थ समान स्वभावके धारक हैं। क्योंकि, सब ही पदार्थ स्याद्वादकी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करते हैं। तथापि उनमें दीपक उत्पन्न होनेके ही पदार्थ सर्वथा अनित्य है और आकाश अर्थात् जितने ही पदार्थ सर्वथा नित्य हैं। इस प्रकार आपकी आज्ञासे द्वेष रखनेवालोंके अर्थात् ऐकान्तिक मतावलम्बियोंके प्रलाप हैं ॥ ६ ॥

भाष्यार्थ। आदीपं दीपादारभ्य आव्योम व्योम यावत् मर्यादीकृत्य तत्सर्वं वस्तु पदार्थसमूहः स्वभावसमत्वं समस्वभावत्वं। स्याद्वादः। स्यादेका कश्चिद् अनेकौ। किंरूपः—वस्तुनः सकाशं अनेकान्तात्मकत्वमिति सूत्रात्। तथा च स्याद्वादमञ्जरी।—"अनेकान्तात्मकमयीलपुष्पं वस्तु" इति। स्यात्कथञ्चिदर्थेन कुत्र चित् विशेषणाद्योगेन हेतुनाद्। स्याद्वादमुद्रानतिभेदि स्यादित्यव्ययमनेकान्तगर्भद्योतकम्। तत्। स्याद्वादोऽनेकधर्मात्मपदार्थो नित्यानित्यादयनेकधर्मैकधर्मत्वस्वरूपम् इति यावत्। तथा सूत्रात् मर्यादेति वा आङ्गतिभिन्नधि आविकलार्थतिरिक्ते स्याद्वादमुद्रानतिभेदि। यथा हि स्याद्वादिनिष्ठे

राजनि राज्यश्रियं शासति सति सर्वाः प्रजास्तन्मुद्रां नातिवर्त्तितुमीशते। तदतिक्रमे तासां सर्वार्थहानिभावात् । एवं विजयिनि निष्कण्टके स्याद्वादमहानरेन्द्रे तदीयमुद्रां सर्वेऽपि पदार्था नातिक्रामन्ति । तदुल्लङ्घने तेषां स्वरूपव्यवस्थाहानिप्रसक्तेः ॥



व्याख्यार्थः—'आदीपं' दीपकसे लेकर 'आव्योम' आकाशपर्यन्त 'वस्तु' सब पदार्थोंका स्वरूप 'समस्वभावं' समान (एकसे) स्वभाववाला है। किंच हम 'वस्तुका स्वरूप द्रव्य और पर्यायरूप है' ऐसा कहते हैं। और वाचकमुख्य (श्रीउमास्वाति)ने भी "जो उत्पाद (उत्पत्ति) व्यय (नाश) तथा ध्रौव्य (नित्यता)से युक्त है, वह सत् (वस्तु) है" इसी प्रकार वस्तुका लक्षण कहा है। सब वस्तु समान स्वभावका धारक कैसे है? इस आशंकामें विशेषण द्वारा हेतुका कथन करते हैं। 'स्याद्वादमुद्रानतिभेदि' 'स्यात्' यह अनेकान्तको सूचित करनेवाला अव्यय है। इस कारण स्याद्वादका अर्थ अनेकान्तवाद अर्थात् नित्य, अनित्य आदि अनेक धर्मोंके धारक एक वस्तुका स्वीकार करना है। उस स्याद्वादकी मुद्रा अर्थात् मर्यादाका उल्लंघन करनेवाला नहीं है। भावार्थ—जैसे न्यायमें ही तत्पर ऐसा कोई राजा राज्यलक्ष्मीका शासन करता हो, तो सगरी प्रजा उसकी मुद्रा (मोहर) का उल्लंघन नहीं कर सकती है। क्योंकि, उसके उल्लंघन करनेसे उस प्रजाके सर्वस्व (सब धन)का नाश हो जावे। इसीप्रकार कंटक (शत्रु) रहित, और विजयी ऐसे स्याद्वादरूपी महाराजके विद्यमान रहते हुए, सब ही पदार्थ उस स्याद्वादकी मुद्राका उल्लंघन नहीं कर सकते हैं। क्योंकि, उसका उल्लंघन करनेपर उनके अपने स्वरूपकी जो व्यवस्था (स्थिति) है, उसके नाशका प्रसंग होता है॥

सर्ववस्तूनां समस्वभावत्वकथनं च पराभीष्टस्यैकं वस्तु व्योमादि नित्यमेव, अन्यच्च प्रदीपाद्यनित्यमेव, इति वादस्य प्रतिक्षेपबीजम्। सर्वे हि भावा द्रव्यार्थिकनयापेक्षया नित्याः, पर्यायार्थिकनयादेशात्पुनरनित्याः। तत्रैकान्तानित्यतया परैरङ्गीकृतस्य प्रदीपस्य तावन्नित्यानित्यत्वव्यवस्थापने दिङ्मात्रमुच्यते ।

आचार्यने जो 'सब पदार्थ समान स्वभावके धारक हैं' ऐसा कहा है, सो 'आकाश आदि एक पदार्थ नित्य ही हैं और दूसरे प्रदीप आदि पदार्थ अनित्य ही हैं' इसप्रकार जो वैशेषिकोंका माना हुआ एकान्तवाद है, उसके खंडन करनेमें बीज (कारण)



१ प्रध्वंसात्, अपेक्षातो वा ।

है अर्थात् [illegible] इसके [illegible] [illegible] [illegible] होंगे। क्योंकि, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] भिन्न है और [illegible] [illegible] अपेक्षा [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] दोनों धर्म सिद्ध [illegible] [illegible] करते हैं।

तथा हि– [illegible] परमाणव। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। न [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible]। न [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible]॥

जो ऐसा [illegible] हैं कि, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] समझते हैं, वे [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ( [illegible] ) [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं है। क्योंकि, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है। और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं हो सकती है। क्योंकि, [illegible] ( [illegible] ) [illegible] [illegible] [illegible] ( [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ) [illegible] ( [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ), [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ), [illegible] ( [illegible] ), [illegible] ( [illegible] ) [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] होता है, [illegible] [illegible] [illegible] नहीं होता है। क्योंकि, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ( [illegible] ) [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] होते हैं अर्थात् [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] करते हैं। और [illegible] [illegible] ( [illegible] [illegible] ) [illegible] [illegible] है। क्योंकि, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ( [illegible] [illegible] ) है, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ही [illegible] है। और यदि [illegible] [illegible] [illegible] न मानो तो [illegible] [illegible] भी नहीं हो सकता है। इसलिये सिद्ध हुआ कि [illegible] [illegible] है।

अथ यच्चाक्षुषं तत्सर्वं स्वप्रतिभासे आलोकमपेक्षते, न चैवं तमस्तत्कथं चाक्षुषम् । नैवम् । उलूकादीनामालोकमन्तरेणापि तत्प्रतिभासात् । यैस्त्वस्मदादिभिरन्यच्चाक्षुषं घटादिकमालोकं विना नोपलभ्यते, तैरपि तिमिरमालोकयिष्यते । विचित्रत्वाद्भावानाम् । कथमन्यथा पीतश्वेतादयोऽपि स्वर्णमुक्ताफलाद्या आलोकापेक्षदर्शनाः, प्रदीपचन्द्रादयस्तु प्रकाशान्तरनिरपेक्षाः । इति सिद्धं तमश्चाक्षुषम् ।

शंका—जो चाक्षुष पदार्थ है, वह अपने देखे जानेमें प्रकाश ( उजाले ) की अपेक्षा ( जरूरत ) रखता है । और तम ऐसा नहीं है अर्थात् विना प्रकाशके ही देखनेमें आता है । इसलिये आप तमको चाक्षुष कैसे कहते हैं ? समाधान—यह तुम्हारी शंका ठीक नहीं है । क्योंकि, जो चाक्षुष पदार्थ तुमको प्रकाशके विना नहीं दीख पड़ता है, वही चाक्षुष पदार्थ उलूक ( घूघू ) आदिको प्रकाशके विना भी दीखनेमें आता है । और जिन हम तुम वगैरहको जो दूसरा चाक्षुष घटादिक पदार्थ प्रकाशके विना नहीं दीखता है, उन्हीं हम तुम वगैरहको चाक्षुष तम प्रकाशके विना भी देखनेमें आवेगा । क्योंकि, पदार्थ विचित्र हैं अर्थात् सब पदार्थ एकसे नहीं हैं । यदि पदार्थोंमें विचित्रता न हो, तो पीत ( पीला ) सुवर्ण और श्वेत ( सफेद ) मोती वगैरह तो अपने देखे जानेमें प्रकाशकी अपेक्षा क्यों रखते हैं ? और पीत ऐसा भी दीपक तथा श्वेत ऐसा भी चंद्रमा आदि पदार्थ अपने देखे जानेमें अन्य प्रकाशकी अपेक्षा क्यों नहीं रखते हैं ? भावार्थ—पदार्थ विचित्र हैं, इस कारण जैसे सोना मोती आदि कितने ही पदार्थ प्रकाशके विना नहीं दीख पड़ते हैं, और दीपक आदि प्रकाशके विना दीख पड़ते हैं, उसी प्रकार हम तुम घट आदि पदार्थोंको प्रकाशसे देखते हैं और तमको विना प्रकाशके ही देखते हैं । इस प्रकार ' तम चाक्षुष है' यह जो हमारा कथन है सो सिद्ध हो गया ।

रूपवत्त्वाच्च स्पर्शवत्त्वमपि प्रतीयते । शीतस्पर्शप्रत्ययजनकत्वात् । यानि त्वनिविडावयवत्वमप्रतिघातित्वमनु, द्भूतस्पर्शविशेषत्वमप्रतीयमानखण्डावयविद्रव्यप्रविभागत्वमित्यादीनि तमसः पौद्गलिकत्वनिषेधाय परैः साधनान्युपन्यस्तानि तानि प्रदीपप्रभादृष्टान्तेनैव प्रतिषेध्यानि । तुल्ययोगक्षेमत्वात् ।

और तम रूप ( नीलवर्ण ) को धारण करता है, इसलिये स्पर्शका धारक भी प्रतीत होता है । क्योंकि, शीत स्पर्शकी प्रतीतिको उत्पन्न करता है अर्थात् ज्यों ज्यों अधिक अंधकारमें जाते हैं त्यों त्यों ठंडापन मालुम पड़ता है । इसलिये तम जैसे-

॥ १४ ॥

कल्पना है, जिसे ही व्याख्या की गई है। और जो लोग वैज्ञानिक व दार्शनिक ऐसे कहते हैं " अनेकान्तवाद : अर्थात् अनिश्चितवाद है ) ( अनिश्चितवाद ( जिसमें कोई निश्चय न होना ) व अकुशलकर्मसिद्धान्त ( जिसमें अच्छे बुरे कर्मों का कोई निश्चय न होना ) व असत्कार्यवाद ( जिसमें कार्योत्पत्ति उपादेय विद्यमान नहीं मानी जाती ) व क्षणिकवाद कहते हैं " इनका खण्डन होना चाहिये। क्योंकि, यह वैज्ञानिक नहीं है। समाधान—जैसी जो लोग पुद्गलका अस्तित्व मानते हैं और बौद्धादिक कहते हैं कि, इस सिद्धान्तमें नहीं है। क्योंकि, "पञ्चास्तिकाय जो जैनसिद्धान्त ग्रंथ है, उसके समान कोई बौद्धादिके शास्त्र नहीं होते हैं। और सर्वज्ञ प्रणीत ग्रंथ नहीं है। इसी लिये वैज्ञानिक नहीं है। सांख्य वैशेषिक आदि दर्शनोंके शास्त्र भी ईश्वर कृत हैं। और आप्त कर्तृक नहीं होनेसे वैज्ञानिक नहीं हैं। जैसे, कि. वेद अपौरुषेय माने हैं। वास्तु इनके अर्थ ( तुमारे ) सही होते हैं। " इत्यादि आक्षेप जैसे हो सकता है कि. तुमने भी तीर्थंकरों प्रणीत सिद्धान्तमें वैज्ञानिक नहीं है. उसमें भी जो कुछ अर्थ नहीं है वे सही हैं ' इसलिये जैन सूत्रमें तीर्थंकरों प्रणीत वैज्ञानिक नहीं है. इसी प्रकार इसको सब में विज्ञानिक मानना चाहिये।

न च वाच्यं तैजसा: परमाणव: सर्वे सर्वावलोक प्रतिघातिनश्च प्रसिद्धा: सूक्ष्मतयाऽनन्तानन्तसंख्यानां पिण्डदर्शनकार्यकारित्वाभावादिति दूषणमिति। कस्मादेवं तदिन्द्रियसंयोगेषु सामान्यस्वरूपपरिणामि सर्वेरभ्युपगम्यमानं घ्राणेन्द्रियग्राह्यं। इति सिद्धो निर्याऽनित्य: शब्द:। । कदापि निर्योगावर्यवं देशोपलब्धेरेकस्यापि नयनापपर्यवसानाद् यवीयोलाभाच्चेति निरवयवत्वाच्च नित्यत्वसिद्धि एव।

और ' जैसके परमाणु अति सूक्ष्म कैसे माने गये। अर्थात् सूक्ष्मतर कहे हो तो ठीक है ! ' ऐसी शंका न करनी चाहिये। क्योंकि. उन सब परमाणुओं समूह जो स्कन्ध है, उसके अवगाह करनेमें उपयोगी होते हैं। अर्थात् अनन्तानन्त विस्रसोपचय पुद्गलोंमें विस्रसय स्वयं भी अवगाह होते हैं। यह नियम नहीं है कि, जैसके चाक्षुषोंमें सम्बन्ध हो वही। क्योंकि, जिसे इन्द्रियके अयोग्यके यदि। संस्कार ( सम्बन्धमात्र ) अवश्यक यदि हो नहीं है, उसके अभावका ( कमि इन्द्रिय )

ऐसे धूमरूप कार्यकी उत्पत्ति देखते हैं। भावार्थ—जैसे गीले इंधनके संयोगसे अग्नि धूमको उत्पन्न करता है। उसी प्रकार सामग्रीविशेषसे तेजके परमाणु भी तमको उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार दीपकमें नित्य तथा अनित्य ये दोनों धर्म सिद्ध हुए। और बुझनेके पहले जब कि जलता हुआ दीपक है, उसमें भी नये नये पर्यायोंकी उत्पत्ति तथा नाश होनेसे अनित्यत्व है। और उन सभी पर्यायोंमें दीपकका संबंध है, इसलिये नित्यत्व है। इस प्रकार दीपकमें नित्य और अनित्यरूप दोनों ही धर्म रहते हैं॥

**एवं व्योमाप्युत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वान्नित्यानित्यमेव। तथा हि—अवगाहकानां जीवपुद्गलानामवगाहदानोपग्रह एव तल्लक्षणम्।" अवकाशदमाकाशम्" इति वचनात्। यदा चावगाहका जीवपुद्गलाः प्रयोगतो विस्रसातो वा एकस्मान्नभःप्रदेशात्प्रदेशान्तरमुपसर्पन्ति तदा तस्य व्योम्नस्तैरवगाहकैः सममेकस्मिन्प्रदेशे विभागः उत्तरस्मिंश्च प्रदेशे संयोगः। संयोगविभागौ च परस्परं विरुद्धौ धर्मौ, तद्भेदे चावश्यं धर्मिणो भेदः। तथा चाहुः " अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्चेति "। ततश्च तदाकाशं पूर्वसंयोगविनाशलक्षणपरिणामापत्त्या विनष्टम्। उत्तरसंयोगोत्पादाख्यपरिणामानुभवाच्चोत्पन्नम्। उभयत्राकाशद्रव्यस्यानुगतत्वाच्चोत्पादव्ययध्रौव्ययोरेकाधिकरणत्वम्।**

इसी प्रकार उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य ( स्थिरता ) स्वरूप होनेसे आकाश भी नित्य और अनित्य, इन दोनों धर्मोंका ही धारक है। तथाहि—'अवकाशको देनेवाला आकाश है' इस वचनसे 'आकाशके भीतर रहनेवाले जो जीव तथा पुद्गल हैं, उनको स्थान देकर, उनका उपकार करना' यही आकाशका लक्षण है। और जब उसमें रहनेवाले जीव तथा पुद्गल किसी दूसरेकी प्रेरणासे अथवा अपने स्वभावसे एक आकाशके प्रदेशसे दूसरे आकाशके प्रदेशमें गमन करते हैं; तब उस आकाशका उन रहनेवाले जीव और पुद्गलोंके साथ एक प्रदेशमें तो विभाग ( वियोग ) होता है। और दूसरे प्रदेशमें संयोग होता है। भावार्थ—लोकाकाश असंख्यात प्रदेशी है, इसलिये जब इसके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें जीव पुद्गल जाते हैं, तब आकाशके



१ उपकारः। २ पुरुषप्रकल्पितः। ३ स्वभावतः। ४ प्राप्तिपूर्विकाऽप्राप्तिपूर्विकाभागः। ५ अप्राप्तिपूर्विका प्राप्ति संयोगः। ६ उभयथा भेदो वस्तूनां लक्षणभेदात्कारणभेदाच्चेति। अयमेव हि घटपटयोर्भेदो यत्तयोर्हरणादिक्रीतत्वादिविरुद्धधर्माध्यासः॥ अयमेव हि भेदहेतुर्वा यन्मृत्पिण्डादितन्तवादिकारणभेदः।

[illegible] विभाग और दूसरेके संयोग होता है। और पर्याय शब्दका विभाग ये होनों शब्दार विशेष दर्शानेवाले हैं। सर्वत्र जहां [illegible] है, वहां विभाग, वहीं [illegible] है और जहां विभाग कहा है, वहां संयोग नहीं यह फलित है। इसीसे कहा कि, संयोग और विभागके बिना दूसरा अर्थात् [illegible] विभाग कुछ नहीं हो सकते। इन दोनों पर्यायों को विभाग रूप गुणोंको वाला [illegible] ) जो आकाश है, उसके भी अवयव नहीं होते दूसरा [illegible] तो ही कहा है कि, जैसे " विभु परमाणु लक्षण है, तो जो देश है और जो भिन्न २ प्रदेशोंमें होता है, उसी देशका आश्रय है। तात्पर्य—आकाशका एकत्वके लिये अवयव प्रदेशोंके बिना होते हैं। जैसे घट और पटमें यही भेद है कि, घट के अवयव अवयवी दोनोंको पाना पड़ता है और पट। इस : पुस्तके पाठमें सन्दिग्ध पाठोंके पाठ पड़ता है। और यहां इन शंकाओंके बिना है कि; पट तो पूर्वकालमें विभाग आकाशसे उत्पन्न होता है और [illegible] आदि अवयवोंसे उत्पन्न होता है। और अब इनोंके लिये [illegible] बिना दूसरा, तो, यह आकाश पूर्वोक्तोंके [illegible] और यह पहलेके निरुपकरण परिणामको प्राप्त करेंगे तब दूसरा और दूसरे अवयवोंसे [illegible] दूसरा कर्म आदि। [illegible] (संयोगके उत्पाद ; उत्पत्ति ) नामक परिणामको अनुभवन ( पाता ) करेंगे यह असंगत उत्पन्न हुआ। और आकाश इस तरह होनेसे विभाग और संयोगका अवश्यमेव अनुभवन ( पाता ) है। [illegible] ; है अर्थात् विभाग है, यहां यहां यही मुख्य है, इसलिये उत्पन्न और नाश इन दोनोंका एक आकाश ही अधिकरण अर्थात् स्थानका स्थान है॥

तथा च "पदार्थधर्मसंग्रहकारेणैकरूपं नित्यम्" इति नित्यलक्षणमाचक्षाणेन सदृशपरिणामः। एतच्चयुक्तम्। "तद्भावाव्ययं नित्यम्।" इत्यत्र तु सर्वं नित्यलक्षणम्; कथञ्चिद्विनाशरूपो। यदप्येतदपि तत्रैवोक्तम्-अनित्यत्वाद्यया ज्ञेयं तत्तित्यत्वविधिर्न सर्वथैव सदपलापात्। यदि हि सत्यन्तप्रणाशिलक्षणं नित्यमिष्यते तदोत्पादकारणयोगानित्यत्वात्कार्यस्य। । य च कालोपाधिके नित्यत्वाद्यानि। । "त्रयो पर्यायविधुते पर्यायो द्रव्यमार्जितम्।। ५ अहो बोध किंरूपा दृष्टा ।।तेन वैद्य यथा ॥ ६ ।" इति वचनात्। न चाकाशं न प्रत्यक्षम्।

---

[illegible]

और इस पूर्वोक्त कथनसे " जो कभी अपने स्वरूपसे गिरै नहीं, अर्थात् नष्ट न हो, उत्पन्न न हो और स्थिर एकरूप रहै, वह नित्य है " ऐसा जो वादियोंने नित्यका लक्षण कहा है, उसका खंडन होगया। क्योंकि, जिसका नाश और उत्पाद न हो और सदा स्थिर एक रूप रहै, ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं है। और जैनतत्त्वार्थसूत्रकारने " तद्भावाव्ययं नित्यम् " ( पदार्थके लगावका जो नाश न होना है, सो नित्य है ) यह जो नित्यका लक्षण कहा है, वह तो सत्य है। क्योंकि, 'उत्पाद और विनाशके होनेपर भी संबंधित स्वरूप जो पदार्थका भाव (स्वरूप) है उससे जो नष्ट न हो अर्थात् रहित न हो, वह नित्य है' यह जो नित्यका अर्थ है, वह पदार्थमें घटता हुआ है अर्थात् सिद्ध है। और यदि वादियोंका माना हुआ जो अप्रच्युत आदि पूर्वोक्त लक्षणका धारक नित्य है, उसको स्वीकार किया जाय तो उत्पाद और व्ययके निराधारताका प्रसंग हो जावे अर्थात् उत्पाद और व्ययका कोई भी पदार्थ आधार न रहै। और हम जो उत्पाद तथा व्ययका पदार्थमें संयोग मानते है, उससे पदार्थकी नित्यतामें कोई हानि नहीं होती है। क्योंकि, " पर्यायके विना द्रव्य और द्रव्यके विना पर्याय किसीने किसी समय किसी स्थलमें किसी रूपवाले किसी प्रमाणसे भी नहीं देखे है " अर्थात् कोई भी कहीं भी किसी भी प्रमाणसे पर्याय रहित द्रव्य और द्रव्यरहित पर्याय नहीं देख सकता है। १। ऐसा जैनशास्त्रोंका वचन है। और आकाश द्रव्य नहीं है ऐसा नहीं है; अपि तु है ही है।

**लौकिकानामपि घटाकाशं पटाकाशमिति व्यवहारप्रसिद्धेराकाशस्य नित्याऽनित्यत्वम्। घटाकाशमपि हि यदा घटापगमे पटेनाक्रान्तं तदा पटाकाशमिति व्यवहारः। न चायमौपचारिकत्वादप्रमाणमेव। उपचारस्यापि किञ्चित्साधर्म्यद्वारेण मुख्यार्थस्पर्शित्वात्। नभसो हि यत्किल सर्वव्यापकत्वं मुख्यं परिमाणं तत्तदाधेयघटपटादिसम्बन्धिनिजस्वरूपपरिणामवशात्कल्पितभेदं सत्प्रतिनियतदेशव्यापितया व्यवहियमाणं घटाकाशपटाकाशादितत्तद्व्यपदेशनिबन्धनं भवति। तत्तद्घटादिसम्बन्धे च व्यापकत्वेनावस्थितस्य व्योम्नोऽवस्थान्तरापत्तिस्ततश्चावस्थाभेदेऽवस्थावतोऽपि भेदस्तासां ततोऽविष्वग्भावात्। इति सिद्धं नित्यानित्यत्वं व्योम्नः।**

तथा जैनी ही आकाशको नित्य-अनित्य मानते हैं, ऐसा नहीं है। क्योंकि, लौकिक अर्थात् सर्वसाधारण जन है, उनके भी " यह घटका आकाश है, यह पटका आकाश है" ऐसा व्यवहार प्रसिद्ध है। इस लिये वे भी आकाशको नित्यानित्य ही मानते हैं। क्योंकि घटका आकाश जब घटके दूर होजानेपर पटसे युक्त होता है, तब पटाकाश ऐसा व्यवहार होता है। और यह व्यवहार उपचारसे

लका हुआ है इस कालसे भगवान है, जब कि हम नहीं थे और रहेंगे भी। क्योंकि, जो उत्पन्न होता है, वह ही किसी दृष्टान्तसे मुख्य अर्थके सदृश कालान्तर होता है अर्थात् इस अर्थसे असदृश ही कहलाता है। क्योंकि, असदृशका जो गर्भत्वादिक [ हमसे भिन्न कह रहे ; अब मुख्य विषय है. यह उसमें [हेतुमत्ते से यह पद आये हैं, उस पदार्थादिसे तीक्ष्ण स्वरोंवाला जो सिंह विशिष्ट है, उसके समान जैसकी कायरोंको पता होता, और पतिविषय यह सति देहोंसे आत्मामेंसे उत्पन्नरूप सत्ता कालान्तर है, इस प्रकारका, कहनेवाले साथ सम्बन्धका पता होता है। और असत्कल्पसे सिद्ध जो असत्ता है, उसके भी [ ] पास आदिका [ ] होनेसे पूर्व असत्ताकी पतीति होती है ; और जब असत्ताका भेद हुआ तो उस असत्ताजोका पदार्थ जो कालान्तर है उसका भी भेद हुआ। क्योंकि, वे असत्तासे भावसे लाल [ ] होकर जाती हैं। इसलिए असत्तासे सिद्ध तथा उत्पत्ति से होनेसे गये सिद्ध हुए ॥

एवंविधुको अपि हि विरुद्धोऽनिर्वचनीय वस्तु चेष्यताम्। ६ तथा चतुष्टये विपक्षे सत्त्वस्य पर्यायस्य। पर्यायाणां पर्यवसन्नलक्षणावस्थाद्वा। ४ सूत्रार्थ पत्तिः। तत्र पर्यवसानिनामेव कर्त्रादीनामकर्तृत्वादि। सर्वस्य तु लक्षणपरिणामोऽर्थक्रियाभावादि। यदा तत्प्रत्यय हेतुसद्भावो पर्यायाणामेव भवत्यसत्त्वं तदा वर्तमानस्यो चर्यमाणस्वभावस्य विशेषः भवीतिलक्षणप्रत्ययसंयोगस्य। तत्कालतु अनागतस्यानागतस्य विशेषः वर्तमानत्वमापन्नस्य। चर्तमानतामस्य एव तस्यो चयपुराणभावसमवस्थानोऽवस्थानपरिणामवान् भवति। गोदत्त विशेषः पतिपन्नो भविष्यत्व। धर्म्मलक्षणापरित्यागस्य धर्म्मिणो विनाशानिरोधः। तथा च ते सर्वभेदवस्तुविनाशेन विनाशः। भेदाश्चोत्पत्तिविनाशयोरवस्थाः। इत्युत्पन्नपुद्गलधर्मिति ॥

गोदत्तकालसंबंधे भी कालके विना नहीं अनित्य ही गया है। जो दीर्घ सूक्ष्म कहते हैं, वे [ क्योंकि जो गोदत्त है, वह गर्ग ; अजय २ और चयन ५ इन भेदोंसे तीन पकारका है। जैसे ते पुरुषे पाणी है। जो गुणोंका जो कर्तृत्वन (चाहा) इसा लक्षक ( फला ) कहते गर्गोत्र है. यह पतीका धर्मविशिष्ट ? है। और पर्यवस भी भविष्यत् इस कालिसे होता है, यह

१ अनुमान। २ वैशेषिकाणां ॥

धर्मीका लक्षणपरिणाम २ है। अर्थात् जब यह सुवर्णकार (सोनी) वर्तमानको छोड़कर रुचक बनाता है, तब वर्तमान वर्त-मानता (विद्यमानपने रूप) लक्षणको त्याग कर अतीतता (हो चुकनेरूप) लक्षणको प्राप्त होता है। और रुचक अनागतता (होनेवाले रूप) लक्षणको छोड़कर, वर्तमानता लक्षणको ग्रहण करता है। और वर्तमानताको प्राप्त जो रुचक है, वही नवीनपने तथा पुराणेपनेको धारण करता हुआ धर्मीके अवस्थापरिणामवाला होता है। यह जो यह तीन प्रकारका परिणाम है, सो धर्मीका है। और धर्म, लक्षण, तथा अवस्था ये तीनों धर्मीसे भिन्न भी हैं तथा अभिन्न भी हैं। तथा वे धर्म लक्षण और अवस्थारूप परिणाम धर्मीसे अभिन्न हैं, इस कारण धर्मीकी नित्यतारो नित्य हैं। और धर्मीसे भिन्न होनेके कारण उत्पत्ति तथा विनाशके विषय हैं। अर्थात् अनित्य हैं। **भावार्थ**—सांख्यमतवाले पदार्थके पर्यायोंको धर्म मानते हैं। पर्यायोंमें जो कालका परिवर्तन है, उसको लक्षण कहते हैं। और वर्तमानपर्यायमें जो नया पुराणापन होता है, उसको अवस्था कहते हैं। ये तीनों किसी अपेक्षासे पदार्थसे अभिन्न होनेके कारण नित्य हैं। और किसी अपेक्षासे पदार्थसे भिन्न हैं, इसलिये अनित्य हैं। इस प्रकार पदार्थमें नित्य तथा अनित्य ये दोनों धर्म सिद्ध होते हैं।

**अथोत्तरार्द्धं विव्रियते। एवं चोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वे सर्वभावानां सिद्धेऽपि तद्धस्तु एकमाकाशात्मादिकं नित्यमेव, अन्यच्च प्रदीपघटादिकमनित्यमेव। इत्येवकारोऽत्रापि सम्बध्यते। इत्थं हि दुर्नयवादापत्तिः। अनन्त-धर्मात्मके वस्तुनि स्वाभिप्रेतनित्यत्वादिधर्मसमर्थनप्रवणाः शेषधर्मतिरस्कारेण प्रवर्तमाना दुर्नया इति तद्भ-णात्। इत्यनेनोल्लेखेन स्वदर्शनद्विषतां भवत्प्रणीतशासनविरोधिनां प्रलापाः प्रत्युक्तान्यसम्बद्धानीति वाचत्।**

अब काव्यके उत्तरार्धकी व्याख्या करते हैं। इस पूर्वोक्त प्रकारसे सब पदार्थोंके उत्पाद विनाश और ध्रौव्य स्वरूपता सिद्ध होने पर भी 'तत्' यह 'एक' आकाश, आत्मा आदि एक प्रकारके पदार्थ 'नित्यं' नित्य 'एव' ही है। और 'अन्यत्' दीपक, घट आदि दूसरे पदार्थ 'अनित्यं' अनित्य 'एव' ही है। [ यहां नित्यके साथ जो 'एव' पद लगाया गया है, वह अनित्यके साथ

१ सिद्धीवांछतुपां प्रमाणसिद्धीयूपं समस्तेदुपां वस्तूना नित्यानित्यकलापात्मकः सत्य एवाः सद्भिः। सौगतीत्पादव्ययात्मकत्वे सांख्ये अनेकान्तात्मेकांशकलङ्कशङ्कनुमाने स्युः सदा दुर्नयाः। २। इति भवदुर्नयनोल्लेखेन। ३ यद्यकलाः ३ प्रकारेण।

भी [illegible] है। और [illegible] पदार्थोंमें दुःखदायकता भी होती है। क्योंकि, "[illegible] भी [illegible] है- उनके [illegible] [illegible] और उनके [illegible] विनाश [illegible] है, उनको [illegible] [illegible] वे दुःख हैं।" यह [illegible] है। '[illegible]' [illegible] "[illegible]" [illegible] [illegible] '[illegible]' [illegible] ॥

[illegible]

[illegible] "[illegible]" [illegible] । [illegible] । [illegible] है, [illegible] है। [illegible] है, [illegible] है। [illegible] है, [illegible] है।"

[illegible] । [illegible] । [illegible] ।

तथा च स एवाह–"शब्दकारणत्वश्रवणात्संयोगविभागौ" इति । नित्याऽनित्यपक्षयोः संगलितत्वमेतच्च लेशतो भावितमेवेति ।

यहां "भाष्यकारने जो परमाणुद्रव्य और कार्य रूपसे विषयका भेद कहा है अर्थात् नित्यका विषय परमाणुद्रव्यरूप पृथ्वी और अनित्यका विषय कार्यरूप पृथ्वी मानी है। इसकारण नित्य और अनित्य इन दोनों धर्मोंका अधिकरण (पृथ्वीरूप धर्मी) एक नहीं है" ऐसा न कहना चाहिये। क्योंकि, पृथिवीत्वका अव्यभिचार है। अर्थात् पृथिवीत्व जो है, वह परमाणुरूप तथा कार्यरूप दोनों पृथिवियोंमें ही वर्त्तमान है। जल आदिकमें भी उन्होंने इसीप्रकार नित्य तथा अनित्य रूप दोनों धर्म माने है। और संयोग तथा विभागको स्वीकार करनेके कारण उन्होंने आकाशमें भी युक्तिसे अनित्यता मानी ही है। सो ही आकाशमें संयोग और विभागको स्वीकार करनेके लिये प्रशस्तभाष्यकार कहते है कि,–"आकाश शब्दका कारण है, इस वचनसे आकाशमें संयोग और विभाग हैं।" और इस कथनसे आकाश नित्य तथा अनित्य इन दोनों पक्षोंमें ही मिला हुआ है अर्थात् नित्य अनित्य रूप है। यह आशय किंचित्मात्र भाष्यकारने प्रकट किया ही है ॥

प्रलापप्रायत्वं च परवचनानामित्थं समर्थनीयम् । वस्तुनस्तावदर्थक्रियाकारित्वं लक्षणम् । तच्चैकान्तनित्याऽनित्यपक्षयोर्न घटते । अप्रच्युताऽनुत्पन्नस्थिरैकरूपो हि नित्यः । स च क्रमेणार्थक्रियां कुर्वीत, अक्रमेण वा । अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणां[1] प्रकारान्तरासम्भवात् । तत्र न तावत्क्रमेण । स हि कालान्तरभाविनीः क्रियाः प्रथमक्रियाकाल एव प्रसह्य कुर्यात् । समर्थस्य कालक्षेपायोगात् । कालक्षेपिणो वाऽसामर्थ्यप्राप्तेः । समर्थोऽपि तत्तत्सहकारिसमवधाने तं तमर्थं करोतीति चेत्–न तर्हि तस्य सामर्थ्यम् । अपरसहकारिसापेक्षवृत्तित्वात् । सापेक्षमसमर्थमिति न्यायात् ।

उन वादियोंके वचन प्रलापके समान है, ऐसा जो आचार्यने कहा है, उसका समर्थन इस प्रकार करना चाहिये। "अर्थक्रियाको जो करै वह वस्तु (पदार्थ) है" यह पदार्थका लक्षण है। और वह लक्षण एकान्त नित्य तथा एकान्त अनित्य इन दोनों



१ परस्परपृथग्भूतानां क्रियाणां ।

वहाँ ही नहीं लगता है  क्योंकि, "विलम्ब: कर्तव्य नहीं न हो, जो कार्य उससे न हो सके उसे तो छोड़ ही देना चाहिये" यह न्यायसिद्ध होने पर उक्त नियम व्यर्थ है। यहाँ इस (शंका) का समाधान करते हैं कि, यह नियमवाक्य कर्मक्षय ( निर्जरा ) के लिये अथवा संवर ( नवीन कर्मबन्धका रोकना ) के लिये है। क्योंकि, पापका निमित्तभूत पाप कर्मोंका ही किया हुआ, और अपने रूप से अथवा अन्य रूप से उदयमें आकर फल देनेवाला ही कर्म होता है। अब यदि इस से यह समझा जाय कि "यह नियम कर्मक्षयके लिये ही है" तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि, यह नियमवाक्य ज्ञानका है, इसलिये यहाँ संवर ही नियमसे होता है, ऐसा समझना चाहिये। अथवा इस को ही (अर्थात्) तो यह समझना है। फलतः तो, तो पापकर्म है, वह कर्मक्षय करनेमें कभी समर्थ नहीं होता है। कदाचित् जो कर्मक्षय करनेमें निमित्त होता है, वह असंभव है। अब इसपर यदि यह कहें कि जो पापरूप होता है, वह भी उत्तर २ शुभकर्मों ( उदयादि ) के पापरूप ( विरुद्ध ) का भी उत्तर २ अर्थात् ( संक्रमण ) होने पर शुभ रूप होता है तो यह नियम कदापि लागू नहीं होगा। क्योंकि, यह नियम पूर्व बद्ध अशुभकर्मोंकी अपेक्षासहित कहा है, और जो पूर्वोक्त प्रकार से, वह भी असंभव होता है' यह आशय है ॥

न चैतत् सङ्क्लेशविशोधिकल्पे। यतोऽयं तु कार्यसंभवसद्भावनियमस्तत्संभवमात्रं नानुपक्रमेण इति चेत्—यद्यपि स भावोऽसमर्थः प्रागवस्थां वा। तथापि तत्रोत्कर्षणादिकरणप्रयोगसद्भावे तान्युपेक्षते। न पुनर्निवर्तयति। नन्वेवमपि चीर्णचीर्णतावस्थानिवारणेनासद्भावमात्रमिदमुपक्रमाणां फलमिति व्यर्थता। सत्यं किन्तु सत्यं तावदिदम्। किञ्चिदुपक्रमेण न कृतं। यदि वोपक्रमेण नाम पूर्वकालभाविनियमाभावात्तावन्नियमः स्यात्। उपक्रमेण चोत्पन्नेन किमपरापरोत्पत्तिनियमः प्रेक्षावतां क्रियत इति पूर्वकृतः। अपेक्षते च फलं क्रियमाणः। इति तावन्नियमसंभवो गुरुकर्मविषयतया। फलकल्पेनेन सिद्धान्तिकलक्षणेन।

यदि यहाँ यह कहें, कि यह नियम व्यर्थ क्यों। अशुभकी अपेक्षा शुभका बहुत कम है किन्तु सङ्क्लेशविशुद्धिके अनियम नहीं होता। तुल्य कर्म ही, उन संक्लेशविशुद्धियोंको अपेक्षा करता है। मैं इस ( कहने ) पर कहता हूँ कि, यह नियमवाक्य पापरूप है' का असमर्थ है। ( यदि यह नियम है तो संक्लेशविशुद्धियोंकी पुण्य रूपमें ) अपेक्षा करता है अर्थात् संक्लेशविशुद्धियोंके लिये

नहीं होते हुए उन कार्योंकी उपेक्षा क्यों करता है। शीघ्र ( झटपट ) ही उन कार्योंको क्यों नहीं बना डालता है। यदि वादी यह कहे कि, वृक्षका बीज समर्थ है, तो भी जब उसके साथ पृथिवी, जल और वायु आदि सहकारी कारणोंका संयोग होता है, तभी वह बीज अंकुरेको उत्पन्न करता है और पृथिवी आदि सहकारियोंका अभाव हो तो, वह समर्थ भी बीज अंकुरको उत्पन्न नहीं कर सकता है। इसी प्रकार नित्य पदार्थ समर्थ है, तो भी सहकारियोंके विना कार्यको नहीं करता है। सो हम ( जैनी ) पूछते है कि, सहकारी उस नित्यपदार्थका कुछ उपकार करते है या नहीं। यदि वादी यह कहै कि, "सहकारीकारण जो है वे पदार्थका कुछ भी उपकार नहीं करते है।" तो वह पदार्थ जैसे सहकारियोंके मिलनेके पहले अर्थक्रियामें उदास था; वैसे ही सहकारियोंका संयोग होने पर भी अर्थक्रियामें उदास क्यों नहीं रहता है अर्थात् सहकारी जब पदार्थका उपकार नहीं करते है तो जैसे सहकारियोंके विना वह पदार्थ कार्यको नहीं कर सकता था वैसे ही उन सहकारियोंके सद्भावमें भी कार्यको न करै। कदाचित् वादी कहैं कि जो सहकारी हैं, वे पदार्थका उपकार करते है तो हम ( जैनी ) पूछते है कि सहकारी जो उपकार करते हैं, वह पदार्थसे अभिन्न (मिला हुआ) करते हैं, वा भिन्न करते हैं। यदि सहकारी पदार्थसे अभिन्न ही उपकार करते है, ऐसा कहो, तो सिद्ध हुआ कि वह नित्यपदार्थ ही अर्थक्रियाको करता है। और जब ऐसा हुआ तो जो वादी लाभको चाहते थे उनके मूलका भी नाश हुआ। क्योंकि, कृतकपनेसे उस पदार्थके अनित्यताकी प्राप्ति होगई। **भावार्थ**—यदि वादी सहकारियोंके उपकारको नित्यपदार्थसे अभिन्न कहै, तो वह नित्यपदार्थ ही अर्थक्रियाको करता है यह सिद्ध हुआ। और तब जैसे कोई व्याजकी इच्छासे किसीको द्रव्य देवै और फिर वह द्रव्य लेनेवाला पीछा द्रव्य न दे तो व्याज चाहनेवालेके व्याजकी तो हानि हो ही हो परन्तु मूलधन भी नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार पहले जो 'नित्यपदार्थ क्रमसे अर्थक्रिया करता है वा अक्रमसे' यह प्रश्न किया था; इसका तो उत्तर वादी दे ही न सके और लियायमें अपने उस नित्यपदार्थको अनित्य बना बैठे। क्योंकि, जो पदार्थ अपने स्वभावकी सिद्धिमें दूसरेके व्यापारकी इच्छा करता है, वह कृतक कहलाता है और जो कृतक होता है वह अनित्य होता है। यहां पर वादीके कथनानुसार जब पदार्थने सहकारियोंकी अपेक्षा रक्खी तो वह पदार्थ कृतक हुआ और कृतक होनेसे वह पदार्थ नित्य न रहा; किन्तु अनित्य हो गया।





**भेदे तु स कथं तस्योपकारः किं न सद्विन्ध्यादेरपि। तत्संबन्धात्तस्यायमिति चेत्—उपकार्योपकारयोः कः**

'समवायका नियतसंबन्धियोंके साथ संबन्ध नहीं है' इस कथनसे संबन्धका अभाव आया। अर्थात् उपकार और समवायके भेद माननेमें इन दोनोंके संयोगसंबंध तो हो नहीं सकता। क्योंकि वह द्रव्योंके ही होता है और समवाय संबंध मानें तो वह व्यापक है इसलिये नियतसंबंधियोंके साथ उसका संबंध नहीं हो सकता है। इस कारण जो एकान्त नित्य पदार्थ है, वह क्रमसे अर्थ-क्रियाको नहीं करता है। यह सिद्ध हुआ।

**नाप्यक्रमेण। नह्येको भावः सकलकालकलाकलापभाविनीर्युगपत् सर्वाः क्रियाः करोतीति प्रातीतिकम्। कुरुतां वा तथापि द्वितीयक्षणे किं कुर्यात्। करणे वा क्रमपक्षभावी दोषः। अकरणे स्वार्थक्रियाकारित्वाऽभावादवस्तुत्वप्रसङ्गः। इत्येकान्तनित्यात्क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तार्थक्रियाव्यापकानुपलब्धिबलाद्व्यापकनिवृत्तौ निवर्त्तमाना स्वव्याप्यमर्थक्रियाकारित्वं निवर्त्तयति। अर्थक्रियाकारित्वं च निवर्त्तमानं स्वव्याप्यं सत्त्वं निवर्त्तयति। इति नैकान्तनित्यपक्षो युक्तिक्षमः।**

अब यदि कहो कि नित्य पदार्थ अक्रमसे अर्थक्रियाको करता है तो यह भी सिद्ध नहीं होता। क्योंकि 'एक पदार्थ समस्त कालकी कलाओंमें होनेवाली अर्थ क्रियाओंको एक ही समयमें कर लेता है' यह कथन प्रतीतिमें नहीं आता है। अथवा पदार्थ एक समयमें अर्थक्रियाओंको करे भी तो हम पूछते हैं कि, वह पदार्थ दूसरे क्षणमें क्या करेगा। यदि यह कहो कि—पदार्थ दूसरे क्षणमें भी अर्थक्रियाओंको ही करता है। तब तो जो दोष क्रमसे अर्थक्रिया करनेरूप पक्षमें होता है वही यहां भी होगा। अर्थात् प्रथम क्षणमें सब अर्थ क्रियाओंको करके अपनी व्यर्थता न होनेके लिये जो वह दूसरे क्षणमें फिर भी उन्हीं अर्थक्रिया-ओंको करता है इस कारण उस पदार्थके असमर्थताकी प्राप्ति होगी। यदि कहोकि 'वह दूसरे क्षणमें कुछ भी नहीं करता है' तो दूसरे क्षणमें अर्थक्रियाकारित्वका अभाव होनेसे उस नित्य पदार्थके अवस्तुताका प्रसंग होगा। इस प्रकार एकान्तनित्यपदार्थसे क्रम और अक्रम करके व्याप्त जो अर्थक्रिया है, वह व्यापकके न मिलनेसे व्यापकके दूर होनेपर नष्ट होती हुई अपना व्याप्य जो अर्थक्रियाकारित्व है, उसको नष्ट करती है और नाशको प्राप्त होता हुआ जो अर्थक्रियाकारित्व है वह अपनेमें व्याप्य (रहनेवाला) जो सत्त्व है, उसको नष्ट करता है। भावार्थ—नित्य पदार्थसे जो अर्थक्रिया होती है, वह या तो क्रम करके ही और या अक्रम करके ही। और नित्यपदार्थसे क्रम तथा अक्रम करके अर्थक्रिया होती है, इस विषयका पूर्वोक्त प्रकारसे खंडन हो चुका है। इसलिये

रूप और सबको [illegible] ([illegible]) जो [illegible] है, [illegible] न मिलोंसे नष्ट होती है। और [illegible] [illegible] इसलिये नष्ट होती हुई [illegible] [illegible] है। और [illegible] दोना हुआ के [illegible] है, [illegible] ([illegible]) जो [illegible] ([illegible]) है, [illegible] है। इसलिये [illegible] है, [illegible] नहीं [illegible]।

[illegible] न [illegible]। अनित्यो हि [illegible]। स च न [illegible]। [illegible] न [illegible]। [illegible] हि [illegible]। [illegible]। [illegible] हि [illegible]। न [illegible] [illegible]। यदाहुः—"यो [illegible] न [illegible] वा [illegible] च। न [illegible] पिबते। १।"

[illegible] हुआ जो [illegible] है, अर्थात् जिसे है [illegible] है, [illegible] नहीं है। क्योंकि, जो [illegible] नष्ट होजाता है, [illegible] है। और [illegible] नहीं है। क्योंकि, [illegible] ([illegible]) [illegible] हुआ और [illegible] है, [illegible] है। [illegible] है, [illegible] है, [illegible] है। [illegible] ([illegible] नष्ट होजाये) [illegible] नहीं है। क्योंकि, [illegible] ([illegible]) [illegible] है, [illegible] है, और [illegible] है, [illegible] है। [illegible] नहीं है। क्योंकि, [illegible] है कि—"जो [illegible] है, [illegible] है। [illegible] है, [illegible] नहीं। [illegible] नहीं है। १।"

न च [illegible]। [illegible]। [illegible]। [illegible] न [illegible]। [illegible] नहि [illegible]।

अब कदाचित् वादी कहैं कि–संतानकी अपेक्षासे पूर्व और उत्तर क्षणोंमें क्रम हो सकता है अर्थात् प्रथम क्षणमें रहनेवाले पदार्थका संतान दूसरे क्षणमें रहता है, इसलिये पूर्वक्षणके और उत्तरक्षणके क्रम हो सकता है। तो यह कहना ठीक नहीं । क्योंकि, संतान पदार्थ नहीं है । और जो कदाचित् संतानको पदार्थ मान भी लिया जावे, तो हम पूछते है कि, वह संतान क्षणिक है अथवा अक्षणिक (नित्य) है ? यदि क्षणिक कहो तब तो संतानमें पदार्थोंसे कोई विशेष (भेद) न हुआ अर्थात् जैसे पदार्थ क्षणिक है, उसी प्रकार संतान भी क्षणिक हुआ तो जैसे क्षणिक होनेसे पदार्थमें क्रम नहीं होता है, वैसे ही संतानमें भी क्रम नहीं होगा। और यदि कहो कि, संतान अक्षणिक है, तो तुम्हारा क्षणभङ्गवाद समाप्त हुआ अर्थात् संतान पदार्थको तुमने भी नित्य मान ही लिया ।

**नाप्यक्रमेणार्थक्रिया क्षणिके सम्भवति । सह्येको बीजपूरादिक्षणो युगपदनेकान् रसादिक्षणान् जनयन् एकेन स्वभावेन जनयेत्, नानास्वभावैर्वा । यद्येकेन तदा तेषां रसादिक्षणानामेकत्वं स्यात् । एकस्वभावजन्यत्वात् । अथ नानास्वभावैर्जनयति, किञ्चिद्रूपादिकमुपादानभावेन, किंचिद्रसादिकं सहकारित्वेन, इति चेत्–तर्हि ते स्वभावास्तस्याऽऽत्मभूता अनात्मभूता वा । अनात्मभूताश्चेत्स्वभावत्वहानिः । यद्यात्मभूतास्तर्हि तस्यानेकत्वम् । अनेकस्वभावत्वात् । स्वभावानां वा एकत्वं प्रसज्येत । तदव्यतिरिक्तत्वात्तेषां, तस्य चैकत्वात् ।**

और क्षणिकपदार्थमें अक्रमसे भी अर्थक्रिया नहीं हो सकती है । क्योंकि, यह एक बीजपूर (बिजोरा) रूप पदार्थ एक ही समयमें अनेक रस आदि पदार्थोंको जो उत्पन्न करता है, सो एक स्वभावसे करता है ? वा अनेक स्वभावोंसे करता है ? यदि कहो कि, एक स्वभावसे उत्पन्न करता है, तब तो एक स्वभावसे उत्पन्न होनेके कारण उन रस आदि पदार्थोंके एकता हो जावेगी अर्थात् बीजपूर जिस स्वभावसे रस पदार्थको उत्पन्न करता है, उसी स्वभावसे यदि रूप, गन्ध, स्पर्श आदि पदार्थोंको भी उत्पन्न करैगा, तो रूप, रस, गन्ध आदि सब पदार्थ एक हो जावेंगे। क्योंकि वे सब एक स्वभावसे उत्पन्न हुए हैं [बौद्धमतमें 'क्षण' शब्दसे पदार्थका ग्रहण है और यह इसका धर्म (गुण) है, यह इसका धर्मी (गुणी) है, ऐसा नहीं माना गया है। इसलिये जैसे बीजपूर पदार्थ है, वैसे ही रूप रस आदि भी पदार्थ हैं ।] अब यदि कहो कि, वह बीजपूर पदार्थ रस आदिको अनेक स्वभावोंसे उत्पन्न



१ बौद्धमते क्षणशब्देन पदार्थसंज्ञा क्षणिकत्वात्क्षणः ॥

जाता है, क्योंकि किसी का [illegible] अपेक्षासे [illegible] जाता है और किसी [illegible]
कहा है। भावार्थ—[illegible] जो [illegible] ( [illegible] ) [illegible] है, और [illegible]
[illegible] है, [illegible] है कि, [illegible]
[illegible] ( [illegible] ) है। [illegible] ( [illegible] ) है। [illegible], कि—[illegible] है, [illegible]
[illegible] हो गया है। और [illegible], कि—[illegible] है, [illegible]
[illegible]
[illegible] होवे। [illegible] नहीं होता। क्योंकि, [illegible] है। और
[illegible] है।

किञ्च यदि [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]।

अब यदि कहो कि, जो [illegible] एक [illegible] है, [illegible] हो जाता है, [illegible]
[illegible] नहीं [illegible] है। [illegible] ( नैयायिक ) [illegible] एक [illegible]
[illegible] है, [illegible] ( [illegible] ) [illegible] है। भावार्थ—[illegible]
[illegible] कि, "[illegible]
[illegible]
[illegible]" [illegible] है। क्योंकि, [illegible]
[illegible] अनेक [illegible] भेद नहीं [illegible] है। अब

यदि बौद्ध कहैं, कि तुम्हारा माना हुआ नित्य पदार्थ एकरूप होनेसे अक्रम ( क्रमरहित ) है। और अक्रम पदार्थसे क्रमिक ( क्रमसे होनेवाले ) अनेक कार्योंकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? तो हमको खेद होता है कि, देवानांप्रिय ( मूर्ख ) बौद्ध अपना पक्षघाती है। क्योंकि, जो स्वयं एक और अंशरहित ( क्षणमात्रवर्ती ) रूप आदि पदार्थरूप कारणसे अनेक कार्योंद्वारा सिद्ध होने योग्य अनेक कार्योंकी उत्पत्ति मान करके भी नित्य पदार्थसें क्रमसे नानाकार्योंके करना माननेरूप भी पर ( हमारे ) पक्षमें विरोधको उत्पन्न करता है। भावार्थ—बौद्ध जब निरंश पदार्थ ही से एक क्षणमें क्रमिक अनेक कार्योंका होना मानता है, तब हम जो चिरकाल-स्थायी नित्यपदार्थसे क्रमद्वारा अनेक कार्योंका होना मानते है, उसमें दोष क्यों देता है। इसकारण सिद्ध हुआ कि क्षणिक पदार्थके भी अक्रमसे अर्थक्रिया नहीं हो सकती है।

**इत्यनित्यैकान्तादपि क्रमाऽक्रमयोर्व्यापकयोर्निवृत्त्यैव व्याप्यार्थक्रियापि व्यावर्तते। तद्व्यावृत्तौ च सत्त्वमपि व्यापकानुपलब्धिबलेनैव निवर्तते। इत्येकान्ताऽनित्यवादोऽपि न रमणीयः।**

इसप्रकार एकान्त अनित्य पदार्थसे भी क्रम अक्रमरूप व्यापककी रहिततासे ही व्याप्य जो अर्थक्रिया है, वह भी दूर होती है। और अर्थक्रियाके दूर होनेपर व्यापककी अप्राप्तिके बलसे ही सत्त्व भी दूर होता है। भावार्थ—अर्थक्रिया जो है सो क्रम और अक्रमसे व्याप्त है, और एकान्त अनित्यपदार्थसे क्रम तथा अक्रमद्वारा अर्थक्रिया नहीं होती है। इसलिये अपने व्यापक जो क्रम अक्रम हैं, उनके अभावसें क्रम, अक्रमसें व्याप्य जो अर्थक्रिया है, वह दूर होती है। और नष्ट होता हुआ अर्थक्रियारूप व्यापक अपनेसे व्याप्य अर्थक्रियाकारित्वका नाश करता है। एवं अपना व्यापक जो अर्थक्रियाकारित्व है, उसका अभाव होनेसे सत्त्व ( वस्तुत्व ) भी नष्ट होता है। इस कारण एकान्त अनित्यवाद अर्थात् सर्वथा पदार्थोंको अनित्य मानना भी ठीक नहीं है।

**स्याद्वादे तु पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थितिलक्षणपरिणामेन भावानामर्थक्रियोपपत्तिरविरुद्धा। न चैकत्र वस्तुनि परस्परविरुद्धधर्माध्यासाऽयोगादसन् स्याद्वाद इति वाच्यम्। नित्यानित्यपक्षविलक्षणस्य पक्षान्तरस्याङ्गीक्रियमाणत्वात्, तथैव च सर्वेरनुभवात्। तथा च पठन्ति।— "भागे सिंहो नरो भागे योऽर्धो भागद्वयात्मकः। तमभागं विभागेन नरसिंहं प्रचक्षते। १।" इति। वैशेषिकैरपि चित्ररूपस्यैकस्यावयविनोऽभ्युपगमात्। एक-**

[illegible]

श्री। जयादेव सर्वत्र पद की पदार्थ में अविधि निश्चय और व्यभिचारक होनों प्रकारके हेत्वाभासके लक्षणसे दूषित जानेका कारण कहा ।, उदय अवधारण होता है,, श्री: सर्व अवस्थाओंमें उत्कर्षयुक्त जिस रहता है, इस प्रकार से व्याख्या, अर्थ तथा लिंग इन का विरुद्ध है, उसके व्याख्येय पदार्थमें सर्वत्रविषयके दिखि लोप होते हैं। शंका—एक पदार्थमें काल भेदसे स्थितिवाले सिद्ध और अनित्यत्व दोनों धर्मोंका रहना प्रमाण है, इसलिये अनुमान व्यापार होता है; समाधान—ऐसा न कहना चाहिये। क्योंकि, व्याप्तिके निश्चय तथा अनैकान्तिकको लिंग जो लिंगलिंगिभाव प्रतीत नहीं है, वह ऐसा नहीं है। और व्याप्तिमें इसी प्रकारसे अर्थात् विरोधिवस्तुओंसे ही व्याप्ति अनुमान भी होता है। सो ही दिखलाते हैं।—"जो अन्य वस्तु होता है तथा इसी प्रकारसे व्यापक है, उस व्यापकके अभावसे जैसा व्याप्य वस्तुके अभाव होते हैं।" भावार्थ—व्याप्तिका ज्ञान उदाहरण एक प्रकारसे तो विरुद्धके साधन है, और दूसरे प्रकारसे कुछ भी नहीं है, इसलिये पहली बार पक्ष ही व्याप्तिसे विरुद्ध के अनुमानके साथ सम्बन्ध होता है, अर्थात् जैसे विरुद्ध साधनके साथ व्याप्ति होती है। [और पक्षमें साधन व्यापक है। जैसेकिसीने यह एक विरुद्ध। अनुमान किया है अर्थात् । एक, तीन, तीस आदि अनेक संख्याएं शीत स्पर्शवाले नहीं हैं। क्योंकि उनमें एक विरुद्ध संख्याका नियम है। और एक ही बात यहां पदार्थके पक्ष ( दिखाने हुए ) साधन । नहीं दिखाने हुए ) एक ( अन्य ) अवयव ( साधनोंके लिंग ) अनुमान ( अर्थ रूप ) अनुमान ( नहीं अर्थ रूप ) यहां पर्याय शब्दोंसे भी दोनोंसे भी एक लिंग ( अनेक ) अर्थात् साधन अनुमान अवयव आदि अनेक शब्दोंसे भी एक-सा है. सीम आदि शब्दोंके बराबर लिंगका नहीं कहता है॥ अवधारण—एक ही अर्थ किसी वाक्यमें जो प्रयोग किया है सो। विरोधि नहीं होता है। एक अपने अर्थसमूहके कहता है और दूसरे वाक्यमें पदसमूहके साथ कहता है। एक एक वाक्यमें किसी एवंभूत कहा गया है और दूसरेसे [illegible]। ऐसा होने अनेकों वाक्योंमें एक अर्थके भी और पदसमूहके विरोध नहीं पाता है।

अब च अवधारणविरुद्धपदार्थेनः पदार्थाधिक्य कालान्तरावस्थाविरोधालङ्गिक न मन्यन्ते। अवधारणं पूर्वपदस्यान्ता-पदविशेषणं सकलपदा एवानियमव्यवच्छेदकाः। तथापि दुर्विदग्धप्रतारितैः केऽपि लक्षणैकदेशेन लक्षितवन्तः। अतैव अव-

धिकारेऽपि क्षणिकवादचर्चा नानुपपन्ना । यदापि च कालान्तरावस्थायि वस्तु, तदापि नित्यानित्यमेव । क्षणोऽपि न खलु सोऽस्ति यत्र वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं नास्ति । इति काव्यार्थः ॥ ५ ॥



यद्यपि अधिकृत वादियोंने अर्थात् जिनका हमने यहां खण्डन किया है, उन वैशेषिकोंने एक क्षणके सिवाय अन्य क्षणोंमें भी विद्यमान रहनेसे प्रदीप आदि पदार्थोंको क्षणिक नहीं माने हैं अर्थात् वैशेषिकोंके मतमें प्रदीप आदि बहुत क्षणोंमें रहते हैं । क्योंकि, उनके मतमें पूर्व और उत्तरके अन्तसे मिली हुई जो सत्ता है अर्थात् जिसका पहिले भी अभाव हो और पीछे भी अभाव हो ऐसी जो पदार्थकी विद्यमानता है, वह ही अनित्यताका लक्षण है । भावार्थ—बौद्ध जैसे सब पदार्थोंको क्षणस्थायी होनेसे अनित्य कहते हैं, उसप्रकार वैशेषिक क्षणस्थायी पदार्थको अनित्य नहीं कहते, किंतु जिसका आदि और अन्त हो उस पदार्थको अनित्य मानते हैं । तथापि उन वैशेषिकोंने भी बुद्धि, सुख, दुःख आदि पदार्थोंको क्षणिकरूप ही स्वीकार किये हैं । इसकारण इस वैशेषिकोंके खण्डनमें भी जो हमने क्षणिकवादकी चर्चा कर डाली है, वह अनुचित नहीं है । और जब पदार्थ अन्य क्षणोंमें वर्त्त रहा है, उस समय भी वह पदार्थ नित्य तथा अनित्य, इन दोनों धर्मों रूप ही है । और वह कोई क्षण भी नहीं है कि, जिस क्षणमें पदार्थ उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वरूप न हो अर्थात् सब ही क्षणोंमें पदार्थ उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्यरूप लक्षणका धारक है । इसप्रकार काव्यका भावार्थ है ॥ ५ ॥

अथ तदभिमतमीश्वरस्य जगत्कर्तृत्वाभ्युपगमं मिथ्याभिनिवेशरूपं निरूपयन्नाह ।

अब वैशेषिकोंने जो ईश्वरको जगतका कर्ता माना है, वह मिथ्या आग्रह रूप है । यह दिखलाते हुए आचार्य अग्रिम काव्यका कथन करते हैं ।

**कर्त्तास्ति कश्चिज्जगतः स चैकः स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः ।**
**इमाः कुहेवाकविडम्बनाः स्युस्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम् ॥ ६ ॥**



काव्यभावार्थः—हे नाथ! जिनके आप उपदेशदाता नहीं हैं, उनके "जगतका कोई कर्त्ता है, वह एक है, वह सर्वव्यापी है, वह स्वाधीन है, और वह नित्य है" ये दुराग्रहरूपी विडंबनायें होती हैं ।

पीछे इस हेतुको कहा है। एवं यह कार्यत्वहेतु प्रकरणसम ( सत्प्रतिपक्ष ) भी नहीं है। क्योंकि, इसके प्रतिकूल धर्मको अर्थात् जिस कर्तृत्वधर्मको यह कार्यत्वहेतु सिद्ध करता है, उस कर्तृत्वधर्मसे प्रतिकूल जो अकर्तृत्व धर्म है, उसको सिद्ध करनेमें समर्थ कोई प्रत्यनुमान नहीं है।



**न च वाच्यमीश्वरः पृथ्वीपृथ्वीधरादेर्विधाता न भवति । अशरीरत्वात् । निर्वृत्तात्मवत् । इति प्रत्यनुमानं तद्बाधकमिति । यतोऽत्रेश्वररूपो धर्म्मी प्रतीतोऽप्रतीतो वा प्ररूपितः । न तावदप्रतीतो हेतोराश्रयासिद्धिप्रसङ्गात् । प्रतीतश्चेत्तेन प्रमाणेन स प्रतीतस्तेनैव किं स्वयमुत्पादितस्वतनुर्न प्रतीयते । इत्यतः कथमशरीरत्वम् । तस्मान्निरवद्य एवायं हेतुरिति ।**

शंका—" ईश्वर जो है, सो पृथ्वी, पर्वत आदिका कर्त्ता नहीं हो सकता है। क्योंकि, शरीररहित है । मुक्त आत्माके समान अर्थात् जैसे मुक्त आत्मा शरीररहित होनेसे पृथिवी आदिका कर्त्ता नहीं होता है, उसी प्रकार ईश्वर भी अशरीर है, इसकारण पृथिवी आदिका कर्त्ता नहीं हो सकता है।" यह प्रत्यनुमान जगत्रूप धर्मीमें ईश्वरकर्तृत्व धर्मका बाधक है। समाधान—यह न कहना चाहिये। क्योंकि, " ईश्वर पृथिवी आदिका कर्त्ता नहीं हो सकता है " इत्यादि इस अनुमानके प्रयोगमें तुमने जो ईश्वररूप धर्मीका कथन किया है, सो प्रतीत है? वा अप्रतीत है? यदि कहो कि, अप्रतीत ( नहीं जाने हुए ) ईश्वर धर्मीका कथन किया है, तब तो हेतुके आश्रयासिद्धि दोषका प्रसंग आवेगा अर्थात् जब धर्मी ही अप्रतीत है, तब अशरीरत्व हेतु किसमें रहेगा। और यदि कहो कि,—हमने प्रतीत ( जाने हुए ) ईश्वरधर्मीका निरूपण किया है, तो जिस प्रमाणसे तुमने उस ईश्वरको जाना है, उसी प्रमाणसे तुम उस ईश्वरको स्वयं ( अपने आप ही ) उत्पन्न किये हुए शरीरका धारक भी क्यों नहीं जान लेते हो अर्थात् जिस प्रमाणसे तुमने ईश्वर जाना है, उसी प्रमाणसे तुम यह भी मान लो कि, ईश्वरने स्वयं अपना शरीर बनाकर फिर जगतको बनाया है। और जब ईश्वरको शरीरका धारक मानलिया, तब अशरीरपना कहां रहा? इस कारण हमने जो कार्यत्वहेतु दिया है, वह निर्दोष ही है। **भावार्थ**—असिद्ध, १ विरुद्ध, २ अनैकान्तिक, ३ कालात्ययापदिष्ट ४ और सत्प्रतिपक्ष ५ ये जो पांच हेतुके दोष हैं, इनमेंसे हमारे कहे हुए कार्यत्वहेतुमें कोई भी दोष नहीं है, इस कारण ईश्वर जगतका कर्त्ता है। यह सिद्ध हो गया।

म चैक वृत्ति । एवः पुनर्वर्थे । न पुनः पुनरावृत्तिर्वा एकोऽर्थविशेषः । यद्यपि हि विभक्तिवचनसङ्ख्याकालोपग्रहे सत्यपि-तिङ्गतिविभक्तिवचना अविभागार्थमादेकैकस्य पक्षस्योपन्यासादयं विभागः एवमसमस्तपक्षमाश्रयेत् । इति ।

"च" [ ॥ ] 'न' पुन: दो अर्थ है | जिस "एक" का पुनरुच्चारण भी है और "पृथक्" एक दो अर्थात् उसके लिए अलग अलग कहा गया है। एक बहुतसे समास किये जाने से उनके परस्पर सम्बन्ध ( सम्बन्ध ) में भेद ( फरक ) होनेसे संशयना नहीं रह सकती है। इस कारण एक एक पदार्थकी अलग अलग व्याख्या होने पर ही ( सम्बन्ध ) ठीक हो सकेगा। अर्थात् - यदि बहुतसे पदों समेतकि उनके अर्थ साथ ही तो उनके परस्पर सम्बन्धमें निश्चय ही नहीं हो सकेगा और उस सम्बन्धके होने या नहीं होने से एक वाक्यके अनेक व्याख्यायें बनेंगी। और कोई एक वाक्यका सही एक अर्थ करने में समर्थ नहीं होगा और ऐसा होने पर वह वाक्य ही अप्रमाणित हो जायगा। अर्थात् पुरुष। वैसेही रेखा की वस्तुको सत्यस्वरूप न होगी ॥

तथा च सर्वम् इति । अर्थस्य गच्छतीति गतिः। कर्मधारयः । अथवा हि यद्यपि विभक्तिवचनसङ्ख्यानविशेषेऽपि तिङ्गतिविभक्तिवचनानां विभक्त्यार्थविशेषार्थत्वेन अनेकविभक्त्युपपत्तिः । कुम्भकारादिषु तथा दर्शनात् । अथवा सर्वं गच्छति जानातीति सर्वगः सर्वज्ञः । न सर्वे गतयर्थाः ज्ञानार्था इति अपनात् । कुम्भकारोऽत्रापि हि यत्नोभिप्रेतोऽवयवावयवि-व्यवहारोपयोगात्तत्कृतकत्वमौत्पत्तिकं स्यात् ॥

इस कि। " ६: " यह पुनरुक्तिके " ६र्थम: " ॥ अर्थात् पास जानेवाला अर्थात् ज्ञानवान् ( सब पदार्थोंसे सम्बन्धवाला ) है। क्योंकि, यदि बहुतों में विशिष्टसंख्यानी अर्थात् कोई एक विशिष्ट ( पुरुष : आत्मा ) इसका ज्ञान हो उसके अतिरिक्त सम्बन्धमें जैसे भी संख्या सम्बन्धी भेदोंके लिए पदार्थ है. उसको प्रकाश होनेसे ( एक ज्ञानसे ) अनायासही सिद्धि हो होती अर्थात् यह कि ३ व्यक्तियों लिए पदार्थोंको अलग अलग नहीं जानेगा। । क्योंकि. कुम्भका बनानेमें जैसा उसका है. अर्थात् एक कुम्भका लिए है. यही हो एक पद बनाया है ) अथवा यह "गतिमान अर्थात् सब वस्तु सम्बन्धी अर्थात् ज्ञान भी है, " इस कारणसे सर्वज्ञ अर्थात् परमेश्वर ( ॥सबको जाननेवाला ) है। क्योंकि, यदि यह पुरुषविशेष ईश्वर न हो तो उसमें सम्बन्धित पदार्थोंको न जाननेसे उसके द्वारा बनाया जानेवाली वस्तुमें न होगी अर्थात् असम्बन्धसे होनेके लिए ३ वस्तुमें होगी।

कौन २ से कार्य होते हैं ' इस विषयका ज्ञान न होगा और उस ज्ञानके न होनेसे जगतमें जो ये योग्यकार्य देखनेमें आते हैं, इनको वह ईश्वर उत्पन्न न कर सकेगा।

**तथा स स्ववशः स्वतन्त्रः। सकलप्राणिनां स्वेच्छया सुखदुःखयोरनुभावनसमर्थत्वात्। तथा चोक्तम्—"ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा। अन्यो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः। १।" इति। पारतन्त्र्ये तु तस्य परमुखप्रेक्षितया मुख्यकर्तृत्वव्याघातादनीश्वरत्वापत्तिः।**

तथा फिर " सः " वह " स्ववशः " स्वतंत्र अर्थात् स्वाधीन है। क्योंकि, वह ईश्वर अपनी इच्छानुसार सब प्राणियोंको सुख और दुःखका अनुभव करानेमें समर्थ है अर्थात् अपनी इच्छासे सबको सुख तथा दुःख देता है। सो ही कहा भी है कि,—" यह जीव ईश्वरका भेजा हुआ ही स्वर्गको अथवा नरकको गमन करता है। क्योंकि, ईश्वरके सिवाय जो अन्य जीव है, वे अपने सुख और दुःखको उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं हैं। १। " यदि उस ईश्वरको परतंत्र ( पराधीन ) मानें तो वह ईश्वर जगतके बनानेमें दूसरोंका मुख देखेगा अर्थात् दूसरोंकी आज्ञा लेकर कार्य करेगा इस कारण उसके मुख्यकर्तापनेका नाश होनेसे अनीश्वरता हो जावेगी अर्थात् मुख्यकर्ता न रहनेसे ईश्वर ईश्वर न रहेगा।

**तथा स नित्य इति। अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपः। तस्य ह्यनित्यत्वे परोत्पाद्यतया कृतकत्वप्राप्तिः। अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः स्वभावनिष्पत्तौ कृतक इत्युच्यते। यश्चापरस्तत्कर्त्ता कल्प्यते स नित्योऽनित्यो वा स्यात्। नित्यश्चेदधिकृतेश्वरेण किमपराद्धम्। अनित्यश्चेत्तस्याप्युत्पादकान्तरेण भाव्यम्। तस्यापि नित्यानित्यत्वकल्पनायामनवस्थादौस्थ्यमिति।**

तथा " सः " वह पुरुषविशेष " नित्यः " नित्य है अर्थात् अप्रच्युत ( अविनाशी ) अनुत्पन्न ( उत्पत्तिसे रहित ) और स्थिरैकरूप ( निश्चल एक स्वभावका धारक ) है। क्योंकि, यदि ईश्वरको अनित्य मानेंगे तो परसे उत्पन्न होनेके कारण वह ईश्वर कृतक होजावेगा। कारण कि, जो पदार्थ अपने स्वरूपकी सिद्धिमें अन्य पदार्थके व्यापारकी अपेक्षा रखता है अर्थात् निजको सिद्धकरनेके लिये दूसरेकी सहायता चाहता है, वह कृतक कहलाता है। और जो तुम किसी दूसरेको ईश्वरका कर्त्ता मानो, तो हम प्रश्न करते हैं कि, वह ईश्वरका कर्त्ता नित्य है ? वा अनित्य है ? यदि कहो कि, नित्य है, तब तो हमारे माने हुए इस ईश्वरने क्या

अवस्था लिया है अर्थात् इन दोषोंके कारणोंसे निकट न जानेका ही लिख गये नहीं जानेसे दो : यहां कहां तक, संभावना कभी असंभव है- सो ऐसी यहांसे उस विधिके कारणोंसे अनेकोंकालसी बोधं हुआ होना चाहिये और जानकर ही कोई काल । इस प्रकार Rig यहां गर्भिणी का निष्कर्षोंकी प्रकरण कारणोंसे जानना नाम्ल रोग कभी इस न होगा ।

इत्यनेकोऽपाद्विविधोपगविधिरिहे ।तथाऽऽदेश्यक्षिप्त्याकर्णनेनो पराप्तुय।।यमुपदशयोत्तरत्रैक नाम पुरुषत्वमाप्य-हे । इसा कथ। ।नन्ध्यक्षेत्रेष्वाः पुरुषेपाकपिचक्कल्पना। पूर्णिता हेपाक्ष आमवपिचेषेः। पुरुषेपाकम। कदाअह। इसेमंत्रि एव विज्ञप्तना। विचापकस्तुरीगाक्षयेन किरलकावकलागाद्विहोपदाप्रकाशा। स्तुपेषेपुरुषेषा आगवलोकापसदुताना वेषा है स्यालिन् त्व आसुद्याचको न दीक्षादाता ।

।।ो इस नहा रक्षकाले दिशे।नोक- नाक ओ ।।वेन पिंगा है, कहो तिन आवक्क वर्षे है । एस पूर्णोक्त नवासे पार्वमें क्षोकके पूर्णांक्ष।। पैंगलिंगेके पाचे वेदाक्ष आ उत्पादेवे नव वेदेकिल्पाही नुएलका व्यन कर्ण है । " इक्षः " के .क्ष नहीं हुई " पुरुषेपाकविक्ल्पना-" लेवे आवहुत्र विज्ञप्तपे कर्या। तिनाएँ पशुएलाने पंक्ति होनेके कारण पेरुपाए- ऊत होगेा पार्वे पोगेको विनोंके प्रकार उत्त सास नासगेतालोंके ( वैपेपिंडेव : " इकुः " हुवे । " वेषा " विनके है अंशिन् । " ले " आत " सतुदक्षक। " विल वेंलाले " न " नहीं हो। भावार्थ—ने पात्रन्। चाकरी चाहो दवेंहुल वेंसेलेवेंने वो लिख वनावे हुंकारे आयुको पर्व भाव लिख है. इस वेंगको लिखनेके लिये हो उनोंने ने एतत्व व्यक्ति विदेक लिये है ।

तद्भिनिपेत्रालो विषत्कनाकरत्वक्षाकार्यसेष पक्षाभिधेतवुरुषविशेषपत्रेषु पत्रेषेक चत्वाख्यपपेक्षमपूर्वागर्भेष्व। विगोपवदयहार भूतिकाः । तथा पैपसेव निन्दनीये पत्रि पक्षागे लहन्ति । स मूर्ख , स पार्थिवान्, स हन्ति इत्यादि । ?वधिस्तेकवचनबहुवचनस्थलबहुवचनस्थलप्रयोगेा पदमेगीतु। पत्रमकारणिकवपाठकेनिष्टवपाठपक्षयि-भागविनवधानवृगापवगाधानगवद्विर्वीप हिंगोपदेवाचकं व्यत्पदे ।

पुस्तिके वर्णा व्यालंबरे वैपेलिंगेके व्यवेषतोंको विज्ञप्तवाक्ष लिखित कारोंके लिये की दलके आदेश ओ विधिके ।संक्षेप है, तनमें व्यवेष विदेशके व्यव एंपेलि व्यवस्थ - वद ' इस अन्यको पढ़ो।। लिया है। और लिखनेवालोंसे पुस्तक पढ़ि

कहनेवाले वह मूर्ख है, वह महापापी है, वह दरिद्री है, इत्यादि इसी प्रकार प्रत्येक विशेषणके साथ तत्शब्दको व्यवहारमें लाते है। और 'त्वं' इस एकवचनके धारक युष्मत्शब्दका प्रयोग करनेसे आचार्य परमेश्वर श्रीजिनेन्द्रके परमदयालुताके कारण निज और पर पक्षकी भेदभावनाकी अपेक्षाके विना अन्य उपदेशकोंमें न होनेवाला ऐसा जो अद्वितीय हितोपदेशकपना है, उसको ध्वनित करते हैं। **भावार्थ**—स्तुतिमें युष्मत् शब्दका एकवचन देकर आचार्यने यह दर्शाया है कि, जैसे अन्य उपदेशक पक्षपाती होकर अपने मतवालोंको तो उपदेश देते है, और अन्य मतवालोंको नहीं देते हैं। उसप्रकार श्रीजिनेन्द्र पक्षपाती नहीं है, किंतु परमकरुणाबुद्धिसे सभीको समान हितोपदेश देनेसे अद्वितीय उपदेशक है।

**अतोऽत्रायमाशयः। यद्यपि भगवानविशेषेण सकलजगज्जन्तुजातहितावहां सर्वेभ्य एव देशनावाचमाचष्टे। तथापि सैव केषांचिन्निबिडनिकाचितपापकर्मकलुषितात्मनां रुचिरूपतया न परिणमते। अपुनर्बन्धकादिव्यतिरिक्तत्वेनायोग्यत्वात्। तथा च कादम्बर्यां बाणोऽपि बभाण—"अपगतमले हि मनसि स्फटिकमणाविव रजनिकरगभस्तयो विशन्ति सुखमुपदेशगुणाः। गुरुवचनममलमपि सलिलमिव महदुपजनयति श्रवणस्थितं शूलमभव्यस्य" इति। अतो वस्तुवृत्त्या न तेषां भगवाननुशासक इति।**

इस कारण यहां पर यह भाव है कि, यद्यपि भगवान् अविशेषसे अर्थात् समानरूपसे सभीके लिये संपूर्ण जगत्के जीवोंका भला करनेवाले उपदेशवचनको कहते हैं। तथापि वही उपदेशरूपवचन पूर्वकालमें उपार्जन कियेहुए निकाचित-पापकर्मोंसे मलीन है आत्मा जिनका ऐसे कितने ही जीवोंके रुचिरूपतासे नहीं परिणमता है अर्थात् कितने ही पापीजीवोंको अच्छा नहीं लगता है। क्योंकि, वे पापीजीव अपुनर्बन्धक [ जो तीव्रभावोंसे पापको नहीं करता है, वह अपुनर्बंधक कहलाता है और इसकी मुक्ति पुद्गलपरावर्त्तनमें ही हो जाती है ] आदि जीवोंसे भिन्न होनेके कारण अयोग्य हैं अर्थात् उपदेशके पात्र नहीं हैं। सो ही कादम्बरीमें बाणकविने भी कहा है कि, जैसे निर्मल स्फटिकमणि ( बिल्लोर ) में चंद्रमाकी किरणें सुखसे प्रवेश करती हैं, उसी प्रकार मलरहित ( स्वच्छ ) मनमें उपदेशोंके समूह सुखसे प्रवेश करते है। और जैसे कर्ण ( कानों ) में स्थित हुआ निर्मलजल शूलरोगको उत्पन्न करता है, उसीप्रकार कर्णमें स्थित हुआ निर्मल गुरुका वचन भी अभव्यजीवके शूल नामक रोगको उत्पन्न कर-

१ पापं च तीव्रभावात्करोतीत्यादिलक्षणोऽपुनर्बंधकः। अत्र च पुद्गलपरावर्त्तेभ्य एव मुक्तिः॥

[illegible] है अर्थात् यदि पवना उपदेशावस्था हुवे तो, यह उसके अन्त्य नहीं माना है। इसलिये शब्दके अन्तमें उसके अवयव नहीं है जिससे 'नेतो न येगानुस्वारस्य' (जिसके अन्त्य अवयव नहीं है, उसके ही ये अनुस्वार होते हैं) ऐसा जो अनुवाद किया है वह ठीक है। क्योंकि, येदितिलोपावस्थे अन्त्य होनेसे उसके पश्च नहीं है।

न चैवमाशा आगच्छोरमामर्थ्यमस्मापना। न हि काशदशमनुस्वीयाग्रह लक्ष्मीरिनेत्यवस्थाको लिपनिपनुपवि-कपवीकोऽहिवधात्। न हि येनासेप दोग। न चापु निर्दिशस्मुपनामयोगमपयागाकलोऽपि भानपीया मान्त्या यांविधाक्षेत्रोत्पाटेनलेनुलागपवेपदो वगाउत्पालिलेखमाधादम्। तथा च दीक्षितेन।—"इदमर्थवीवपपना-नापनीगालाप अपेकेन्द्रालापप कलापि लिंगाग्यवृत्तम्। तत्रानुस्व आगच्छेर्विधि टासेषु छुपोषके नपुंसकीभाव-पदाशा। (१)"[1]

और इस पक्षमें भी भोजके गुरु-धीपायनके अभाव(अभिप्राय) यह है अर्थात् यों कह सकते हैं कि, आकारके अवयव न है पुनर्वसु गाजन् आदिमें वे. ते नहीं है। क्योंकि, उन्हके लिये दूसरे प्रीयमान देखेजा जिससे यदि फलवंतके वनेको नहीं जिस कि के वह निर्देश उपालाके योग्य नहीं है। क्योंकि, अधिकार है। तात्पर्य—इस लिंगवाले जो दूसरे शब्दके अन्त्य अवयव कल्पित किया जिसका (यदवयव एवाद्य पूर्वलेखानः) ऐसे यहां अधिक कर्मने को दूसरी न लिंग, यहि भी यह वैसा आदेश। पश्च नहीं है। क्योंकि, यहां नपुंसकों लिंगोंके ही प्रयोग है। इसलिये यह कहे। इस विशेषका नहीं-किन्तु उस लिंगका ही है कि, जिस का कहा आदिश यहां भी नहीं किया जाता है। इसी प्रकार अन्य इस लिंगोंके उदाहरण देते हुए भाष्यकार यदि अन्त्योंके उपदेश न देखते तो इससे अनुवाद अनर्थक नहीं हो सकता है यह बात उन्होंने दी दी है, कि, वे उपदेशके पक्ष नहीं है। क्योंकि, यदि पुनर्वसुशब्दके पश्चात्ति कालेवाली सूत्रकी पीछे यदि उसके (पुनर्वसु) के अवयवी अन्त्य नहीं होगे तो वसुशब्दके पक्ष नहीं है। तात्पर्य—सूत्रकी लिंग अन्त्य कहे उदाहरण एवं इस लिंगोंके। तात्पर्य लिंगवाले हैं. यदि यदि पुनर्वसु आदि अवयवों न लिये तो इसी लिंगवाले वोई योग नहीं है। किन्तु उस पक्ष भोजके भी योग है। यों ही धीदिक्षितभट्टिकारने कहा है जैसे "हे लोकमान्य! आप यदि भोजके लिंगों अन्त्य लिंगवाले

[1] अवयवि अवयवि Wanting in ब्रह्मे। [2] तत्रापि अवयवे इति पाठः।

धारक आपके भी जो सिल अर्थात् हल आदिसे नहीं गोदे हुए क्षेत्र हुए सो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। क्योंकि, जगतमें अन्धकारमें फिरनेवाले घूघूआदि दिनान्ध पक्षियोंके समूहको सूर्यकी किरणें भ्रमरीके चरणोंके समान पीतवर्णकी धारक दीख पड़ती हैं।" भावार्थ—जैसे चतुर किसानद्वारा बोया हुआ बीज अयोग्यक्षेत्रमें फलदायी नहीं होता है, उसी प्रकार जब भगवान्ने सम्यग्धर्मका उपदेश दिया तब कितने ही अभव्योंको उस उपदेशने लाभ नहीं पहुंचाया। सो इस विषयमें कोई आश्चर्य नहीं। क्योंकि, जो सूर्यकी किरणें अंधकारको दूरकरके संपूर्ण भुवनमंडलमें प्रकाश कर देती हैं, वे ही सूर्यकी किरणें नेत्र बंद कियेहुए घूघू आदि पक्षियोंको भ्रमरी ( भौंरी ) की टांगोंके समान कुछ कुछ पीली नजर आती हैं। १।"

**अथ कथमिव तत्कुहेवाकानां विडम्बनारूपत्वमिति ब्रूमः। यत्तावदुक्तं परैः क्षित्यादयो बुद्धिमत्कर्तृकाः कार्यत्वादित्यादि। तदयुक्तम्। व्याप्तेरग्रहणात्। साधनं हि सर्वत्र व्याप्तौ प्रमाणेन सिद्धायां साध्यं गमयेदिति सर्ववादिसंवादः। स चायं जगन्ति सृजन् सशरीरोऽशरीरो वा स्यात्। सशरीरोऽपि किमस्मदादिवदृश्यशरीरविशिष्ट उत पिशाचादिवददृश्यशरीरविशिष्टः। प्रथमपक्षे प्रत्यक्षबाधः। तमन्तरेणापि च जायमाने तृणतरुपुरन्दरधनुरभ्रादौ कार्यत्वस्य दर्शनात्प्रमेयत्वादिवत्साधारणानैकान्तिको हेतुः।**

अब उन वैशेषिकोंके खोटे आग्रह विडम्बनारूप कैसे हैं सो कहते हैं। प्रथम ही जो वैशेषिकोंने यह अनुमानका प्रयोग कहा है कि, 'पृथ्वी आदिक बुद्धिमानके बनाये हुए हैं, कार्यहोनेसे, घटके समान' सो ठीक नहीं है। क्योंकि, इस अनुमानमें व्याप्तिका ग्रहण नहीं है। कारण कि, 'जब सब स्थलोंमें प्रमाणद्वारा व्याप्ति सिद्ध हो जाती है, तभी साधन साध्यको जनाता है' यह सब मतवालोंका कहना है। इसलिये हम पूछते हैं, कि तीन लोकको रचता हुआ वह यह तुम्हारा माना हुआ ईश्वर शरीरसहित है वा शरीररहित है। अर्थात् ईश्वरने जगतको शरीर धारणकरके बनाया है ? वा बिना शरीर धारणकिये बनाया है ? यदि कहो कि, सशरीर है, तो क्या हम जैसोंके समान दृश्य ( दीखनेमें आनेवाला ) शरीरका धारक है ? अथवा पिशाच आदिके समान अदृश्य शरीरका धारक है ? अर्थात् ईश्वरका शरीर हमारे शरीरकी तरह सबके दीखनेमें आता है, वा पिशाच आदिके शरीरके समान किसीके दीखनेमें नहीं आता है। यदि कहो कि, ईश्वर दृश्यशरीरका धारक है, तो प्रथम तो प्रत्यक्षसे बाधा होती है। अर्थात् ईश्वर देखनेमें नहीं आता है। और दूसरे उस ईश्वरके शरीरके व्यापारके विना भी उत्पन्न होते हुए घास, वृक्ष, इन्द्रधनुष तथा मेघ

भावेंद्रियों [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] भी [illegible] [illegible] है, [illegible] [illegible] है। तात्पर्य—[illegible], ' [illegible] [illegible] [illegible] है, [illegible] ( [illegible] ) [illegible] : [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है, [illegible] भी [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं [illegible] है, [illegible] भी [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] विशेषः [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] हि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।

[illegible] [illegible] [illegible] जो [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ( [illegible] न [illegible] ) [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible] ( [illegible] [illegible] ) [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible]? [illegible] [illegible] कि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ( [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] है, क्योंकि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं है। और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है। तात्पर्य—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] न [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] न [illegible] [illegible] [illegible]।

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible]-

**पम्यम् । घटादयो हि कार्यरूपाः सशरीरकर्तृका दृष्टाः । अशरीरस्य च सतस्तस्य कार्यप्रवृत्तौ कुतः सामर्थ्यमाकाशादिवत् । तस्मात्सशरीराशरीरलक्षणे पक्षद्वयेऽपि कार्यत्वहेतोर्व्याप्त्यसिद्धिः ।**

अब यदि कहो कि, हमारे मन्दभाग्यसे ईश्वरका शरीर हमको नहीं दीखता है, तो यह कहना हमारे विचारमें ही नहीं आता है । क्योंकि, क्या ? जैसे बन्ध्याके पुत्रका अभाव है, उसप्रकार ईश्वरके शरीरका ही अभाव है, जिससे, कि, उसका शरीर देखनेमें नहीं आता ? अथवा क्या ? हमारे मंदभाग्यसे जैसे हमको पिशाच आदिका शरीर नहीं देख पड़ता है, उसीप्रकार ईश्वरका शरीर भी हमारे देखनेमें नहीं आता है, यह संदेह दूर नहीं हो सकता है । भावार्थ—यदि कहो कि मन्दभाग्यसे ईश्वरका शरीर नहीं दीखता है, तो यह हम नहीं मान सकते हैं, क्योंकि, ईश्वरके शरीर है, वा नहीं है, यह संशय दूर नहीं होता । यदि कहो कि, ईश्वर शरीररहित होकर जगतको बनाता है, तो ऐसा कहनेमें दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकके असमानता होती है । क्योंकि, कार्यरूप जो घटादिक हैं, वे शरीरके धारक कुम्भकार आदिसे बनाये हुए देखे जाते हैं । भावार्थ—घट आदि कार्य सशरीरके बनाये हुए देखे जाते हैं और तुमने जगतरूप कार्यको अशरीरीका बनाया हुआ मान लिया, इसलिये घटरूप जो दृष्टान्त है, यह जगतरूप दार्ष्टान्तिकमें घटित नहीं होता है । और शरीररहित उस ईश्वरके कार्यकरनेमें सामर्थ्य भी कहांसे आसकता है ? क्योंकि, शरीररहित आकाश आदिमें कार्यकरनेका सामर्थ्य नहीं देखा जाता है । इस कारण सशरीर और अशरीररूप दोनों पक्षोंमें ही कार्यत्वरूप हेतुकी व्याप्ति सिद्ध नहीं होती है । भावार्थ—तुमने जो जगतको ईश्वरकर्तृक सिद्ध करनेके लिये कार्यत्वहेतु दिया है, उस कार्यत्वहेतुकी व्याप्ति शरीरसहित अथवा शरीररहित इन दोनों ईश्वरोंमें ही नहीं रहती है । इसकारण तुम्हारा अनुमान मिथ्या है ।

**किञ्च त्वन्मतेन कालात्ययापदिष्टोऽप्ययं हेतुः । धर्म्येकदेशस्य तरुविद्युदभ्रादेरिदानीमप्युत्पद्यमानस्य विधातुरनुपलभ्यमानत्वेन प्रत्यक्षबाधितधर्म्यनन्तरं हेतुभणनात् । तदेवं न कश्चिज्जगतः कर्त्ता । एकत्ववादीनि तु जगत्कर्तृत्वव्यवस्थापनायानीयमानानि सद्विशेषणानि पण्डं प्रति कामिन्या रूपसंपत्तिरूपणप्रायाण्येव । तथापि तेषां विचारासहत्वख्यापनार्थं किंचिदुच्यते ।**

और तुम्हारे मतके अनुसार यह हेतु कालात्ययापदिष्ट भी है । क्योंकि, इससमयमें भी उत्पन्न होते हुए जो जगतरूप धर्मीके एकदेशरूप वृक्ष, बिजली और मेघ आदि हैं, उनका कोई कर्त्ता देखनेमें नहीं आता है, इस कारण प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधित जो धर्मी

है, और भवान् पुनने व्याख्यानोंका क्रम किया है ? इसपर गुरुजीने उत्तर दिया कि, अनुभवके लिये शिष्य पुनः पुनः प्रश्न करते रहते हैं, तो भी अनुभवके लिये शिष्यके प्रश्न करनेके पश्चात् ही उत्तर देना चाहिये, इसीके लिये यह क्रम किया है। तात्पर्य—जैसे स्नेहादिके लिये शिष्यके प्रश्न करने आवश्यक हैं, उसी प्रकार अनुभवके लिये भी शिष्यके प्रश्न करनेकी आवश्यकता है। अथवा 'ये गुरवस्त्वयि विद्यन्ते' इस वाक्यके लिये यह क्रम है, यही पक्ष व्याख्यानके लिये यहां पर मुख्य समझते हैं।

अनेकजन्मार्जितपापसञ्चयं विधूतमाशु। बहुजन्मसंचितकर्मकल्मषं यथाग्निना तूलमनेकधान्तिकं। अनेकपर्वाद्रिकाष्ठनिष्पन्नमपि तृणं, अनेकशिलिन्ध्रकिलाटोऽपि वायुरादीपनं, नैकजन्मार्जितपापेनापि गतुश्चित्तस्यैकजन्मार्जितपापस्य वैकल्पनात्। अन्योन्यव्यतिरेकस्यात्। अन्योन्यव्यतिरेक एवोच्यते। कथमिति गुणं। यथा नैकजन्मतो भवान्तरेषु अति निष्कल्मषता जायते। तावद् बहुविधदुष्कर्मकारणादिभिरुत्कटसंस्कारेण तदपनयनोपायेऽपि कर्मणां स एव हि न कश्चिद्दोषः। अत्र चैतत् प्रत्यक्षसिद्धं कर्तृणां व्यवसायेषु तत्त्वतः। तद्यथा चीटिकाविशेषाः किल तृणं शिरसाऽऽकृष्य गच्छन्तोऽग्रतोऽतिभारेण श्रान्ताः सीदन्तो दृश्यन्ते ? तत्रान्यैरेवाकर्षणात्तेषां विश्रुतेरेकत्वकल्पना नौवाहादिव्यवसायवत्। तत्त्वतस्त्वनेकत्वमेव। तत्पुनरेकजन्मार्जितेनेत्यनेन शून्यानपेक्षोपेक्षणमुक्तं भवति।

अब विशेषतः पक्ष ही अन्वय दृष्टान्तोंके अभावमें वर्ज करते हैं। अनेकपर्वसे जो कहा है कि, 'बहुत्से पोर वाला एक ही काष्ठ होता है, ही अर्थात् अनेक पोर वाला नहीं है अर्थात् अनेक होने पर भी वैसा नियम नहीं है। क्योंकि, इस प्रकारकी चीटियां ( चींटियां ); शत्रु मरे हुये भी निकलते. अनुकूल विशिष्टयां ( कार्यकारी वा सहायक ); शत्रु मानसे चूर हो पहले आगे बढ़नेवाले. और अनुचर। पक्षीवाले ( पक्षिण्यो ) के निमंत्रण किये हुए इकट्ठे पड़े आदिके व्यवहारके पक्षपातसे भरण देखते हैं। यदि इस प्रिय चींटियां भी एक होनेसे ही भार और ऐसी ही तुच्छता दिखाई पड़ती, तो तुलिः ( तुलसी ) और तुलसी अधिक विशेषतः काष्ठ तथा पट चींटियां कभी भी उठा (सकती नहीं चल सकते थे। तात्पर्य—जैसे तुच्छ चींटियां भी अलग अलग पृथक् पृथक् अनेक होकर तृण उठाने में समर्थ होती हैं, वैसे ही अनेक जन्मोंके बांधे हुए अनेक और कुत्सित शत्रु रूप पहाड़ भी उनसे विशेष बल से हो। अतः यही है,

उन कुविंद, कुंभकार आदिका कर्तृत्व प्रत्यक्षसिद्ध है अर्थात् हम प्रत्यक्षमें कुविंद आदिको पट आदि बनाते हुए देखते हैं, इसकारण उन कुविंदादिका पटादिकर्तृत्व कैसे छिपा राखते हो, तो उन कीटिका आदिने तुम्हारा क्या अपराध किया है? जो तुम उनके उस असाधारण परिश्रमसे सिद्ध होनेयोग्य कर्तृत्वको एक ही क्षणमें निरादरताके साथ दूर करते हो। इस कारण परस्पर संमतिमें भेद होनेके भयसे जो तुम्हारा ईश्वरको एक मानना है, वह भोजन आदि संबंधी व्ययके भयसे कृपणपुरुषका अत्यंत प्यारे स्त्रीपुत्रोंको छोड़कर शून्य महावनको सेवन करनेके समान है। भावार्थ—जैसे कृपण पुरुष खर्चके डरसे स्त्री आदिको छोड़कर निर्जन वनमें चला जावे, उसी प्रकार तुम्हारा मतिभेदके भयसे ईश्वरको एक मानना है।

**तथा सर्वगतत्वमपि तस्य नोपपन्नम्। तद्धि शरीरात्मना ज्ञानात्मना वा स्यात्। प्रथमपक्षे तदीयेनैव देहेन जगत्त्रयस्य व्याप्तत्वादितरनिर्मेयपदार्थानामाश्रयानवकाशः। द्वितीयपक्षे तु सिद्धसाध्यता। अस्माभिरपि निरतिशयज्ञानात्मना परमपुरुषस्य जगत्त्रयकोडीकरणाभ्युपगमात्। यदि परमेवं भवत्प्रमाणीकृतेन वेदेन विरोधः। तत्र हि शरीरात्मना सर्वगतत्वमुक्तम् "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतःपाणिरुतविश्वतःपाद्" इत्यादि श्रुतेः।**

और जो तुमने ईश्वरके सर्वगतपना माना है, वह भी उस ईश्वरके सिद्ध नहीं है। क्योंकि, वह ईश्वर शरीररूपसे सर्वगत है? वा ज्ञानरूपसे? यदि शरीररूपसे ईश्वरको सर्वगत कहोगे तो उस ईश्वरके शरीरसे ही तीन जगत व्याप्त हो जावेगा, इस कारण जगतमें अन्य जो निर्मेय (ईश्वरके बनाने योग्य) पदार्थ हैं, उनको रहनेके लिये कोई स्थान न मिलेगा। यदि कहो कि, ईश्वर ज्ञानरूपसे सर्वगत है; तब तो साध्यकी सिद्धि है अर्थात् जिसको हम सिद्ध करना चाहते थे, वह सिद्ध हो गया। क्योंकि हम भी परमात्माको निरतिशयज्ञान (केवलज्ञान) रूपसे तीन जगतको गोदमें (ज्ञानके विषयमें) करनेवाला मानते है। भावार्थ—जैसे तुम ईश्वरको ज्ञानरूपसे सर्वगत मानते हो, उसी प्रकार हम भी श्रीजिनेन्द्रको ज्ञानरूपसे सर्वगत मानते हैं। इसकारण इस माननेमें तुम्हारे हमारे तो परस्पर कोई विरोध नहीं है। परन्तु ऐसा मानने पर तुमने जिस वेदको प्रमाण कर रक्खा है, उससे तुमको विरोध होता है। क्योंकि, तुम्हारे प्रमाणीभूत वेदमें "ईश्वर-सर्वस्थलोंमें नेत्रका धारक, सर्वत्र मुखका धारक, समस्त स्थानोंमें हस्तका धारक तथा सब जगह चरणका धारक है" इत्यादि श्रुतिसे ईश्वरको शरीररूपसे सर्वगत कहा है।



**यच्चोक्तं तस्य प्रतिनियतदेशवर्त्तित्वे त्रिभुवनगतपदार्थानामनियतदेशवृत्तीनां यथावन्निर्माणानुपपत्तिरिति।**

यत्रेदं पुरुषस्तत्र । य आत्मैव निर्विकल्पाकाशादिसंसर्गाभावेन निर्मिमीते । यदि वा पञ्चभूतात्मकेन । आत्मा वृक्षे इवेति पूर्वपक्षोपपादने अनुपपन्नः। आकाशेवत्व तत्प्रधानेऽपि समानत्वेन न परिमण्डलम् । दृष्टान्तेऽपि तु पञ्चभूतात्मकत्वेऽपि कार्यैकत्वानाद्या निरवयवत्वसम्भवेनैव न किञ्चिदनुपपन्नम्। नित्यत्वेनाश्रयिनो घटाकाशस्यैवोत्पत्तावपि संयोगस्यैवेव तथात्वकार्यसम्भवादनवयवित्वम् ।

जैसे जो पुरुष यह पक्ष है, कि-यहि ईश्वरको शरीर ( तब सारीरि होनेसे ) न बनकर किसी एक नित्य देह ( घटवत ) से उत्पन्न होना चाहिये जो अनित्य अर्थात् किसी २ अवस्थाओंमें नष्ट होनेवाले जो तीनलोकवर्ती घटाकाश हैं, उनको यह दृष्टान्त घटाकाश न बना सकेगा। अर्थात् ईश्वर एक शरीरमें अनेक अवयवोंके एकत्रित होनेसे घट आदि पदार्थोंके समान उत्पन्न न बना सकेगा। यहां पर इस बात पूछते हैं कि, तीन लोकमें रहने वाला कुमा एक ईश्वर सारी ( पृथ्वी ) के पदार्थ बनाता, पीछे से शरीर धारण करनेसे समर्थ है ! अथवा असमर्थ ( इच्छा ) मात्रसे ही तीनलोकको रचता है। यदि कहो कि, ईश्वर शरीरको धारण करके पदार्थोंको बनाता है, तब तो यह दृष्टान्त, पर्वत आदिके बनानेमें घटाकाश दृष्टान्त लागू पूर्वपक्ष ; न होगी। जैसे घटाकाशमें कार्य उत्पत्तिके पहले घटको बनाने के लिये ईश्वर शरीरधारण की तीन अवस्थाओं ( पूर्वोक्त ) न होती। जैसे घटाकाशमें कार्य उत्पत्तिके पहले घटको बनाने के लिये ईश्वर शरीरधारण की तीन अवस्थाओं की आवश्यकता होती है, वैसे ही आकाशमें भी होनी चाहिये, तो भी यह दृष्टान्त ठीक नहीं है। क्योंकि घटाकाशमें घटोत्पत्ति होनेके पहले घटाकाशमें भी एकत्वसंख्या है और घट २ होनेपर भी घटाकाशमें एकत्व संख्या ही रहती है। क्योंकि घटाकाश नित्यसंयोगसे घटोंके भी एकत्वसंख्याके ही अन्य २ कारणोंका अभाव होनेसे ऐसा है।

किञ्च यत्र पर्वतकल्पेऽवयविन्यवयवेषु निरन्तरपरमाणुषु चाकाशादिसंयोगेऽपि कथं वृद्धिः। समाधत्ते । यथा भाटविमापत्तिः । अथ दृष्टान्तेऽपि सदा। यतोऽवयवाः सर्वतस्तत्रं आकाशोत्पत्तिकाले तदाश्रयिसंयोगाभावोत्पन्नकर्मभ्यः, नाकाशेषु।तत्संयोगेऽपि तदाश्रयकर्म तु तत्राश्रयमात्रसंयोगाभावेऽनित्यापत्तिकुतोऽपेति चेत्। उच्यते।पुरुषेच्छाविशेषः प्रतिनियतपुरुषकर्मफलं वृष्टिविशेषापेक्षत्वम् । यतो यत्नमात्राभावकारि सर्वत्रावस्थमेव विषयं गारेच्छिन्नत्ति । न पुनस्तत्र गत्वा । अदृष्टवतो गत्वदृष्टाश्रयः लाघवात्। । यदि भवतोऽप्यदृष्टिज्ञानत्वापेक्ष यत्नसामान्यादेवादृष्टवृष्टि। । अकाशे हि अदृष्टजलाऽसेकाभावेऽपि वृष्टिविशेषो जलोत्पत्तिमवयवापेक्षत्वात्तिष्ठतीति ।

और विशेष यह है कि, ईश्वरके सर्वगतपना अङ्गीकार करनेपर निरन्तर महा अंधकारसे व्याप्त जो नरक आदि स्थान हैं, उनमें भी उस ईश्वरके रहनेका प्रसंग होगा और ऐसा होनेसे तुम्हारे अनिष्टापत्ति होगी। अब कदाचित् तुम यह कहो कि—अग परमात्मा ज्ञानरूपसे तीनलोकको व्याप्त करता है, ऐसा आप कहते हैं; तब सर्वज्ञके अपवित्र रसके आस्वाद आदिके ज्ञानकी संभावना होनेसे और नरक आदिमें जो दुःख है, उनके स्वरूपको जाननेके कारण दुःखोंके अनुभवका प्रसंग होनेसे आपके पक्षमें भी अनिष्टापत्ति समान ही है। भावार्थ—ईश्वरको शरीरसे सर्वव्यापी माननेरूप हमारे पक्षमें जैसे अनिष्टापत्ति होती है, उसीप्रकार ईश्वरको ज्ञानरूपसे सर्वव्यापी स्वीकार करनेरूप आपके पक्षमें भी अनिष्टापत्ति होती है। सो यह तुम्हारा कथन जैसे उपायोंसे शत्रुको निवारण करनेमें असमर्थ पुरुष धूल फेंकता है, उसके समान है। क्योंकि, ज्ञान अप्राप्यकारी है अर्थात् जहां पर ज्ञेय (जानने योग्य) पदार्थ स्थित है, वहां पर ज्ञान नहीं जाता है, इस कारण ज्ञान जो है सो अपने स्थलमें (आत्मामें) स्थित हुआ ही ज्ञेयको जानता है। और ज्ञेयके स्थानमें जाकर ज्ञेयको नहीं जानता है। इसलिये तुमने जो हमारे पक्षमें अनिष्टापत्ति दी है, वह किस प्रकारसे उचित हो सकती है अर्थात् तुमने जो दोष दिया है, वह मिथ्या है। क्योंकि तुमको भी तो अशुचि पदार्थके ज्ञानमात्रसे उसके रसके आस्वादनका अनुभव नहीं होता है। और यदि कहो कि हमको अशुचिपदार्थके जाननेसे उसके रसका ज्ञान भी हो जाता है, तो इस प्रकार माननेपर पुष्पमाला, चंदन, स्त्री और जलेबी आदि पदार्थोंके ज्ञानमात्रसे ही तुमको तृप्ति हो जावेगी, इसकारण उन माला आदि पदार्थोंकी प्राप्तिके अर्थ जो प्रयत्न करते हो, उन सबलोगोंकी निष्फलताका प्रसंग होगा। भावार्थ—जैसे तुम अशुचि पदार्थके ज्ञानसे उसके रसका ज्ञान होना मानते हो, उसीप्रकार तुमको माला आदिके ज्ञानसे ही माला आदिकी इच्छाकी पूर्ति भी माननी पड़ेगी, और ऐसा मानने पर माला आदिकी प्राप्तिके लिये जो तुम प्रयत्न करते हो, वे निष्फल हो जावेंगे।

**यत्तु ज्ञानात्मना सर्वगतत्वे सिद्धसाधनं प्रयुक्तम्। तच्छक्तिमात्रमपेक्ष्य मन्तव्यम्। तथा च तत्कारो भवन्ति। 'अस्य मतिः सर्वशास्त्रेषु प्रसरति' इति। न च ज्ञानं प्राप्यकारि। तस्यात्मधर्मत्वेन बहिर्निर्गमाऽभावात्। बहिर्निर्गमे चात्मनोऽचैतन्यापत्त्या अजीवत्वप्रसङ्गः। न हि धर्मो धर्मिणमतिरिच्य क्वचन केवलो विलोकितः। यच्च परे दृष्टान्तयन्ति। यथा सूर्यस्य किरणा गुणरूपा अपि सूर्यान्निष्क्रम्य भुवनं भासयन्त्येवं ज्ञानमप्यात्मनः**

लक्षणमाक्षिप्तिनिर्णयेऽस्मदेवं परिष्कृतमागमेति । अलोपपुराणम् । विरुद्धाभिधं गुरुत्वापादकमिष्टम् । तेषां द्वित्वसंयुक्तत्वव-र्णेन दूरवलात् । यद्वा तैर्नो चाक्षरस्थाः गुरवः स नोक्तो न जातु गुरुत्वं प्रपद्यते इति ।

अर्थ जो इसमें पहिले [किसी] अन्यने भ्रान्तिसे गलतीसे लिखा हुआ पाठ कहा है, वह भी अविचारकी अपेक्षा रखकर ही [विचार] करना चाहिये अर्थात् [विचार कर ही] दोषका कारण अथवा गलतीके अधिकारी होना चाहिये। ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि " इस पुस्तकमें वृत्ति अन्य पण्डितने लिखी हुई है " ऐसा अनेकोंसे कहा जाता है। आचार्य—जैसे किसी ग्रन्थमें कुशलकी अधिकारी [लिखा] होना चाहिये कि, इसमें वृत्ति का पुस्तकोंमें लिखी है, इसलिये [ग्रन्थके] अन्तमें कुशलको [ऐसा] कहा भी [कहा] है कि, [ग्रन्थका] अन्त अब आई प्राप्त हुआ है। और [इस पाठान्तरमें ( जैसे धर्मम् अन्तर लिखने अशुद्धिपाठः ) नहीं है। क्योंकि, [इस] अक्षरमें कर्ता होनेसे [अक्षरके] पढ़ने नहीं जा सकता है; यदि यदि [इस] अक्षरके पढ़ने जाये तो पाठकके अशुद्धिका [दोष] होता है। [क्योंकि], [वर्णोंको] [अशुद्ध] लिखने अथवा [पढ़ने] से अशुद्धि होती है। [यह] नहीं [कहना] है अर्थात् [अशुद्धि] बिना पढ़े भी नहीं होता है। और जो कहते हैं कि, जैसे [ग्रन्थके] आदिमें [ग्रन्थकर्ता], जो भी [ग्रन्थ] लिखता [उसको] अवश्य [लिखना] चाहिये। यही [ग्रन्थ] [का] भी अन्तमें [लिखना] चाहिये। [यह] [कहना] ठीक है, [किन्तु] [ग्रन्थ] [का] [अन्तमें] [लिखना] [ग्रन्थकर्ता] [के] [लिये] [आवश्यक] [नहीं] है। [क्योंकि], [किसी] [लेखक] [के] [द्वारा] [लिखा] [जाना] [होने] [से] [भी] [ग्रन्थ] [का] [अन्तमें] [लिखना] [ग्रन्थकर्ता] [के] [लिये] [आवश्यक] [नहीं] है। और [ग्रन्थ] [का] [अन्तमें] [लिखना] [ग्रन्थकर्ता] [के] [लिये] [आवश्यक] [नहीं] है। [क्योंकि], [किसी] [लेखक] [के] [द्वारा] [लिखा] [जाना] [होने] [से] [भी] [ग्रन्थ] [का] [अन्तमें] [लिखना] [ग्रन्थकर्ता] [के] [लिये] [आवश्यक] [नहीं] है।

[अन्यो] [न] [पर्यवस्थितिर्ण्या] [लीहनिमित्तमाचार्यगाथा] । " किंतणा—गुणा न, [यदि] [वर्णमें] [गुणोंसे]—गुणोंसे, न [हो] [तब] । [व] [अन्य] [मात्रगुणो] [गुरुत्वादयो] [न] [अवतिष्ठन्ते] । [१] [अन्तर्गुरुत्व] [न] [परिच्छिद्यते] [गाने] [वर्णे] [लघुत्वमिव] [देहादिषु] । [अविधेय] [क्रिया] [यदा] [सन्निधानमात्रेण] [विक्रियते] [२] । [लोहचुम्बकवत्] [यथा] [लोहे] [आयस्कान्तो] [गुण] [विक्रियते] [तद्वत्] । [३] [लोहं] [अयस्कान्तिकेनी] [औषधा] [युत]

---

१ [विद्या-पुस्त] [न], [यदि] [वर्णे] [गुणोंसे]—[गुणोंसे], न [हो] [तब] [अन्य]। [गुरुत्वादयस्तत्पुरुष] [गुरुत्वादयो] [गुण] [अन्य]। । । [गुरुत्व] [न] [परिच्छिद्यते] [गुरुत्व] [अन्य] [वर्णोंमें]। [लोहचुम्बकवत्] [यथा] [लोहे] [आयस्कान्तो] [गुण] [विक्रियते]। [औषधादयो] [यदा] [सन्निधानमात्रेण] [विक्रियन्ते]। [औषधादयो] [यदा] [सन्निधान] [मात्र] [से] [विक्रियन्ते]। । [एवमेव] [गुरुत्वाद्यैः] [वर्णोंके] [गुरुत्व] [से] [भी] [गुरुत्व] [नहीं] [होता] [है]। [यदि] [परिच्छेदमात्रेण] [अन्य] [को] [भी] [गुरुत्व] [होता] [है]। [३]। [गुरुत्वाद्यैः]

है। और जो सचेतन स्थावर वृक्ष आदि हैं, उनके भी पूर्वोपार्जित शुभ-अशुभकर्मोंके उदयसे ही विचित्रता है। तथा जो अचेतन स्थावर हैं, वे जो जंगम और सचेतन स्थावर हैं, उनके कर्मोंके फल भोगनेकी जो योग्यता है उसके साधन है अर्थात् इनके द्वारा जीवोंको स्वोपार्जित शुभ अशुभ कर्मोंका फल भोगना पड़ता है, इस कारण उन अचेतन स्थावरोंकि अनादिकालसे ही सिद्ध वैचित्र्य है।

**नाप्यागमस्तत्साधकः। स हि तस्कृतोऽन्यकृतो वा स्यात्। तत्कृत एव चेत्तस्य सर्वज्ञतां साधयति। तदा तस्य महत्त्वक्षतिः। स्वयमेव स्वगुणोत्कीर्त्तनस्य महतामनधिकृतत्वात्। अन्यच्च तस्य शास्त्रकर्त्तृत्वमेव न युज्यते। शास्त्रं हि वर्णात्मकम्। ते च तालवादिव्यापारजन्याः। स च शरीर एव सम्भवी। शरीराऽभ्युपगमे च तस्य पूर्वोक्ता एव दोषाः। अन्यकृतश्चेत्सोऽन्यः सर्वज्ञोऽसर्वज्ञो वा। सर्वज्ञत्वे तस्य द्वैतापत्त्या प्रागुक्तदेकत्वाभ्युपगमबाधः। तत्साधकप्रमाणचर्चायामनवस्थापातश्च। असर्वज्ञश्चेत् कस्तस्य वचसि विश्वासः।**

अब यदि कहो कि, आगम प्रमाण जो है सो उस ईश्वरके सर्वज्ञत्वको सिद्ध करनेवाला है। सो भी नहीं। क्योंकि, वह आगम ईश्वरका किया हुआ है? या अन्य किसीका? यदि कहो कि, ईश्वरका किया हुआ है तो यदि ईश्वरका किया हुआ आगम ही ईश्वरके सर्वज्ञत्वको सिद्ध करेगा तब तो ईश्वरके महत्त्व (बड़प्पन) का नाश होगा। क्योंकि, महत्पुरुष स्वयमेव (आप ही) अपनी प्रशंसा करना स्वीकार नहीं करते है। और विशेष यह है कि, वह तुम्हारा ईश्वर शास्त्रका करनेवाला ही नहीं हो सकता है। क्योंकि शास्त्र अक्षरों रूप है, वे अक्षर तालु (तालवे) आदिके व्यापार (प्रयत्न) से उत्पन्न होते है, और वह तालु आदिका व्यापार शरीरमें ही हो सकता है। यदि ईश्वरके शरीर मानो तो जो दोष ईश्वरको शरीर माननेमें पहले कहे हैं, वे ही यहां भी होवेंगे। यदि कहो कि, आगम किसी अन्यका किया हुआ है, तो हम पूछते हैं कि, वह अन्य पुरुष सर्वज्ञ है? अथवा असर्वज्ञ है? यदि कहो कि, वह अन्यपुरुष सर्वज्ञ है, तब तो ईश्वरके द्वैतापत्ति होगी अर्थात् सर्वज्ञ होनेसे ईश्वर दो हो जावेंगे, एक तो आगमका कर्त्ता और दूसरा जगतका कर्त्ता। और ऐसा होनेपर पहले जो तुमने ईश्वरको एक स्वीकार किया है, उसका बाध होगा। तथा उस ईश्वरके सर्वज्ञत्वको सिद्ध करनेवाले प्रमाणकी चर्चा करनेपर अनवस्था दोष भी होवेगा। अर्थात् जैसे प्रथम ईश्वरको सर्वज्ञ सिद्ध करनेके लिये तुमको दूसरा ईश्वर मानना पड़ा है, इसी प्रकार दूसरे ईश्वरको सर्वज्ञ सिद्ध करनेके लिये तीसरा और तीसरेको सिद्ध

[illegible]

[illegible] है । ———

वचन न पर्युदासार्थ आगमः उत्तरवचनं [illegible] समर्थयति । पूर्वोक्तानामेवार्थानामनुवादपरत्वात् । नञाह— "न हिंस्यात्सर्वभूतानि" इति वाक्यमुक्त्वा पश्चाद्वचनं पठितम् "पञ्चपञ्चनखा भक्ष्याः" [illegible] पर्युदासः [illegible] पशुमेकमालभेत । " तथा " [illegible] " " [illegible] [illegible] " [illegible] न पूर्वोक्तविधिवाक्यमनुवदन्ति । तथा " नानृतं वदे-त् " [illegible] सत्यं वदेत् " [illegible] " [illegible] [illegible] न [illegible] । [illegible] । २ ६ "

और यह [illegible] उस [illegible] नहीं होता है, किन्तु [illegible] सामर्थ्य से सिद्ध [illegible] है । क्योंकि [illegible] (पौषे) के [illegible] — [illegible] सिद्ध करते हैं, [illegible] [illegible] है, [illegible] है, [illegible] सामर्थ्य ही सिद्ध करता है । [illegible] — "[illegible] [illegible]" [illegible] फिर [illegible] है कि "[illegible] ; [illegible] [illegible] ५४० [illegible] किया गया है । ६ । " [illegible] [illegible] । " तथा "[illegible] [illegible] । " [illegible] है, [illegible] नहीं [illegible] है । [illegible] है ही । इसी प्रकार " [illegible] नहीं [illegible] चाहिये " [illegible] " [illegible] चाहिये । " [illegible] है । तथा " [illegible] ( [illegible] ) [illegible] नहीं है, [illegible]

1 [illegible] ।

वचन कह दिया जावे तो, वह धर्मनाशक नहीं है २, विवाहके अवसरमें वरकन्याके दोषोंको न कहकर उनके झूठे ही गुणोंको कह दिये जानेमें जो असत्यवचन बोला जाता है, वह भी धर्मनाशक नहीं है ३, अपने वा परके प्राण जाते समय प्राणोंकी रक्षार्थ यदि असत्यवचन कहा जावे, तो वह धर्मनाशक नहीं है ४, और जब राजा सर्व धनको लूटता होवे, उस समय अपने धनको किसी दूसरेका बतलाकर धनकी रक्षा करनेमें जो असत्य वचन कहा जावे तो, वह भी धर्मनाशक नहीं है ५, इस प्रकार पांच प्रकारके झूठ पापरूप नहीं हैं । १ । "

तथा " परद्रव्याणि लोष्टवत् " इत्यादिना अदत्तादानमनेकधा निरस्य पश्चादुक्तं " यद्यपि ब्राह्मणो हठेन परकीयमादत्ते छलेन वा, तथापि तस्य नाऽदत्तादानम् । यतः सर्वमिदं ब्राह्मणेभ्यो दत्तम् । ब्राह्मणानां तु दौर्बल्याद्वृषलाः परिभुञ्जते । तस्मादपहरन् ब्राह्मणः स्वमादत्ते स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददातीति । तथा— " अपुत्रस्य गतिर्नास्ति " इति लपित्वा " अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणां । दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम् । १ । " इत्यादि । कियन्तो वा दधिमाषभोजनात्कृपणा विवेच्यन्ते । तदेवमागमोऽपि न तस्य सर्वज्ञतां वक्ति । किञ्च सर्वज्ञः सन्नसौ चराचरं चेद्विरचयति तदा जगदुपप्लवकरणश्चैरिणः पश्चादपि कर्तव्यनिग्रहान् सुरैरिण, एतदधिक्षेपकारिणश्चास्मदादीन् किमर्थं सृजति । इति तत्राऽयं सर्वज्ञः ।

तथा "परकि द्रव्योंको लोष्टके समान देखने चाहियें अर्थात् दूसरोंके धनको लोहेके समान अरुपमूल्यवाला समझकर न लेना चाहिये" इस वचनसे नहीं दिये हुए द्रव्यके ग्रहणका अर्थात् चोरी करनेका निषेध करके फिर कहा है कि, यदि ब्राह्मण हठसे अथवा अपने बलसे परके धनको लेवे, तो भी उस ब्राह्मणके अदत्तादान अर्थात् चोरी करनेका दोष नहीं है । क्योंकि " ब्राह्मने सर्व जगतकी संपदा ब्राह्मणोंको दी है, उन ब्राह्मणोंमें जो दुर्बलता हो गई इस कारणसे वृषल ( शूद्र ) उन संपदाओंका भोग करते हैं, अतः दूसरे पुरुषसे कोई भी पदार्थ छीनता हुआ ब्राह्मण अपना ही लेता है, अपना ही भक्षण करता है, अपना ही पहरता है और अपना ही देता है । " इसी प्रकार " पुत्ररहितकी गति नहीं है " ऐसा कहकर फिर उसी शास्त्रमें लिखा है कि, " कितने ही हजार बालब्रह्मचारी ब्राह्मण कुलकी संतन्तिको न करके अर्थात् कुलकी रक्षार्थ संतान ( पुत्र ) उत्पन्न न करके

होता है कि, तुम्हारा ईश्वर स्वतंत्र और करुणावान नहीं है। यदि कहो कि, ईश्वर जीवोंके अन्य (पहले) जन्मोंमें उपार्जन किये हुए उन २ शुभ तथा अशुभ कर्मोंसे प्रेरित होकर ऐसा करता है अर्थात् पूर्वजन्ममें जिस जीवने जैसा शुभ-अशुभ कर्म बांधा है, उस कर्मके अनुसार ही उस जीवको फल देनेके लिये ईश्वरने सुख-दुःख आदिरूप जगतको रचा है, ऐसा कहो तो तुमने ईश्वरके स्वाधीनपनेके अर्थ जलांजली दी, अर्थात् ऐसा माननेसे तुम्हारा ईश्वर स्वाधीन न रहा; किन्तु कर्मोंके आधीन हो गया। और जब तीन लोककी विचित्रता कर्मोंसे उत्पन्न हुई; तब ईश्वर है कारण जिसमें ऐसी जो जगतकी रचनाकी कल्पना करना है, उसका एक कष्ट ही फल होनेसे विचारको धारण करनेवाले तुमने हमारे ही मतको स्वीकार किया। और हमारे मतको स्वीकार करने पर यह "घट्टकुटीप्रभात (जगात में प्रातःकाल)" नामक न्यायकी प्राप्ति हुई। भावार्थ—जैसे कोई मनुष्य महसूली सामानका महसूल न देनेके विचारसे जिस रास्तेमें महसूल देनेका मुकाम है, उसको छोड़कर किसी दूसरे रास्तेसे शहरके भीतर जानेके लिये संपूर्ण रात्रिमें इधर परिभ्रमण करे, और फिर फिराकर प्रातःकाल उस महसूल देनेके स्थानमें ही जा पहुंचे—उसका जैसे सब रात्रिका परिश्रम करना वृथा हो जाता है, इसी प्रकार ईश्वरको जगतके कर्त्ता माननेके लिये तुमने बहुत कुछ उपाय किये; परन्तु अन्तमें जब कर्मोंसे ही जगतकी विचित्रता सिद्ध हो गई तब ईश्वरको जगतका कर्त्ता माननेमें केवल कष्ट ही कष्ट समझकर तुमने भी हम जैनियोंका जो "ईश्वर जगतका कर्त्ता नहीं है" यह मत है, इसीको मान लिया। और भी विशेष यह है कि, यदि ईश्वर जीवोंके पुण्य तथा पापकी अपेक्षा करके इस जगतको रचता है, तो यह सिद्ध हुआ कि, ईश्वर जिसकी अपेक्षा करता है उसको नहीं करता है। क्योंकि कुंभकार दंड आदिको नहीं करता है। भावार्थ—जैसे कुंभकार घट आदि बनानेके अर्थ दंड आदिकी अपेक्षा रखता है, अतः उनको बना नहीं सकता, इसी प्रकार ईश्वर जगतके बनानेमें जीवोंके धर्म-अधर्मकी अपेक्षा (जरूरत) रखता है, इस कारण उनके बनानेमें असमर्थ है। इस प्रकार यदि कर्मोंकी अपेक्षा रखनेवाला ईश्वर जगतका कारण होवे अर्थात् जगत्रूपकार्यका कर्त्ता होवे; तो कर्ममें ईश्वरपना सिद्ध होगा और ईश्वर जो है सो अनीश्वर (असमर्थ) हो जावेगा।





तथा नित्यत्वपक्षे तस्य सकल एव प्राणिगणमानं हरन्। न खलु नित्यत्वेनैकरूपः सन् त्रिभुवनसर्गस्वभावोऽत-

तस्या अपि । [illegible]

[illegible] । [illegible]

अब जो [illegible] मिल जाते हैं, तो भी [illegible]

[illegible]

आत्मस्वभावपक्षे तु न ताः [illegible]

[illegible] न [illegible] । [illegible]

[illegible] समानान्तरेण वा । [illegible]

[illegible] । [illegible]

[illegible]

[illegible]

यदि कहो कि [illegible]

करे । क्योंकि जैसे आकाश जगत रचनेरूप स्वभावका धारक नहीं है, इसकारण जगतको नहीं रचता है, वैसे ही ईश्वर भी जगतके रचनेके स्वभाववाला न होनेसे जगतको नहीं रच सकता है। और भी विशेष यह है कि, यदि ईश्वर सर्वथा नित्यस्वभावका ही धारक होवे तो जैसे उसके नित्य होनेसे जगतकी रचना सिद्ध नहीं होती है, वैसे ही ईश्वरकी नित्यतामें जगतका संहार ( नाश अथवा प्रलय ) भी नहीं सिद्ध होता है। क्योंकि यह ईश्वर जिस स्वभावसे तीनों लोकोंको रचता है, उसी स्वभावसे उन तीनों लोकोंका नाश करता है ? वा किसी दूसरे स्वभावसे तीन जगतका संहार करता है ? यदि कहो कि, ईश्वर जिस स्वभावसे जगतको रचता है, उसी स्वभावसे जगतको नष्ट भी करता है; तब तो जगतकी रचना और जगतका नाश ये दोनों एक ही समयमें होवें ऐसा प्रसंग होगा। कारण कि स्वभावका अभेद है, अर्थात् ईश्वर जगतके रचने और नष्ट करनेमें एकही स्वभावका धारक है। क्योंकि एक स्वभावरूप जो कारण है, उससे अनेक स्वभावरूप कार्योंकी उत्पत्तिमें विरोध है। अर्थात् एक स्वभावरूप कारणसे अनेक स्वभाववाले कार्य नहीं हो सकते हैं। यदि कहो कि, ईश्वर जिस स्वभावसे जगतको रचता है, उसी स्वभावसे जगतका नाश नहीं करता है; किन्तु दूसरे स्वभावसे जगतका संहार करता है, तो ईश्वरके जो नित्यता है, उसका नाश हो जावेगा। क्योंकि जो स्वभावका भेद है, वही अनित्यका लक्षण है। जैसे कि—आहारके परमाणुओंसे सहायको प्राप्त हुआ जो पार्थिव शरीर है, उसमें प्रतिदिन अपूर्व अपूर्व उत्पत्ति होनेके कारण स्वभावका भेद है, इसकारण वह अनित्य है। भावार्थ—जैसे हमारे तुम्हारे शरीरमें प्रतिदिन नवीन नवीन आकृति आदि होनेसे स्वभावका भेद है और स्वभावभेदके होनेसे ही हमारा तुम्हारा शरीर अनित्य है, उसी प्रकार ईश्वरके स्वभावका भेद माननेपर ईश्वर भी अनित्य हो जावेगा। और जगतकी रचना तथा संहारमें शंभु (ईश्वर)के स्वभावका भेद होना तुमको इष्ट ही है। क्योंकि तुमने ' ईश्वर रजोगुणरूप होकर जगतकी रचनामें, तमोगुणस्वरूपका धारक होकर जगतके नष्ट करनेमें और सात्त्विकपनेसे जगतकी स्थिति ( रक्षा ) में व्यापार करता है, ऐसा स्वीकार किया है। और इस प्रकार भिन्न २ गुणरूप होकर कार्य करनेमें ईश्वरकी अवस्थायें भी जुदी जुदी हुई और उन जुदी २ अवस्थाओंके होनेसे अवस्थाओंका धारक जो ईश्वर है, उसका भी भेद हुआ। अर्थात् रजोगुणरूप अवस्थाका धारक जो ईश्वर है, उस ईश्वरसे तमोगुणरूप अवस्थावाला ईश्वर भिन्न हुआ। और ऐसा हुआ तो ईश्वरकी नित्यताका नाश हुआ अर्थात् ईश्वर नित्य न रहा।

कि। जो यदि तुम ऐसा कहो कि, ईश्वर नित्य ही है, तो वस्तु नित्य हैं सो, [illegible] भी एक ईश्वर [illegible] पैदा क्यों नहीं करता है अर्थात् [illegible] नहीं सकता है। यदि कहो कि, ईश्वर इच्छासे [illegible] नहीं करता है अर्थात् [illegible] ईश्वरको [illegible] नहीं होती है, तब [illegible] कि ईश्वरकी [illegible] नहीं [illegible] है। भावार्थ—[illegible] [illegible] अथवा [illegible] नहीं [illegible] है। [illegible] है, [illegible] है : [illegible] बुद्धि २ [illegible] ३ [illegible] ४ [illegible] ५ [illegible] ६ [illegible] ७ और [illegible] ८ [illegible] बुद्धि [illegible] ८ [illegible] है, [illegible] । भावार्थ— [illegible] । [illegible] है कि, [illegible] अर्थात् [illegible] ।

किंच ईश्वरस्य प्रवृत्तिः स्वार्थकारुण्याभ्यां व्याप्ता । [illegible] स्वार्थ[illegible] । न [illegible] । न च [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । इति [illegible] ।

और जो [illegible] है कि, जो [illegible] ( [illegible] ) [illegible] और [illegible]

। [illegible] ।

होती है अर्थात् विचारवान् था तो अपने प्रयोजनसे किसी कार्यको करते हैं, और या करुणाबुद्धिको धारणकर परोपकारके लिये किसी कार्यको करते हैं। इस कारण यह ईश्वर जगतके रचनेमें स्वार्थसे व्यापार करता है अथवा करुणाभावसे व्यापार करता है, अर्थात् लगता है। यदि कहो कि, ईश्वरकी जगतकी रचनामें स्वार्थसे प्रवृत्ति होती है, सो तो नहीं। क्योंकि वह ईश्वर कृतकृत्य है अर्थात् उसको कोई भी कार्य करना न रहा, इस कारण कृतार्थ है। यदि कहो कि ईश्वर जगतकी रचनामें कारुण्यसे प्रवृत्ति करता है। सो भी नहीं। क्योंकि दूसरेके दुःखोंको दूर करनेकी जो इच्छा है, वह कारुण्य कहलाता है, इसकारण ईश्वरने जब जगत नहीं रचा था, उस समय जीवोंके इंद्रिय, शरीर और विषयोंकी उत्पत्ति न होनेसे दुःखका अभाव था अर्थात् इंद्रिय, शरीर तथा विषयोंसे दुःख उत्पन्न होता है और वे इंद्रियआदि जीवोंके थे नहीं, फिर किसको दूर करनेकी इच्छा हुई जिससे कि, ईश्वरने कारुण्यसे जगतको रचा। और जगतको रचनेके पीछे दुःखी जीवोंको देखकर ईश्वरने कारुण्य धारण किया, ऐसा मानो तो इतरेतराश्रय (अन्योन्याश्रय) नामक दोष नहीं दूर हो सकता है। क्योंकि कारुण्यसे जगतकी रचना हुई और जगतकी रचनासे कारुण्य हुआ। इस कारण ईश्वरके जगतका कर्तापना किसी भी प्रकारसे सिद्ध नहीं हो सकता है।

**तदेवमेवंविधदोषकलुषिते पुरुषविशेषे यस्तेषां सेवाहेवाकः स खलु केवलं बलवन्मोहविडम्बनापरिपाक इति। अत्र च यद्यपि मध्यवर्तिनो नकारस्य घण्टालालान्यायेन योजनादर्थान्तरमपि स्फुरति। यथा 'इमाः कुहेवाकविडम्बनास्तेषां न स्युर्येषां त्वमनुशासक' इति। तथापि सोऽर्थः सहृदयैर्न हृदये धारणीयः। अन्वयोगव्यवच्छेदस्याधिकृतत्वात्। इति काव्यार्थः ॥ ६ ॥**

सो इस प्रकार अनेक दोषोंसे दूषित पुरुषविशेष (ईश्वर) में जो वेदोक्तिकोंका सेवामें आग्रह है, वह बलवान् जो मोह है, उसकी विडम्बनाका परिपाक (उदय अथवा फल) है। और "इमाः कुहेवाकविडम्बनाः स्युस्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम्।" यहां पर मध्यवर्ती जो नकार है, उसका घंटालालान्यायसे अन्वय करनेपर दूसरा अर्थ भी निकलता है अर्थात् जैसे—घंटामें जो डोरी रहती है, वह घंटाके दोनों तरफको लगती है, इसीप्रकार मध्यवर्ती नकारका भी दो प्रकारसे अन्वय होता है। जैसे—कि, वह कदा-

अथ धर्मधर्मिणोः कथञ्चिद्भेदाभेदात्मकत्वात् धर्मस्वरूपाख्यानमात्रं धर्मिस्वरूपाख्यानं भवतीत्यत्र [illegible]

ब्य "यद्यपि अभेदवृत्ति और भेदवृत्ति धर्म और धर्मीके आश्रय रहनेसे दोनों [illegible] भिन्न हैं, तथापि धर्मका विशेषण होनेसे भेद और धर्मी [illegible] आश्रय होनेसे अभेदवृत्ति धर्मीका स्वरूप [illegible] है" ॥ जिसलिये इन्हीं दोनोंके आश्रय धर्म और धर्मीका स्वरूप [illegible] है ।

न धर्मधर्मित्वमतीवभेदे वृत्त्यास्ति चेन्न त्रितयं चकास्ति ।
इहेदमित्यस्ति मतिश्च कृत्स्नं न गौणभेदोऽपि च लोकबाधः ॥ ७ ॥

काल्पमालार्थः—गौ और पर्वतके [illegible] भिन्न मानलेनेसे धर्मधर्मीव्यवहार नहीं होता है । यदि वादी कहे कि, सामान्यविशेषरूप परस्पर भिन्नरूप धर्म और धर्मीका इक्य दूसरेके साथ रहता है, अतः धर्मधर्मिव्यवहार होता है । तो नहीं । क्योंकि जैसे—धर्म और धर्मी इन दोनोंका ऐक्य होता है, वैसा प्रकार प्रत्यक्षका विषय नहीं होता है । फिर यदि वादी कहे कि, 'यहां यह है' इस प्रकारके इस प्रत्ययसे प्रत्यक्षका विषय होता है, तो 'यहां यह है' इस प्रत्ययकी वृत्ति तत्तादात्म्यसे भी है । इस कारण उक्त प्रत्ययमें प्रत्यक्षका कारण दूसरा सम्बन्ध और उसमें भी दूसरा समवाय माननेसे अनवस्था होगी । यदि यदी कहे कि, तत्तादात्म्य संसर्गापत्ति गौणरूपसे है । तो भी ठीक नहीं है । और इस अभिप्रायसे तत्तादात्म्यको सिद्ध करनेमें लोकसे भी विरोध होता है ॥ ७ ॥

---

१ [illegible] नो वस्तुनः [illegible]

व्याख्या। धर्म्मधर्म्मिणोरतीवभेदेऽतीवेत्यत्रेवशब्दो वाक्यालङ्कारे। तं च प्रायोऽतिशब्दादिकेवृत्तेश्च प्रयुञ्जते शाब्दिकाः। यथा "आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्याम्" "उद्वृत्तः क इव सुखावहः परेषाम्" इत्यादि। ततश्चैकान्तभिन्नत्वेऽङ्गीक्रियमाणे धर्म्मधर्म्मित्वं न स्यात्। अस्य धर्मिण इमे धर्म्मा एषां च धर्म्माणामयमाश्रयभूतो धर्म्मीत्येवं सर्वप्रसिद्धो धर्म्मधर्म्मिव्यपदेशो न प्राप्नोति। तयोरत्यन्तभिन्नत्वेऽपि तत्कल्पनायां पदार्थान्तरधर्म्माणामपि विवक्षितधर्म्मधर्म्मित्वापत्तेः।

व्याख्यार्थः—"अतीवभेदे" धर्म (गुण) और धर्मी (गुणी) इन दोनोंको अत्यन्त भिन्न मानेपर ['अतीव' यहांपर जो अति के साथ 'इव' का योग (अति×इव=अतीव) है, वह वाक्यके अलंकारमें है और शाब्दिक (व्याकरणके जाननेवाले) पुरुष इस 'इव' शब्दका प्रायः अतिशब्दके साथ, किंवृत्ति ('किम्' शब्दके साथ समासको प्राप्त हुए शब्द) के साथ तथा किंशब्दके साथ योग किया करते हैं। जैसे कि "आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्याम्।" "उद्वृत्तः क इव सुखावहः परेषाम्।" यहांपर किंवृत्ति और किंशब्दके साथ 'इव' का योग किया गया है।] "धर्म्मधर्म्मित्वं" धर्मधर्मीपना अर्थात् इस धर्मीके ये धर्म हैं, और इन धर्मोंका यह आधारभूत (रहनेके स्थानरूप), धर्मी है, इसप्रकारका जो सर्वप्रसिद्ध धर्मधर्मिव्यवहार है, वह नहीं होता है। क्योंकि यदि धर्म और धर्मीके परस्पर अत्यंत भेद होनेपर भी जो धर्मधर्मिभावकी कल्पना करोगे तो अन्यपदार्थोंके जो धर्म हैं, उनके भी विवक्षित धर्मधर्मिभाव हो जावेगा। भावार्थ—वैशेषिकमतमें द्रव्य (धर्मी) और गुण (धर्म) इन दोनोंको सर्वथा भिन्न माने गये हैं। क्योंकि 'जो द्रव्य उत्पन्न होता है, वह प्रथमक्षणमें गुणोंसे रहित ही रहता है, ऐसा उनका मत है। इसकारण शास्त्रकार कहते हैं कि, यदि परस्पर भेदके धारक धर्म और धर्मीके धर्मधर्मिभाव मानोगे, तो एक पदार्थका धर्म किसी दूसरे पदार्थका धर्म हो जावेगा अर्थात् जब अग्निके उष्णत्वधर्मका अग्निके साथ और जलके शीतत्वधर्मका जलके साथ सर्वथा भेद होगा तब जलका शीतत्व धर्म अग्निका धर्म हो जावेगा और अग्निका उष्णत्वधर्म जो है, वह जलका धर्म हो जावेगा। क्योंकि धर्म धर्मीके सर्वथा भेद होनेसे यह धर्म इसी धर्मीका है, ऐसा कोई नियामक [नियम करानेवाला] नहीं है। ॥ ३७ ॥

एवमुक्ते सति परः प्रत्यवतिष्ठते। [illegible]सीति। अवगतसिद्धानामाधाराधारभूतानामिहप्रत्ययहेतुः सम्बन्धः

ब्याख्या । उक्तं नैतत्सम्यक्त्वं दोषं वर्णयति ।

इस अवतरण भाष्यकारके अर्थसे कुछ भिन्न जान पड़ते हैं कि, " शङ्का " शब्दसे ( तात्पर्य ) से " अतिचार " है । तात्पर्यार्थ-अनुसारीसूत्र ( यह सूत्रोंके लिखा जानेसे भी पहिलेके ) होनेसे उन आचार्यके ( मतसे वाचक ) और भाष्यकार ( स्वयंके भाष्यके ) बीच बहुत बड़ा ( लगभग ५०० वर्षोंका ) अन्तर पड़ता है । यह अवतरण १५ प्रकारके मोक्ष गामी जीवोंकी विशेषता बतानेके लिये, उसमें भेद उत्पन्न करनेके लिये, उनके भेद बतलाये हैं । जैसे तीर्थङ्करोंके तीर्थमें सिद्ध होनेवालोंको तीर्थसिद्ध कहते हैं । और तीर्थङ्करके गुरु न होने से गुरुके बिना ही जो सिद्ध होते हैं उन्हें अतीर्थसिद्ध कहते हैं । यह दोनोंमें अन्तर है । इसी प्रकार अन्य दोनों भेदोंके विषयमें भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिये ।

अत्राचार्यः आगामिसूत्रे वक्ष्यति। यद्येवं तत्र सति सा तत्त्वार्थाधिगमिका। यतो न विरुद्धं भवति। अथ दृष्टि, इत्येवं भाव्यं, तत्र चैतत्सम्यक्त्वमतिचारं तत्त्वार्थाधिगमे तत्त्वार्थनिर्णये तत्त्वार्थे न करोति ज्ञानविषयत्वेन न प्रतिपद्यते। यतः किल जिनानामेकमुखानामपि पितोपदेशकालादिवैचित्र्यात् सम्यक्त्वमूलाः कुतीर्थिकपरिग्रहा भवन्तीति। तेषामेव ।।रूप।।कारः सैव प्रतिभासते। किन्तु सूत्रोक्तं तत्सम्यक्त्वमतिचरति। इति वाक्यशेषः। तत्तीर्थिकानां प्रशंसादयस्तत्र इति भाष्यार्थः ।

अब आचार्य (उक्त अवतरण भाष्यकी) शंकाका समाधान करते हैं कि, " तो " यदि ऐसी बुद्धि है, तो यह लक्षण अतिव्याप्ति है अर्थात् इस तो सम्यक्त्वमात्रके परिचायकके लिए दोष होगा, उसका तत्त्वार्थाधिगमी लक्षण होता है । क्योंकि " जिसके " जीव " अ " नहीं " अजीवको " जानता है । अर्थात् यह कहा है, कि सत् यही है ऐसे हैं और यह इन दोनों वर्गोंमेंसे किसमें समाविष्ट है, इसप्रकार के तीन प्रकारके ज्ञानसे सम्यक्त्वी विशिष्ट गुणी होते हैं । अर्थात् समझे जाते हैं । उदाहरण—जैसे किसी [ एक व्यक्तिके लिए ] कि वे तुम्हारे जैसे सम्यक्त्वी हैं ऐसा कहा जाय तो उसे कैसा लगता है अर्थात् जैसे किसीके भी तुम्हारे जैसा कहा जाय तो तुम्हें कैसा लगता है, उसी प्रकार उसको भी लगता है । इस प्रकार सम्यक्त्वी होनेसे सम्यक्त्वी होना चाहिये, परंतु ऐसा होता है, किन्तु उसे सम्यक्त्वी होने योग्य ही परिचायक होता है । इस कारण उसे उक्त परिचायक लक्षण अतिव्याप्ति दोषसे युक्त कहा है । इसी

करते हो; सो सोचन करकर विश्वास करने योग्य है अर्थात् प्रत्यक्षसे समवाय सिद्ध नहीं होता है; तो भी तुम हठसे उसको सिद्ध करते हो, इस कारण हम समवायको नहीं मानते हैं।



**किञ्चायं तेन वादिना एको नित्यः सर्वव्यापकोऽमूर्त्तश्च परिकल्प्यते। ततो यथा घटाश्रिताः पाकजरूपादयो धर्म्माः समवायसम्बन्धेन समवेतास्तथा किं न पटेऽपि। तस्यैकत्वनित्यत्वव्यापकत्वैः सर्वत्र तुल्यत्वात्। यथाकाश एको नित्यो व्यापकः अमूर्त्तश्च सन् सर्वैः सम्बन्धिभिर्युगपदविशेषेण संबध्यते तथा किं नायमपीति। विनश्यदेकवस्तुसमवायाऽभावे च समस्तवस्तुसमवायाऽभावः प्रसज्यते। तदवच्छेदकभेदादायं दोष इतिचेदेवमनित्यत्वापत्तिः। प्रतिवस्तुस्वभावभेदादिति।**

और भी विशेष यह है कि, उन वैशेषिकोंने यह समवाय एक, नित्य, सर्वव्यापक तथा अमूर्त्त माना है, इस कारण जैसे घटमें रहनेवाले पाकज ( घटको अग्निमें पकानेसे उत्पन्न होनेवाले ) रूप आदिक धर्म समवायसंबंधसे घटमें मिले है, उसीप्रकार पटमें भी क्यों नहीं मिले। क्योंकि वह समवाय एक, नित्य और व्यापक होनेसे सब पदार्थोंमें समान स्वरूपका धारक है। भावार्थ—जैसे--आकाश जो है; वह एक, नित्य, व्यापक और अमूर्त है, इसकारण सब संबंधियोंके साथ एक ही समयमें समानरूपतासे संबंध रखता है, उसीप्रकार यह समवाय भी जैसे पाकजरूपका घटके साथ संबंध कराता है, वैसे पटके साथ भी संबंध क्यों नहीं कराता है। और नष्ट होते हुए किसी एक वस्तुमें समवायका नाश होनेपर समस्त पदार्थोंमें समवायके अभाव होनेका भी प्रसंग होता है, अर्थात् सर्वव्यापक और एक होनेसे समवाय सर्वत्र समान है, इस कारण जब एक पदार्थमें समवायका नाश होवेगा, तब सब पदार्थोंमें समवायका नाश होगा। और यह तुमको इष्ट नहीं है। यदि उस उस अवच्छेदक (भेद करने वाले) के भेदसे यह दोष नहीं है अर्थात् जो घटत्वावच्छेदक समवाय है, वह घटमें रहता है, और जो पटत्वावच्छेदक समवाय है, वह पटमें रहता है, इसकारण जब घटत्वावच्छेदक समवायका नाश होता है तब पटत्वावच्छेदक समवायका नाश नहीं होता है। ऐसा कहो तो प्रत्येक वस्तुके साथ समवायका भेद होनेसे समवायके अनित्यता प्राप्त हो जावेगी अर्थात् घटके साथ अन्यस्वभावसे और पटके साथ अन्यस्वभावसे रहनेके कारण समवाय नित्य न रहेगा।

[illegible]

अथ "अव्ययीभावश्च" इत्यत्र अदिग्रहणं किमर्थं नेष्यते इत्यत आह- अव्ययीभावः इत्यादि । अव्ययीभावसंज्ञा अदिग्रहणं विनापि सिद्धा एव, अव्ययीभावसंज्ञाविधानसामर्थ्यात् । अव्ययीभावसंज्ञा हि समासविधौ प्रयोजिका, न तु समासविधिः संज्ञाविधौ । अतः समासविधिसामर्थ्यादेव अव्ययीभावसंज्ञा सिद्धा । अदिग्रहणं तु ज्ञापकम् । तेन "अव्ययं विभक्ति" इत्यादिना अव्ययसंज्ञाविधौ अदिग्रहणं क्रियते । तेन "अव्ययं विभक्ति" इत्यादिना अव्ययसंज्ञाविधौ अदिग्रहणं क्रियते । तेन "अव्ययं विभक्ति" इत्यादिना अव्ययसंज्ञाविधौ अदिग्रहणं क्रियते ।

अथ "अव्ययीभावश्च" इत्यत्र अदिग्रहणं किमर्थं नेष्यते इत्यत आह- अव्ययीभावः इत्यादि । अव्ययीभावसंज्ञा अदिग्रहणं विनापि सिद्धा एव, अव्ययीभावसंज्ञाविधानसामर्थ्यात् । अव्ययीभावसंज्ञा हि समासविधौ प्रयोजिका, न तु समासविधिः संज्ञाविधौ । अतः समासविधिसामर्थ्यादेव अव्ययीभावसंज्ञा सिद्धा । अदिग्रहणं तु ज्ञापकम् । तेन "अव्ययं विभक्ति" इत्यादिना अव्ययसंज्ञाविधौ अदिग्रहणं क्रियते । तेन "अव्ययं विभक्ति" इत्यादिना अव्ययसंज्ञाविधौ अदिग्रहणं क्रियते ।

[illegible]

समवायेन समवेतं समवायेऽपि समवायत्वमेवं समवायान्तरेण संबन्धनीयं तदप्यपरेणेत्येवं दुस्तराऽनवस्थामहानदीं

यहां पर तात्पर्य यह है कि, जैसे तुम्हारे मतमें पृथिवीत्वके संबंधसे पृथिवी है। और उस पृथ्वीमें जो पृथ्वीपना है, वह पृथिवीका ही अस्तित्व नामक धर्म है, अन्य कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। और उस पृथिवीत्वरूप अपने स्वरूपके साथ ही जो कोई पृथिवीका संबंध है, उसीको 'भाप्त हुओंकी जो प्राप्ति है, वह समवाय है' इस वचनसे 'समवाय' ऐसा कहते हैं। इसीप्रकार 'समवायत्वके संबंधसे समवाय है' यह भी तुम क्यों नहीं मानते हो? । क्योंकि उस समवायका भी समवायत्वरूप निजस्वरूपके साथ संबंध है ही। क्योंकि यदि समवायका समवायत्वके साथ संबंध न होगा तो स्वभावरहित होनेसे शशशृंग ( खुस्सेके सींग ) के समान समवाय भी अवस्तु ही हो जावेगा अर्थात् जैसे स्वभावरहित होनेके कारण शशशृंग कोई पदार्थ नहीं है, इसी प्रकार स्वभावरहितपनेसे समवाय भी पदार्थ न रहेगा, इस कारण समवायका समवायत्वके साथ संबंध तुमको मानना ही होगा। और जब समवायका समवायत्वके साथ संबंध मानोगे तब इस समवायमें समवायत्व है, इस प्रकार कहनेसे समवायमें भी इहप्रत्यय युक्तिसे सिद्ध हो ही जावेगा। अतः जैसे पृथिवीमें पृथिवीत्व समवायसंबंधसे समवेत ( मिलाहुआ ) है, उसी प्रकार समवायमें भी समवायत्वको दूसरे समवायसे संबंधित करना चाहिये। और उस दूसरे समवायमें जो समवायत्व है, उसको तीसरे समवायसे संबंधित करना चाहिये। और इस प्रकार जब समवायमें समवायत्वको संबंधित करनेके लिये नया २ समवाय मानोगे तब अनवस्थादोष नामक जो महानदी है, वह दुस्तर (दुःखसे पार पानेवाली) हो जावेगी अर्थात् नये २ समवायोंका कभी अंत ही न आवेगा।

एवं समवायस्यापि समवायत्वाभिसम्बन्धे युक्त्या उपपादिते साहसिक्यमालम्ब्य पुनः पूर्वपक्षवादी वदति। ननु पृथिव्यादीनां पृथिवीत्वादिसम्बन्धनिबन्धनं समवायो मुख्यस्तत्र त्वतलादिप्रत्ययाभिव्यङ्ग्यस्य सङ्गृहीतसकलावान्तरजातिलक्षणव्यक्तिभेदस्य सामान्यस्योद्भवात्। इह तु समवायस्यैकत्वेन व्यक्तिभेदाऽभावेजातेरनुद्भूतत्वादुपचरितोऽयं युष्मत्परिकल्पित इहेतिप्रत्ययसाध्यः समवायत्वाभिसम्बन्धस्तत्रसाध्यश्च समवाय इति।

इस प्रकार युक्तिसे समवायका भी समवायत्वके साथ संबंध है, यह सिद्ध कर चुकने पर फिर भी पूर्वपक्षवादी ( वैशेषिक ) साहसको धारण करके कहते हैं कि पृथिवी आदि [illegible] संबंध करानेका कारणभूत जो समवाय है, वह मुख्य [illegible] पृथिवी अस्ति—[illegible] ' इत्यादि तद्धितके प्रत्ययोंसे जानने योग्य और पृथिवी आदिमें रहनेवाली जो समस्त

[illegible] है । [illegible] है, [illegible]
[illegible] है ।

[illegible] । [illegible] निरूप्यते । [illegible] । [illegible] पुनर्निरूपणम्‌ । [illegible] इति । [illegible] एव [illegible] ।

[illegible] नहीं है [illegible] नहीं होता है । [illegible] है । [illegible] नहीं है [illegible] एक ही है, [illegible] है । [illegible] है, और [illegible] है [illegible] है [illegible] है, [illegible] है । [illegible] ही है । और [illegible] है, [illegible] है । [illegible] है ।

[illegible] । न [illegible] इति । [illegible] । [illegible] विपरीतो [illegible] । " [illegible] ।

इस प्रकार इन समस्त पूर्वपक्षोंको (वादियोंकी शंकाओंको) और उन वादियोंकी शंकाओंके जो ऊपरमें समाधान कर चुके हैं, उनको चित्तमें धारण करके सिद्धान्तवादी आचार्यमहाराज कहते हैं कि, वैशेषिकोंने जो समवायमें समवाय है, उसको गौण कहकर धर्मधर्मीके समवायसे समवायके समवायमें भेद कहा है सो नहीं है। क्योंकि गौणका जो लक्षण है, वह समवायमें नहीं सिद्ध होता है। और गौणका लक्षण इस प्रकार कहते हैं "अव्यभिचारी, अविकल, असाधारण, और अंतरंग ऐसा जो अर्थ है, वह तो मुख्य है, और उससे विपरीत अर्थात् व्यभिचारी, विकल, साधारण तथा बहिरंग अर्थ गौण है। इसकारण मुख्य अर्थके विद्यमान होने पर गौण अर्थमें बुद्धि कैसे होवे ॥ १ ॥"

किञ्च योऽयमिह तन्तुषु पट इत्यादिप्रत्ययात्समवायसाधनमनोरथः स खल्वनुहरते नपुंसकादपत्यप्रसवमनोरथम्। इह तन्तुषु पट इत्यादेर्व्यवहारस्याऽलौकिकत्वात्पांशुलपादानामपि इह पटे तन्तव इत्येवं प्रतीतिदर्शनात्। इह भूतले घटाभाव इत्यत्रापि समवायप्रसङ्गात्। अत एवाह। अपि च लोकबाध इति। अपिचेति दूषणाभ्युच्चये। लोकः प्रामाणिकलोकः सामान्यलोकश्च तेन बाधो विरोधो लोकबाधसादप्रतीतव्यवहारसाधनात्। बाधशब्दस्य "ईहाद्याः प्रत्ययभेदतः" इति पुंस्त्वलिङ्गता)। तसाद्धर्मधर्मिणोरविष्वग्भावलक्षण एव सम्बन्धः प्रतिपत्तव्यो नान्यः समवायात्। इति काव्यार्थः ॥ ७ ॥

और भी विशेष दोष यह है कि, तुम्हारा जो यह "इन तंतुओंमें पट है" इत्यादिरूप इहप्रत्ययसे समवायको सिद्ध करनेका मनोरथ है, वह नपुंसकसे पुत्र उत्पन्न करनेके मनोरथके समान है। भावार्थ—जैसे नपुंसकसे कभी पुत्र उत्पन्न नहीं होता है, इसी प्रकार इस इहप्रत्ययसे भी समवाय सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि इन तंतुओंमें पट है, इत्यादि व्यवहार लोकसे विरुद्ध है। कारण कि जो पांशुलपाद (धूलिके धारक चरणोंवाले) अर्थात् गांवके लोग हैं, उनके भी इन पटमें तंतु हैं, ऐसी ही प्रतीति देखी जाती है। और इस तंतुओंमें पट है ऐसी [illegible] मूर्ख लोग भी पटमें तंतु है, ऐसा मानते हैं। [illegible] समवायको सिद्ध करते

[illegible] ॥ ७ ॥

अन्वयभाषार्थ—हे नाथ ! जो सत् पदार्थ है, उनमें भी किसी विशेषमें लगा है, अर्थात् अन्य सत्तावाले नहीं है ? क्योंकि उपाधि सहित है, इसकारण आत्मासे भिन्न है ; और [illegible]

है, वह ज्ञान तथा सुखरूप नहीं है ३ इस प्रकार इन तीनों मतोंका समर्थन करते हुए आपकी आज्ञासे बाह्य ऐसे वैशेषिकोंने बहुत अच्छे शास्त्र रचे हैं ॥ ८ ॥



व्याख्या। वैशेषिकाणां द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाख्याः षट्पदार्थास्तत्त्वतयाऽभिप्रेताः। तत्र पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशः कालो दिगात्मा मन इति नव द्रव्याणि। गुणाश्चतुर्विंशतिस्तद्यथा-रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वाऽपरत्वे बुद्धिः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नश्चेति सूत्रोक्ताः सप्तदश। चशब्दसमुच्चिताश्च सप्त-द्रवत्वं गुरुत्वं संस्कारः स्नेहो धर्म्माधर्म्मौ शब्दश्च। इत्येवं चतुर्विंशतिर्गुणाः। संस्कारस्य वेगभावनास्थितिस्थापकभेदात्त्रैविध्येऽपि संस्कारत्वजात्यपेक्षया एकत्वाच्चौर्यौदार्यादीनां चात्रैवान्तर्भावान्नाधिक्यम्। कर्माणि पञ्च। तद्यथा-उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति। गमनग्रहणाद्भ्रमणरेचनस्पन्दनाद्यविरोधः।

व्याख्यार्थः—वैशेषिकोंके मतमें द्रव्य १ गुण २ कर्म ३ सामान्य ४ विशेष ५ और समवाय ६ नामक छः पदार्थ तत्त्वरूपसे माने गये है। इन छः पदार्थोंमें-पृथिवी १ जल २ तेज ३ वायु ४ आकाश ५ काल ६ दिशा ७ आत्मा ८ और मन ९ ये नौ द्रव्य हैं। १। गुण चौवीस हैं; वे इस प्रकारसे हैं—रूप १ रस २ गंध ३ स्पर्श ४ संख्या ५ परिमाण ६ पृथक्त्व ७ संयोग ८ विभाग ९ परत्व १० अपरत्व ११ बुद्धि १२ सुख १३ दुःख १४ इच्छा १५ द्वेष १६ और प्रयत्न १७ ऐसे सतरह तो सूत्रमें कहे हुए तथा द्रवत्व १ गुरुत्व २ संस्कार ३ स्नेह ४ धर्म ५ अधर्म ६ और शब्द ७ ये सात च शब्दसे ग्रहण किये हुए; एवं कुल मिलाकर चौवीस २४ गुण हैं। इन गुणोंमें यद्यपि संस्कारनामक गुण-वेग, भावना तथा स्थितिस्थापकरूप भेदोंसे तीन प्रकारका है, तथापि संस्कारत्वजातिकी अपेक्षासे एकरूप है; इस कारणसे और शौर्य, औदार्य आदिका यहां ही अन्तर्भाव होनेसे अर्थात् जैसे शौर्यका प्रयत्नमें अन्तर्भाव है; इसीप्रकार कोई किस गुणमें और कोई किस गुणमें अन्तर्गत हो जाते हैं, इस-कारणसे गुण चौवीस ही हैं, अधिक नहीं है। १। निम्नलिखित प्रकारसे कर्म पांच हैं—उत्क्षेपण ( ऊंचा फेंकना ) १ अवक्षेपण



१ उत्क्षेपणमूर्ध्वदेशसंयोगकारणं कर्मोत्क्षेपणम् । २ । आकुञ्चनमवयवा-
उत्क्षेपणमूर्ध्वदेशसंयोगकारणं कर्म गमनम् । ४ । गमनमवजातिभिन्नदेशसंयोगकारणं कर्म गमनम् ।

अत्यन्तभेदाभावानां विशेषाणां भेदः पदार्थान्तरेभ्योऽभेदाभावानुगमः। यतोऽपरे व्यवस्थाहेतवः समवायान्ताः। गुण पेर्द्रव्यसमवायो सद्गुणसामान्यसिद्धेः चोदनायाः । द्रव्यत्वाद्यपेक्षात्सामान्यात्सेवेतरा सद्भाविषयत्वात्। सत्यत्वाभावश्च प ब्रह्मवादिनि । एतेन त्यागान्यविशेष इत्यपि व्याख्यातम्। त्यागान्ते-ब्रह्मभाव सत्यत्व प्रत्येषु पदमानत्वात्यागसामान्यात्। गुणकर्मभ्यो व्यावृत्तत्वाद्विशेषः । तत्र गत्यन्तरे त्यागान्यविशेष इति। यत्र द्रव्यत्वापेक्षया पृथिव्यापस्तेजोवायवः सद्गुणेभ्यः कर्मभ्यश्च पदार्थान्तरम्। एव पृथिव्यादीनां गुणेषु पृथेर्गुणत्वे सामान्यम्। द्रव्यत्वाभ्यो व्यावृत्तेभ्य विशेषः । एव गुणत्वापेक्षया रूपत्वादिक सदपेक्षया नीलत्वादिकम्। एतेन पञ्चसु पर्याप्तेषु पर्याप्तत्वापेक्षेण त्यागान्यत्वात्। कृष्णगुणेभ्यो व्यावृत्तत्वाद्विशेषः। एव कर्मत्वापेक्षया उत्क्षेपणत्वादिकं द्रष्टव्यम्।

अत्यन्त अभाव ( भिन्न ) होने पदार्थोंके जिस धर्मके कारण व्यवहार होता है। प्रत्येक अलग अलग है, यह अनुभवसिद्ध ज्ञान होता है। सर्वत्र एकत्व, शिव पदार्थोंमें रहता सबको अलग अलग करके उनके स्वरूपको बतानेवाला है, यह प्रमाण है। यह भी व्यवहार है: एक तो पदार्थसत्ता और दूसरा सत्यत्वसत्ता। इनमें जो पदार्थत्व है- यह द्रव्यगुण तथा सदृश्यत्व भी कहा जाता है। क्योंकि यह द्रव्यगुणत्व कृष्णत्वादिके व्यवहार से प्रसिद्ध है, उसकी अपेक्षासे अधिक व्यापकता पाया जाता है। सर्वत्र, द्रव्यत्व इसमें ही रहता है और यह पदार्थत्व द्रव्य, गुण और कर्म, इन तीनोंमें रहता है, अतः यह व्यापकता पाया है। द्रव्यत्व भाषित होता है, यह पदार्थत्व है। एवं सद्गुणसामान्यके ज्ञानकी अपेक्षा एवं पदार्थ भी कहते हैं सर्वत्र सत्यत्वापेक्षा यह भी द्रव्य गुणत्वसामान्यके ही तरह है। जो ये विशेषतासे हैं सर्वत्र एवं द्रव्यसामान्यके सामान्यविशेष पदार्थ कहते हैं, इस विषयको विशेषरीतिसे समझाने स्पष्ट करते हैं—द्रव्यत्व जो है, यह पृथिवी आदि नौ द्रव्योंमें रहता है, इन पदार्थोंसे भी व्यापक है। और यह द्रव्यत्व-गुण तथा कर्मोंमें समवाय ( सहित ) है, अतः दूसरा विशेष है। और, अब द्रव्यत्व एक पदार्थसे व्यापक हुआ तथा पृथिवी आदिसे विशेष हुआ। यह पृथिवी आदिमें द्रव्यत्वसामान्यसम्बन्धसे व्यापक जो हो, और विशेष जो हो, यह

। द्रव्यादिविशेषपदार्थेषु तथा व्याख्येयम्।

सामान्यविशेष है, इस प्रकार समास होनेसे सामान्यविशेष हो गया। जिस प्रकारसे महासत्तासामान्यकी अपेक्षासे द्रव्यत्व अपरसामान्य है, इसी प्रकारसे द्रव्यत्वकी अपेक्षासे पृथिवीत्व जो है, वह अपरसामान्य है और पृथिवीत्वकी अपेक्षासे घटत्व अपरसामान्य है। इसीरीतिसे गुणत्व जो है सो चौबीसों गुणोंमें रहनेसे सामान्य है और यही गुणत्व द्रव्योंसे तथा कर्मोंसे रहित होनेके कारण विशेष भी है। इसी प्रकार गुणत्वकी अपेक्षासे रूपत्वादिक अपरसामान्य है और रूपत्वादिकी अपेक्षासे नीलत्वादि अपर सामान्य है। एवमेव कर्मत्व जो है, वह उत्क्षेपणादि पांचों कर्मोंमें रहता है। इसकारण सामान्य है और यही कर्मत्व द्रव्यों तथा गुणोंसे रहित होनेसे विशेष है। तथा जैसे द्रव्यत्वकी अपेक्षासे पृथिवीत्व अपरसामान्य है, उसीप्रकार यहां भी कर्मत्वकी अपेक्षासे उत्क्षेपणत्व आदिको अपरसामान्य समझ लेना चाहिये।

तत्र सत्ता द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं कया युक्त्येति चेत्–उच्यते। न द्रव्यं सत्ता द्रव्यादन्येत्यर्थः। एकद्रव्यवत्त्वादेकैकस्मिन् द्रव्ये वर्तमानत्वादित्यर्थः। द्रव्यत्ववत्। यथा द्रव्यत्वं नवसु द्रव्येषु प्रत्येकं वर्तमानं द्रव्यं न भवति। किन्तु सामान्यविशेषलक्षणं द्रव्यत्वमेव। एवं सत्तापि। वैशेषिकाणां हि अद्रव्यं वा द्रव्यम्। अनेकद्रव्यं वा द्रव्यम्। तत्राऽद्रव्यमाकाशः कालो दिगात्मामनःपरमाणवः। अनेकद्रव्यं तु द्व्यणुकादिस्कन्धाः। एकद्रव्यं तु द्रव्यमेव न भवति। एकद्रव्यवती च सत्ता। इति द्रव्यलक्षणविलक्षणत्वान्न द्रव्यम्। एवं न गुणः सत्ता। गुणेषु भावाद् गुणत्ववत्। यदि हि सत्ता गुणः स्यान्न तर्हि गुणेषु वर्त्तेत। निर्गुणत्वाद् गुणानाम्। वर्त्तते च गुणेषु सत्ता। सन् गुण इति प्रतीतेः। तथा न सत्ता कर्म। कर्मसु भावात्कर्मत्ववत्। यदि च सत्ता कर्म स्यान्न तर्हि कर्मसु वर्तेत। निष्कर्मत्वात्कर्मणां। वर्तते च कर्मसु भावः। सत् कर्मेति प्रतीतेः। तस्मात्पदार्थान्तरं सत्ता।

यदि प्रश्न करो कि, सत्ता (सामान्य)-को किस युक्तिसे द्रव्य, गुण तथा कर्मसे भिन्न पदार्थ किस युक्तिसे है? तो उत्तर यह है कि, सत्ता द्रव्य नहीं है अर्थात् द्रव्यसे भिन्न है। क्योंकि एकद्रव्यवाली है अर्थात् एक एक द्रव्यके प्रति रहती है। द्रव्यत्वके समान अर्थात् जैसे द्रव्यत्व जो ९ द्रव्योंमेंसे-प्रत्येक द्रव्यमें रहता है, इस कारण द्रव्य नहीं है; किन्तु सामान्यविशेषरूप लक्षणका

१. द्रव्यं किञ्चाऽद्रव्यं अनेकद्रव्यं च। [illegible] द्रव्यं जन्यतया जनकतया च यस्य तद्द्रव्यं द्रव्यलक्षणं। गुणः। एवं जन्यतया जनकतया च यस्य तद्गुणेष्वपि लक्षणं ज्ञेयम्।

[illegible]

नथा गौणेषा लिपदव्याहृतयोल्लेग मत्वल्याभूमिहल्वाले हुत्वार्थिलेल्पुष्पादाहापांत्यस्य । यथा च प्रस्त-
सूत्रकार:—" अभेदे पथा: सप्तम्या: । एवमपादेशेषफलाविशेषेण: । विधाङ्गत्वेऽपि हिंसेषु नियतदर्शनाभ्यनुज्ञाकाङ्क्षा-
पाक्षिणाङ्गानामनपेषु पातेदृष्टार्थेषैकत्रो पर्याप्तेऽपि । मत्वल्या-भूमिषुविहितेषु । यथाऽज्यसंस्कारेण गयादिष्वादिष्व-
सूत्रकृत्विष्णुपविगापसंपेषफलाभ्यविशेषसंपोगनिमित्ता गलाद्यत्वभूमिहिंस्र यो। मुख्यः श्रीपफलो पंस्य।
कृपान् यथापयट यति । तथाऽर्थिर्दर्शेदानां गोणिनां विकेषु मुख्याभूमिविगुणपिवेषु परमाप्ता मुख्यागमनः॥
पः न्यलिपिचिन्ताऽलापपांगोन्को निमित्तेऽस्य फलयाधार् पिनस्त्रापदेल्ये पिंडकपदेल्यमित्तिकाश्यपभूमिषु नैन काऽपिम-

---

१ अभेदपक्षो अर्थस्य [illegible] पदार्थस्य पिंडेषो गलीयसी । एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् ।

कृष्टे च परमाणौ स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानं च भवति तेऽन्त्या विशेषा इति । अमी च विशेषरूपा एव । न तु द्रव्यत्वादिवत्सामान्यविशेषोभयरूपा व्यावृत्तेरेव हेतुत्वात् ।

तथा नित्यद्रव्योंमें रहनेवाले और अत्यन्त व्यावृत्ति ( भेद करने ) के कारण ऐसे जो हैं, वे विशेष हैं । भावार्थ—अन्त ( आखिर ) में रहनेवाले ( जिनकी अपेक्षासे फिर कोई भी भेद न हो ) ऐसे अर्थात् केवल निजरूप एक द्रव्यमें रहनेवाले जो हैं, वे विशेष कहलाते हैं । और ये विशेष द्रव्य, आदि पदार्थोंसे भिन्न ऐसे लक्षणको धारण करते हैं, इस कारणसे भिन्न पदार्थ हैं । सोही वैशेषिक दर्शनपर प्रशस्तभाष्यके कर्त्ता कहते हैं कि, ये विशेष अंतमें होते हैं; इस कारण अन्त्य हैं । और अपने आश्रयके विशेषक ( भेदक ) होनेसे विशेष हैं अर्थात् उत्पत्ति तथा विनाशसे रहित ऐसे जो परमाणु, आकाश, काल, दिशा आत्मा और मन नामक द्रव्य हैं, इनमें द्रव्यके प्रति एक एक विद्यमान रहते हुए सर्वथा व्यावृत्तिरूप बुद्धिके कारण जो हैं, वे विशेष हैं । भावार्थ—जैसे हम तुम वगैरहके वृषभ ( बैल ) आदिमें अश्व ( घोड़े ) आदिकोंसे तुल्य आकार, तुल्य गुण, तुल्य क्रिया, अवयवोंकी वृद्धि, अवयवविशेष ( किसी एक अवयवका अधिक होना ) और संयोग, इन सबके निमित्तसे होनेवाली यह वृषभ—शुक्ल है, शीघ्र गमन करनेवाला है, मोटा है, ककुद्मान ( थूनेको धारण करनेवाला ) है तथा बड़े टोकरेका धारक है, इस प्रकारकी प्रतीतिकी भिन्नता देखी जाती है । उसी प्रकार हमसे अधिक ज्ञान आदिके धारक जो योगी हैं, उनके—नित्य तथा तुल्य आकार, तुल्य गुण और तुल्य क्रियाको धारणकरनेवाले ऐसे परमाणुओंमें, मुक्त आत्माओंमें और मनोंमें भेद करनेका कोई दूसरा निमित्त न होनेसे जिन निमित्तोंसे आधार आधारके प्रति यह इससे विलक्षण ( भिन्न ) है, यह इससे विलक्षण है, इसप्रकार प्रतीतिकी भिन्नता होती है अर्थात् भिन्न २ प्रतीति होती है और देशसे विप्रकृष्ट ( दूरदेशमें रहनेवाले ) तथा कालसे विप्रकृष्ट ( अत्यंत-भूत, भविष्यत् कालमें रहनेवाले ) परमाणुमें यह वही परमाणु है, इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान होता है, वे अन्त्य अर्थात् विशेष हैं । और वे विशेषरूप ही हैं । द्रव्यत्व आदिके समान सामान्य तथा विशेष इन दोनों रूप नहीं हैं । क्योंकि वे विशेष केवल व्यावृत्तिके ही कारण हैं । भावार्थ—वैशेषिक मतवाले यह कहते हैं कि, यद्यपि वृषभ और अश्वमें आकृति, गुण तथा [illegible] समान हैं, तथापि वृषभ अश्वकी अपेक्षा मोटाई, थूना ( कंध ) और टोकराको अधिक [illegible] होती है, इसकारण हम

[illegible] ५.।

[illegible] ६ ।

[illegible] ७ ।

[illegible]

सत्तायोगस्तत्र । द्रव्यादीनां पुनस्त्रयाणां षट्पदार्थसाधारणं वस्तुस्वरूपमस्तित्वमपि विद्यते । अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सत्तासम्बन्धोऽप्यस्ति । निःस्वरूपे शशविषाणादौ सत्तायाः समवायाभावात् ।



इस प्रकार वैशेषिकोंके माने हुए पदार्थोंका निरूपण करके अब अक्षरोंका अर्थ प्रकट करते हैं । "सत्तामपि" 'सत्' है इस प्रकारकी बुद्धिसे जानने योग्य होनेके कारण साधारण ऐसे भी छः पदार्थोंमेंसे "क्वचिदेव" किसने ही पदार्थोंमें "सत्ता" सामान्यका योग "स्यात्" है और सब पदार्थोंमें सत्ताका संबंध नहीं है । भावार्थ—वैशेषिक इस युक्तिसे कथन करते हैं कि, "द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनोंमें वह सत्ता है" इस वचनसे जहां सत्प्रत्यय होता है, वहां ही सत्ता रहती है, और सत्प्रत्यय द्रव्य, गुण, तथा कर्मोंमें ही है, इस कारण द्रव्य, गुण तथा कर्म इन तीनोंमें ही सत्ताका योग है और सामान्य, विशेष तथा समवाय नामक जो तीन पदार्थ हैं उनमें सत्ताका योग नहीं है । क्योंकि इन सामान्यादि तीन पदार्थोंमें सत्प्रत्ययका अभाव है । भावार्थ—इस कथनका यह है कि, यद्यपि वस्तुका स्वरूपभूत जो अस्तित्व धर्म है, वह सामान्य आदि तीन पदार्थोंमें भी रहता है, तथापि वह सामान्य आदि तीन पदार्थोंमें रहनेवाला अस्तित्व अनुवृत्तिप्रत्ययका कारण नहीं है । और जो अनुवृत्तिप्रत्यय है, उसीको सत्प्रत्यय कहते हैं, उस सत्प्रत्ययका सामान्य आदि तीन पदार्थोंमें अभाव है, इस कारण उन सामान्य आदिमें सत्ताका योग भी नहीं है । और द्रव्य, गुण, कर्म; इन तीनों पदार्थोंमें तो छः पदार्थोंमें साधारण (समानरूपसे रहनेवाला) वस्तुका स्वरूपभूत जो अस्तित्व है, वह भी रहता है और अनुवृत्तिप्रत्ययका कारणरूप जो सत्ताका योग (संबंध) है, वह भी है । अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म इनमें सत्ताका योग ही नहीं है; किन्तु अस्तित्व भी है । क्योंकि यदि इनमें अस्तित्व न होवे तो जैसे अस्तित्वरूप स्वरूपसे रहित शशविषाण (सुस्सेके सींग) आदिमें सत्ताका संबंध नहीं है, इसी प्रकार इनमें भी सत्ताके समवायका अभाव हो जावे इस कारण द्रव्य, गुण और कर्म, इन तीनोंमें अस्तित्व और सत्ताका योग ये दोनों रहते हैं ।

सामान्यादित्रिके कथं नानुवृत्तिप्रत्यय इति चेद्बाधकसद्भावादिति ब्रूमः । तथाहि-सत्तायामपि सत्तायोगाङ्गीकारेऽनवस्था । विशेषेषु पुनस्तदभ्युपगमे व्यावृत्तिहेतुत्वलक्षणतत्स्वरूपहानिः । समवायेषु तु तत्कल्पनायां सम्बन्धाऽभावः ।

[illegible] । [illegible]

[illegible] गमेति ।

'ऐसे हुआ, [illegible] अनुमितिरूप है; [illegible]

[illegible] ( [illegible] ) [illegible]

[illegible] है । [illegible] ( [illegible] ) [illegible]

[illegible] है [illegible] और [illegible]

[illegible] । [illegible] है, [illegible]

[illegible] है [illegible] ( [illegible] ) [illegible] है, और [illegible]

[illegible] है [illegible] है । [illegible]

[illegible] । [illegible] है । [illegible]

[illegible] है । ' [illegible] है । और [illegible] है [illegible]

[illegible] नहीं है, [illegible] । [illegible]

[illegible] १, [illegible] २, [illegible] ३, [illegible] ४, [illegible] ५ और [illegible]

[illegible] ६, [illegible] ( [illegible] ) [illegible] हैं । १ । [illegible] नहीं है । क्योंकि, [illegible]

[illegible] है । २ । [illegible] नहीं है । क्योंकि, [illegible] है [illegible]

[illegible] है । ३ । [illegible] नहीं हैं । क्योंकि, [illegible]

[illegible] है, [illegible] है [illegible]

[illegible] और [illegible] हैं । ४ । [illegible] नहीं है । क्योंकि, [illegible]

---

१ [illegible] । [illegible] । २ । [illegible] । ३ । [illegible]

[illegible] । ४ । [illegible]

[illegible] । ५ । [illegible] । ६ । [illegible] ।

सामान्यत्वको जातिरूप माननेसे अनवस्था होती है । ४ । विशेषोंमें विशेषत्वधर्म जातिरूप नहीं है । क्योंकि; विशेषोंमें विशेषत्वको जातिरूप माननेसे विशेषके स्वतः व्यावर्त्तकत्वरूप स्वरूपका नाश होता है । ५ । समवायमें समवायत्व जातिरूप नहीं है । क्योंकि; समवाय एक है; अतः समवायमें समवायत्वका संबंध करानेवाला दूसरा समवाय नहीं है । ६ । इस कारण सत् पदार्थोंमें भी किसी किसीमें सत्ता रहती है; न कि सबमें यह जो हमारा मत है; वह निश्चित होचुका ।

**तथा चैतन्यमित्यादि । चैतन्यं ज्ञानमात्मनः क्षेत्रज्ञादन्यदत्यन्तव्यतिरिक्तम् । असमासकरणादत्यन्तमिति लभ्यते । अत्यन्तभेदे सति कथमात्मनः सम्बन्धि ज्ञानमिति व्यपदेशः । इति पराशङ्कापरिहारार्थं औपाधिकमिति विशेषणद्वारेण हेत्वभिधानम् । उपाधेरागतमौपाधिकम् । समवायसम्बन्धलक्षणेनोपाधिना आत्मनि समवेतमात्मनः स्वयं जडरूपत्वात्समवायसम्बन्धोपढौकितमिति यावत् । यद्यात्मनो ज्ञानादव्यतिरिक्तत्वमिष्यते तदा दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावाद्बुद्ध्यादीनां नवानामात्मविशेषगुणानामुच्छेदावसरे आत्मनोऽप्युच्छेदः स्यात् । तदव्यतिरिक्तत्वादतो भिन्नमेवात्मनो ज्ञानं यौक्तिकमिति ।**

अब 'चैतन्यं' इत्यादि पादकी व्याख्या करते है। " **चैतन्यं** " ज्ञान जो है; वह " **आत्मनः** " आत्मासे " **अन्यत्** " अत्यंत भिन्न है । [ यहां आत्माशब्दके साथ अन्यत्शब्दका समास न करनेसे भिन्न ही नहीं किंतु अत्यंत भिन्न है, यह अर्थ प्राप्त होता है । ] " यदि ज्ञान और आत्माके अत्यंत भेद है तो ' ज्ञान आत्माका संबंधी है । ' ऐसा कैसे कहा जाता है ? " इस प्रतिवादियोंकी शंकाको दूर करनेके लिये ' औपाधिकम् ' इस विशेषणके द्वारा हेतुका कथन करते है । " **औपाधिकम्** " उपाधिसे आया हुआ है अर्थात् समवायसंबंधरूप जो उपाधि है; उस उपाधिसे ज्ञान आत्मामें मिला हुआ है । भावार्थ—आत्मा स्वयं जडरूप ( ज्ञानशून्य ) है; इस कारण समवायसंबंधने ज्ञानको आत्मामें मिला दिया है । क्योंकि; यदि आत्माको ज्ञानसे भिन्न ( जुदा ) न मानें तो दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान; इनमें क्रमशः उत्तरका नाश होनेसे पूर्वका नाश होनेपर बुद्धि आदि जो नौ ९ आत्माके विशेषगुण है; उनका नाश होवेगा और जब बुद्धिआदिका नाश होगा तब उसी समय आत्माका भी नाश हो जावेगा । क्योंकि आत्मा इनसे भिन्न नहीं है । भावार्थ—हमारे मतमें तत्त्वज्ञानके होनेसे मिथ्याज्ञानका



१ तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानापाये दोषा अपयान्ति । तदपाये प्रवृत्तिरपैति । तदपाये जन्मापैति । तदपाये पुरुषपिशाचभेदं दुःखमपैतीति । २ वाङ्मनःकायव्यापारः शुभाशुभफलः प्रवृत्तिः ३ रागद्वेषमोहस्मयो दोषाः ईर्ष्यादीनामेष्वन्तर्भावः ॥

नय होता है, जिसमें सुनने वाला होने पर भी [ श्रोता नहीं कि, ऐसा आदि वेदांत-वाक्य का अर्थ है। ] वीतरागी के मन होने पर भी [ उसे ] सुख आदि आत्मा का गुण होता है। इच्छा का अभाव होने से उसे ( सुख ) भी नाश होता है. और अनन्त ज्ञान होकर मुक्तात्मा के दुःख है, वह नष्ट होता है, ऐसा कहा है। और बुद्धि ( ज्ञान ), सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार ये नवगुण जो आत्मा के विशेष गुण हैं; वे, इन विशेषगुणवालों की अपेक्षा से हैं; वास्तव में विशेषगुणवालों का नाश होने पर विशेषगुणवाला भी नाश हो ही गया। और तुझे सिद्धा पसन्द है, अब एक उसके समझने वाला मेरे से भिन्न रूपवाला होवे, उसे सब स्वरूपवाला भी कह दो जाये। इस कारण 'अन्य आत्माओं भिन्न है' यह मानना ही युक्ति संगत है।

तथा न ज्ञानेन्द्रियादि। मुक्तिर्मोक्षो न सच्चिदानन्दमयी न ज्ञानसुखरूपत्व । गौणमुख्याभ्यां मोक्षो द्विधा। तत्र सच्चिदानन्दैकब्रह्मात्मनावस्था मुख्यो मोक्षः। एतादृशी न घटते। सुखित्वस्वरूपेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारव्यतिरिक्तगुणानामभावोच्छेदो मोक्ष इति वचनात्। अत्र। पूर्वोक्तात्मस्वरूपदूषणमनुपपन्नम्। कस्मात् हि यस्मिन्नवस्थाविशेषे सुखं च ब्रह्मस्वरूपत्वेन सच्चिदानन्दात्मकं च न विद्यते तेनावस्थानेन। इति वचनादेर्वचनस्वरूपेणाभावान्मोक्षः इति। अयुक्तः। ब्रह्मानन्दस्वरूपेणाभावान्मोक्षः इति वचनं मूर्खाणां ब्रह्मज्ञानविहीनानां गर्वान्धानां। यतो वा यत्र ब्रह्मानन्दः स मोक्षस्वरूपो भवति। यथा अग्नौ शीतस्पर्शस्वरूपेणाभावात्। तथा च अग्नौ शीतस्पर्शस्वरूपेणाभावादग्निर्नास्ति इति। अयुक्तश्चेद् यत्र गवादीनां ब्रह्मज्ञानाभावेन ब्रह्मानन्दस्वरूपेणाभावो दृष्टः। " न हि गौ सप्तशीरस्य पिपासितस्योदकस्य निधानेऽभिधीयते। * " अन्यत्रापि अन्ये पिपासिते न सन्तोषः।" इत्यादयोऽपि वेदान्तप्रसिद्धाः सर्वे मिथ्यात्वमुपयान्ति। अथ हि पिपासिते सुखानुभवो गवादीनां मुखे न दृश्यते।

अब ' न ज्ञानेन्द्रि ' इत्यादि कथन करके ग्रन्थकार खण्डन करते हैं। " मुक्तिः " मोक्ष जो है, वह " सच्चिदानन्दमयी " सत्-चित्-आनन्द जो ब्रह्म है उसी रूप अवस्था मुक्ति का " न " नहीं है। [ यहां पर वेदांत मत का खण्डन किया गया है। ] क्योंकि आपके जो भी ये वेदांती ( विद्वान् होनेवाले ) हुआ है,

---

१ जिसके सात सिर होते हैं। २ घोड़े।

उनका जो अत्यंत नाश है; वह मोक्ष है; ऐसा वचन है। [ न संविदानन्दमयी च मुक्तिः ] यहां पर च शब्द पहिले कहे हुए ( किसी पदार्थमें सत्ता है-१, ज्ञान आत्मासे भिन्न है २, इन ) दो गुणोंका समुच्चय ( संग्रह ) करनेके लिये है ] भावार्थ—ज्ञान तो क्षणिक होनेसे अनित्य है और सुख हानि और वृद्धिरूप स्वरूपका धारक है, अर्थात् कभी कम हो जाता है, कभी अधिक हो जाता है; इसकारण संसारकी अवस्थासे भिन्न नहीं है अर्थात् संसारकी जैसी दशा है; वैसा ही है। अतः ज्ञान तथा सुख इन दोनोंका नाश होने पर जो आत्माका आत्मस्वरूपसे रहना है; वही मोक्ष है। इस विषयमें अनुमानका प्रयोग भी है। सो ही दिखलाते हैं।—आत्माके सर्वे विशेषगुणोंका संतान अत्यन्त नष्ट होता है। क्योंकि संतान है। जो जो संतान होता है; वह वह अत्यंत नष्ट होता है। जैसे कि; प्रदीपका संतान अत्यंत नष्ट होता है। वैसा ही यह आत्मविशेषगुणोंका संतान है, इसकारण अत्यन्त नाशको प्राप्त होता है। अतः सिद्ध हुआ कि नौ ९ जो आत्मविशेषगुण हैं, उनके अत्यंतनाशरूप ही मोक्ष है और आप ( जैनियों ) का माना हुआ जो संपूर्णकर्मोंके नाशरूप लक्षणका धारक मोक्ष है; वह मोक्ष नहीं है। और " शरीरके धारक जीवके निश्चयसे प्रिय ( सुख ) तथा अप्रिय ( दुःख ) इन दोनोंका नाश नहीं है १, अथवा अशरीर ( शरीरसे रहित ) हुएको ही प्रिय—अप्रिय नहीं स्पर्शते ( छूते ) हैं २, [ यहां पर प्रियसे सुखका और अप्रियसे दुःखका ग्रहण है, और वे प्रिय अप्रिय अशरीर अर्थात् मुक्त आत्माको नहीं स्पर्शते हैं, ऐसा अर्थ समझना चाहिये ] इत्यादि वेदान्तके सूत्र भी ज्ञान और सुखसे रहित ऐसे मोक्षका ही कथन करते हैं।



अपि च यावदात्मगुणाः सर्वे नोच्छिन्ना वासनादयः। तावदात्यन्तिकी दुःख-व्यावृत्तिर्न विकल्प्यते। १। धर्माधर्मनिमित्तो हि सम्भवः सुखदुःखयोः। मूलभूतौ च तावेव सम्भवौ संसारसञ्जनः। २। तदुच्छेदे च तत्कार्य-शरीराद्यनुपपत्तेः। नात्मनः सुखदुःखे स्त-इत्यसौ मुक्त उच्यते। ३। इच्छाद्वेषप्रयत्नादि भोगायतनबन्धनम्। उच्छिन्नभोगायतनो नात्मा तैरपि युज्यते। ४। तदेवं धिषणादीनां नवानामपि मूलतः। गुणानामात्मनो ध्वंसः सोऽपवर्गः प्रतिष्ठितः। ५। ननु तस्यामवस्थायां कीदृगात्माऽवशिष्यते। स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः। ६। ऊर्मिषट्कातिगं रूपं तदस्याहुर्मनीषिणः। संसारबन्धनाधीन-दुःखक्लेशादुपप्लुतम्। ७। ( कामक्रोधलोभगर्वदम्भहर्षाः ऊर्मिषट्कमिति। "

इस [illegible] हम [illegible] भी [illegible] करते हैं कि,—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नष्ट नहीं होते, तब तक [illegible] [illegible] [illegible] नहीं [illegible] [illegible] है । १ । [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] होती है [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] होते हैं। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] की [illegible] ( [illegible] [illegible] ) [illegible] ; [illegible] ; है । २ । [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] हैं, [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] नहीं [illegible] है, [illegible] [illegible] [illegible] जाता है । ३ । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हुए हैं, [illegible] [illegible] ( [illegible] ) की [illegible] [illegible] है, [illegible] [illegible] [illegible] हो गया है [illegible] [illegible] [illegible] अर्थात् [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] भी [illegible] नहीं होता है । [illegible]—[illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] होते हैं, और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] भी [illegible] [illegible] है । ४ । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] है, [illegible] [illegible] ( [illegible] ) [illegible] [illegible] । ५ । [illegible] [illegible] [illegible] कि, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है, [illegible] [illegible] [illegible] है कि;—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है । ६ । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हैं, [illegible] [illegible] ( [illegible] ) [illegible] [illegible] ( [illegible] [illegible] २, [illegible] ३, [illegible] ४, [illegible] ५, [illegible] [illegible] ६, [illegible] ७ [illegible] ) [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] करते हैं । ७ ।"

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । इति दृष्टम् । "[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।" [illegible] ।

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ( [illegible] ) [illegible] [illegible] " [illegible] " [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] " [illegible] " [illegible] [illegible] " [illegible] " [illegible]

( रच ) डाला है। अथवा ' सुसूत्रं ' यह क्रियाका विशेषण है; इस कारण भाव यह है कि;—' सु ' उत्तम है ' सूत्र ' पदार्थोंकी व्यवस्थाके रचनेका विज्ञान जिसमें ऐसा आसूत्रण किया है अर्थात् उन उन शास्त्रार्थोंकी रचना की है। क्योंकि " सूचना करनेवाला जो सूत्र शब्द है; वह ग्रन्थके अर्थमें, तंतुके अर्थमें और व्यवस्थाके अर्थमें व्यवहृत किया जाता है। " ऐसा अनेकार्थ-कोशका वचन है।

अत्र सुसूत्रमिति विपरीतलक्षणयोपहासगर्भं प्रशंसावचनम्। यथा—"उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता चिरं।" इत्यादि। उपहसनीयता च युक्तिरिक्तत्वात्तदङ्गीकाराणाम्। तथा हि—अविशेषेण सद्बुद्धिवेद्येष्वपि सर्वपदार्थेषु द्रव्यादिष्वेव त्रिषु सत्तासम्बन्धः स्वीक्रियते न सामान्यादित्रये। इति महतीयं परवतोहरता। वतः परिभाव्यतां सत्ताशब्दस्य शब्दार्थः। अस्तीति सन् सतो भावः सत्ता अस्तित्वं तद्वस्तुस्वरूपं निर्विशेषमशेषेष्वपि पदार्थेषु त्वयाप्युक्तम्। तत्किमिदमर्द्धजरतीयं यद्द्रव्यादिष्वेव एव सत्तायोगो नेतरत्र त्रय इति।

यहां पर ' सुसूत्रं ' यह विपरीतलक्षणासे उपहास है अन्तर्गत जिसके ऐसा प्रशंसाका वचन है अर्थात् ग्रंथकारने 'सुसूत्रं ' इस वचनसे वैशेषिकोंकी प्रशंसा न करके प्रत्युत उनकी हांसी की है। जैसे कि—" हे मित्र ! तुमने बहुत उपकार किया है; इस विषयमें कहना ही क्या है? आपने बहुत सज्जनता प्रकट की है। इसी प्रकार करते हुए तुम सौ १०० वर्षतक सुखी रहो ।१।" इत्यादि। भावार्थ—जैसे इस श्लोकमें विपरीतलक्षणासे उपकार आदि शब्दोंसे अपकार आदिका अर्थ को ग्रहण किया गया है; उसी प्रकार ' सुसूत्रं ' इस शब्दसे उपहासरूप अर्थको लिया गया है। और वैशेषिकोंके मत युक्ति रहित हैं; इसकारण वे उपहासके योग्य हैं। अब आचार्य निम्नलिखित प्रकारसे वैशेषिकोंके मतका खंडन करके उसको युक्ति रहित ही दिखलाते हैं।—समानतासे सभी पदार्थ सत् ( है ) इस प्रकारकी बुद्धिसे वेद्य (जानने योग्य) हैं; ऐसा मान करके भी जो तुम ( वैशेषिक ) द्रव्य, गुण तथा कर्म; इन तीनोंमें ही सत्ताका योग मानते हो सो यह तुम्हारा बड़ा देखते २ हरण करना है अर्थात् प्रत्यक्षमें ठगना है। क्योंकि तुम ' सत्ता ' इस शब्दके शब्दार्थका विचार करो। जो है, वह सत् कहलाता है; सत्का जो भाव है; वह सत्ता अर्थात् अस्तित्व है; और यह अस्तित्व वस्तुका स्वरूप है; इसकारण तुमने भी सभी पदार्थोंमें इसको सामानरूपसे कहा है। तब फिर



१. विद्यदीदमेव सदा सर्वे सुविचारमास्व ततः सदृशं सदम्। १। इत्युत्तरार्द्धः। २. यो अवानुरा सामान्यसमवायिषा च यथा सर्वेण प्रोच्यते तत्तुल्यं भवद्वाक्यम्॥

[illegible] गुण और धर्म इन तीनों ही [illegible] होता है और अन्यत्र [illegible] नहीं। [illegible] भावार्थ—जैसे [illegible] गुण [illegible] है, [illegible] इत्यादि [illegible] होता है और अन्यत्र [illegible] नहीं है।

[illegible] इति चेत्, न । [illegible] । [illegible] सामान्यं सामान्यविशेष [illegible] । [illegible] इति । [illegible] ।

शंका—सामान्य जाति और [illegible] नहीं है, [illegible] नहीं है। समाधान—ऐसे नहीं। [illegible] होते हैं। भावार्थ—[illegible] है, [illegible] है, [illegible] है। [illegible] है, [illegible] है। [illegible] है।

[illegible] इति चेन्न । [illegible] । अथ [illegible] । [illegible] सामान्यानि तु [illegible] इति चेन्न । [illegible] ।

यदि कहो कि—[illegible] है। [illegible] है, [illegible] है। [illegible] है [illegible] है, [illegible] है।

हो जाओ अर्थात् जैसे तुम सामान्य आदिमें सत्ताका आरोप करके अनुगतप्रत्यय सिद्ध करते हो; उसीप्रकार द्रव्य आदिमें भी सत्ताके आरोपसे ही अनुगतप्रत्ययको स्वीकार करो । यदि कहो कि; मुख्य अर्थके विद्यमान न होनेपर अध्यारोप नहीं हो सकता है अर्थात् जब एक स्थानमें मुख्य अर्थ विद्यमान रहता है; तभी दूसरे स्थानमें उसका आरोप होता है; इस कारण द्रव्य आदिमें तो यह अनुगतप्रत्यय मुख्य है और सामान्य आदिमें गौण है । सो भी नहीं । क्योंकि विपर्ययकी भी कल्पना हो सकती है. अर्थात् द्रव्यादिमें अनुगतप्रत्ययको मुख्य और सामान्य आदिमें अनुगत प्रत्ययको गौण माननेमें कोई नियामक नहीं है; अतः द्रव्य आदिमें अनुगतप्रत्ययको गौण तथा सामान्य आदिमें अनुगतप्रत्ययको मुख्य भी मान सकते हैं ।

सामान्यादिषु बाधकसम्भवान्न मुख्योऽनुगतः प्रत्ययो द्रव्यादिषु तु तदभावान्मुख्यः इतिचेन्नानु किमिदं बाधकम् । अथ सामान्येऽपि सत्ताभ्युपगमेऽनवस्था । विशेषेषु पुनः सामान्यसद्भावे स्वरूपहानिः । समवायेऽपि सत्ताकल्पने तद्वृत्त्यर्थं सम्बन्धान्तराऽभाव इति बाधकानीतिचेत् । न । सामान्येऽपि सत्ताकल्पने यद्यनवस्था तर्हि कथं न सा द्रव्यादिषु । तेषामपि स्वरूपसत्तायाः प्रागेव विद्यमानत्वात् । विशेषेषु पुनः सत्ताभ्युपगमेऽपि न स्वरूपहानिः । स्वरूपस्य प्रत्युतोत्तेजनात् । निःसामान्यस्य विशेषस्य क्वचिदप्यनुपलम्भात् । समवायेऽपि समवायत्वलक्षणायाः स्वरूपसत्तायाः स्वीकारे उपपद्यत एवाविष्वग्भावात्मकः सम्बन्धोऽन्यथा तस्य स्वरूपाऽभावप्रसङ्गः । इति बाधकाऽभावात्तेष्वपि द्रव्यादिवन्मुख्य एव सत्तासम्बन्धः । इति व्यर्थं द्रव्यगुणकर्मस्वेव सत्ताकल्पनम् ।

यदि कहो कि;—सामान्य आदिकमें बाधकका सद्भाव है, अतः सामान्य आदिमें अनुगतप्रत्यय मुख्य नहीं है और द्रव्यादिमें कोई बाधक नहीं है; अतः द्रव्यादिमें अनुगतप्रत्यय मुख्य है; तो हम प्रश्न करते हैं कि; वह बाधक क्या है ? । यदि उत्तरमें कहो कि;—सामान्यमें सत्ता ( सामान्यत्व ) का स्वीकार करनेमें अनवस्थादोष होता है, विशेषोंमें विशेषत्वरूप सत्ताके माननेपर विशेषोंका स्वतः व्यावृत्तत्वरूप स्वरूप नष्ट होता है, तथा समवायमें समवायत्वरूप सत्ताका अंगीकार करनेपर समवायमें सत्ताके रहनेके अर्थ कोई दूसरा संबंध नहीं है । इस प्रकार ये बाधक विद्यमान हैं । सो ठीक नहीं है । क्योंकि; यदि सामान्यमें भी सत्ताको माननेसे अनवस्था होती है; तो वह अनवस्था द्रव्य आदिमें भी क्यों नहीं होती है । कारण कि; उन द्रव्यादिकमें भी

१ निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत् । सामान्यरहितत्वे तु विशेषास्तद्वदेव हि । । । इति नियमात् ।

[illegible] रहने की सम्भावना है। तात्पर्य — जब [illegible] अवस्था होती है, तब गुणादिकों [illegible] नहीं है। और वहाँ पर ही गुण [illegible] आदिकों भी [illegible] नहीं होती है। [illegible] होती है। क्योंकि; [illegible] नहीं होता है, [illegible] है; और [illegible] भी [illegible] है। क्योंकि [illegible] नहीं [illegible] होता। अर्थात् [illegible] नहीं है। [illegible] है, [illegible] यह अर्थ [illegible] है।

[illegible] विचार्यमाणो [illegible] तथा [illegible] समवायो [illegible] समवायेन। [illegible] न [illegible] नाशयति।

और जो विशेष बात है कि, [illegible] है, वह [illegible] है। [illegible] है, [illegible] भी [illegible] है, [illegible] भी [illegible] नहीं हो सकते हैं।

और जो सत्स्वरूप पदार्थ हैं, उनके तो सत्ताका योग निष्फल ( व्यर्थ ) है। यदि कहो कि; पदार्थोंके स्वरूपसत्त्व है ही; तो फिर नपुंसक ( अकार्यकारी ) सत्ताके योगको माननेसे क्या प्रयोजन है ? । यदि कहो कि; सत्ताके योगके पहिले न तो पदार्थ सत् था और न असत् था; परन्तु सत्ताका योग होनेसे पदार्थ सत् हो गया सो यह भी कहनेमात्र है अर्थात् व्यर्थ है। क्योंकि ( पदार्थोंमें ) सत् तथा असत्से भिन्नरूप कोई तीसरा प्रकार ही नहीं हो सकता है। इस कारण 'सत् पदार्थोंमें भी किसी किसीमें सत्ता है' ऐसा वैशेषिकोंका वचन विद्वानोंकी सभामें उपहासके अर्थ कैसे न हो अर्थात् हो ही हो।

**ज्ञानमपि यदेकान्तेनात्मनः सकाशाद्भिन्नमिष्यते तदा तेन चैत्रज्ञानेन मैत्रस्येव नैत्र विषयपरिच्छेदः स्यादात्मनः। अथ यत्रैवात्मनि समवायसम्बन्धेन समवेतं ज्ञानं तत्रैव भावावभासं करोतीति चेत्। न, समवायस्यैकत्वानित्यत्वाद्व्यापकत्वाच्च सर्वत्र वृत्तेरविशेषात्समवायवदात्मनामपि व्यापकत्वादेकज्ञानेन सर्वेषां विषयावबोधप्रसङ्गः। यथा च घटे रूपादयः समवायसम्बन्धेन समवेतास्तद्विनाशे च तदाश्रयस्य घटस्यापि विनाशः। एवं ज्ञानमप्यात्मनि समवेतं तच्च क्षणिकं ततस्तद्विनाशे आत्मनोऽपि विनाशापत्तेरनित्यत्वापत्तिः।**

यदि तुम ज्ञानको भी आत्मासे सर्वथा भिन्न मानोगे तो जैसे मैत्रके ज्ञानसे आत्माके विषयका ज्ञान नहीं होता है; उसी प्रकार उस चैत्रके ज्ञानसे भी आत्माके विषयका ज्ञान न होगा। भावार्थ—जैसे चैत्रनामक एक पुरुषसे भिन्ननामक दूसरे पुरुषका ज्ञान भिन्न है, अतः मैत्रके ज्ञानसे चैत्रके आत्माको पदार्थका ज्ञान नहीं होता है; उसी प्रकार चैत्रका ज्ञान भी चैत्रकी आत्मासे भिन्न है; इस कारण चैत्रके ज्ञानसे चैत्रकी आत्माको भी पदार्थका ज्ञान न होगा। और ऐसा होगा तो आत्मा पदार्थके ज्ञानसे रहित अर्थात् जडरूप ही हो जायेगा। यदि कहो कि;—जिस आत्मामें ज्ञान समवायसंबंधसे समवेत ( मिला हुआ ) है; उसीमें ज्ञान पदार्थोंका अवभास ( ज्ञान ) करता है तो यद्यपि चैत्रका ज्ञान चैत्रकी आत्मासे भिन्न है; तथापि चैत्रकी आत्मामें समवायसे संबंधित है; अतः चैत्रकी आत्माको पदार्थका ज्ञान हो जाता है। तो नहीं। क्योंकि; तुम्हारे मतमें समवाय एक, नित्य और व्यापक होनेसे सब पदार्थोंमें समानरूपसे रहता है; और जैसे समवाय व्यापक है; उसी प्रकार आत्मा भी सबमें व्यापक है; इस कारण एक आत्माके ज्ञानसे समवायसंबंधसे समवेत हैं; सब आत्माओंको पदार्थका ज्ञान हो जानेसे तुम्हारे अनिष्टकी प्राप्ति होगी। तथा जैसे घटमें रूप आदिक और उन रूपआदिका नाश होनेपर उस रूपआदिके आधारभूत घटका भी नाश होता है; इसीप्रकार

[illegible]

अथात्तु श्रुतपरिणत ज्ञानावरणीय गन्धमोक्ष किन्तु ज्ञ एव ज्ञानावरणीय केन कर्मोदय भवति । गन्धवासागारेण पंच-ज्ञानावरणा । कर्मोदय पंचविधेन न ज्ञानावरणीयेति चेत् । नैवं यतो सर्वघातिस्पर्धकानामुदयाभावलक्षणोपशमो तथा सदवस्थारूपोपशमो वा प्रभावी कालान्तर ज्ञानावरणीय च सम्बन्धस्पर्धकानि पंच-षट्कमनोदयि तेन न ज्ञानावरणीय-ता येन ज्ञानमेवं गोपयेत् । किंच यदीयस्पर्धकानामुदयो गच्छति स आच्छादयति । यतः पर्दागलापयति, आवरयति तस्य धर्मः, धर्मेणधर्मिणोऽभेदोपचारात् तेषामुदयस्तथा । तात्पर्यं यदीयस्पर्धकानामुदयो ज्ञानावरणीयफलः । तुल्यवर्णे च ज्ञानावरणीय-कालस्यभावागतिनिमित्तिनिर्देशः ।

अत्र कश्चित् शून्य भीः गाथा; एव दोषोक्ते समाधानं गाथा है, तो गाथा इस रूप चलते हैं कि:— यहाँ गाथाका अर्थ इसा अवयव एव दोषोंसे संबंधित किया गया है अर्थात् जैसे आकाशमें अभ्र समूहसे आच्छादित होता है, वैसी प्रकार, उन वेदनीय ज्ञानावरण आदिसे आत्मा आच्छादित होता है । । यदि कहो कि;—आत्म और आकाशके गुणोंमें अत्यन्त असमानता होने पर दोनों दृष्टांत असंगत है, तब तो अनुचित होगा है । तो यदि कहो कि;—आत्मा अर्थ ( जानने वाला ) होने पर अभ्रके समान आच्छादित होता है, तो आत्मा और आकाशके बीच समानता होने पर भी आकाशके समान आत्मा भी अचेतन हो जायेगा है । तात्पर्य—ज्ञान और आवरण समानरूप स्वीकार करने पर दोनोंमें कोई विशेषता नहीं है, अतः जैसे ज्ञानावरण ज्ञान गुण को आच्छादित करता है, वैसी प्रकार ज्ञान भी आवरण को नष्ट करता है, यदि ऐसा न माना जाये तो दोनों ही समान होनेसे दोनों ही समान हो जायेंगे । अब कोई आवरण समानरूप स्वीकार करने पर दोनोंमें कोई विशेषता नहीं है, अतः जैसे ज्ञानावरण ज्ञान गुण को आच्छादित करता है, वैसी प्रकार ज्ञान भी आवरण को नष्ट करता है, यदि ऐसा न माना जाये तो दोनों ही समान होनेसे दोनों ही समान हो जायेंगे । अब कोई कहे कि,—जैसे दीपक अपने प्रकाशसे अंधकारको नष्ट करता है, अर्थात् दीपक अपने प्रकाशसे अंधकारमें आच्छादित करता है और वह अंधकार का स्वभावसे ही आच्छादित करता है, वैसे ही ज्ञानावरणीय भी ज्ञानको आच्छादित करता है, इसलिए ज्ञानावरणीय अपने स्वभावसे ज्ञान को आच्छादित करता है और ज्ञान भी अपने स्वभावसे ज्ञानावरणीय को नष्ट करता है, तो कहना होगा कि, इस दोनोंके

भी ऐसा स्वभाव क्यों नहीं है, जिससे कि;—वे दोनों ज्ञान और आत्मा स्वयं ही संबंधको प्राप्त हो जावें अर्थात् जैसे समवायका स्वयं संबंधित होजानेरूप स्वभाव है, वैसे ही ज्ञान और आत्माका भी स्वयं परस्पर संबंधको प्राप्त होजानेरूप स्वभाव मानलेना चाहिये। और जो तुमने प्रदीपका दृष्टान्त दिया है; वह भी तुम्हारे पक्ष ( मत ) में घटित नहीं होता है। क्योंकि;—प्रदीप तो द्रव्य (धर्मी) है और प्रकाश; उसका प्रदीपका धर्म है; तथा धर्म और धर्मी इन दोनोंके तुमने अत्यंत भेद माना है; अतः प्रदीप प्रकाशरूप कैसे हो सकता है? अर्थात् जो जिसका स्वभाव होता है; वह उससे भिन्न नहीं रहता है और तुम प्रदीप तथा प्रकाशके सर्वथा भेद मानते हो; अतः प्रदीपका प्रकाशरूप स्वभाव नहीं हो सकता है। और जब प्रदीपका प्रकाशरूप स्वभाव ही न रहा तब 'प्रदीप स्वपरप्रकाशक है' यह तुम्हारा कहना निर्मूल ( निराधार ) अर्थात् असत् ही है।

**यदि च प्रदीपात्प्रकाशस्यात्यन्तभेदेऽपि प्रदीपस्य स्वपरप्रकाशकत्वमिष्यते तदा घटादीनामपि तदनुषज्यते। भेदाविशेषात्। अपि च तौ स्वपरसम्बन्धनस्वभावौ समवायाद्भिन्नौ स्यातामभिन्नौ वा। यदि भिन्नौ ततस्तस्यैतौ स्वभावाविति कथं सम्बन्धः। सम्बन्धनिबन्धनस्य समवायान्तरस्यानवस्थाभयादनभ्युपगमात्। अथाऽभिन्नौ ततः समवायमात्रमेव। न तौ। तदव्यतिरिक्तत्वात्तत्स्वरूपवदिति। किञ्च यथा इह समवायिषु समवाय इति मतिः समवायं विनाप्युपपन्ना तथा इहात्मनि ज्ञानमित्ययमपि प्रत्ययस्तं विनैव चेदुच्यते तदा को दोषः।**

और यदि तुम प्रदीपसे प्रकाशके अत्यंत भेद होनेपर भी प्रदीपके निज तथा परका प्रकाशकपना मानोगे; तो घट आदिके भी स्वपरप्रकाशकताका प्रसंग होगा। क्योंकि; भेदका अविशेष है अर्थात् जैसे प्रदीपसे प्रकाश भिन्न है; उसी प्रकार घट पट आदिसे भी प्रकाश भिन्न है। तथा यह भी विशेष प्रष्टव्य है कि,—समवायके जो स्व तथा परका संबंध करनेरूप स्वभाव हैं; वे समवायसे भिन्न हैं? अथवा अभिन्न है?। यदि कहो कि; समवायसे भिन्न हैं; तब तो वे दोनों स्वपरसे संबंधकरनेरूप स्वभाव समवायके हैं; इस प्रकारका संबंध कैसे हुआ। क्योंकि;—इन स्वभावोंको समवायमें संबंधित करनेवाला जो दूसरा समवाय है; उसको तुमने अनवस्थाके भयसे स्वीकार नहीं किया है। यदि कहो कि;—वे निज तथा परका प्रकाश करनेवाले स्वभाव समवायसे अभिन्न हैं; तो वे दोनों स्वभाव समवायरूप ही हैं; समवायसे भिन्न वे दोनों स्वभाव नहीं हैं। क्योंकि; वे दोनों समवायके स्वरूपके समान समवायसे अभिन्न है **भावार्थ**—जैसे अभिन्न होनेसे समवायका स्वरूप समवायरूप ही है; इसी प्रकार वे स्वप्रकाशक और पर-

[illegible] भी [illegible] ही है। और भी विशेष [illegible] है कि—[illegible] है, [illegible] भी [illegible] नहीं है।

[illegible] च [illegible]। [illegible] हि [illegible] च [illegible]। [illegible] तथा च श्रुति [illegible] इति।

शंका—[illegible] है। [illegible] है, [illegible] है। [illegible] समाधान—यह [illegible] नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त भिन्न है। तात्पर्य—[illegible] है, [illegible] नहीं है। क्योंकि [illegible] है और [illegible] है। [illegible]

[illegible]

जैसे बढ़ईरूप कर्त्तासे कुठाररूप बाह्यकरणको भिन्न बताया है; उसीप्रकार किसी कर्त्ताको किसी अंतरंग करणसे सर्वथा भिन्न दिखलाओ तो दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक ( ज्ञान ) के समानता हो सकती है; परंतु इस प्रकारका कोई दृष्टान्त ही नहीं है। और बाह्यकरणमें प्राप्त जो धर्म है; उस सबको ही तुम अंतरंगकरणमें नहीं लगा सकते हो। क्योंकि; यदि बाह्यकरणके सब धर्मको अंतरंगमें लगाओगे तो देवदत्त दीपक और नेत्रसे देखता है, यहां जैसे देवदत्तसे दीप आदि भिन्न है; उसीप्रकार नेत्र भी देवदत्तसे सर्वथा भिन्न हो जावे और ऐसा होने पर लोककी प्रतीतिसे विरोध उत्पन्न होवे।

**अपि च साध्यविकलोऽपि वासिवर्द्धकिदृष्टान्तः। तथाहि—नायं वर्द्धकिः काष्ठमिदमनया वास्या घटयिष्य इत्येवं वासिग्रहणपरिणामेनाऽपरिणतः सन् तामगृहीत्वा घटयति। किन्तु तथा परिणतस्तां गृहीत्वा। तथा परिणामे च वासिरपि तस्य काष्ठस्य घटने व्याप्रियते पुरुषोऽपि। इत्येवं लक्षणैकार्थसाधकत्वाद्वासिवर्द्धक्योरभेदोऽप्युपपद्यते। तत्कथमनयोर्भेद एवेत्युच्यते। एवमात्मापि विवक्षितमर्थमनेन ज्ञानेन ज्ञास्यामीति ज्ञानग्रहणपरिणामवान् ज्ञानं गृहीत्वार्थं व्यवस्यति। ततश्च ज्ञानात्मनोरुभयोरपि संवित्तिलक्षणैककार्यसाधकत्वादभेद एव। एवं कर्तृकरणयोरभेदे सिद्धे संवित्तिलक्षणं कार्यं किमात्मनि व्यवस्थितं आहोस्विद्विषय इति वाच्यम्। आत्मनि चेत्—सिद्धं नः समीहितम्। विषये चेत्कथमात्मनोऽनुभवः प्रतीयते। अथ विषयस्थितसंवित्तेः सकाशादात्मनोऽनुभवस्तर्हि किं न पुरुषान्तरस्यापि। तद्भेदाविशेषात्।**

और भी यह दोष है कि; तुमने जो बढ़ई और कुठारका दृष्टान्त दिया है; वह साध्यसे विकल ( रहित ) है अर्थात् आत्मा और ज्ञान इन दोनोंके भेदको नहीं साध सकता है। सो ही दिखलाते हैं—वह बढ़ई 'इस काष्ठको इस कुठार ( कुहाड़ि ) से घड़ूंगा' ऐसा जो कुठारको ग्रहण करनेरूप परिणाम है; उससे अपरिणत ( रहित ) हो कर; उस कुठारको बिना ग्रहण किये नहीं घड़ता है; किन्तु कुठारके ग्रहण करनेरूप परिणामसे सहित होकर उस कुठारको ग्रहण करके ही काष्ठको घड़ता है। और जब वह बढ़ई कुठारग्रहणरूप परिणामसे विशिष्ट हुआ तो सिद्ध हुआ कि कुठार भी उस काष्ठके घड़नेमें व्यापार करता है और वह बढ़ईरूप पुरुषभी काष्ठके घड़नेमें व्यापार करता है। और इस उक्त प्रकारसे काष्ठके घड़नेरूप अर्थक्रियाकी साधकतासे बढ़ई तथा कुठारके अभेद भी सिद्ध होता है अर्थात् जैसे कुठारसे काष्ठ घड़ा जाता है; उसी प्रकार उस बढ़ईसे भी घड़ा जाता है;

जानता है ' यहां भी कर्तृकरणभाव होता है । यदि कहो कि;—यह कर्तृकरणभाव परिकल्पित अर्थात् असत्य है; तो शर्फकी चेष्टन अवस्थामें पूर्व अवस्थासे विलक्षण गमनके निरोध रूप अर्थक्रियाको देखनेसे परिकल्पित कैसे है अर्थात् जब सर्प आपको अपनेसे वेढ़ता है; उससमय वह पहलेकी जो गमनरूप अर्थक्रिया है; उसको छोड़कर गमनके बंद होनेरूप अर्थक्रियाको धारण करता है; अतः उसमें कर्तृकरणभाव कल्पित नहीं हो सकता है । क्योंकि; सैंकड़ों कल्पनाओंसे भी यह पाषाणका स्तंभ ( थंभा ) आपको अपनेसे वेष्टित करता है, ऐसा नहीं कह सकते हैं । इस कारण आत्मा और ज्ञान इन दोनोंके अभेद होनेपर भी कर्तृकरणभाव सिद्ध हो ही गया । और भी विशेष यह है कि; तुम चैतन्य इस शब्दके यथार्थ अर्थका विचार करो । चेतनका जो भाव होता है, वह चैतन्य कहलाता है और आत्माको चेतन तुम भी कहते हो, उस आत्माका जो भाव अर्थात् स्वरूप है; वह चैतन्य ( ज्ञान ) है । और जो जिसका स्वरूप होता है; वह उससे भिन्न नहीं हो सकता है । जैसे कि, जो वृक्षका स्वरूप है; वह वृक्षसे कदापि भिन्न नहीं होता है ।

**अथास्ति चेतन आत्मा । परं चेतनासमवायसम्बन्धात् । न स्वतः । तथाप्रतीतेरितिचेत्—तदयुक्तम् । यतः प्रतीत्यश्रेत्रमाणीक्रियते तर्हि निर्बाधमुपयोगात्मक एवात्मा प्रसिद्ध्यति । न हि जातुचित्स्वयमचेतनोऽहं, चेतनायोगाच्चेतनः, अचेतने वा मयि चेतनायाः समवाय इति प्रतीतिरस्ति । ज्ञाताहमिति समानाधिकरणतया प्रतीतेः । भेदे तथाप्रतीतिरिति चेत् । न । कथं चित्तादात्म्याऽभावे सामानाधिकरण्यप्रतीतेरदर्शनात् । यष्टिः पुरुष इत्यादिप्रतीतिस्तु भेदे सत्युपचाराद्दृष्टा । न पुनस्तात्त्विकी । उपचारस्य तु बीजं पुरुषस्य यष्टिगतस्तब्धत्वादिगुणैरभेदः । उपचारस्य मुख्यार्थस्पर्शित्वात् । तथा चात्मनि ज्ञाताहमितिप्रतीतिः कथंचिच्चेतनात्मतां गमयति । तामन्तरेण ज्ञाताहमिति प्रतीतेरनुपपद्यमानत्वात् । घटादिवत् । न हि घटादिरचेतनात्मको ज्ञाताहमिति प्रत्येति । चैतन्ययोगाऽभावादसौ न तथा प्रत्येतीतिचेत् । न । अचेतनस्यापि चैतन्ययोगाच्चेतनोऽहमिति प्रतिपत्तेरनन्तरमेव निरस्तत्वात् । इत्यचेतनत्वं सिद्धमात्मनो जडस्वार्थपरिच्छेदं पराकरोति । तं पुनरिच्छता चैतन्यस्वरूपतास्य स्वीकरणीया ।**

॥ ५२ ॥

यदि कहो कि; आत्मा चेतन तो है; परंतु समवायसंबंधसे है अर्थात् समवायसंबंधसे ज्ञान आत्मामें समवेत है; अतः ज्ञानके योगसे चेतन है और आत्मा स्वयं चेतन नहीं है । क्योंकि ऐसी ही प्रतीति होती है । सो यह कहना अनुचित है । क्योंकि;

यदि इस परीक्षितेको ही प्रथम करते हो तो ऐसा किसी प्रकारसे शास्त्रसंगत ही नहीं होगा है ; क्योंकि, ' जो इसका अनेकान्त है, सोभी ( अनेकान्त ) के भीतरी नियम हुआ है. अथवा कुछ अनेकान्त प्रकारसे अनेकान्तात्मक स्वभाव है ' ऐसी परीक्षितेसे अनेकान्त नहीं होती है । अतएव कि ' जो अनेक ( अनेकान्त ) है ' इस प्रकारकी प्रमाणार्थपरिच्छेदकत्वसे अनेकान्त नहीं होगा है । यदि कहो कि, — एक परीक्षित अनेक अंश कल्पनेके वश होनेसे वह अनेकान्त है तो अनेकान्त नहीं । क्योंकि, अनेकान्त ( अनेकान्त ) के प्रमाणसे गृहीतार्थपरिच्छेदकत्वसे भी अनेकान्त नहीं आती है परंतु उस किसी न किसी प्रकारसे एकांत दृष्टिके साथ अनेकान्त होती है। तभी उस लोगोंके प्रमाणार्थपरिच्छेदकत्वसे अनेकान्त होती है ; और जो कुछ वस्तु है अर्थात् वह कुछ अनेक ( अनेक व अनेकी ) रूप है, इसलिये अनेकान्त होती है; यह कुछ और वस्तुके साथ भेद होनेसे भी अनेकान्त होती है । और 'कुछ वस्तु है' यह परीक्षित प्रमाणरूप अर्थात् प्रमाण नहीं है । क्योंकि कुछके अस्तित्व मात्र प्रमाणसे अनेकान्त आदि गुणोंके भी अनेक है, यही दोषोद्भावन होता है । इसलिये, अथवा कुछ अनेकान्त होती अनेकान्त होता है । शंका—कुछ वस्तु है, इस परीक्षित प्रमाणसे कुछ और लोग कहते हैं, अनेकान्त वस्तुके भी अनेक कुछ है, वे कुछसे ही है, अतः परीक्षित प्रमाण अनेक कुछ लोगोंके अनेक कहने कुछसे परीक्षित प्रमाण सिद्ध नहीं होता है । और जैसे ' कुछ वस्तु है ' यह परीक्षित कुछसे प्रमाण कहते कुछसे अनेकान्त परीक्षित प्रमाण होती है, उसी प्रकार 'मैं बोलता हूं' यह परीक्षित अनेकान्त अनेकान्त परीक्षित प्रमाण होती है। क्योंकि, यह अनेकान्तके लिये 'मैं बोलता हूं' ऐसी अनेकान्त अनेक नहीं होते है । यह अनेकान्तके प्रमाण। क्योंकि, अनेकान्तका यह 'मैं बोलता हूं' इस परीक्षितसे नहीं होता है । और 'मैं बोलता हूं ' ऐसी अनेकान्त अनेकान्त होती है, अतः ' अनेक प्रमाणसे परीक्षित है ' यह सिद्धान्त होता है । यदि कहो कि, उसमें परीक्षित ( अनेक ) का भेद नहीं है अर्थात् उसके कुछ अनेकान्तोंके अनेक नहीं होता है, इसलिये यह ' जो बोलता हूं ' ऐसी परीक्षित नहीं होता है, सो नहीं । क्योंकि, अनेकान्तके भी अनेकान्तके प्रमाणसे 'मैं अनेक हूं ' ऐसी अनेकान्त होती है । जब जो अनेकान्त अनेकान्त ( अनेक ) है, अनेक भी अनेक अनेक कुछ है । एक प्रमाण अनेक अनेकान्तके लिये कुछ अनेकान्तका अनेकान्तके प्रमाणसे परीक्षित कुछ अनेक है । और जो अनेकान्त अनेकान्त अनेक प्रमाण है, अनेकों अनेकान्तके अनेकान्तसे अनेक अनेकान्त अनेकों अनेकान्त है । अनेकान्त—अनेकान्त अनेक अनेकान्तों

नहीं जान सकता है; अतः यदि तुम ( वैशेषिक ) आत्माको ज्ञाता ( पदार्थोंका जाननेवाला ) मानना चाहते हो तो पहले आत्माको चैतन्यस्वरूप ( ज्ञानरूप ) स्वीकार करो ।

**ननु ज्ञानवानहमिति प्रत्ययादात्मज्ञानयोर्भेदः । अन्यथा धनवानितिप्रत्ययादपि धनधनवतोर्भेदाभावानुषङ्गात्। तदसत् । यतो ज्ञानवानहमिति नात्मा भवन्मते प्रत्येति जडत्वैकान्तरूपत्वात् । घटवत् । सर्वथा जडश्च स्यादात्मा ज्ञानवानहमितिप्रत्ययश्च स्यादस्य विरोधाऽभावात् । इति मा निर्णैषीःतस्य तथोत्पत्त्यसम्भवात् । ज्ञानवानहमिति हि प्रत्ययो नाऽगृहीते ज्ञानाख्ये विशेषणे विशेष्ये चात्मनि जातूत्पद्यते । स्वमतविरोधात् । " नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः " इति वचनात् ।**

शंका—'मैं ज्ञानवान हूं ' इस प्रत्ययसे आत्मा और ज्ञानके भेद सिद्ध होता है । क्योंकि; यदि इस प्रत्ययसे आत्मा और ज्ञानके भेद न होवे तो ' मैं धनवान हूं ' इस प्रत्ययसे धन और धनवान इन दोनोंके भेदके अभावका प्रसंग होगा । भावार्थ—वैशेषिक अब यहांपर ऐसा कहते हैं कि; यदि ' मैं ज्ञाता हूं ' इस पूर्वोक्त प्रत्ययसे आत्मा तथा ज्ञानके भेद सिद्ध नहीं होता है; तो अस्तु मत हो; परन्तु ' मैं धनवान हूं ' इस प्रत्ययसे जैसे धनके और धनवानके भेद प्रतीत होता है; उसी प्रकार ' मैं ज्ञानवान हूं' इस प्रत्ययसे आत्मा और ज्ञानके भेद सिद्ध होते हैं । **समाधान**—यह तुम्हारा कहना मिथ्या है । क्योंकि तुम्हारे मतमें आत्मा सर्वथा जडरूप है; अतः ' मैं ज्ञानवान हूं ' ऐसी प्रतीति नहीं कर सकता है । घटके समान अर्थात् जैसे—सर्वथा जड होनेसे घट उक्त प्रतीतिको नहीं करता है; वैसे ही आत्मा भी उक्त प्रतीतिको नहीं कर सकता है । अब कदाचित् ऐसा कहो कि; आत्मा सर्वथा जड भी है और मैं ' ज्ञानवान हूं ' इस प्रत्ययका धारक भी है । क्योंकि; ऐसा माननेमें कोई विरोध नहीं है । सो तुम ऐसा भी निर्णय मत करो । क्योंकि; आत्माके ' मैं ज्ञानवान हूं ' ऐसी प्रतीति ही नहीं होती है । कारण कि; ' मैं ज्ञानवान हूं ' यह प्रत्यय ज्ञाननामक विशेषण और आत्मानामक विशेष्यको ग्रहण किये विना कदाचित् भी उत्पन्न नहीं होता है । क्योंकि; 'विशेषणको ग्रहण किये विना विशेष्यमें बुद्धि नहीं होती है' ऐसा वचन है; अतः तुम्हारे मतसे विरोध होगा । ॥ ५३ ॥

**गृहीतयोस्तयोरुत्पद्यत इति चेत्–कुतस्तद्गृहीतिः । न तावत्स्वतः । स्वसंवेदनाऽनभ्युपगमात् । स्वसंविदिते ह्यात्मनि ज्ञाने च स्वतः सा युज्यते । नान्यथा । सन्तानान्तरवत् । परतश्चेत्तदपि ज्ञानान्तरं विशेष्यं नागृहीते**

शासत्यशिष्यणमो अस्तीत्यु वाक्यम् । एतौ हि गुरुशिष्यौ परस्परस्यमेति ज्ञानसम्बन्धाधुरुपुरुषेण भाव्यम् । इत्यनवस्थाना-लुक्तः पक्षोऽपि नावः । तथेयं नास्तीत्यो अवस्थानवाद भेवस्थाते । तदनेनैतत्यो या पौरुषेयत्वेनाभिधानाभावोऽस्यदि-ति पाठान्तरम् ।

यदि ब्रूयो हि, यद्य वाक्यं ज्ञानसम्बन्धं विधेयमं नेदं वाक्यमाप्तं पौरुषेयम्, इन दोनोंको शास्त्र कह चुकता है; यथा ' ये आप्त हैं ' ऐसा तत्त्व अवश्य होता है, जो यहां यह इस तरह कहते हैं कि. अमुकने उस ज्ञान का आचरण करने किसीके पूछ ! यदि उसने कहा कि ' अमुक ऋषि ' ( अमुक ऋषि ही ने ) उस दोनोंका शास्त्र कह देता है। तो यह उचित नहीं है। क्योंकि, तुमने वाक्य तथा ज्ञानको तादात्म्यिक ( अर्थात् वाक्यैक्यवाद ) कहा था है। तात्पर्य—यदि वक्ता और ज्ञान में दोनों तादात्म्यिक ( अभेदरूप ज्ञान कहनेमें आता हुआ ; दोनों, तब तो वक्ताके कथन मात्रसे ज्ञानका सत्य हो जाता है अतः अनवस्थादोष नहीं । पूर्वोक्त अनवस्थाके समान । अर्थात् जैसे यह कहा जाता है कि ' अमुक ( पूर्वज ) ऋषिप्रणीत होनेसे यह वेद आप्तका वचन नहीं कहा जा सकता है, उसी प्रकार वक्ता की कथन व ज्ञानके सत्य कहनेमें अनवस्था है। यह तात्पर्य होता है कि, अमुक ने ( पूर्वज ) कहा है | इसके द्वारा अपने ज्ञानसम्बन्ध विधेयत्वको बहुत कहना है, तो यह कुछ ज्ञानका विशेष भी अपने ज्ञानसम्बन्धीत्वमें अमुक किये बिनाका नहीं आप्तत्वविशेषताको बहुत कहनेमें समर्थ है। क्योंकि, परन्तु बहुतोंमें परस्पर विरुद्ध होता है तात्पर्य—जैसे तुमने स्वर्ग पदार्थका साधन ही तुमने का ज्ञान कहा होता है, उसी प्रकार ज्ञानका कहना दोनोंमें एकार् ही ज्ञानका कहना होता चाहिये। इस हाथ पूर्वके अनेकों अनिश्चित यज्ञ तीनों ज्ञानके और तीसरे पुनर्के शास्त्र-सम्बन्ध कहना चाहे बताने पूर्व उपदेशका ज्ञानका कहना बतायेंगे, अनर्थ भावोंमें तो कहा भी विरोधी न होगी। अर्थात् अन्यथा तीन भाव होगा। अब आपके 'मैं कहता हूं ' यह बहुत प्रकार विरोधी होंगे। अर्थात् किसी प्रकारसे ' है आप्त मैं ज्ञान-वान हूं ' ऐसी प्रतीति नहीं का सकता है ( तो इस पूर्वोक्त कहनेसे अनवस्थाका साथ नहीं होता है अर्थात् वक्ता उक्त ठीक नहीं होता है । और अनवस्थाकी प्रतीति नहीं होनेसे 'वक्ता आप्तोऽयमिति होनेसे कथन वाक्यको सिद्ध है' यह कहे हुए वैशेषिकोंका कथन है; सो ज्ञानवान है अर्थात् असत् है ।

---

१ ज्ञानसम्बन्धत्वं वक्तव्यं ।

नहीं जान सकता है; अतः यदि तुम (वैशेषिक) आत्माको ज्ञाता ( पदार्थोंका जाननेवाला ) मानना चाहते हो तो पहले आत्माको चैतन्यस्वरूप ( ज्ञानरूप ) स्वीकार करो ।

**ननु ज्ञानवानहमिति प्रत्ययादात्मज्ञानयोर्भेदः । अन्यथा धनवानितिप्रत्ययादपि धनधनवतोर्भेदाभावानुषङ्गात्। तदसत् । यतो ज्ञानवानहमिति नात्मा भवन्मते प्रत्येति जडत्वैकान्तरूपत्वात् । घटवत् । सर्वथा जडश्च स्यादात्मा ज्ञानवानहमितिप्रत्ययश्च स्यादस्य विरोधाऽभावात् । इति मा निर्णैषीःतस्य तथोत्पत्त्यसम्भवात् । ज्ञानवानहमिति हि प्रत्ययो नाऽगृहीते ज्ञानाख्ये विशेषणे विशेष्ये चात्मनि जातूत्पद्यते । स्वमतविरोधात् । " नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः " इति वचनात् ।**

शंका—'मैं ज्ञानवान हूं' इस प्रत्ययसे आत्मा और ज्ञानके भेद सिद्ध होता है । क्योंकि; यदि इस प्रत्ययसे आत्मा और ज्ञानके भेद न होवे तो 'मैं धनवान हूं' इस प्रत्ययसे धन और धनवान इन दोनोंके भेदके अभावका प्रसंग होगा । भावार्थ—वैशेषिक अब यहांपर ऐसा कहते हैं कि; यदि 'मैं ज्ञाता हूं' इस पूर्वोक्त प्रत्ययसे आत्मा तथा ज्ञानके भेद सिद्ध नहीं होता है; तो अस्तु मत हो; परन्तु 'मैं धनवान हूं' इस प्रत्ययसे जैसे धनके और धनवानके भेद प्रतीत होता है; उसी प्रकार 'मैं ज्ञानवान हूं' इस प्रत्ययसे आत्मा और ज्ञानके भेद सिद्ध होता है । समाधान—यह तुम्हारा कहना मिथ्या है । क्योंकि तुम्हारे मतमें आत्मा सर्वथा जडरूप है; अतः 'मैं ज्ञानवान हूं' ऐसी प्रतीति नहीं कर सकता है । घटके समान अर्थात् जैसे—सर्वथा जड होनेसे घट उक्त प्रतीतिको नहीं करता है; वैसे ही आत्मा भी उक्त प्रतीतिको नहीं कर सकता है । अब कदाचित् ऐसा कहो कि; आत्मा सर्वथा जड भी है और मैं 'ज्ञानवान हूं' इस प्रत्ययका धारक भी है । क्योंकि; ऐसा माननेमें कोई विरोध नहीं है । सो तुम ऐसा भी निर्णय मत करो । क्योंकि; आत्माके 'मैं ज्ञानवान हूं' ऐसी प्रतीति ही नहीं होती है । कारण कि; 'मैं ज्ञानवान हूं' यह प्रत्यय ज्ञानगामक विशेषण और आत्मानामक विशेष्यको ग्रहण किये विना कदाचित् भी उत्पन्न नहीं होता है । क्योंकि; 'विशेषणको ग्रहण किये विना विशेष्यमें बुद्धि नहीं होती है' ऐसा वचन है; अतः तुम्हारे मतसे विरोध होगा । ॥ ५३ ॥

**गृहीतयोस्तयोरुत्पद्यत इति चेत्—कुतस्तद्गृहीतिः । न तावत्स्वतः । स्वसंवेदनाऽनभ्युपगमात् । स्वसंविदिते ह्यात्मनि ज्ञाने च स्वतः सा युज्यते । नान्यथा । सन्तानान्तरवत् । परतश्चेत्तदपि ज्ञानान्तरं विशेष्यं नागृहीते**

ज्ञानापेक्षितेत्वमते सक्षीणं कथंचित्। यदुक्तं तत्रैव यदवद्यनिवृत्तिः ज्ञानाज्ञानस्वरूपाभ्यामेव साध्यम्। इत्यापत्तिज्ञानात्। तुल्यः पर्यनुयोगः। तत्रैव तावन्नो अज्ञानात्मकत्वं योगानाम्। तदभ्युपगमे च पौरुषेयत्वोपनिषदोऽप्यनिवृत्तिरिति वार्तमेतत्।

यदि कहो कि, यह अज्ञान ज्ञानसमान विरोधी नहीं होनेसे, इन दोनोंको केवल एक तुल्य है, तब 'मैं अज्ञानी हूं' ऐसे ज्ञान उत्पन्न होता है; तो वहां यह दूषण आता है कि; अज्ञानसे यह ज्ञान पुरुष स्वरूपका प्रकाश किससे करता है? यदि उत्तरमें कहो कि, अज्ञान ( अपने स्वरूप को ही ) इस ज्ञानको प्रकाश करता है, तो यह बराबर। क्योंकि नहीं है। क्योंकि, तुमने अज्ञान को ज्ञानसे विरोधी ( अपने ज्ञानसे भिन्न ) कहा है। फायदा—यदि अज्ञान और ज्ञान ये दोनों समानबलवाले ( बराबरके जोरवाले ) होवें, तब तो ज्ञानसे अज्ञान दूर हो नष्ट होता है और अज्ञानसे ज्ञान नहीं। दोनों तिरोधिके समान। अर्थात् जैसे एक पर एक समान तुलते हुए तराजू ( कांटे ) अन्धकारमें होनेसे इस तरह मालूम नहीं कर सकते हैं, उसे पकड़ कर जाना भी ज्ञान व अज्ञानके साथ अनैक्य आवश्यक है; अब कदाचित् कोई कहो कि, आत्मा एक ( दूसरे ) अज्ञानसे दूसरे अपने स्वरूपका विरोधीको नाश करता है, तो यह बराबर। परन्तु विरोध की अपेक्षा एकदेशविरोधसे नाश होने तिस तरह अपने स्वरूपविरोधीको नाश करनेमें असमर्थ है। क्योंकि, पदार्थमात्र सहजस्वभाव परिणाम होता है फायदा—जैसे बुझनेके वाले परमाणु नष्ट हो चुकने पर पावक अग्नि होता है, तिसी प्रकार ज्ञानाभाव नाशके अनन्तर ही ज्ञानका उदय होना चाहिये। इस कारण दूसरी अज्ञानसे ज्ञानका नाश नहीं होगा। और नहीं होनेसे ज्ञानके उत्पन्न होने पहले जैसे अज्ञानसे पुरुषको स्वरूपका प्रकाश नहीं होता है, तिसी प्रकार ज्ञानोत्पत्ति होने पीछे भी अज्ञानसे स्वरूपका प्रकाश नहीं होगा। अर्थात् अज्ञानका योग सदा होगा। अतः अज्ञानसे 'मैं ज्ञानवान् हूं' यह ज्ञान उत्पन्न नहीं होने से अज्ञानसे भी महात्मा 'मैं ज्ञानवान् हूं' ऐसी प्रतीति नहीं हो सकती है। और इस युक्तिसे अज्ञानके अज्ञानत्व भी नहीं होता है अर्थात् अज्ञान ज्ञान नहीं होता है। और अज्ञानके अज्ञानत्वसे सिद्ध नहीं होनेसे 'ज्ञान अज्ञानविरोधी होनेसे अज्ञानसे भिन्न है' यह भी तुम नैयायिकोंका कहना है, सो भी बराबर है अर्थात् अयुक्त है।

१ तत्त्वज्ञानोत्पत्तेः प्राक्।

तथा यदपि न संविदानन्दमयी च मुक्तिरिति व्यवस्थापनस्यानुमानमवादि सन्तानत्वादिति। तत्राभिधीयते । ननु किमिदं सन्तानत्वं स्वतन्त्रमपरापरपदार्थोत्पत्तिमात्रं वा, एकाश्रयाऽपरापरोत्पत्तिर्वा । तत्राद्यः पक्षः सव्यभिचारः । अपरापरेषामुत्पादुकानां घटपटकटादीनां सन्तानत्वेऽप्यत्यन्तमनुच्छिद्यमानत्वात् । अथ द्वितीयः पक्षस्तर्हि तादृशं सन्तानत्वं प्रदीपे नास्तीति साधनविकलो दृष्टान्तः। परमाणुपाकजरूपादिभिश्च व्यभिचारी हेतुः। तथाविधसन्तानत्वस्य तत्र सद्भावेऽप्यत्यन्तोच्छेदाभावात्। अपि च सन्तानत्वमपि भविष्यति अत्यन्तानुच्छेदश्च भविष्यति। विपर्यये बाधकप्रमाणाऽभावात्। इति संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादप्यनैकान्तिकोऽयम् । किञ्च स्याद्वादवादिनां नास्ति क्वचिदत्यन्तमुच्छेदो द्रव्यरूपतया स्थाप्नूनामेव सतां भावानामुत्पादव्ययध्रुवत्वात्। इति विरुद्धश्च । इति नाधिकृतानुमानाद्बुद्ध्यादिगुणोच्छेदरूपा सिद्धिः सिध्यति ।

और जो तुमने ' ज्ञान तथा सुखस्वरूप मोक्ष नहीं है ' इस विषयको सिद्धकरनेके लिये संतानपनेसे अर्थात् ' आत्माके ज्ञान सुख आदि सर्वो विशेषगुणोंका संतान अत्यंत नाशको प्राप्त होता है; संतानपना होनेसे ' ऐसा अनुमान कहा है; उसमें हम यह कथन करते हैं कि; वह संतानत्व क्या है ? अर्थात् स्वतंत्र अपर अपर ( भिन्न २ ) पदार्थोंकी उत्पत्तिरूप ही संतानत्व है ? अथवा एक आश्रय ( अधिकरण ) में अपर अपर पदार्थोंकी उत्पत्तिरूप संतानत्व है । यदि कहो कि;— स्वतंत्ररूपसे जो भिन्न २ पदार्थोंकी उत्पत्ति है; वही संतानत्व है; तब तो यह तुम्हारा विकल्प व्यभिचार सहित है अर्थात् आत्माको ज्ञान—सुखरहित सिद्ध करनेके अर्थ जो तुमने संतानत्व हेतु दिया है; वह व्यभिचारी है । क्योंकि; उत्पन्न होनेवाले जो अपर अपर घट पट कट ( चटाई ) आदि हैं; इनके संतानपना होनेपर भी अत्यंत नाशवानपना नहीं है । भावार्थ—वैशेषिकमतमें घट आदि संतानोंका निरन्वय नाश नहीं होता है अर्थात् नष्ट हुए घट आदि पदार्थोंका परमाणुपर्यन्त समवायी रहता है । इस कारण घट आदिक संतान हैं तो भी उनका सर्वथा नाश नहीं होता है । अतः प्रकृत अनुमानमें जो संतानत्व हेतु है; वह सर्वथा नष्ट होनेवाले ज्ञान सुख आदिमें भी रहता है और सर्वथा नष्ट न होनेवाले घट पटादिमें भी रहता है; इसकारण व्यभिचारी है । यदि कहो कि; एक ही आश्रयमें जो अपर अपर पदार्थोंकी उत्पत्ति है; वह संतानत्व है; तो ऐसा संतानत्व प्रदीपमें नहीं है; इसकारण साधनविकल दृष्टान्त है । भावार्थ—प्रदीपमें जो संतान हैं; उसका अधिकरण एक नहीं है । क्योंकि पूर्वपन्हिज्वाला

रूप को प्रतीत है, पर फिर इनमें एक पारिणामिक नहीं होती है, वही प्रकृति कह दी गया है । इस प्रकार उक्त अनुमानके जो दूसरे व्यतिरेक दृष्टान्त दिये हैं; वह व्यतिरेकि ( साध्याभाव दृष्टान्त ) है और सपक्षवृत्ति को [illegible] है, उनमें यह हेतु अनैकान्तिक भी है । क्योंकि, इन रूप [illegible] नहीं होता है । भावार्थ—[illegible] [illegible] ( [illegible] ) [illegible] [illegible] होता है । [illegible]

[illegible]

नापि " न हि वै सशरीरस्य " इत्यादि [illegible] । [illegible] ।

[illegible]

और ' **नहि वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति** ' इत्यादि आगमका प्रमाण जो तुमने दिया है; उससे भी मुक्त अवस्थामें आत्मा सुखदुःख रहित नहीं सिद्ध होता है। क्योंकि; वह आगम शुभअदृष्ट ( पुण्य ) तथा अशुभअदृष्ट ( पाप ); इन दोनोंके उदयसे उत्पन्न हुआ और परस्परानुपक्त (आपसमें एकके पीछे दूसरा लगा हुआ) ऐसा जो संसारसंबंधी सुख तथा दुःख है; उसकी अपेक्षाकरके व्यवस्थित है। और मुक्त अवस्थामें तो समस्त–पुण्य पापके नाशसे उत्पन्न हुआ ऐसा केवल एकान्तिक ( सर्वथा ) तथा आत्यंतिक (फिर नाशको प्राप्त न होनेवाला) सुख ही है। अतः वह आगम उस सुखका निषेध कैसे कर सकता है। तथा आगमका अर्थ यह है कि; सशरीर अर्थात् नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव नामक चार गतियोंमेंसे किसी भी एक गतिमें रहनेवाले आत्माके प्रिय अप्रियका अर्थात् परस्परानुपक्त जो सुख तथा दुःख हैं; उन दोनोंका अपहति ( अभाव ) नास्ति ( नहीं है ) इस कारण उन चारों गतियोंमेंसे किसी भी गतिमें रहनेवाले जीवके नियमसे सुख और दुःख ये दोनों होने चाहिये। [ ' प्रियाप्रिय ' यहां पर जो द्वंद्वसमास किया गया है; उससे सुख तथा दुःखके परस्परानुपक्तताका ग्रहण होता है ] और 'क्वन्ते' मुक्तिके स्थानमें विराजमान 'अशरीरं' मुक्त आत्माको 'वा' ही 'प्रियाप्रिये' परस्परानुपक्त सुख तथा दुःख, ये दोनों ' न स्पृशतः ' नहीं स्पर्श करते हैं ( यहां था शब्द एवकारके अर्थमें है। )

**इदमत्र हृदयम्। यथा किल संसारिणः सुखदुःखे परस्परानुपक्ते स्यातां न तथा मुक्तात्मनः। किंतु केवलं सुखमेव। दुःखमूलस्य शरीरस्यैवाऽभावात्। सुखं त्वात्मस्वरूपत्वादवस्थितमेव। स्वस्वरूपावस्थानं हि मोक्षः। अत एवाऽशरीरमित्युक्तम्। आगमार्थश्चायमित्थमेव समर्थनीयः। यत एतदर्थानुपातिन्येव स्मृतिरपि दृश्यते। " सुखमात्यन्तिकं यत्र बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। तं वै मोक्षं विजानीयाद्–दुष्प्रापमकृतात्मभिः। १ ) " न चायं सुखशब्दो दुःखाऽभावमात्रे वर्तते। मुख्यसुखवाच्यतायां बाधकाऽभावात्। अयं रोगाद्विप्रमुक्तः सुखी जात इत्यादिवाक्येषु च सुखीतिप्रयोगस्य पौनरुक्त्यप्रसङ्गाच्च दुःखाभावमात्रस्य रोगाद्विप्रमुक्त इतीयतैवगतत्वात्।**

भावार्थ यहां पर यह है कि; जैसे–संसारी जीवके परस्परानुपक्त सुखदुःख होते हैं अर्थात् जैसे संसारमें जीवके सुखके पीछे दुःख और दुःखके पीछे सुख होता है; वैसे परस्परानुपक्त सुख, दुःख मुक्त आत्माके नहीं होते हैं; किन्तु मुक्त जीवके केवल सुख ही होता है। क्योंकि; दुःखका मूल ( असाधारण कारण ) जो शरीर है; उस शरीरका ही उस मुक्त जीवके अभाव है।

और, एक ही [illegible] दोनोंको कुछ [illegible] ही है । क्योंकि, उनके मनमें जो [illegible] होता है, वही [illegible]
[illegible]—[illegible] है । और मनमें [illegible] ही [illegible] है, [illegible] । [illegible]
[illegible] कहा है । और इस [illegible] चाहिये
अर्थात् [illegible] किया है, [illegible] चाहिये । क्योंकि [illegible]
[illegible] नहीं है । यह कहा है कि, ' [illegible] गुण है;
[illegible] ( [illegible] ) [illegible] चाहिये । १ । " और [illegible]
[illegible] ही नहीं है । [illegible] है, सो नहीं है ।
क्योंकि [illegible] नहीं है; [illegible]
[illegible] ' यह [illegible] ' इसलिये [illegible] है । भावार्थ—यदि [illegible]
[illegible] ' यह [illegible] ' [illegible]
' यह [illegible] ' [illegible] होगा और [illegible] नहीं है ।

न च [illegible] । [illegible]
[illegible] । [illegible] । [illegible]
[illegible] । " [illegible] । १ । "
[illegible] च [illegible] ।
यदि तु [illegible] । [illegible]
[illegible] । [illegible]
[illegible] एव ।

और इसके [illegible] ( [illegible] ) [illegible] हैं; क्योंकि, [illegible]
[illegible], भावार्थ—जैसे [illegible] ( [illegible] )

सुखके अनुभवसे रहित है; उसी प्रकार तुम्हारे मोक्षमें भी जीव सुखके ज्ञानसे रहित हो जाता है। अतः हितका चाहनेवाला कोई भी पुरुष अपने आत्माको सुख रहित बनाना नहीं चाहता है। क्योंकि;—सुख और दुःख इन दोनोंमेंसे एकका अभाव होनेपर दूसरेका अवश्य सद्भाव रहता है; अतः यह तुम्हारा मोक्ष दुःखके अनुभव रूप है। भावार्थ—जहां सुख नहीं रहता है; वहां दुःख और जहां दुःख नहीं रहता है; वहां सुख नियमसे रहता है और तुम्हारे मोक्षमें सुखका अनुभव होता नहीं है; अतः वह तुम्हारा मोक्ष दुःखके अनुभव रूप ( दुःखरूप ) है। और इसी कारण तुम्हारा उपहास भी सुना जाता है। वह यह है—"न्यायदर्शनके कर्त्ता गोतममुनि मनोहर वृंदावनमें शृंगाल ( गीदड़ ) होनेकी इच्छाके करनेको तो अच्छा समझते हैं। परंतु वैशेषिकोंकी मुक्तिमें जानेकी इच्छा नहीं करते हैं। भावार्थ—गोतम रूपी वैशेषिकोंके ज्ञान-सुख रहित मोक्षमें जानेसे वृंदावनमें शृगाल हो जाना अच्छा समझते हैं। और उपाधिसहित, मर्यादाके धारक ( इस देवको यहां इतने समय ही सुख मिलेगा इससे अधिक नहीं ऐसी हदवाले ) तथा परिमित ( इसको यहां इस इस प्रकारका इतना ही सुख मिलेगा, इससे अधिक नहीं, इस प्रकारके परिमाण अर्थात् अंदाज वाले ) आनंदको देनेवाला जो स्वर्ग है; उससे भी अधिक उपाधिरहित, मर्यादारहित और अपरिमाण सुखको धारण करनेवाला तथा नहीं मलीन हुआ है; ज्ञान जिसमें ऐसा अर्थात् परिपूर्ण निर्मल ज्ञानसहित ऐसा मोक्ष कहते हैं। और यदि आत्मा पाषाणके समान जड़रूप ही उस मोक्षअवस्थामें होवे तो ऐसे मोक्षसे घूर्णता हो अर्थात् उस मोक्षसे पूरा पड़ो। संसार ही अच्छा रहो कि; जिसमें दुःखसे कलुषित ऐसा भी कुछ २ सुख बीच २ में भोगा जाता है। भावार्थ—सुखके अभावरूप मोक्षसे संसार ही अच्छा है; जिसमें कभी कभी थोड़ा २ सुख भोगनेमें आता है। सुज्ञ ( वैशेषिक ) ही विचार करो कि; क्या अल्प सुखका अनुभव करना अच्छा है ? वा सब सुखका नाश हो जाना ही अच्छा है ?।

अथास्ति तथाभूते मोक्षे लाभातिरेकः प्रेक्षादक्षाणाम् । ते होवं विवेचयन्ति । संसारे तावद्दुःखासृष्टं सुखं न सम्भवति । दुःखं चावश्यहेयम् । विवेकेहानं चान्योरेकभाजनपतितविषमधुनोरिव दुःशकमत एव ते अपि त्यज्येते । अतश्च संसारान्मोक्षः श्रेयान् । यतोऽत्र दुःखं सर्वथा न स्याद् । वरमियती कादाचित्कसुखमात्रापि त्यक्ता न तु तस्याः कृते दुःखभार इयान् व्यूढ इति ।

१ विवेकेन पृथक्करणेन दुःखस्य त्यागः ।

मूलम्—मुष्टिं शत्रवे मुष्टिप्रहारेण । मोक्षे हेतोरभावेऽपि विनाशे चक्षुः । मुष्टिप्रहारे संज्ञायामेकं भवति विशेषे सति । भाषार्थः—यह वैद्यकशास्त्र कहता है कि, यद्यपि जो गुरु होता है, वह दुःखसे व्याप्त नहीं होता है अर्थात् उसमें दुःखकी अधिकता होती है और थोड़ी भी दुःख होता है। यदि दुःख अत्यन्त होनेसे कोई [ मनुष्य ] मरा चाहे [ अर्थात् एक- होनेसे विशेष निश्चयकर मरना चाहे ] तब वैसा कार्य्य अति कठिन है, तो भी अत्यन्त दुःखित पुरुषोंको दुःखसे छुटकारे करके दुःख त्याग कर देना भी चतुर हो सकता है। इस कारण औषध सेवी पुरुष तथा दुःख के होनेसे दुःखी होते हैं। अतः संसारसे संबन्ध ही त्याग है तो जिसके दुःखका दुःख होगा ही नहीं है। क्योंकि, यह दुःखी जनों होनेके सुखका भक्त भी करे लेकर लिया जाने तो अच्छा है. यदि वह बोलने गुरुके सर्व दुःखों के दूर्वादि पदार्थ [ योगना ] अच्छा नहीं है।

अनेकलक्षणम्। मात्रादिपिण्डसंस्कार मधुस्निग्धगलाकरालक्ष्मणाहरणमवबद्धुमकरणावेव गुरुकेन गुरुलक्षणो नष्टि-दोषः। स्निग्धगलाग्निकलक्षणनिर्देशेऽस्निग्धलक्षणावेव। इतरथा विषमधिदग्धिनि दुःखपक्षुक्षयविरोधः। मधुनि गोक्षे पित्तिते गाढि अधो गोक्षो दुःखरूप एवागमन इत्यर्थः। ये अन्ये त्रिमधुनी एकल मस्तुके सान्त्वेन ते अपि सुखविनोद-दीक्षयोप। विष गुरु अधिकं लोहितपक्षायां सुखमिष्टे, मुक्ते पक्षिण्यु। तथा मोक्षावस्थायां गुणनिर्मुक्तिविना, सुखनिमुक्तिस्त्यक्तिर्हेण। स्तो यदि लक्षयिमतो पोक्षा कारणता न मोक्षमतो सङ्गिः। भाषाः गोपस्य। तत। निद्रो मोक्षा सुखपक्षोदमाक्षमाया ३ पेक्षाक्षसङ्क्षेरस्यपाल्लवगाने।

रूपाभाव—यह विशेषलक्षण कहना सत्य है। क्योंकि पानाशयके जो मुख है, वह मुखसे निकले हुए नख लोम पक्ष-वाली देखे जो अकवनकी बोर ( बाली ) है, उसके भक्षणसे (पीनेसे) के पश्चात् जैसे पक्षसे निकली हुई अव्यक्तकी देखने वाले ही मुख पक्ष और अपने लक्षण दुःख होता है; चक्षुःस्थान पुंपसाक्ष मुख भी पक्षिके मुख मुखका और नखके सदृश्य ही है. इस कारण जिसके इन्द्रिय दोनों को तथा पानको लोगोंकी इच्छा करते हैं, वह मुख ( दंत ) ही है। परन्तु जो दांत इन्द्रियके अभावसे मुखके सदृश्यके उपयुक्त है, उन्हींको दन्तोंके प्रकार जान लेना चाहिये। अर्थात् जो दांत नाड़ीके मुख होते हैं वे ही दांत पित्तविशेषों के कफादिकोंके लक्षणोंके इन्द्रिय कहे गये हैं और जो दांत-

में आत्यंतिक सुख न होवे तो संसारसंबंधी सुखको त्याग देना ठीक नहीं है। और विषयोंकी रहितताके आनंद होनेका ज्ञान यहां भी अनुभव सिद्ध है अर्थात् इस संसारमें भी जो जो भोगोंका आलम्बन करके विषयोंका त्याग करते हैं उनको एक प्रकारका विलक्षण सुख अनुभव गोचर होता है; इस कारण यदि मोक्षमें लौकिक सुखसे विशेष (अधिक) सुख नहीं है तो; वह तुम्हारा मोक्ष दुःखरूप ही हो जावेगा। तथा जो एक मार्गमें मिले हुए कंकर और सुवर्णका त्याग किया जाता है वह भी विशेष सुखकी इच्छासे ही किया जाता है अर्थात् उस मिले हुए विषसहित सुवर्ण कंकरोंकी अपेक्षा सुवर्णमें उस अधिक है; इसीकारण उन दोनोंका त्याग किया जाता है। यदि उनके त्यागमें विशेष सुख न हो तो त्याग कदापि न करें। और भी विशेष यह है कि; जैसे जीवोंके संसारअवस्थामें सुख तो इष्ट है और दुःख अनिष्ट है; उसी प्रकार जीवोंके मोक्षअवस्थामें भी दुःखकी रहितता इष्ट है और सुखकी रहितता अनिष्ट ही है; अर्थात् जीव मोक्षमें भी दुःखसे छूटनेकी तथा सुखको भोगनेकी ही इच्छा करते हैं। इसकारण यदि तुम वैशेषिकोंका माना हुआ ज्ञान—सुख रहित ही मोक्ष होवे तो उस ज्ञान सुख रहित मोक्षमें प्रेक्षावानोंकी प्रवृत्ति न होवे अर्थात् विचारवान पुरुष उस मोक्षकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न न करें। परंतु विचारवानोंकी मोक्षके अर्थ प्रवृत्ति होती है अतः मोक्ष 'ज्ञान तथा सुखरूप स्वभावका धारक है' यह सिद्ध हो गया। क्योंकि यदि ज्ञान—सुखरूप मोक्ष न होवे तो अन्यप्रकारसे मोक्षमें विचारवानोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है।

अथ यदि सुखसंवेदनैकस्वभावो मोक्षः स्यात्तदा तद्रागेण प्रवर्त्तमानो मुमुक्षुर्न मोक्षमधिगच्छेत्। नहि रागिणां मोक्षोऽस्ति। रागस्य बन्धनात्मकत्वात्। नैवम्। सांसारिकसुख एव रागो बन्धनात्मको विषयादिप्रवृत्तिहेतुत्वात्। मोक्षसुखे तु रागस्तन्निवृत्तिहेतुत्वान्न बन्धनात्मकः। परां कोटिमारूढस्य च शुद्धमात्मरूपोऽयमनुभवो निरतीचारो। "मोक्षे भवे च सर्वत्र निःस्पृहो मुनिसत्तमः" इति वचनात्। अन्यथा भवतोऽपि सुखनिवृत्त्यात्मकमोक्षाङ्गीकारो दुःखविषयं कषायकालुष्यं केन निषिध्येत। इति सिद्धं सुखकर्मशरीराद्यात्मगुणोच्छेदरूपो मोक्षो न पुनर्वैशेषिकगुणोच्छेदरूप इति।

अर्थात् ज्ञानावरणीय कर्मके एकदेशक्षय और उपशमसे उत्पन्न होते हैं; इसकारण जब आत्माके केवलज्ञानकी प्रकटता होती है उसी समय नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि 'क्षायोपशमिक ज्ञानोंके नष्ट होनेपर' ऐसा वचन है। और सब द्रव्य तथा पर्यायोंमें प्राप्त अर्थात् समस्त द्रव्य और पर्यायोंको विषय करनेवाला (जाननेवाला) जो केवल ज्ञान है; वह तो ज्ञानावरणीयकर्मके सर्वथा क्षय (नाश) होनेसे उत्पन्न होता है; इसकारण आत्माका निर्मलस्वरूप होनेसे मोक्ष अवस्थामें है ही है। और विषयोंसे उत्पन्न होनेवाला सुख तो उस मोक्ष अवस्थामें नहीं है। क्योंकि; उस विषयोंसे उत्पन्न होनेवाले सुखका कारण जो वेदनीय नामा कर्म है; उसका मोक्ष अवस्थामें अभाव है। और जो निरतिशय, अविनाशी तथा स्वतंत्र (किसी दूसरेकी अपेक्षा न करनेवाला) और जिसका कभी अंत (पार) न आवे ऐसा सुख तो उस मोक्षअवस्थामें पूर्णरूपसे विद्यमान है। दुःखका कारण अधर्म (पाप) है; उस अधर्मका मोक्ष अवस्थामें अभाव हो गया है; इसकारण दुःखका भी मोक्ष अवस्थामें नाश है।

**नन्वेवं सुखस्यापि धर्ममूलत्वाद्धर्मस्य चोच्छेदात्तदपि न युज्यते। "पुण्यपापक्षयो मोक्षः" इत्यागमवचनात्। नैवम्। वैषयिकसुखस्यैव धर्ममूलत्वाद्भवतु तदुच्छेदो न पुनरनपेक्षस्यापि सुखस्योच्छेदः। इच्छाद्वेषयोः पुनर्मोहभेदत्वात्तस्य च समूलकाषं कषितत्वादभावः। प्रयत्नश्च क्रियाव्यापारगोचरो नास्त्येव। कृतकृत्यत्वात्। वीर्यान्तरायक्षयोपशमतस्त्वस्त्येव प्रयत्नो दानादिलब्धिवत्। न च क्वचिदुपयुज्यते कृतार्थत्वात्। धर्माधर्मयोस्तु पुण्यपापापरपर्याययोरुच्छेदोऽस्त्येव। तदभावे मोक्षस्यैवायोगात्। संस्कारश्च मतिज्ञानविशेष एव। तस्य च मोहक्षयानन्तरमेव क्षीणत्वादभाव इति। तदेवं न संविदानन्दमयी च मुक्तिरिति युक्तिरिक्तेयमुक्तिः। इति काव्यार्थः॥ ८॥**

शंका—जैसे अधर्ममूलक दुःखका अधर्मके नष्ट होनेसे नाश हो जाता है; उसीप्रकार सुखका भी मूल धर्म है और मुक्तात्माके धर्मका उच्छेद होगया है. अतः मुक्तात्माके सुख भी नहीं रहता है। क्योंकि; 'पुण्य तथा पापका जो नाश है; वही मोक्ष है' ऐसा आगमका वचन है। समाधान—यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि विषयजनित सुख ही धर्ममूलक है; इसकारण धर्मका नाश होनेसे मुक्तात्माके उस विषयजनितसुखका ही नाश होता है और उस धर्मकी अपेक्षा न करनेवाला जो स्वाभाविक सुख है; उसका मुक्तात्माके नाश नहीं होता है। तथा इच्छा और द्वेष वे दोनों मोहके भेद हैं; उस मोहको मुक्तजीवने मूलसहित उखाड़ (नष्ट कर) डाला है; अतः मोक्षअवस्थामें जीवके इच्छा तथा द्वेषका अभाव है। और क्रियाके व्यापारके गोचर जो प्रयत्न है;

वह तो दुःखित है ही नहीं। क्योंकि; प्रकरण-विरुद्ध है सर्वत्र पुरुषोंको दोष कर्म फलका नहीं कहा है; सो दुःख जनक का, उसको यह पद कुछ है। और कौरवोंमात्रोंके अपने कारण द्वारा जो उपक्रम है, वह तो [illegible] है ही है। यहां कारि, कारिके उपमा। भावार्थ—जैसे—पुरुषोंके शरीरस्वरूपोंके सुखसे शरीरोंमें, भोगस्थानोंके उपमे भोगादिमें सर्वत्र दुःख है जानी कर पुरुषोंके लक्षणों [illegible] और पुरुषोंके है ही। परन्तु पुरुषका तात्पर्य है, इस समय यह प्रकरण उसको यहां उपयोग [illegible] दोष नहीं कहा है। [illegible] पुरुष भोग यह है इसी प्रकार जिसके होने जो पर्व ही अपर्व है। [illegible] नष्ट हो पुरुषोंके है ही है। परन्तु उस पर्व अपर्वके नष्टके बिना मोक्षके लिये ही नहीं होती है। और जो कहता है, यह चतुर्थाक्षर ही वेद है और उस वेदोंके स्वामीके उस बोधका नाम हुआ वही तत्त्व नाम हो पुरुष है, अन्य पुरुषोंके संस्कार भी नहीं है। तो [illegible] पुरुषोंके "तीन प्रकार शब्द. पुरुषार्थ नहीं है" ऐसा जो कुमार्ग कथन है वह पुरुषों सहित है अर्थात् इस पुरुषोंके भोगोंको मानने और भी पुरुषों [illegible] वेदोंमें कहीं पर नहीं है। इसकर यथार्थ अर्थ है ॥ ८ ॥

अब यो न्यादिन। कथमयमागायमाहमना लक्ष्यं संपेषणबाणमप्यपलक्ष्य नाटसकुमाशाखाशाखंकलिताकृष्टधनुश्च विश्रुत्य गान्यन्तेऽक्षतलोपाकृष्णमात्। ।—

जिस पर्वतपुत्रके पुरुषार्थके पक्षके लक्ष्य अर्जुन यह होनेसे है ऐसे जिसके ऐसे ने वैशिष्ट्य पक्षमें नहीं [illegible] पुरुषों पर [illegible] पुरुषोंके [illegible] पुरुषोंके [illegible] पुरुषोंके [illegible] है; [illegible] पुरुषोंके [illegible] पुरुषोंके [illegible] पुरुषोंके [illegible] है।

यद्यप्येष यो दृष्टगुणः स तत्र कुन्त्यादिबलिष्ठप्रतिपक्षमेतत्।
तथापि देहाद्बहिरात्मसख्यमसख्यवादोपहताः पठन्ति ॥ ९ ॥

काव्यभाषार्थ—जैसे परंतु रूप अर्जुन दृग नहीं हैं, वहां ही यह गट भी सहज है, जानो

प्रकार जिस पदार्थके गुण जिस स्थलमें देखे जाते हैं; वह पदार्थ उसी स्थलमें मिलता है। यह कथन बाधकरहित है। तथापि कुतत्त्ववादसे व्यामोहको प्राप्त हुए वैशेषिक आत्मानामक पदार्थको देहके बाहर भी रहनेवाला कहते हैं ॥ ९ ॥

यत्रैव देशे यः पदार्थो दृष्टगुणो दृष्टाः प्रत्यक्षादिप्रमाणतोऽनुभूता गुणा धर्म्मा यस्य स तथा स पदार्थस्तत्रैव विवक्षितदेश एवोपपद्यते ( इति क्रियाध्याहारो गम्यः ) ( पूर्वस्यैवकारस्यावधारणार्थस्यात्राप्यभिसम्बन्धात् सत्रैव नान्यत्रेत्यन्ययोगव्यवच्छेदः । ) अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन द्रढयति । कुम्भादिवदिति घटादिवत् । यथा कुम्भादेर्यत्रैव देशे रूपादयो गुणा उपलभ्यन्ते तत्रैव तस्यास्तित्वं प्रतीयते नान्यत्र । एवमात्मनोऽपि गुणाश्चैतन्यादयो देह एव दृश्यन्ते न बहिः । तस्मात्तत्प्रमाण एवायमिति । यद्यपि पुष्पादीनामवस्थानदेशादन्यत्रापि गन्धादिगुण उपलभ्यते तथापि तेन न व्यभिचारः । तदाश्रया हि गन्धादिपुद्गलास्तेषां च वैश्रसिक्या प्रायोगिक्या वा गत्या गतिमत्त्वेन तदुपलम्भकघ्राणादिदेशं यावदागमनोपपत्तेरिति । अत एवाह निष्प्रतिपक्षमेतदिति । एतन्निष्प्रतिपक्षं बाधकरहितम् । न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति न्यायात् ।

व्याख्यार्थः—" यत्रैव " जिसी देशमें अर्थात् स्थानमें ' यः ' जो पदार्थ ' दृष्टगुणः ' देखे हैं अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अनुभवगोचर किये हैं गुण अर्थात् धर्म जिसके ऐसा है " सः " वह पदार्थ 'तत्रैव' उसी स्थानमें " उपपद्यते " प्राप्त होता है। भावार्थ—जहां जिसपदार्थके गुण देखनेमें आते हैं; वहां ही वह पदार्थ रहता है। [ यहां पर ' उपपद्यते ' इस क्रियाका अध्याहार किया गया है अर्थात् उपपद्यते यह क्रिया ऊपरसे लाई गई है; ऐसा जानना चाहिये। और ' एवैव ' यहां पर जो निश्चयरूप अर्थको कहनेवाला एवकार है; उसको ' तत्र ' इसके आगे भी लगा देनेसे ' वह पदार्थ उसी स्थानमें है अन्य स्थानमें नहीं है; इस प्रकार अन्ययोगव्यवच्छेद होगया है ] अब इसी ऊपर कहे हुए अर्थको दृष्टान्तद्वारा दृढ करते हैं। " कुम्भादिवत् " घट आदिके समान। भावार्थ—जैसे घटआदि पदार्थके रूप आदि गुण जिस स्थानमें देखे जाते हैं; उसी स्थानमें उस घटादिपदार्थकी विद्यमानता प्रतीत की जाती है; और उस स्थानसे भिन्न स्थानमें उन घटादिकी विद्यमानता नहीं जानी जाती

है। इसी प्रकार आगामी से पुत्र आदि पुत्र है; ये अर्थात् दो भेद आते हैं, आदिके यहां नहीं लिये जाते हैं, क्योंकि अजा इत्यादिपद ही है अर्थात् जिनका गर्भ जन्म अप्राप्य होता है, उनका यहां ही यह प्रयोग है। यदि पुत्र आदिशब्दोंका ग्रहण किया जाय तो अजा इत्यादि शब्दोंसे भी सिद्धता है, तथापि अजा शिशुओंमें पुत्रोंके पितरोंको कहीं पर व्यभिचार नहीं देखा है। क्योंकि, अज पुत्रादिमें उत्पन्नवाले गर्भवाले पुत्रोंके पुत्रक गर्भवाले अजा पुत्रों के पितरोंके कुत्रक पुत्रों में सिद्धे गर्भवाले भाव है अर्थात् वे गर्भादि पुत्रक गर्भवाले अजादि गर्भ वाले पितरोंके संबंधि ( पक्ष ) के भवन पाते हैं। इस प्रकार पुत्र आदिमें किन्तु गर्भादिपुत्रोंमें भवितृत्वादि भावि अर्थों का अभाव सिद्ध है। इसी भाष्य अर्थात्पदसे पढ़ते हैं कि—" एवञ्च " जिसके पुत्र गर्भ सिद्धों है, वह यहां दो पढ़ता है, यह तो इसका फलन है, शब्द " निष्पतिपुत्र " मात्र ग्रहण है। क्योंकि, ' अजादि देने पुत्रमें अतीतवर्तमानों संभावना नहीं है ' ऐसा न्याय है। सारार्थ—इसका अजा गर्भ पुत्रपितृत्वादि सिद्ध है, अर अजा भी भविष्यत् पुत्रपितृत्व नहीं है।

अनु। न्यायानां भिन्नदेशत्वात्समाप्तार्थत्वोपपत्तेरनर्थको गुणो योजनमारभेत अन्यत्रापि हि समान इत्यत्रापि गौरवं। यदा चोभौ। ८ ८ तौ न स्यातां गुणाधानानां गुणः किन्तु स्यादिकल्पद्वये।गौरवात्। गुणो गौरवमेवोपपादयति यत्रैकस्मिन्नेकपाने पंचगव्यकुशोदकपात्रत्वम। ४ न स्यातु गुणा गुणिनमाक्षिपन्ति पर्याप्त इति। अनेकशक्तिकं द्रव्यमेकं गुणे। तथापीत्यादि। अपाक्षेत्रे नित्यसमवेतं अवयविनमेवापि गत्वे महाव्यक्तिदोषप्रसंगात् ( अनाधारं हि द्रव्यमेव तन्तुः कुलालपिंडात् ) कुक्षिगतपयोवत्त्वेन अवयिनस्तन्तुगतत्वेनैवेन तन्त्वाधारत्वकल्पनेऽपेक्षाबुद्धिना दोषाभावात्तन्तुनिष्ठत्वेऽपि दोषे सामान्यन्यायमात्मसात् कुर्वन्ति। अवयवकल्पनया प्रत्यवस्थे ५ इत्यादयोर्थः।

भाष्य।—निर्देशेषु त्रिधारण वंश अष्टिनः गो १०० दीक्षन ( भगाति ५०० दोग। ) अग्निहो पे पुत्र पर्वत्र जायेत, उत्पादन अग्निहो पुत्र दोष गया है, यहां अजके पुत्रका ग्रहण है। अर्थात्—एक ब्राह्मण जिस लिंगवाले गर्भस्थ पुत्र; उस लिंगवाले गो बीजसे गो अर्थात् पुत्रा एतदेवके पुत्रक गर्भादि तथा उत्पादन पढ़ता है: इस प्रकार लिंगके नियमसे पंच अजादि लिंगवाले पक्ष पुत्र हैं; यह अजके पुत्र पुत्रादि होते हैं। पुत्रपात्र—पुत्रेण सह यो। क्योंकि यह पुत्रा उत्पन्न अग्निहो नहीं है, किन्तु उस पुत्र आदिके अग्निहोत्र ( गार्हपत्य ) जो होता है, वह पुत्र है; और वे दोनों अग्निहोत्र वाले

योग्य तथा उचाटन करनेयोग्य स्थानोंमें स्वयं चले जाते हैं; इस कारण यह तुम्हारा उपालंभ कहांसे हो सकता है। भावार्थ—आकर्षण आदि गुण देवोंका है, अतः मंत्रके सिद्ध करनेसे उस मंत्रका स्वामी देव प्रसन्न होकर जिस स्थानमें स्थित पुरुषका आकर्षण करना है; उसी स्थानमें चला जाता है; इस कारण मंत्र आदिके गुणोंको भिन्न देशमें मिलते हुए बताकर जो तुम हमारे कथनमें दोष देते हो; वह दोष हमारे कथनमें नहीं होता है। इससे सिद्ध हुआ कि,—जो गुण है; वे गुणी ( पदार्थ ) को छोड़कर कदाचित् भी नहीं रहते है। अब काव्यके तथापीत्यादि उत्तरार्धकी व्याख्या करते हैं। " **तथापि** " इस उक्त प्रकारसे बाधकरहित जैसे हो वैसे तत्त्वको स्थित होनेपर भी अर्थात् हमारा सिद्धान्त विना बाधकके सिद्ध होगया है तो भी " **अतत्त्ववादोपहताः** " निन्दित तत्त्ववादसे अर्थात् उनके अभीष्ट आत्माभासरूप किसी पुरुषके द्वारा रचे हुए तत्त्वागमोंके प्ररूपणसे व्यामोहको प्राप्त हुए वैशेषिक [जैसे 'अनाचार' यहांपर कुत्सित अर्थमें नञ् समास होता है; उसी प्रकार अतत्त्ववाद यहांपर भी कुत्सित अर्थमें नञ् समास किया गया है।] " **देहाद्बहिः** " शरीरसे भिन्न स्थानमें भी " **आत्मतत्त्वं** " आत्मापना " **पठन्ति** " पढते हैं अर्थात् शास्त्ररूपतासे कहते हैं। **भावार्थ**—हे भगवन्! हमारा कथन निर्बाध है तो भी वैशेषिक मतवाले किसी अपने अभीष्ट आत्माभाससे रचा हुआ जो अतत्त्ववाद है; उससे भ्रमको प्राप्त होकर आत्मा शरीरसे बाहर भी रहता है; ऐसा शास्त्रकी आज्ञारूप उपदेश देते हैं। इस प्रकार मूलके अक्षरोंका अर्थ है।

**भावार्थस्त्वयम्। आत्मा सर्वगतो न भवति। सर्वत्र तद्गुणानुपलब्धेः। यो यः सर्वत्रानुपलभ्यमानगुणः स स सर्वगतो न भवति। यथा घटः। तथा चायं तस्मात्तथा। व्यतिरेके व्योमादि। न चायमसिद्धो हेतुः। कायव्यतिरिक्तदेशे तद्गुणानां बुद्ध्यादीनां वादिना प्रतिवादिना वाऽनभ्युपगमात्। तथा च भद्रः श्रीधरः " सर्वगतत्वेऽप्यात्मनो देहप्रदेशे ज्ञातृत्वम्। नान्यत्र। शरीरस्योपभोगायतनत्वात्। अन्यथा तस्य वैयर्थ्यादिति "।**

भावार्थ तो यह है कि; आत्मा सर्वव्यापी नहीं है। क्योंकि; सर्व स्थानोंमें आत्माके गुणोंकी प्राप्ति नहीं होती है। जिस जिस पदार्थके गुण सब स्थानोंमें नहीं मिलते हैं; वह वह पदार्थ सर्वव्यापी नहीं होता है। जैसे कि;—घटके गुण सर्वत्र न मिलनेसे घट सर्वव्यापी नहीं है। उस घटके समान ही यह आत्मा है; इस कारण आत्मा सर्वव्यापी नहीं है। व्यतिरेकदृष्टान्तमें आकाश आदि हैं अर्थात् आकाश आदिके गुण सब स्थानोंमें प्राप्त होते हैं; अतः आकाश आदि पदार्थ सर्वव्यापी भी है। और हमने जो

महात्मा [illegible] आत्माके गुणोंमें [illegible] न [illegible] देख लिया है; तो असिद्ध नहीं है। क्योंकि, वादी (वैशेषिक) [illegible] नहीं मानते
( [illegible] ) इन [illegible] भी [illegible] बुद्धि आदि गुणोंको शरीरसे भिन्न स्थानमें नहीं मानते हैं। [illegible] ही [illegible] कहा है कि-
[illegible] मानना [illegible] है, [illegible] ( [illegible] ) [illegible] शरीरके [illegible] ही है [illegible]
नहीं है। क्योंकि, [illegible] [illegible] है। [illegible] शरीर [illegible] न ही तो [illegible] सर्व [illegible]।
भावार्थ—आत्माको जो शरीर भिन्न [illegible] सर्वत्र [illegible] आत्मा [illegible] ही [illegible] है। इस
[illegible] किया है कि, आत्माके बुद्धि आदि गुण शरीरसे बाहर नहीं पाये हैं इस [illegible] दिया
है. वह असिद्ध नहीं है।

[illegible] न [illegible] [illegible] च। [illegible]
[illegible]। [illegible] न [illegible]।
[illegible]। [illegible]। [illegible] [illegible]। [illegible]-
[illegible]। [illegible]-
[illegible]। [illegible]। न
[illegible]। [illegible]। [illegible]। [illegible]।
[illegible] शरीर [illegible] गुणानामपि [illegible] भाव्यम्। इति [illegible] आत्मा।

शंका—आत्माके [illegible] है; [illegible] पाये [illegible] आदि [illegible] गुण हैं, वे
[illegible] है। [illegible] है [illegible] होते हैं, जब
[illegible] भी [illegible] है, [illegible] भी है। क्योंकि; यदि [illegible] न [illegible]
[illegible] ( [illegible] ) [illegible] आदि [illegible] है. [illegible]
[illegible] भी [illegible] है। भावार्थ—[illegible] लिये [illegible]
है, [illegible] है कि, [illegible]

है। और जो गुण होता है; वह गुणी ( अपने आधाररूप पदार्थ ) को छोड़कर नहीं रहता है; इसकारण अनुमान किया जाता है कि, आत्मा सर्वव्यापक है अर्थात् आत्माके अदृष्टगुणको सर्वत्र देखनेसे अनुमान होता है कि; अदृष्टका धारक आत्मा सर्वव्यापक है। **समाधान**—ऐसा मत कहो। क्योंकि; आत्माका अदृष्टगुण सर्वगत है; इस मतको सिद्ध करनेमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि कहो कि; अग्निका ऊंचा जलना अर्थात् अग्निकी शिखाका ऊंचा जाना और वायुका तिर्यक् ( तिरछा ) गमन करना अदृष्टका किया हुआ है; यह प्रमाण है ही है। **भावार्थ**—अग्नि सर्वत्र अदृष्टके बलसे ऊर्द्ध गमन करता है और वायु भी सर्वत्र अदृष्टके वशसे तिरछा गमन करता है; अतः यह प्रमाण अदृष्टको सर्वगत सिद्ध करता है, सो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि; जैसे अग्निमें दग्ध करने ( जलाने ) की शक्ति स्वभावसे है अर्थात् जैसे अग्निका दग्धकरना स्वभाव है; उसी प्रकार अग्निका ऊर्द्धगमनरूप तथा वायुका तिर्यक्गमनरूप भी स्वभाव है। यदि कहो कि; अग्निमें जो दहनशक्ति ( जलानेकी ताकत) है; वह भी अदृष्टकी कराई हुई है अर्थात् अदृष्टके बलसे ही अग्निमें दहनशक्ति उत्पन्न होती है तो तीनलोककी विचित्रताके रचनेमें भी वह अदृष्ट ही सूत्रधारकीसी तरह आचरण करै; ईश्वरकी कल्पनासे क्या है? **भावार्थ**—यदि तुम ( वैशेषिक ) पदार्थोंके स्वभावोंको भी अदृष्टसे उत्पन्न हुए मानते हो तो फिर 'तीन जगतकी विचित्रताको रचनेवाला ईश्वर है' यह तुम्हारी कल्पना व्यर्थ है। क्योंकि अदृष्टसे ही तीनलोककी विचित्रता हो जावेगी। इसकारण यह हेतु असिद्ध नहीं है। **भावार्थ**—'आत्मा सर्वगत नहीं है; क्योंकि सर्वत्रानुपलभ्यमानगुण ( सबस्थानोंमें नहीं मिलनेवाले गुणोंका धारक ) है।' इस अनुमानके प्रयोगमें जो सर्वत्रानुपलभ्यमानगुणरूप हेतु दिया है; वह असिद्ध नहीं है। क्योंकि आत्माके गुण सब जगह नहीं मिलते हैं। और वह सर्वत्रानुपलभ्यमानगुणरूप हेतु अनैकान्तिक भी नहीं है। क्योंकि; साध्यसाधनकी व्याप्तिका ग्रहण करनेसे व्यभिचार नहीं होता है। **भावार्थ**—असर्वगतरूप साध्य और सर्वत्रानुपलभ्यमानगुणस्वरूप साधन (हेतु); इन दोनोंके 'जो जो सर्वत्रानुपलभ्यमानगुणका धारक है; वह वह असर्वगत है इस प्रकारसे परस्पर व्याप्ति होती है। तथा विरुद्ध भी नहीं है; क्योंकि विपक्षसे अत्यंत व्यावृत्त है। **भावार्थ**—साध्य जो असर्वगत है; उसके अभावरूप सर्वगतपनेको धारण करने वाला जो कोई है, वह विपक्ष कहलाता है; उस विपक्षसे यह सर्वत्रानुपलभ्यमानगुणरूप हेतु अत्यंत व्यावृत्त ( सर्वथा भिन्न ) है; इस कारण यह हेतु विरुद्ध भी नहीं है। और आत्माके बुद्धि आदि गुण हैं; वे शरीरमें ही मिलते हैं; इस कारण गुणी ( आत्मा ) को भी शरीरमें ही रहना चाहिये। इस प्रकार आत्मा शरीरप्रमाण है; यह सिद्ध हो गया।

मीमांसक विद्वानोंने अनुत्पत्तिपक्षमें " नाकरणमानो व्यवहारात्। "[1] इस सूत्रसे खण्डन किया है। वे भी व्यापकताके अभिप्रायसे सर्वत्र सर्वदा सर्वज्ञके ज्ञानमें सर्वज्ञका ज्ञान कारण है, ऐसा नियम करते हैं। इसी प्रकार सुख-दुःखादिकी भी अन्यके ज्ञानमें अन्यके ज्ञानकी कारणता मानते हैं। अन्यथा ऐसे ज्ञानमें ज्ञेयके समान ज्ञानकी भी उत्पत्ति न होनेसे सर्वज्ञका ज्ञान ही नहीं बन सकता। इसलिये यहाँ ज्ञानके समान सुख-दुःखादिकी भी उत्पत्ति होती है, ऐसा समझना चाहिये। इस प्रकार सुख-दुःखादिकी उत्पत्तिमें भी ज्ञानकी कारणता सिद्ध होती है। अतः ज्ञानके समान सुख-दुःखादिकी भी उत्पत्ति होती है, ऐसा सिद्धान्त स्थिर हुआ।

जब सम्यग्ज्ञानी सर्वत्र सर्वदा सबके सब गुण समझते हैं, तब तो सभी सम्यग्ज्ञानी हैं। इस कथनसे दूसरे मतवादी आक्षेप करते हैं। जैसे कि अपने अपने मतके ( पुरस्कार ) हैं, तथा वैसे प्रतीतीकी पक्षपातके पक्ष पक्षपात ( एक सुखादि ) सिद्ध करते हैं; तथा सकल उन मतावलंबियोंके भी सच्चा विश्वासी गृहस्थोंके जो गुण कहे गये हैं, वे भी सहज सिद्ध होंगे। और जब इस प्रकार सकलमतोंके गुण-अवगुणकी समता होने ही जायेगी। तब एकके गुणकीर्तनसे दूसरा दुःखी होगा तथा दूसरेके अवगुण कहनेसे दूसरा दुःखी होगा अर्थात् जैनधर्मी सच्चाके जो गुणवर्णन हैं, उनके वर्णनसे अन्यमती दुःखी होंगे और वैसे ही अन्यमतके अवगुण कहनेसे जैनधर्मी दुःखी होंगे। इस प्रकार अनेकान्त अर्थात् अनुचित ( फुरसत ) हो जायेगा। और यही नहीं किन्तु एकको सच्चा बतानेसे सच्चापन सिद्ध होनेसे दूसरे सच्चेके अवगुण कहनेसे दूसरा दुःखी होगा और दूसरेके अवगुण कहनेसे पहिला दुःखी होगा. और इसप्रकार दोनोंमें एक सच्चेमें एक झूठेका गुण होनेसे दोनों झूठे होंगे। इसलिये अनुचित होगा; जो कि, इसको वर्जित है। अर्थात् कहा है; कहना सर्वत्र सर्वदा सर्वज्ञ (अहंत सिद्ध बुद्ध ) परमात्माओंको सच्चा कहके ही गुण-अवगुणके भोगवटा है अर्थात् जिस गुणीको बोलाने योग्य कहा है. तब लौकिक व्यवहार करके है सच्चा गुण-अवगुण कर्मके गुण-दोष सच्चे दोनोंको भोगवटा है तो व्यवहार भी सच्चा भोगवटा भी सच्चा दोषदायक अविरति कर्मबंधके लिये कहा है, यह विपाकसे भोग है पीछेसे—तब सच्चा सच्चे परमार्थ सच्चा कहा गुणवान् कहना है. ऐसा हुए

---

[1] अनुपलब्धेर्न सर्वज्ञः।

मानते हो तो फिर यह कैसे कहते हो कि; आत्माका अदृष्ट शरीरसे बाहर निकलकर अग्निको ऊंचा जलाता है और वायुका तिरछा गमन कराता है, अतः तुमको इस अपने पूर्वापरविरुद्ध कथनपर विचार करना चाहिये।

**आत्मनां च सर्वगतत्व एकैकस्य सृष्टिकर्तृत्वप्रसङ्गः। सर्वगतत्वेनेश्वरान्तरनुप्रवेशस्य सम्भावनीयत्वात्। ईश्वरस्य वा तदन्तरनुप्रवेशे तस्याप्यकर्तृत्वापत्तिः। न हि क्षीरनीरयोरन्योऽन्यसंबन्धे एकतरस्य पानादिक्रिया अन्यतरस्य न भवतीति युक्तं वक्तुम्। किञ्चात्मनः सर्वगतत्वे नरनारकादिपर्यायाणां युगपदनुभवानुषङ्गः। अथ भोगायतनाभ्युपगमान्नायं दोष इति चेन्ननु स भोगायतनं सर्वात्मना अवष्टभ्नीयादेकदेशेन वा। सर्वात्मना चेदस्मदभिमताङ्गीकारः। एकदेशेन चेत्सावयवत्वप्रसङ्गः परिपूर्णभोगाभावश्च।**

और आत्माओंके सर्वगत होनेमें एक एक ( हरएक ) आत्माके सृष्टिकर्तृताका प्रसंग होगा। क्योंकि; सर्वगतपनेसे आत्माओंका ईश्वरके भीतर भी प्रविष्ट हो जाना संभावित है। **भावार्थ**—सर्वगत आत्मा ईश्वरके भीतर भी प्रवेश कर सकते हैं; अतः ईश्वरका जो जगत्कर्तृत्व है; वह प्रत्येक आत्मामें आजानेसे हर एक आत्मा जगत्का करनेवाला हो जावेगा; जो कि, तुमको अनिष्ट है। अथवा यदि ऐसा कहो कि; आत्मा ईश्वरमें प्रवेश नहीं करते हैं; किन्तु ईश्वर उन सब आत्माओंके भीतर प्रवेश करता है तो उस ईश्वरके अकर्तृता प्राप्त होगी। क्योंकि दूध और जलके परस्पर संबंधमें किसी एककी पानादिक्रिया दूसरेकी नहीं होती है अर्थात् मिले हुए दूध तथा जलमेंसे कोई एक दूध अथवा जल पीने आदिमें आता है और दूसरा नहीं आता है; यह कहना ठीक नहीं है। **भावार्थ**—जैसे मिले हुए दूध और जलकी पानादिक्रिया एक ही होती है; उसीप्रकार व्यापकतासे परस्पर मिले हुए ईश्वर तथा आत्माओंकी क्रिया भी एक ही होगी अर्थात् ईश्वर जगत्को रचनेरूप क्रिया करेगा तो अन्य आत्मा भी जगत्को रचेंगे और जो अन्य आत्मा जगत्को रचनेरूप क्रिया न करेंगे तो ईश्वर भी जगत्को नहीं रचेगा। और भी विशेष यह है कि; यदि तुम आत्माको सर्वगत मानोगे तो मनुष्यपर्याय, नारकपर्याय आदि जो पर्याय हैं; उनको एक ही समयमें अनुभव करनेका प्रसंग होगा अर्थात् आत्मा सर्वव्यापक होनेसे मनुष्यपर्याय आदि समस्त पर्यायोंका एक ही समयमें अनुभव करेगा। जोकि, तुम्हारे अनिष्ट है। अब यदि ऐसा कहो कि; हमने आत्माके भोगायतन को स्वीकार किया है; अर्थात् आत्मा शरीरमें रह कर ही भोग करता है; यह माना है; तो हम प्रश्न करते हैं कि; वह आत्मा भोगायतनको सर्वरूपसे धारण करता है; अथवा एक देशसे अर्थात्

पाना चाहिए। दूसरेपक्षमें कहा है, कि जबतक एक परमाणु दूसरेको प्राप्त नहीं होता है, तबतक बन्ध नहीं होता है, अतः परमाणुका धर्म दूसरेको प्राप्त करना है। अर्थात् आना चाहिये दूसरेके विषयमें है और जो पहले कहा गया था कि, परमाणु दूसरेको प्राप्त करता है, इस कहने में विरोध ही नहीं है। यदि यही कहा जाय कि, आना दोनोंमें दूसरेके प्रति है, इस कहने में विरोध ही नहीं है। यदि यही कहा कि, आना अकेले किसी एक परमाणुमें भी पाया जाता है। तो उसके अवयवकल्पना करना होगा। उत्तर—जो अवयवी ( द्विप्रदेशी ) का लक्षण है, वह व्यापी होना है और परमाणुके इसी अवयवी माना नहीं है, इसलिए उसको अविरुद्ध नहीं होगी। और परिशेष नोकर्म अवयव ही होता है। भावार्थ—यदि अवयव एक परमाणु अवयवी परमाणुके व्याप्त करके रहे; तो फिर अवयवसे रहितके पहला ही एक्का है उसी परमाणु रूप, दूसरा नहीं कि: भेद होना। अतः परमाणुमें नहीं, इसलिए व्यापक परमाणु। योग न होनेसे आत्माके परिपूर्णपनेसे मोक्षका भी अभाव होता।

अथवालोचो व्यापकत्वप्रसङ्गे क्रियावत्त्वेऽवयवित्वमात्मनोऽनुमिमीमहे परमाणुवदेकदेशवृत्तेरभावात्तदभावात्तस्यापि सर्वगतत्वप्रसङ्गः, तन्निवृत्तिश्च सर्वेषां मोक्षः। स्यादेवम्। यदेकं द्रव्यं तदेकदेशवृत्ति यथा परमाणुरिति नियमाभावस्य। व्यापकत्वाच्च व्यापकस्यैकस्यापि पुद्गलस्य व्याप्यैकदेशवृत्तेः। अन्यथा व्यापकस्यैकस्यापि पुद्गलस्य व्याप्यैकदेशवृत्तेरभावात्तदभावात्तस्यापि सर्वगतत्वप्रसङ्गः तन्निवृत्तिश्च सर्वेषां मोक्षः स्यात्। अथ मतं यथा परमाणुः क्रियावान् सन् देशादेशान्तरं प्राप्नोति तथात्मापि क्रियावान् सन् देशादेशान्तरं प्राप्नोतीति चेत्, तत्पुद्गलवदात्मनोऽनित्यत्वं कर्म च प्राप्तं दोषो न वार्यते। आत्मनो व्यापकत्वेऽपि सकलपरमाणुभिर्न तेन संयोगात्। अथ सकलपरमाणुभिरसंयोगेऽपि कियतामपि परमाणूनां संयोगात्तत्प्राप्तेः सिद्धमवयवित्वमात्मनः तदभावे तस्याप्यभावात्।

यदि—जीव आत्मा व्यापक न होकर, जो दिगम्बर ( एक दिगम्बर मुनी मिश्रा ) ने आत्मा लोकाकाश के बराबर कहा ; वे यहाँपर जो परमाणु हैं। उनके पास आत्मप्रदेश नहीं हो परन्तु में संयोग न होनेसे आत्मप्रदेश अभाव होगा. जो आत्मप्रदेशका अभाव होनेसे अवयवीपना। अभाव होगा, जो अवयवीपनेके अभावसे उस परमाणुका जिसको एकदेश होनेसे परिणाम अभाव हो जायेगा। और दूसरेका अभाव होनेसे उस परिणाम के अभावसे साथ संबंध है, उसका अभाव होगा, इत्यादि जब जीवोंके कर्म जिस अवयवके लेकर कुल कर्मादि जितनी अवस्थाके लिये जिस जीव हो जायेंगे।

भावार्थ—वैशेषिकोंके मतमें पहले किसी कारणसे अर्थात् अदृष्टविशिष्ट आत्माके संयोगसे परमाणुमें क्रिया उत्पन्न होती है; उस क्रियासे परमाणुका पूर्व आकाशप्रदेशसे विभाग ( वियोग ) होता है अर्थात् परमाणु एक आकाशप्रदेशको छोड़कर गमन करता है; उस विभागके द्वारा परमाणुका उत्तर आकाशप्रदेशके साथ संयोग होता है अर्थात् परमाणु पूर्व आकाशप्रदेशसे गमन कर दूसरे आकाशप्रदेशमें ठहरता है, इस रीतिसे एक आकाशप्रदेशमें जब अन्य अन्य परमाणु इकट्ठे होते हैं; तब द्व्यणुक, त्र्यणुक आदिरूप कार्य होते हैं; ऐसा माना गया है। इस कारण यहां वैशेषिक शंका करते हैं कि— यदि आत्मा सर्वव्यापक न होगा तो उस आत्माका भिन्न स्थानमें स्थित परमाणुके साथ संयोग न होनेसे वह आत्मा परमाणुमें क्रिया उत्पन्न न कर सकेगा; जिससे आद्यकर्मका अभाव हो जावेगा। क्योंकि—क्रियाका न होना ही आद्यकर्मका अभाव है; उस आद्यकर्मके अभावसे अर्थात् परमाणुका क्रियासे पूर्व आकाशप्रदेशके साथ वियोग और उत्तर आकाशप्रदेशके साथ संयोग न होनेसे अन्त्य (आखिर) के संयोगका अर्थात् जिन द्व्यणुक त्र्यणुक आदि अवयवोंका संयोग होनेसे शरीररूप अवयवी पूर्ण होता है; उस अंत्यसंयोगका अभाव होगा और जब अन्त्यसंयोगका अभाव हो जावेगा तब उस अंत्यसंयोगसे होनेवाले शरीरका अभाव होगा। और शरीरका अभाव होनेके कारण शरीरका आत्माके साथ संबंध न रहेगा; जिससे आत्मा शरीर रहित हो जावेगा और शरीरकी रहितता ही मोक्ष है; इसकारण सब जीव सदा किसी विना उपाय किये ही मोक्षको प्राप्त हो जावेंगे। **समाधान**—ऐसा नहीं है। क्योंकि; जो जिससे संयुक्त होता है अर्थात् जिसका जिसके साथ संयोग होता है; वही उसके प्रति गमन करता है; यह नियम नहीं हो सकता है। कारण कि; लोह जो है; वह चुम्बकलोहसे असंयुक्त है तथापि उस लोहका चुम्बक आकर्षण कर लेता है; यह प्रत्यक्षमें देख पड़ता है। भावार्थ—जैसे चुम्बक अपने साथ संयोगको न धारण करनेवाले लोहेको अपनी ओर खींच लेता है; उसीप्रकार आत्मा भी अपने साथ संयोगको न धारण करनेवाले दिशान्तर तथा देशान्तरमें विद्यमान परमाणुओंका अपने प्रति आकर्षण कर लेगा; इस कारण जो तुमने आत्माको व्यापक न माननेपर विना उपायके सब आत्माओंका मोक्ष हो जानेरूप दोष दिया है; वह नहीं हो सकता है। अब कहो कि; यदि आत्मा अपने साथ संयोगको न धारण करनेवाले परमाणुओंका आकर्षण करेगा तो उस आत्माके शरीरको आरंभकरनेके प्रति सन्मुख हुए ऐसे तीनलोकके उदर ( बीच ) में रहने वाले परमाणुओंके उपसर्पण ( आजाने ) का प्रसंग होनेसे न जाने आत्मा कितने प्रमाणका धारक हो जावेगा;

तो गन्धक [illegible] भी यह रोग क्यों नहीं होता है। क्योंकि, [illegible] है, [illegible]
[illegible] पुद्गलोंके साथ [illegible] है। भावार्थ—जैसा कि कहते हैं कि, [illegible]
[illegible] नामक [illegible] रोग होता [illegible]
[illegible] भला, [illegible] हो जायेगा। क्योंकि, [illegible] है, [illegible]
[illegible] हैं, [illegible] पुद्गलोंके [illegible] है, [illegible] है, [illegible]
होता है। क्योंकि [illegible] पुद्गलोंके [illegible] है, [illegible]
[illegible] यही [illegible]
[illegible] नहीं है [illegible] है, [illegible]
[illegible] है, [illegible]
[illegible] सकता है; [illegible] है, [illegible]
[illegible] है, [illegible] नहीं [illegible] है। [illegible]
[illegible] है। भावार्थ—जैसे [illegible]
[illegible] है, [illegible]
[illegible] है, [illegible] हो, [illegible] है।

[illegible] मात्रया [illegible]। [illegible]
[illegible] । [illegible]
[illegible] । न [illegible] । [illegible]
[illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible]
[illegible] । [illegible] । [illegible]
[illegible] । [illegible] । [illegible]

स्यात्। तस्माद्व्यापक एवात्मा युज्यते कार्यप्रमाणतायामुक्तदोषसद्भावादिति चेत्- न। सावयवत्वकार्यत्वयोः
कथञ्चिदात्मन्यभ्युपगमात्। तत्र सावयवत्वं तावदसंख्येयप्रदेशात्मकत्वात्। तथा च द्रव्यालङ्कारकारः[1] "आकाशोऽपि सदेशः सकृत्सर्वमूर्त्ताभिसम्बन्धार्हत्वात्" इति। यद्यप्यवयवप्रदेशयोगेनधहस्त्यादिषु भेदोऽस्ति तथापि नात्र सूक्ष्मेक्षिका चिन्त्या। प्रदेशेष्वप्यवयवव्यवहारात्कार्यत्वं तु वक्ष्यामः।

अब वैशेषिक कहते हैं कि; चाहे जिस प्रकारसे शरीरकी उत्पत्ति होवे **भावार्थ**—चाहे आत्मासे असंयुक्त परमाणुओंद्वारा शरीर उत्पन्न होवे; चाहे आत्मासे संयुक्त परमाणुओं द्वारा शरीर उत्पन्न होवे; इसमें हमको कोई विवाद नहीं है; तथापि शरीर अवयवों सहित है। इस कारण शरीरके प्रत्येक अवयवमें प्रवेश करता हुआ आत्मा भी अवयवों सहित हो जावेगा। और यदि आत्मा अवयव सहित हो जावेगा तो पट आदिके समान आत्माके कार्यत्वका प्रसंग होगा **भावार्थ**—जैसे पट आदि पदार्थ सावयव होनेसे कार्यरूप हैं; उसी प्रकार आत्मा भी सावयव होनेसे कार्य हो जावेगा और आत्माका कार्यरूप हो जाना आप (जैनियों) को अनिष्ट है। क्योंकि; कार्य अनित्य होता है और आपने आत्माको नित्य माना है। और यदि आत्माको कार्यरूप मानो तो भी हम (वैशेषिक) प्रश्न करते हैं कि; यह आत्मा विजातीय कारणोंसे आरंभित होता है? वा सजातीय कारणोंसे? **भावार्थ**—जो कार्य होता है; उसका आरंभ (उत्पत्ति) कारणोंसे होता है; अतः हम प्रश्न करते हैं कि, यह आत्मारूप कार्य विजातीयकारणोंसे उत्पन्न किया जाता है; अथवा सजातीय कारणोंसे उत्पन्न किया जाता है। यदि कहो कि;—विजातीय (अपनी-जातिसे भिन्न जातिके धारक) कारणोंसे आरंभित होता है; सो नहीं। क्योंकि; तंतु घटका आरंभ नहीं करते हैं अर्थात् जैसे विजातीय तंतुओंसे घटरूपकार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। उसी प्रकार विजातीय कारणोंसे आत्मा भी उत्पन्न नहीं हो सकता है। यदि कहो कि, सजातीय कारणोंसे आत्मा उत्पन्न किया जाता है; तो यह भी नहीं कह सकते हो। क्योंकि पार्थिव आदि परमाणु विजातीय हैं; इस कारण आत्मत्वके संबंधसे ही उन कारणोंमें सजातीयता होवे अर्थात् जिन कारणोंमें आत्माका संबंध होवे वे ही कारण आत्माके सजातीय होवें। और उन सजातीय कारणोंसे यदि आत्मा उत्पन्न किया जावे तो आत्माओं द्वारा आत्मा उत्पन्न किया जाता है; यह सिद्धान्त आ खड़ा रहे। और आत्माओंद्वारा आत्मा उत्पन्न किया जाता है, यह मानना ठीक नहीं है।

॥ ६४ ॥

॥ ६४ ॥

१ हेमचन्द्रगुणचन्द्रौ। २ गन्धहस्तिनाम तत्त्वार्थसूत्रोपरि दिग्व्यराचार्यशीलसन्तभद्रस्वामिनिर्मितं चतुरशीतिसाहस्रश्लोकसंख्यात्मकं महाभाष्यम्। तदादिजैनशास्त्रेषु।

क्योंकि, ऐसे स्त्रीको अलगाव भाव करनेवाले पतिके लक्षण नहीं हैं यह कहते हैं कारण यह पुरुषके स्वभाव एक आसक्ति नहीं बन सकते हैं : अथवा यदि ऐसे आसक्ति उत्पन्न करनेवाले पतिके स्वभाव होनेपर भी परित्यागार (त्याग) की अनुमति नहीं दी गयी है। क्योंकि, अनिष्टकारी होनेपर भी अन्य अन्यायी जैसे दुष्ट पतिका त्याग करनेकी शास्त्रने नहीं दी है। तात्पर्य—यह पतिके चालचलन अच्छा एक आसक्ति उत्पन्न करने वाले भी होना है. ऐसे पतिका त्याग करने की शास्त्रने नहीं दी है, और ऐसा होना ही चाहिये। और यदि ऐसे असाधारण परिस्थितिका सांचे चरित्रवाले पतिसे उत्पन्न किये जाने बाद हो। तो अपने लाभ एक पत्नीको भी अनेकोंमेंसे किसीके साथ संयोग होना। तो जैसे लिंगस्थ हो जाना सार्थ—वैसे परस्त्रीकर्तृका अन्यपतिसंगसे विवाह होना है और विवाहके होनेसे पुनर्भूत्व (दूसरेसे संयोग) का नाश होता है. जिससे पतिके भी त्याग की आज्ञा है, इसी अर्थ। अन्यायी अत्याचारी पतिसे विवाह और विवाहसे पतिसंगका नाश होनेपर उसका भी अभाव। और यह : वैसिष्ठों : ने अन्यायी लिखा है, यह अन्यायी यह होना गलती हुए नहीं है। तात्पर्य यह (वैसिष्ठों :की बात) स्पष्ट ही है. केवल एकता ठीक है। क्योंकि एतीयविवाह (जिसमें जाने दोनों ही चलते हैं यह) भाग. गलतीसे उसे कहे एक अनेक बोध होते हैं। तो ठीक नहीं है कारण हुआ (वैसिष्ठों :) ने जो ' बालको व्यवहार न जानेसे ही अन्य अन्यायीका भाव हुए कार्यक्रम ही अनेकों अनिष्ट हो जानेका ' यह लेख लिखा है. वह तो अपने बोधत्व नहीं है। क्योंकि इस : वैसिष्ठों :) के लिखे अनेकों आचार्य अन्यायीविवाही सभी। अपनाया स्वीकार किया है। उसमें यहना मोक्षमूलर लिखते हैं, इस पतिसे ही अन्यायी अन्यायीविवाही है। तो ही ब्रह्मवैवर्तपुराणमें भी लिखे स्वयंवरे कहते हैं कि, " कलियुग में अनेकोंका पाणि है क्योंकि, एक ही पतिसे पतिव्रत एवं अनेकों अन्यायी स्वयंवरयोग्य है अर्थात् अन्यायी एक ही पतिसे ।।। पूर्णतार्थ विवेचना कहते हैं, यह सम्यक् लिखते हैं : " पतिसे—इस प्रकारसे जैसे इस भाग्यवाले लिंग चलना भी अनेकोंका पाणि मानते हैं, वही प्रकार अन्यायी भी लिंग पतिसे किसी अनेकोंसे अन्यायीविवाह मानते हैं। | फलतः अन्यायीकुलाए लिंगभागार्थ श्रीकृष्ण-महाभारतीयसिद्धि जो ८।७।८ श्लोकसिद्धान्त (अनेकविवाहके) पाणिग्रहण है: इसके अनेकों जो लिंगे ही दार्शनिकों स्वयंवर अन्य अनेक

अंगें भेद माना गया है, तथापि यहांपर इस सूक्ष्मताका विचार न करना चाहिये ] और प्रदेशोंमें भी अवयवका व्यवहार होनेसे प्रदेशोंके कार्यता है अर्थात् प्रदेशोंको अवयवरूप माननेसे प्रदेश कार्य हैं, इस विषयको तो आगे कहेंगे ।

**नन्वात्मनां कार्यत्वे घटादिवत्प्राक्प्रसिद्धसमानजातीयावयवारभ्यत्वप्रसक्तिः । अवयवा ह्यवयविनमारभन्ते यथा तन्तवः पटमिति चेत् न वाच्यम् । न खलु घटादावपि कार्ये प्राक्प्रसिद्धसमानजातीयकपालसंयोगारभ्यत्वं दृष्टम् । कुम्भकारादिव्यापारान्वितान्मृत्पिण्डात्प्रथममेव पृथुबुध्नोदराद्याकारस्यास्योत्पत्तिप्रतीतेः । द्रव्यस्य हि पूर्वाकारपरित्यागेनोत्तराकारपरिणामः कार्यत्वं तच्च बहिरिवान्तरप्यनुभूयत एव । ततश्चात्मापि स्यात्कार्यः । न च घटादौ स्वावयवसंयोगपूर्वककार्यत्वोपलम्भात् सर्वत्र तथाभावो युक्तः । काष्ठे लोहलेख्यत्वोपलम्भाद्वज्रेऽपि तथाभावप्रसङ्गात् । प्रमाणबाधनमुभयत्र तुल्यम् । न चोक्तलक्षणकार्यत्वाभ्युपगमेऽप्यात्मनोऽनित्यत्वानुषङ्गात्प्रतिसन्धानाऽभावोऽनुपपन्नः । कथञ्चिदनित्यत्वे सत्येवास्योपपद्यमानत्वात् । प्रतिसन्धानं हि यमहमद्राक्षं तमहं स्मरामीत्यादिरूपम् । तच्चैकान्तनित्यत्वे कथमुपपद्यते । अवस्थाभेदात् । अन्या ह्यनुभवावस्था अन्या च स्मरणावस्था । अवस्थाभेदे चावस्थावतोऽपि भेदादेकरूपत्वक्षतेः कथञ्चिदनित्यत्वं युक्त्यायातं केन वार्यताम् ।**

शंका—यदि आत्मा कार्य होवेंगे तो उन कार्यरूप आत्माओंके घट आदिकी तरह पूर्वप्रसिद्ध समानजातीय अवयवोंसे उत्पन्न होनेकी योग्यताका प्रसंग होगा । क्योंकि; अवयव अवयवीको उत्पन्न करते हैं । जैसे कि—तंतुरूप अवयव पटरूप अवयवीको उत्पन्न करते हैं । **भावार्थ**—जो कार्य होता है; वह अवयवी होता है और अवयवीको उत्पन्न करनेवाले अवयव हैं; अतः जैसे घटरूप अवयवी अपनेसे पहले विद्यमानताके प्रसिद्ध जो समानजातीय अर्थात् अपनी पार्थिवत्व जातिको ही धारण करनेवाले दो कपालरूप अवयव हैं; उनसे उत्पन्न होता है; उसी प्रकार आत्मा भी पूर्वप्रसिद्ध समानजातीय ( अपनी आत्मत्वजातिके धारक ) अवयवोंसे उत्पन्न होवेंगे और ऐसा होना आपको इष्ट नहीं है । **समाधान**—ऐसा न कहना चाहिये । क्योंकि; घट आदि कार्योंमें भी पूर्वप्रसिद्ध जो समानजातिके धारक दो कपालरूप अवयव हैं; उनके संयोगसे उत्पन्न होनेकी योग्यता नहीं देखते हैं । कारण कि—कुंभकार आदिके व्यापारसे सहित जो मृत्तिकाका पिंड है; उसके द्वारा ही कपालोंके उत्पन्न होनेके पहले ही पृथु तथा बुध्न ऐसे उदरके जैसे आकारको धारण करनेवाले इस घटकी उत्पत्ति प्रतीत होती है । भावार्थ—तुम जो पूर्वप्रसिद्ध समानजातीय कपाल-

भेद है। भावार्थ—अनुभव स्मरणके पहले होता है; इस कारण अनुभवकी अवस्था दूसरी है और स्मरण अनुभवके पीछे होता है; अतः स्मरणकी अवस्था दूसरी है। और अवस्थाका भेद होनेसे अवस्थाओंके धारक आत्माका भी भेद हुआ; जिससे आत्माके एकरूपताका नाश हुआ इस कारण आत्माके कथंचित् अनित्यपना जो युक्तिसे आता है; उसको तुम किससे दूर कर सकते हो अर्थात् आत्माके कथंचित् अनित्यताका खंडन तुम नहीं कर सकते हो।

**अथात्मनः शरीरपरिमाणत्वे मूर्तत्वानुषङ्गाच्छरीरेऽनुप्रवेशो न स्यान्मूर्त्ते मूर्तस्यानुप्रवेशविरोधात् ततो निरात्मकमेवाखिलं शरीरं प्राप्नोतीति चेत् किमिदं मूर्तत्वं नाम ? असर्वगतद्रव्यपरिमाणत्वं रूपादिमत्त्वं वा। तत्र नाद्यः पक्षे दोषाय। संमतत्वात्। द्वितीयस्त्वयुक्तः। नहि यदसर्वगतं तन्नियमेन रूपादिमदित्यविनाभावोऽस्ति। मनसोऽसर्वगतत्वेऽपि भवन्मते तदसंभवात्। आकाशकालदिगात्मना सर्वगतत्वं परममहत्त्वं सर्वसंयोगिसमानदेशत्वं चेत्युक्तत्वान्मनसो वैधर्म्यात्सर्वगतत्वप्रतिषेधनात्। अतो नात्मनः शरीरेऽनुप्रवेशानुपपत्तेर्येन निरात्मकं तत्स्यात्। असर्वगतद्रव्यपरिमाणलक्षणमूर्त्तत्वस्य मनोयत्प्रवेशाऽप्रतिबन्धकत्वात्। रूपादिमत्त्वलक्षणमूर्त्तत्वोपेतस्यापि जलादेर्पालुकादावनुप्रवेशो न निषिध्यते। आत्मनस्तु तद्रहितस्यापि तत्रासौ प्रतिषिध्यत इति महच्चित्रम्।**

यदि कहो कि; आत्माको शरीरपरिमाण माननेपर आत्मा मूर्त्त हो जावेगा; इस कारण उस आत्माका शरीरमें प्रवेश न होगा। क्योंकि; मूर्त्तमें मूर्त्तके प्रवेशका विरोध है अर्थात् मूर्त्त शरीरमें मूर्त्त आत्माका प्रवेश होना विरुद्ध है। और जब मूर्त्त शरीरमें मूर्त्त आत्माका प्रवेश न होगा तो संसारके यावन्मात्र ( सबके सब ) शरीर आत्मासे शून्य ( रहित ) ही हो जावेंगे। तो हम ( जैनी ) प्रश्न करते हैं कि; वह मूर्त्तपना क्या है ? अर्थात् तुम ( वैशेषिकों ) ने मूर्त्तका क्या लक्षण माना है। असर्वगत द्रव्यपरिमाणपना जो है; वह मूर्त्त है; अथवा जो रूपादिमान् ( रूप आदिका धारक ) पना है; वह मूर्त्त है। भावार्थ—असर्वगत ( अव्यापक ) द्रव्यका जो अल्पपरिमाण है; उस अल्पपरिमाणके धारक द्रव्यको मूर्त्त कहते हो; अथवा रूप आदिको





१ सर्वैर्मूर्तैः सह संयोगः। न तु सर्वत्र। तेषां निष्क्रियत्वात्। २ इयत्ताऽनवच्छिन्नपरिमाणयोगित्वं परममहत्त्वम्। ३ सर्वसंयोगिसमानदेशत्वं—सर्वेषांमूर्त्तद्रव्याणाम्। आकाशं समानो देश एक आधार इत्यर्थः। मूर्तं दिगादिष्वपि व्याख्येयम्। यद्यपि आकाशादिकं सर्वसंयोगिनामाधारो न भवति। इहप्रत्ययविषयत्वेनावस्थानात्। तथापि सर्वसंयोगिसंयोगाधारभूतत्वादुपचारेण सर्वसंयोगिनामप्याधार उच्यते।

भाष्य अलंकारके इसको पूर्व अर्थ दी। यदि कहें कि, असंप्रतिपत्तिनिराकरणे ही इस पूर्व अर्थ है, तो यह पक्षान्तर भी इसके योग्य नहीं है। क्योंकि संशय है पक्षमें असंप्रति इत्यादिसंशयके ही द्वारा पूर्व अर्थ दी जा सकती, इसमें दूसरे निराकरणके कोई लाभ नहीं है। यदि कहो कि इस अतिरिक्त पक्षके भी दूषण है, अब पूर्व है तो यह दूषणरूप अलग संग्रह नहीं है क्योंकि जो असंगत है वह व्यतिरिक्त है, ऐसी व्याप्ति नहीं हो सकती है। सारार्थ—यह हम पहले समर्थन कर आये, अतिरिक्त कितने वादी कुछ संशय यह संशय नहीं पक्ष मानते हैं कि, सामान्य भावना व्यतिरिक्त है, वस्तु पूर्व है, अन्यथा नहीं। और जो ये असंगत दूषण है वह इस विषयमें कार्यकारी है, ऐसे व्याप्ति हम नहीं कर सकते हैं॥ क्योंकि-चुंकि एकमें दूसरे असंगता है जैसे व्यतिरिक्त नहीं है : व्याप्ति कि, वाहक, चक्र, पिता और बालक ये अलग पर्याय [जैसे भूतिदत्तके ॥जैसेके पक्ष ] है, यत्नसंहतकर्तृत्वके पक्षमें ही और भी अन्यत्र कुलालत्वका एकत्व है, उसके संगतपने पक्षपात है. पर्याय सब पृथक्त्वादि वाक्य होना है, ऐसा कहा है. और इस कारणसे पक्षमें यह व्याप्ति व्यभिचार पर्यन्त होनेसे अनैकान्तिक विरुद्ध किया गया है व्यक्ति अवयव, कर्म, विधा और भाव ये चार ही संसर्ग है. ऐसा: इसका स्वरूप सम्बन्धका सिद्ध किया है। इस कारण वादीका यहाँ दूषण व्यभिचार नहीं है, विषयमें तो पक्ष दोष और असंगतपने हो सके क्योंकि, वादी सत्ता यत्नकृतत्वसंशयविषयत्वरूप साधन भी पूर्ण है. इसके संशयमें कोई विरुद्धत्व नहीं है। वादीमें—जैसे शब्दमें पक्षमें पूर्व [अन्य पूर्व संशयि होता है, उसी प्रकार इनमें कुछ व्याप्तिका भी पूर्व पूर्वोक्तमें संशय हो जाता, इस प्रकार पूर्व अनुमान भी संशयि होनेसे संशय ही निश्चायक। जो पुरुष इनको विरुद्धत्व दोषसे दूषित करे। जैसे है. अब यही हो सकता है और असंगतिसे अव्यवस्थापूर्वकको पक्षमें दूषणपने उसमें पर व्यतिरेके व्यवहार में उस आदि है, व्यवस्था पूर्वके भी संशय होता है, उसका ही इस विरुद्ध नहीं पक्षमें हो और यह परिहार नहीं है ऐसा भी जो कहता है, उसके दूषणादिके संशयपने कहा करने पर यह क्या साधन है.

भवतीत्यर्थः कार्यपरिणामपक्षे प्रधानस्वरूपपरिणामरूपः सत्त्वो युक्तगरीरणारेणागासत्विकस्य कर्ता स्यात्। किं तत्प्रियाप-परिणामसंघातपरिणामाद्वा। परिणामपक्षेऽपि तावदिदं विचार्यते किं प्रधानस्वरूपपरिणामरूपः कार्यरूपो वा। प्रधानस्वरूपपरिणामश्च सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था। सा च नित्या। पूर्वोपपत्तिपक्षाद्यपरिणामे सतीत्यनेनोत्तरपरिणामोपन्यासस्तनुपपन्नः। अनुपपन्नम्। पुनरपरिणामिनि-

णावस्थायामात्मनो बालशरीरपरिमाणपरित्यागे सर्वथा विनाशाऽसम्भवात्। विफणावस्थोत्पादे सर्पवत्। इति कथं परलोकाभावोऽनुपपद्यते। पर्यायतस्तस्याऽनित्यत्वेऽपि द्रव्यतो नित्यत्वात्।

शंका—यदि आत्मा शरीरपरिमाण होगा तो जो आत्मा बालशरीरपरिमाण (बालकके शरीर जितना बड़ा) है; वह युव-शरीरपरिमाण (युवा अर्थात् जवान पुरुषके शरीर जितने बड़े आकार) को कैसे ग्रहण करेगा? क्या? उस बालशरीरपरिमाणको छोड़कर युवशरीरपरिमाणको ग्रहण करेगा अथवा उस बालशरीरके आकारका त्याग न करके युवशरीरपरिमाणको स्वीकार करेगा। **भावार्थ**—जो आत्मा देवदत्तकी बालअवस्थाके छोटे शरीर जितना है; वही आत्मा जब देवदत्त जवान होगा तब उसके बड़े शरीर जितना पूर्वपरिमाणको छोड़कर होगा? वा विना छोड़े ही? यदि कहो कि; आत्मा बालशरीरपरिमाणका त्याग करके युव-शरीरपरिमाणको ग्रहण करता है; तब तो शरीरके समान आत्मा भी अनित्य हो जावेगा। यह प्रसंग होगा। जिससे परलोक आदिके अभावका अनुषंग होगा। **भावार्थ**—जैसे पूर्वपरिमाणको छोड़कर उत्तर परिमाणका स्वीकार करनेसे शरीर अनित्य है; उसी प्रकार आत्मा भी पूर्वपरिमाणका त्यागकरके उत्तर परिमाणको ग्रहण करनेसे अनित्य हो जावेगा और यदि आत्मा अनित्य हो जावेगा तो फिर आत्माके परलोक (अन्य २ जन्मोंका धारण करना) आदि नहीं होगा; जोकि; आपको अनिष्ट है। यदि कहो कि; आत्मा बालशरीरपरिमाणका त्याग न करके युवशरीर परिमाणको ग्रहण करता है; तो सो नहीं। क्योंकि; जैसे शरीरके पूर्व-परिमाणका त्याग किये विना उत्तर परिमाणकी उत्पत्ति की सिद्धि नहीं है; उसी प्रकार उस आत्माके भी पूर्व परिमाणको छोड़े विना उत्तर परिमाणका उत्पन्न होना सिद्ध नहीं हो सकता है। **समाधान**—यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि; आत्मा जो युव-शरीरपरिमाणको ग्रहण करते समय बालशरीरपरिमाणका त्याग करता है; उस बालशरीरपरिमाणके त्यागमें आत्माका सर्वथा विनाश नहीं होता है जैसे कि—फणरहित अवस्थाके उत्पन्न होनेमें सर्पका नाश नहीं होता है। **भावार्थ**—जो सर्प फणको फैला करके बैठा है, वही सर्प जब फणको संकोचता है; तब यद्यपि वह सर्प पहली फणसहितअवस्थाका त्यागकरके पिछली फणरहितअवस्थाको ग्रहण करता है; तथापि उस सर्पका सर्वथा नाश नहीं होता है; इसी प्रकार यद्यपि आत्मा पूर्व बालशरीरपरिमाणरूप अवस्थाको छोड़कर उत्तर युवशरीरपरिमाणरूप अवस्थाको स्वीकार करता है; तथापि आत्माका सर्वथा विनाश नहीं होता है; किंतु किसी अपेक्षासे विनाश होता है। इस कारण परलोकका अभावरूप प्रसंग कैसे होता है अर्थात् जो तुमने पूर्वपरिमाणका त्याग किये

किया। उक्त परिभाषाके संक्षेपसे आपके पत्रोत्तरमें अवश्य ही आक्षेप किया है, यह कहीं ही सकता है। क्योंकि; उक्त लक्षण वर्णपदके अतिरिक्त है, उसमें वाक्यका मिश्रण है।

समाधान। आपकी परिभाषामें वर्णपदके लक्षणमें वाक्यका मिश्रण किसने किया? इसीसे उक्त लक्षण पदलक्षणसे भिन्न है। वर्णोंके समूहको ही पद कहते हैं, यह सर्वसम्मत है। वर्णोंके समूहको पद कहनेमें किसीको आपत्ति नहीं है। अन्यथा वर्णोंके समूहको पद कहनेमें आपत्ति क्यों होती? इसलिये वर्णोंके समूहको पद कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है। और यह लक्षण वर्णपदमें ही घटता है। इसलिये यह लक्षण वर्णपदका ही है। इसमें वाक्यका मिश्रण कैसे हुआ? यह समझमें नहीं आता।

यदि कहो कि, आपने पहले वर्णोंके समूहको पद कहा है, और अब वर्णोंके समूहको वर्णपद कहते हैं, इसमें क्या भेद है? तो इसका उत्तर यह है कि, पहले जो वर्णोंके समूहको पद कहा है सो सामान्य पदकी अपेक्षासे कहा है। और अब जो वर्णोंके समूहको वर्णपद कहा है सो विशेष पदकी अपेक्षासे कहा है। इसलिये पहले कहे हुए लक्षणसे अब कहे हुए लक्षणमें भेद है। यदि कहो कि, पहले कहे हुए लक्षणसे अब कहे हुए लक्षणमें भेद है, तो फिर अब कहे हुए लक्षणमें पहले कहे हुए लक्षणका दोष क्यों नहीं आता? तो इसका उत्तर यह है कि, पहले कहे हुए लक्षणमें जो दोष आते थे, वे अब नहीं आते हैं। यदि कहो कि, ऐसा है तो पहले कहे हुए लक्षणमें जिस प्रकारसे वाक्यका मिश्रण था उसी प्रकारसे अब भी होना चाहिये। अर्थात् पहले कहे हुए लक्षणमें जैसे वाक्यके विशेषोंका मिश्रण था वैसे ही अब भी होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं है। इसलिये अब कहे हुए लक्षणमें वाक्यका मिश्रण नहीं है। यही ठीक है। परन्तु यह लक्षण ही नहीं है। क्योंकि, इस लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष आता है। अतिव्याप्ति दोष उसे कहते हैं, जो लक्ष्यके एक देशमें न रहे। जैसे—पशुका लक्षण सींग है। यह लक्षण गायमें तो है, परन्तु गायके सिवाय अन्य पशुओंमें नहीं है। इसलिये यह लक्षण अतिव्याप्ति दोषसे दूषित है। इसी प्रकार यह लक्षण भी अतिव्याप्ति दोषसे दूषित है। क्योंकि, इस लक्षणमें जो वर्णोंके समूहको पद कहा है, उसमें वर्णोंके समूहको वर्णपद कहनेसे अतिव्याप्ति दोष आता है। वह इस प्रकार है—जैसे

खंडित अवयवमें विद्यमान आत्मप्रदेशोंका शरीरस्थ आत्मप्रदेशोंमें प्रवेश न मानना चाहिये; किन्तु उस खंडित अवयवमें दूसरा ही आत्मा मान लेना चाहिये। तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि यदि एक शरीरमें अनेक आत्मा मानेंगे तो अनेक रूप रस आदि पदार्थोंका प्रतिभास ( निश्चय ) करानेवाले जो नेत्रइंद्रिय आदिसे उत्पन्न ज्ञान हैं; उनके एक प्रमाता ( ज्ञाता आत्मा ) की आधारतासे प्रतिभास ( अनुव्यवसाय ) न होनेका प्रसंग होगा। जैसे कि,—दूसरे शरीरोंमें विद्यमान अनेकज्ञानोंसे जाननेयोग्य जो रूप आदि पदार्थ हैं; उनके ज्ञानका एक आत्मामें प्रतिभास नहीं होता है। भावार्थ—जैसे देवदत्तकी आत्माका ज्ञान जिस रूप आदि पदार्थको देखता है; उसका 'मैं देखता हूं अतः ज्ञानवान हूं' इस प्रकारका अनुव्यवसाय देवदत्तके आत्माको ही होता है। जिनदत्तके आत्मा को नहीं होता है। उसी प्रकार एक शरीरमें अनेक आत्मा माननेपर शरीरके नेत्ररूप अवयवमें स्थित आत्मा जिस रूपको देखेगा; उसका अनुव्यवसाय उस जिनदत्तके नेत्रस्थ आत्माको ही होगा और उस जिनदत्तके कर्णरूप शरीरावयवमें जो आत्मा स्थित है; उसके 'मैं देखता हूं' ऐसा अनुव्यवसाय नहीं होगा। और ऐसा होगा तो प्रत्येक आत्माके जो 'मैं देखता हूं, मैं सुनता हूं, मैं सूंघता हूं, इत्यादिरूप से एक प्रमाता ( जाननेवाले ) को अवलंबन करके प्रतिभास होता है; वह न होगा। और इस एक प्रमाताके आधाररूपसे प्रतिभासका न होना तुमको अनिष्ट है।

**कथं खण्डितावयवयोः संघट्टनं पञ्चादिति चेत् एकान्तेन छेदाऽनभ्युपगमात्। पद्मनालतन्तुवच्छेदस्यापि स्वीकारात्। तथाभूतादृष्टवशात्तत्संघट्टनमविरुद्धमेवेति तनुपरिमाण एवात्माङ्गीकर्त्तव्यो न व्यापकः। तथा च आत्मा व्यापको न भवति चेतनत्वात्। यत्तु व्यापकं न तच्चेतनम्। यथा व्योम। चेतनश्चात्मा। तस्मान्न व्यापकः। अव्यापकत्वे चास्य तत्रैवोपलभ्यमानगुणत्वेन सिद्धा कायप्रमाणता। यत्पुनरर्हतसमयसाध्यकेवलिसमुद्घातदशायामार्हतानामपि चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकव्यापित्वेनात्मनः सर्वव्यापकत्वम्। तत्कादाचित्कम्। इति न तेन व्यभिचारः। स्याद्वादमन्त्रकवचानगुण्ठितानां च नेदृशविभीषिकाभ्यो भयम्। इति काव्यार्थः ॥ ९ ॥**

यदि कहो कि; आत्माके खंडित अवयवों (प्रदेशों) का पीछे मेल कैसे हो जाता है अर्थात् जो आत्माके प्रदेश कट कर शरीरके खंडित अवयवोंमें चले गये हैं; वे और जो आत्माके प्रदेश शरीरमें विद्यमान हैं वे; वे दोनों पीछे परस्पर कैसे मिल जाते हैं; तो उत्तर यह है कि; हमने इन आत्माके प्रदेशोंका छेद ( विभाग ) सर्वथा नहीं माना है। और जो छेद माना है; उसको भी कम-

तदन्तःपातिनां छलजातिनिग्रहस्थानानां परोपन्यासनिरासमात्रफलतया अत्यन्तमनुपादेयत्वात्तदुपदेशदातुर्वैरा-ग्यमुपहसन्नाह ।—

वैशेषिक और नैयायिक; इन दोनोंके सिद्धान्त प्रायः समान हैं; इस कारण पूर्वोक्त प्रकारसे जो वैशेषिकोंके मतका खंडन किया गया है; उससे नैयायिकोंके मतका खंडन भी हो चुका ही समझना चाहिये और पदार्थोंमें उन दोनोंके भी समान स्वीकारता नहीं है अर्थात् वैशेषिक तथा नैयायिक ये दोनों पदार्थोंको भिन्न २ प्रकारसे मानते हैं; अतः इस अवसरमें यद्यपि अक्षपाद ( न्यायसूत्रकार गौतम ऋषी ) के कहे हुए सब पदार्थोंको मोक्षके प्रति असाधकतम ( मोक्षकी प्राप्ति न करनेवाले ) कहने चाहियें तथापि उन पदार्थोंके मध्यमें रहनेवाले जो छल, जाति तथा निग्रहस्थान नामक तीन पदार्थ हैं; वे केवल परके कथनका तिरस्कार करनेरूप ही प्रयोजनको धारण करते हैं अतः सर्वथा ग्रहण करने योग्य नहीं हैं; इस कारण उन छल जाति और निग्रहस्थानोंका उपदेश देनेवाले गौतम ऋषीके वैराग्यका हास्य करते हुए आचार्य अग्रिम काव्यका कथन करते हैं ।—

**स्वयं विवादग्रहिले वितण्डापाण्डित्यकण्डूलमुखे जनेऽस्मिन् ।**
**मायोपदेशात्परमर्म भिन्दन्नहो विरक्तो मुनिरन्यदीयः ॥ १० ॥**

**सूत्रभावार्थः**—अपने आप ही विवादरूपी पिशाचसे गृहीत ( पकड़े हुए ) और वितंडाकी चतुराँईसे मानो खुजलीको ही धारण करता है मुख जिनका ऐसे मूर्खसदृश मनुष्योंमें मायाका उपदेश देकर परमर्मोंको अर्थात् वादीके सिद्धान्तको सिद्ध करनेमें समर्थ उत्तम हेतुओंको भेदता हुआ नैयायिकोंका गोतममुनि वैराग्यका धारक है; यह आश्चर्य है ॥ १० ॥

व्याख्या। अन्येऽविज्ञातत्वदाज्ञासारतयाऽनुपादेयनामानः परे तेषामयं सारतुल्येन संबन्धी अन्यदीयो मुनिरक्षपादऋषिरहो विरक्तोऽहो वैराग्यवान् । (अहो इत्युपहासगर्भमाश्चर्यं सूचयति।) (अन्यदीय इत्यत्र "ईयकारके"

प्राकृतप्राये लोके। कथम्भूते स्वयमात्मना परोपदेशनिरपेक्षमेव विवादग्रहिले १ विरुद्धः परस्परकक्षीकृतपक्षाधिक्षेपदक्षो वादो वचनोपन्यासो विवादः। तथा च भगवान् हरिभद्रसूरिः—" लब्धिख्यात्यर्थिना तु स्याद् दुःस्थितेनाभहात्मना। छलजातिप्रधानो यः स विवाद इति स्मृतः। १। " तेन ग्रहिल इव ग्रहगृहीत इव विवादग्रहिलस्तत्र। यथा ग्रहाद्यपस्मारपरवशः पुरुषो यत्किंचन प्रलापी स्यादेवमयमपि जन इति भावः।

किसके विषयमें अर्थात् किन शिष्योंमें इस गौतम ऋषीने मायाका उपदेश दिया सो कहते हैं।—" अस्मिन् " इस प्रत्यक्ष-प्रमाणसे देखनेमें आते हुए " जैने " तत्त्व और अतत्त्वके विचारसे बहिर्मुख ( रहित ) होनेके कारण मूर्खके समान लोक ( मनुष्योंके समूह ) में। कैसे लोकमें ? " स्वयं " दूसरेके उपदेशकी आवश्यकताके विना अपने आप ही " विवादग्रहिले " ' वि ' विरुद्ध अर्थात् परस्पर ( आपस ) में स्वीकार किया हुआ जो पक्ष है; उसके खंडन करनेमें समर्थ ऐसा जो ' वाद ' वचनका देना है अर्थात् दूसरेके मतको खंडन करनेमें समर्थ वचनका जो कहना है; वह विवाद है। सोही भगवान श्रीहरिभद्रसूरी कहते हैं—" द्रव्य आदिका लाभ तथा अपनी प्रसिद्धि ( कीर्ति ) को चाहनेवाले ऐसे जो नीच दुर्मती ( कुमतावलम्बी ) जन हैं; उनके द्वारा जो छल, तथा जातिको मुख्य ग्रहण करके कहा जाता है अर्थात् लाभ व कीर्तिके इच्छक नीच दुर्मती छल व जातिको प्रधान कर जो कुछ कहते है; वह विवाद है। १।" उस विवादसे ग्रहिल अर्थात् ग्रह करके पकड़े हुएकी तरह जो होवे; उस लोकमें। भावार्थ—जैसे भूत पिशाच आदिके घुस जानेसे स्मृति ( बुद्धि ) के नाशको प्राप्त हुआ पुरुष चाहे सो बकता है, उसी प्रकार अपने आप ही विवादरूपी ग्रहके वशमें हुआ यह लोक भी जो कुछ ( भला बुरा ) चाहता है, सो बकता है।

तथा वितण्डा प्रतिपक्षस्थापनाहीनं वाक्यम्। वितण्ड्यते आहन्यतेऽनया प्रतिपक्षसाधनमिति व्युत्पत्तेः। " अभ्युपेत्य पक्षं यो न स्थापयति स वैतण्डिक इत्युच्यते " इति न्यायवार्त्तिकम्। वस्तुतस्त्वपरामृष्टतत्त्वातत्त्वविचारं मौखर्यं वितण्डा। तत्र यत्पाण्डित्यमविकलं कौशलं तेन कण्डूलं मुखं लपनं यस्य स तथा तस्मिन्। कण्डूः खर्जूः कण्डूरस्यास्तीति कण्डूलम् (सिध्मादित्वान्मत्वर्थीयो लप्रत्ययः)। यथा किलान्तरुत्पन्नकृमिकुलजनितां कण्डूतिं



१ वादिप्रयुक्तपक्षप्रतिपत्तिप्रतिबन्धायोपन्यासः प्रतिपक्षः। कोऽर्थः। वादिपक्षापेक्षया प्रतिपक्षो वैतण्डिकस्य स्वपक्ष एवेति॥

[illegible] ॥ एवं अन्यत्रापि विशेषणाभिप्रायेणात्मनेपदकर्तृकत्वेऽपि अकर्मकत्ववत् कर्तृप्रधानपुरुषार्थपरते ।

तथा " विकस्वापार्श्विकलक्षणहस्तुते " अर्थात् जैसा कहा है निकस अर्थात् बाहरवाले पर तुम पक्षपात विशेषी होनेसे अधिकारीके स्वरूप अर्थात् जाने गहरा भिन्न पाना जिसको, उस जिनका है, वह अन्तर्यामी अर्थात् " जो कैसा पदार्थको जीवन करके फिर उसको फिर ( सिद्ध ) स्थी करता है, उसको केवलि कहते हैं " एक स्वरूपाद्वैतसे वहिरङ्ग ( अन्य पर ) की वासना ( सिद्धि ) से रहित जो परमात्मा कहना है, वो सिद्धान्त है । ऐसेंसे सामर्थ्य से यह है कि—नहीं विधा अर्थात् है नाम. मात्र अनादिका विचार सिद्धसे रहित जो पैदलसे ( प्रतिज्ञा से यह लेना ) है अर्थात् जिस गोत्रे अनादि तुल्ये पक्ष जैसा ने, उसको विवाद कहते हैं, वह सिद्धान्तें जो पार्श्विक अर्थात् पार्श्वमें स्थूलता है, वैसे प्रत्यक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष ( आत्म व सुखकी ) है जिसके यह परमात्म स्वरूपका है [ ' कस्तु ' यह पूर्व क्रियाविशेषणका है, इस प्रकार यहां अन्वयीय अ अनादि पूर्वका है : ) कस्तूरीके गन्धन कस्तूरीय है अर्थात् सुख-शील स्वरूप है पुरुष सिद्धान्त वेदो बोलते । आशय—जैसे स्वयंके शरीरके भीतर रहे हुए वीर्यादि स्थूलके अन्य हुई सुगन्धीको देखने ! सिद्धान्त ) से अनादि हुआ पुरुष आत्मज्ञानको पाता है, इसी प्रकार एक विशेषज्ञानवेत्ता जो पुरुष है, वह भी जैसेकस्तूरी वगैरहि वीर्य संयोगके अनादि स्वरूपसे चारणादी पाक करते हैं। इस प्रकार यहां पर उस विशेषज्ञानवेत्ताके पुरुषं गान्धीको कस्तूरी हप जानकर स्थापन किया गया है ॥ [ सूचना—यहां पर स्वयंकर्ता श्रुतकार श्रीज्ञानसारजी महाराजने विवेचनकी शैलीसे ही अनुवाद किया गया है, परंतु यदि सूत्रकार होनेके नाते अपना अभिप्राय प्रकट न करते तो इस अनुवादसे पूर्वके दोनों पद्य जो श्रीज्ञानसारजी महाराजने रचे गये हैं, उनको कथंचित् अप्रासंगिक अथवा असंगत जैसा लगेगा सही । ]

एवं च स्वरसतः एतत् [illegible] चैतन्यविकल्पनापि संसरकुले चैतन्यविकल्पेऽपि च आपादमाकण्ठमुल्लसदविद्यासंपर्कविकल्पितस्वरूपयथावस्थितपरमार्थोपदेशाभावेऽपि नैसर्गिक एव अध्यात्मशास्त्रकर्तृत्वे सत्यपि इति कृत्वा न कश्चिद् गुणोत्कर्षनिक्षेपः इति । तथा चाध्यात्मिनन्दिभिर्वादिभिरेकान्तोपदेशदानसमये सत्यं भुजंः फाल्गुनिफलव-

---

1 कस्तूरीके गन्धोत्पन्न कृत्रिम गन्धको यह स्वाभाविक कस्तूरी. । ५ गोमे स्थानी न सति अन्तर्निहित परमपुरुषस्वरूपविषये ज्ञानिजने कि पुनः ।

कोटावारोपितम्। तथा चाहुः—"दुःशिक्षितकुतर्कौघ—लेशवाचालितानवाः। शक्याः किमन्यथा जेतुं वितण्डाटोप-मण्डिताः ।१। गतानुगतिको लोकः कुमार्गं तत्प्रतारितः। मागादिति च्छलादीनि प्राह कारुणिको मुनिः। २।" कारुणिकत्वं च वैराग्यान्न भिद्यते। ततो युक्तमुक्तमहो विरक्त इति स्तुतिकारेणोपहासवचनम्।

इस पूर्वोक्त प्रकारसे वैतंडिकलोक स्वभावसे ही अपने अपने अभीष्ट मतका स्थापन करनेमें चतुर है और उसमें जो इस वैतंडिकलोकके परम आप्त ( यथार्थवक्ता ) स्वरूप पुरुषविशेष (गोतममुनि)के द्वारा कल्पना किये हुए दूसरोंका ठिगना है प्रधान जिनमें ऐसे वचनोंकी रचनारूप (पदार्थ ज्ञानसहित अपूर्व वाक्योंके बनाने रूप) उपदेश सहायक हो गया तब मानों गौतममुनिने अपने आप ही ज्वालाओंके समूहसे व्याप्त ऐसी जलती हुई अग्निमें घृतकी आहुतिका ही क्षेपण किया। भावार्थ—जैसे स्वतः जाज्वल्यमान अग्निमें घृतके गेरनेसे वह अग्नि द्विगुण—चतुर्गुणरूपसे प्रज्वलित हो जाती है; उसी प्रकार स्वभावसे ही वितंडाको धारण करनेवाले मनुष्योंमें गोतममुनिने छल आदिका उपदेश देकर उन मनुष्योंकी वितंडाको अत्यन्त बढ़ा दी है। और संसारमें संतोषको धारण करनेवाले अथवा संसारकी प्रशंसा करनेवाले अर्थात् संसारको अच्छा समझनेवाले उन नैयायिक वादियोंने उस गोतममुनिका जो ऐसा अर्थात् संकट तथा प्रस्तावके आनेपर छलआदिके द्वारा अपने पक्ष (मत) की स्थापना करनी चाहिये; क्योंकि;—दूसरोंके जीतनेमें छल आदिसे धर्मका नाश नहीं होता है; इस कारण छल आदिसे भी वादियोंको जीत लेना अच्छा है; इस प्रकारके उपदेशका जो देना है; उसको भी करुणावानपनेकी श्रेणीमें रक्खा है। सो ही वे नैयायिक कहते हैं कि;—अत्यन्त परिश्रमसे पढ़े हुए जो कुतर्क ( खोटी दलीलें ) हैं उनके अंशोंके लेशोंसे वाचालित (बकवाद करनेके लिये तत्पर हुए) मुखको धारण करनेवाले वादी अन्यप्रकारसे अर्थात् छल आदिके विना कैसे जीते जा सकें। १। लोक गतानुगतिक (देखादेखीसे गयेके पीछे जानेवाला) है; अतः उन वादियोंसे ठिगा हुआ होकर उनका अनुकरण करके कुमार्गमें न चला जावे; इसी हेतुसे दयाके धारक गोतमऋषीने छल आदिका उपदेश दिया है। भावार्थ—यदि मैं छल आदिका उपदेश न दूंगा तो भोले मनुष्य दूसरे वादियोंके मतमें चले जावेंगे; यही अपने मनमें विचारकर करुणाके धारक गोतममुनिने छल आदिका उपदेश दिया है। २। " और करुणावानपना वैराग्यसे जुदा नहीं होता है अर्थात् कारुणिकत्व और वैराग्य ये दोनों एकरूप ही है; इस कारण स्तुतिके कर्त्ता आचार्यमहाराजने जो " आश्चर्य है कि;— गोतम मुनि विरक्त है " ऐसा हासका वचन कहा है; सो ठीक ही कहा है।

५५५ मायोपदेशादिविरुद्धत्वात्सूत्रे किमुच्यते । अथापवर्गे क्रियत एवेत्यत्र पक्षे वक्तव्यं:—"प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजन[illegible]
[illegible]ज्ञानानामपवर्गेऽपि निःश्रेयसाधिगमाङ्गत्वविनाशदोषोद्भावनाच्च अपवर्गाभावसिद्धेः" इति अवश्यवक्तव्यत्वात् । न चैतेषां ज्ञानानां फलज्ञानवत् स्व अधिकर्मा निःश्रेयसाधिगमहेतुः । न च [illegible]केनैव ज्ञेयाविरहिणा ज्ञानत्वसंग मुक्तिर्मुक्तिकांक्षिणां । अनाद्यविद्याप्रागाधीनत्वात् । विषयविशेषकत्वज्ञानत्व तत्तीर्थिवनगमनादिवत् ।

अब ' तदोपरमात् ' इस सूत्रभाष्यको लिखते हैं कि अर्थात् तत्त्वों को जानने से अपवर्ग होता है, इसको कहते हैं । अक्षपादके ( नैयायिक मतमें ) " प्रमाण १, प्रमेय २, संशय ३, प्रयोजन ४, दृष्टान्त ५, सिद्धान्त ६, अवयव ७, तर्क ८, निर्णय ९, वाद १०, जल्प ११, वितण्डा १२, हेत्वाभास १३, छल १४, जाति १५, और निग्रहस्थान १६, इन पदार्थों के तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है । " इत्यादि वचनसे प्रमाण १६ पदार्थ हैं । परन्तु वैशेषिकोंके मतमें द्रव्य गुण कर्मादिके भेदसे सात ही पदार्थ हैं, इस लिये तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है । " इत्यादि वचनसे प्रमाण १६ पदार्थ हैं । परन्तु वैशेषिकोंके मतमें द्रव्य गुण कर्मादिके भेदसे सात ही पदार्थ हैं, इस लिये तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है । [illegible]

न च वाच्यं न सन्तु नाम तत्त्वानि तत्त्वज्ञानं तु मुक्तिहेतुरस्त्विति । तत्त्वज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वे प्रमाणं वक्तव्यम्—[illegible]
[illegible]

न च वाच्यं न सन्तु नाम तत्त्वानि तत्त्वज्ञानं तु मुक्तिहेतुरस्त्विति । तत्त्वज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वे प्रमाणं वक्तव्यम्—" मिथ्याज्ञानापायस्तत्त्वज्ञानं " इति । तदपि न निश्चयनयम् । यतोऽज्ञानोपादानो यो देहकुटुम्बे मिथ्याभिनिवेशस्तत्त्वज्ञानेऽपि तत्त्वज्ञानकार्यमिति कथं कर्मक्षयहेतुरिति प्रथमतत्त्वज्ञानम् । तथा कर्मकर्माद्यैक्ये-

लक्षणं हेतुशब्देन करणमेव विवक्षितं तर्हि तज्ज्ञानमेव युक्तं न चेन्द्रियसन्निकर्षादि । यस्मिन् हि सत्यर्थ उपलब्धो भवति स तत्करणम्। न चेन्द्रियसन्निकर्षसामग्र्यादौ सत्यपि ज्ञानाभावेऽर्थोपलम्भः । साधकतमं[1] हि करणम्। अव्यवहितफले च तदिष्यते । व्यवहितफलस्यापि करणत्वे दुग्धभोजनादेरपि तथाप्रसङ्गः । तत्र ज्ञानादन्यत्र प्रमाणत्वम् । अन्यत्रोपचारात्। यदपि न्यायभूषणसूत्रकारेणोक्तं—" सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम् " इति । तत्रापि साधनग्रहणात्कर्तृकर्मनिरासेन करणस्यैव प्रमाणत्वं सिध्यति । तथाप्यव्यवहितफलत्वेन साधकतमत्वं ज्ञानस्यैव। इति न तत्सम्यग्लक्षणम्। "स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्। " इति तु तात्त्विकं लक्षणम् ।

॥ ७२ ॥

अब यदि यह नैयायिक यह कहे कि, हम क्रियाका निषेध नहीं करते हैं; अर्थात् सूत्रमें १६ पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे मोक्ष होता है ऐसा कहनेसे यह न समझना चाहिये कि;—हम क्रिया ( आचरण व चारित्र ) को मोक्षकी प्राप्तिके प्रति कारण नहीं मानते हैं; किन्तु सोलहपदार्थोंके तत्त्वज्ञान पूर्वक ( सहित ) जो क्रिया है; वही मुक्तिकी कारणभूता है; इस आशयको विदित करनेके लिये ' तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, ऐसा कहते हैं । सो यह भी उनको न कहना चाहिये । क्योंकि पदार्थोंके ज्ञान और क्रिया ये दोनों मिले हुए भी मोक्षकी प्राप्तिमें कारणभूत नहीं हैं अर्थात् इन सोलह पदार्थों संबंधी ज्ञान और क्रियाके समुदायको भी मोक्षका कारण मानना ठीक नहीं है । क्योंकि; उन पदार्थोंसंबंधी जो ज्ञान तथा क्रिया है; वे दोनों ही मिथ्या हैं। और मिथ्यापना असिद्ध नहीं है । कारण कि;—परीक्षा करनेपर ये सोलह ही पदार्थ तत्त्वाभास सिद्ध होते हैं । सो ही दिखलाते हैं—उन नैयायिकोंने प्रथम ही प्रमाणका लक्षण इस प्रकारसे सूत्रित किया है " अर्थोपलब्धिमें अर्थात् पदार्थके प्रत्यक्षमें जो हेतु है; वह प्रमाण है " । और यह प्रमाणका लक्षण विचारको नहीं सहता है अर्थात् विचार करनेपर असत्य सिद्ध होता है । क्योंकि; यदि अर्थोपलब्धिमें हेतु जो है वह निमित्तमात्र है अर्थात् जो जो अर्थोपलब्धिमें निमित्तकारण है; उस २ सभीको अर्थोपलब्धिमें हेतु कहोगे तो वह हेतुत्व सब कारकोंमें साधारण है; अतः कर्त्ता, कर्म आदिके भी प्रमाणताका प्रसंग

---

१ यत्र हि प्रमात्रा व्यापारिते सत्यवश्यं कार्योत्पत्तिरन्यथा पुनरनुत्पत्तिरेव तत्तत्र साधकतमम् । यथा छिदायां दात्रम् । तथाचोक्तं—" क्रियायाः परनिष्पत्तिः यद्व्यापारादनन्तरम् । विवक्ष्यते यदा तत्र करणत्वे तदा स्मृतम् ॥ १ ॥ " २ कारणे कार्योपचारात् कार्ये कारणोपचाराद्वा प्रमाणभूतेन पक्षहेतूपनयनात्मकेन परार्थानुमानेन व्यभिचारकारणाच्च अन्यत्रोपचारादित्युक्तम् ।

हेतुना यावत् अपेक्षणम्भिने लघु ही चाहक निर्विवाद है; हालांकि कभी कभी आदि में समास भी आजाते। जो कि, गुरुने अधिक है। और यदि हेतुवाचक कभी कभी यावत्तिने पिछे व्यवसाय पदका (तुरंत अव्यवहित) देख जो एक है, यह ही विवक्षित है यावत् हेतुवाचकों व्यवसाय ही पदके व्यवहृत चाहते ही, तो उस समय शब्दके ही अपेक्षणम्भिने रूपमें पाना दोष है और दुष्टिकारणिहर्ता ( हिंसि और यहांके ) आदिके अपेक्षणम्भिनों भाव व्यवहृत व्युत्पन्न है। क्योंकि. जिसके विचार हेतुना सभी प्रयोजन होवे यावत् वेदा ए जाना लेवे, वही अपेक्षणम्भिने काल है। और दृष्टिकारणिहर्ता व्यवहि एकही ! एकही व्यवहारके पदमें ] के निमित्त होने पर भी चाहक यावत होवे तो अवश्य उपचार ( अभि ) नहीं होता है। साधारण—हालके होने पर ही अपेक्षणम्भि होती है—न कि, केवल शुद्धि व्यक्तिने व्यवहिने, जब उनको ही अपेक्षणम्भिने होना चाहिये। क्योंकि वो व्यवहार !व्यवहारों पुनरावृत्ति शिष्ट व्यवहारों होता है। यही हेतु (चाहे) चाहे व्यवहार है। स्वर्ग यहां जिस भाव को व्यवहारमें करनेमें यावत्ते ही चाहिये वहीं यहां व्यवहार होता है और यह काल यावत्त दिखाने वाला होता है यावत्ते ; वह व्यवहारों व्यवहारमें यावत्ते व्यवहार व्यवहारों हो अर्थात् होती है जिसमें अन्य कुछ भी नहीं होता है। यदि अपेक्षणम्भिनवाचिनों ( जिसमें अन्य ; यावत्तों व्यवहारों व्यवहारमें यावत्ते व्यवहारमें यावत्ते ) भी चाहे तो [यहां] लोचन आदिके भी व्यवहार हो जावे। व्यवहार्य—पुरुषोत्तम व्यवहारमें [जिस व्यक्तिकी प्रकृति यावत्ते है [उसे अधिकी शुद्धि हो तब व्यवहार यावत व्यवहार यावत्त होती अपेक्षणम्भिने होती है, इसलिए यावत्ते अपेक्षणम्भिने व्यवहारों तो लुप्त लोचन चाहे हैं, वह भी चाहे हो जावे, जो कि पुरुषसे अतीत नहीं है। इस व्यवहार व्यवहारों यावत्ते व्यवहारों [यहां] के अर्थात् अपेक्षणम्भिनों हेतु हेतुके यावत ही व्यवहार है। क्योंकि, यहां व्यवहारों यावत्ते व्यवहारों व्यवहारों के यावत्ते व्यवहार यावत यावत्ते हेतुके व्यवहार यहां व्यवहार यावत्ते व्यवहारमें है, उसमें भी यावत्तम्भाव है, यह व्यवहारमें है। और '' भी व्यवहारका यावत्त ( यहां यावत्त ) व्यवहार है, यह व्यवहार है ; होता भी व्यवहारमें हेतुके हेतुमें व्यवहारों व्यवहार यावत्ते है, उस व्यवहारमें भी व्यवहार यावत्त व्यवहारों यावत्ते-यावत्ते व्यवहारमें यहां व्यवहार व्यवहारों व्यवहार यावत्ते ही व्यवहारमें [यहां] होती है। तो कि व्यवहार-विशेषणमें यावत ही व्यवहारमें ( व्यवहार ) है ; पुरुष अपर यह भी यावत्तम्भाव व्यवहार व्यवहार नहीं है। और ' व्यवहारों यावत्ते व्यवहार व्यवहारों व्यवहारमें व्यवहार है, यह व्यवहार है। ' होता है इस ' व्यवहारों यावत्ते है, यह भी व्यवहारमें ( व्यवहार ) है।

प्रमेयमपि तैरात्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गभेदाद्द्वादशविधमुक्तम् । तच्च न सम्यग् । यतः शरीरेन्द्रियबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषफलदुःखानामात्मन्येवान्तर्भावो युक्तः । संसारिण आत्मनः कथञ्चिदविष्वग्भूतत्वात् । आत्मा च प्रमेय एव न भवति । तस्य प्रमातृत्वात् । इन्द्रियबुद्धिमनसां तु करणत्वात् प्रमेयत्वाऽभावः । दोषास्तु रागद्वेषमोहास्ते च प्रवृत्तेर्न पृथग्भवितुमर्हन्ति । वाङ्मनःकायव्यापारस्य शुभाशुभफलस्य विंशतिविधस्य तन्मते प्रवृत्तिशब्दवाच्यत्वात् । रागादिदोषाणां च मनोव्यापारात्मकत्वात् । दुःखस्य शब्दादीनामिन्द्रियार्थानां च फल एवान्तर्भावः । " प्रवृत्तिदोषजनितं सुखदुःखात्मकं मुख्यं फलं तत्साधनं तु गौणम् । " इति जयन्तवचनात् । प्रेत्यभावापवर्गयोः पुनरात्मन एव परिणामान्तरापत्तिरूपत्वान्न पार्थक्यमात्मनः सकाशादुचितम् । तदेवं द्वादशविधं प्रमेयमिति वाग्विस्तरमात्रम् । " द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु प्रमेयम् " इति तु समीचीनं लक्षणम् । सर्वसंग्राहकत्वात् । एवं संशयादीनामपि तत्त्वाभासत्वं प्रेक्षावद्भिरनुपेक्षणीयम् । अत्र तु प्रतीतत्वाद् ग्रन्थगौरवभयाच्च न प्रपञ्चितम् । न्यक्षेण ह्यत्र न्यायशास्त्रमवतारणीयम् । तच्चावतार्यमाणं पृथग्ग्रन्थान्तरतामवगाहत इत्यास्ताम् ।

उन नैयायिकोंने प्रमेय ( प्रमाण करने योग्य जो पदार्थ ) है; उसको भी आत्मा १, शरीर, २, इन्द्रिय ३, अर्थ ४, बुद्धि ५, मन ६, प्रवृत्ति ७, दोष ८, प्रेत्यभाव ९, फल १०, दुःख ११ और अपवर्ग; इन भेदोंसे बारह १२ प्रकारका कहा है। और वह बारह प्रकारके प्रमेयका कथन करना उचित नहीं है । क्योंकि;—शरीर १, इन्द्रिय २, बुद्धि ३, मन ४, प्रवृत्ति ५, दोष ६, फल ७, तथा दुःख ८; इन आठ भेदोंका तो आत्मामें ही अन्तर्भाव कर लेना ठीक है अर्थात् शरीरादि आठ प्रमेयोंको तो आत्मारूप प्रमेयमें ही मिला लेने चाहियें । क्योंकि जो संसारी आत्मा है; वह किसी प्रकार ( अपेक्षा ) से इन शरीर आदिसे भिन्न नहीं है अर्थात् शरीरादिरूप ही है । और जो आत्मा है वह तो प्रमाता ( प्रमितिक्रियाका करनेवाला ) है अतः प्रमेय ही नहीं हो सकता है । इन्द्रिय, बुद्धि तथा मन ये तीनों तो करण हैं अर्थात् प्रमाता इनके द्वारा प्रमितिक्रियाको करता है अतः प्रमेय नहीं है । और दोष जो राग, द्वेष तथा मोहरूप हैं; वे प्रवृत्तिसे जुदे होने योग्य नहीं हैं । क्योंकि; उन नैयायिकोंके मतमें शुभ और अशुभफलको धारण करनेवाला ऐसा जो बीस २० प्रकारका मन, वचन, तथा काय; इन तीनोंका व्यापार है;

यो। यहाँसिद्धान्तसे बाह्य ( बाहरके लोग ) हैं अर्थात् जो वैशेषिकोंने पदार्थोंके सामान्य, विशेष और समवाय नामके तीन प्रकारके भेद माने हैं और बाद अभाव और भी माने हैं। तुम्हारे द्वारा उक्त पदार्थ जो हेतुओंके विषय हैं, उनका खण्डन करनेमें हम समर्थ होंगे। इस प्रकार हेतुके जो दो लक्षण हैं वे दूषणाभास होनेसे ही साधित होते हैं। 'अविनाभाव' अर्थात् साध्यके बिना जो हेतुका न होना। यही मुख्य लक्षण है, यह सूत्रका अर्थ है। 'केवल' असहायवाचक है। केवलका अर्थ असहाय है। जो हेतु साध्यके बिना होता है वह दूसरे दृष्टिविरुद्ध है अर्थात् अनुमान ही युक्तिविरुद्धका ज्ञान होनेसे इस वैशेषिक तथा अक्षपादोंके दूषण परिणाम ( अवस्था ) को प्राप्त होता है, अतः इस दोनोंके आभासके सूत्रे पलटा उचित नहीं है। तो इस दूषणाभासोंसे साधनाभासके लोकोंके जो लक्षण किये हैं, वह केवल मतान्तरके ( दूसरेके अभिप्राय ) को दूर करनेके लिये है। और उक्त तीन दूषणाभासके लक्षण हैं, वह भी इस जैनोंने वैशेषिक लक्षण किया है। तीसरे बहुत उपयुक्त है। क्योंकि,—यह लक्षण सकल लक्षण खण्डनेवाला है। इस सूत्रोंके द्वारा वैशेषिक पुरुषोंको उपलब्ध नहीं होते हैं। अन्यापोहवाला वैशेषिक नहीं जानता। पहिले। गौतमादि—जैसे वैशेषिकोंके [ ? ] पदार्थोंके लक्षण सूत्र वैशेषिकोंके द्वारा लक्ष्य स्थानोंके दूषणाभासपना सिद्ध किया है; उसीप्रकार विज्ञानवाद पुरुष [ ? ] जैन बौद्ध [ ? ] वैशेषिकोंके भी दूषणाभासपना सहज होवे। यहाँ तीसरे लक्षण पक्षधर्मत्व आदि कहे हुए हैं इस कारणसे पुनः उनका कथन करनेसे ग्रन्थ विस्तार होगा इसलिये हमने उनको निरूपण नहीं किया है। क्योंकि यहाँ पूर्वोक्तसे [ वैशेषिकोंके पास ] का अवतरण करना चाहिये सम्पूर्ण वैशेषिकोंके मतको दिखलाना चाहिये। और अवतरण किया हुआ ग्रन्थ अनवद्य ( दोष रहित ) होना चाहिये। इस कारण यह अधिकार यहाँ न कहा हुआ ही ठीक है।

तदेवं प्रमाणविषयोऽनेकधर्मात्मागविशिष्टोऽर्थ इत्याभासत्वे एकदेशविशिष्टदुर्नयविषयाः प्रमाणसंग्रह फलादिनिरूपणनामा आगोपदेशादिनिरपेक्षोपक्षेपः फलम्। तत्र परस्य पदवाक्यार्थविच्छेदोपपादनेन पक्षनिक्षिप्तदूषणाह। तत्रिया वाक्यार्थ इत्यादिना वाक्यार्थमर्थं यौगि। अथ शब्दार्थे शब्दे प्रयुक्ते वाक्यपदमेकेनाक्षरेणोच्चारितमनेकाक्षरं वा तत्र। एवं वाक्यपदयोरन्योन्ये सापेक्षयोः इति वृत्तिनिरपेक्षता दर्शिते वा। योग्यतासंसर्गेण विशेषणविशेष्यभूतयोः इति। संसर्गस्तत्र कथ्यते। इतरेतरसंबन्धिनोरपि पदयोरन्योन्यसापेक्षत्वात् इतरेतरयोगत्वेन लक्षितयोः सापेक्षत्व-

च्छलम् । यथा अहो नु खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याऽऽचरणसंपन्न इति ब्राह्मणस्तुतिप्रसङ्गे कश्चिद्वदति संभवति ब्राह्मणे विद्याऽऽचरणसंपदिति । तच्छलवादी ब्राह्मणत्वस्य हेतुतामारोप्य निराकुर्वन्नभियुङ्क्ते । यदि ब्राह्मणे विद्याऽऽचरणसंपद्भवति ब्रात्येऽपि सा भवेद्ब्रात्योऽपि ब्राह्मण एवेति । औपचारिके प्रयोगे मुख्यप्रतिषेधेन प्रत्यवस्थान मुपचारच्छलम् । यथा मञ्चाः क्रोशन्तीत्युक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते कथमचेतना मञ्चाः क्रोशन्ति मञ्चस्था पुरुषाः क्रोशन्तीति ।

सो इस पूर्वोक्तप्रकारसे प्रमाण आदि सोलह पदार्थोंके तत्त्वाभासपनेमें कोई भी विशेष नहीं है अर्थात् नैयायिकोंके माने हुए सोलह ही पदार्थ समानरूपतासे तत्त्वाभास हैं; तो भी स्तुतिके कर्त्ता आचार्यमहाराजने 'मायोपदेशात्' इस पदसे उन पदार्थोंमेंसे प्रकटमें कपटरूप नाटकके सूत्रधार अर्थात् सर्वसाधारणके देखते २ कपटको रचनेवाले ऐसे जो छल, जाति तथा निग्रहस्थान नामक तीन पदार्थ हैं; उनका ही उपक्षेप ( ग्रहण ) किया है । उनमें वादी जो कहे; उसके कथनमें अर्थविकल्प ( दूसरे अर्थ ) को उत्पन्न करके जो वादीके वचनका निषेध करना है; उसको छल कहते हैं । वह छल वाक्छल १, सामान्यछल २ और उपचार-छल ३; इन भेदोंसे तीन प्रकारका है । इन तीनों छलोंमेंसे वादी साधारणशब्द ( अनेक अर्थोंके धारक एक शब्द ) का प्रयोग करे; तब उस कहनेवाले वादीके वांछित ( चाहे हुए ) अर्थसे अन्य दूसरे अर्थकी कल्पना करके जो वादीके कथनका निषेध करना है; वह वाक्छल है । जैसे यह बालक नव ( नये ) कम्बल ( 'कामला' नामक वस्त्रविशेष ) को धारण करता है; इस प्रकार 'नव' शब्दसे नवीन ( नये ) रूप अर्थको कहनेकी इच्छासे वादी कहे; तब प्रतिवादी नव इस शब्दसे नौ ९ की संख्यारूप अर्थको ग्रहण करके इस बालकके नव ( नौ ) कम्बल कहां हैं अर्थात् यह तो एक ही कंबलका धारक है इस प्रकार कहकर वादीके कथनको निषेध करता है । १ । संभावनासे अत्यंत प्रसंग ( संबंध ) को धारण करनेवाले सामान्यका कथन करनेपर उस सामान्यमें हेतुका आरोप करके अर्थात् सामान्यको हेतु बनाकर जिसमें दूसरेके कथनका निषेध किया जाता है; वह सामान्यछल कहलाता है । जैसे आश्चर्य है कि—यह ब्राह्मण विद्या और आचरणरूप संपदाको धारण करता है; इस प्रकार ब्राह्मणकी स्तुतिके प्रसंगमें अर्थात् यह ब्राह्मण ज्ञान व चारित्र सहित है इसरूपसे कोई ब्राह्मणकी प्रशंसा करता हो; उसी अवसरमें कोई पुरुष कथन करे कि; ब्राह्मणमें विद्या और आचरणरूप संपदा हो सकती है । तब सामान्यछलको कहनेवाला

[illegible]

[illegible] ।

[illegible]

[illegible]

साधर्म्यप्रयोगेणैव प्रत्यवस्थानम्। नित्यः शब्दो निरवयवत्वादाकाशवत्। न चास्ति विशेषहेतुर्घटसाधर्म्यात्कृतकत्वादनित्यः शब्दो न पुनराकाशसाधर्म्यान्निरवयवत्वान्नित्य इति। वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं वैधर्म्यसमा जातिर्भवति। अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदित्यत्रैव प्रयोगे सं एव प्रतिहेतुर्वैधर्म्येण प्रयुज्यते। नित्यः शब्दो निरवयवत्वात्। अनित्यं हि सावयवं दृष्टं घटादीति। न चास्ति विशेषहेतुर्घटसाधर्म्यात् कृतकत्वादनित्यः शब्दो न पुनस्तद्वैधर्म्यान्निरवयवत्वान्नित्य इति। उत्कर्षापकर्षाभ्यां प्रत्यवस्थानमुत्कर्षापकर्षसमे जाती भवतः। तत्रैव प्रयोगे दृष्टान्तधर्मं कंचित्साध्यधर्मिण्यापादयन्नुत्कर्षसमां जातिं प्रयुङ्क्ते। यदि घटवत् कृतकत्वादनित्यः शब्दो घटवदेव मूर्तोऽपि भवतु। न चेन्मूर्तो घटवदनित्योऽपि मा भूदिति शब्दे धर्मान्तरोत्कर्षमापादयति। अपकर्षस्तु घटः कृतकः सन्-अश्रावणो दृष्टः। एवं शब्दोऽप्यस्तु। नो चेद् घटवदनित्योऽपि मा भूदिति शब्दे श्रावणत्वधर्ममपकर्षतीति। इत्येताश्चतस्रो दिङ्मात्रदर्शनार्थं जातय उक्ताः। एवं शेषा अपि विंशतिरक्षपादशास्त्रादवसेयाः। अत्र त्वनुपयोगित्वान्न लिखिताः।

उन २४ प्रकारकी जातियोंमेंसे जो साधर्म्यके द्वारा प्रत्यवस्थान है; वह साधर्म्यसमा जाति कहलाती है। भावार्थ—जैसे कोई वादी ' शब्द जो है; वह अनित्य है। कृतक होनेसे, घटके समान अर्थात् जैसे कृतक ( अपनी उत्पत्तिमें दूसरेके व्यापारको चाहनेवाला ) होनेसे घट अनित्य है; उसी प्रकार कृतक होनेसे शब्द भी अनित्य है; ऐसा अनुमानका प्रयोग करे अर्थात् घटके कृतकस्वरूप धर्मको शब्दमें ग्रहण करके शब्दको अनित्य सिद्ध करे तब प्रतिवादी जो ' शब्द नित्य है निरवयव होनेसे आकाशके समान अर्थात् जैसे अवयवरहित होनेके कारण आकाश नित्य है; उसी प्रकार अवयवरहित होनेसे शब्द भी नित्य है। और घटके साधर्म्यरूप कृतकत्वको धारण करनेसे शब्द अनित्य है तथा आकाशके साधर्म्यरूप निरवयवत्वको धारण करता हुआ भी शब्द नित्य नहीं है इस माननेमें कोई विशेषहेतु ( नियामक ) नहीं है जिससे कि—शब्दको घटके समान अनित्य ही माना जावे और आकाशके समान नित्य न माना जावे। इस प्रकार आकाशके निरवयवत्वधर्मका धारक शब्दको दिखलाकर वादीके कथनसे विरुद्ध भाषण करे अर्थात् शब्दमें नित्यता सिद्ध करे तो समझना चाहिये कि; यहां पर प्रतिवादी साधर्म्यसमा जातिका प्रयोग



१. निरवयवत्वरूप एव। २. घटरूपदृष्टान्तवैधर्म्येण।

लिये कही गई है। इसीप्रकार बाकी की जो बीस जातियें है; उनका स्वरूप भी गोतमके शास्त्र ( न्यायदर्शनसूत्र अथवा वैशाषिकोंके ग्रन्थों ) से जान लेना चाहिये। इस प्रकृत ग्रन्थमें तो वे अनुपयोगी है; इसलिये उनका स्वरूप नहीं लिखा गया है।

तथा विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्। तत्र विप्रतिपत्तिः साधनाभासे साधनबुद्धिर्दूषणाभासे च दूषणबुद्धिरिति। अप्रतिपत्तिः साधनस्यादूषणं दूषणस्य चानुद्धरणम्।तच्च निग्रहस्थानं द्वाविंशतिविधम्।तद्यथा—प्रतिज्ञाहानिः, प्रतिज्ञान्तरं, प्रतिज्ञाविरोधः, प्रतिज्ञासंन्यासः, हेत्वन्तरं, अर्थान्तरं, निरर्थकं, अविज्ञातार्थं, अपार्थकं, अप्राप्तकालं, न्यूनं, अधिकं, पुनरुक्तं, अननुभाषणं, अज्ञानं, अप्रतिभा, विक्षेपः, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षणं, निरनुयोज्यानुयोगः, अपसिद्धान्तः, हेत्वाभासाश्च।

और विप्रतिपत्ति तथा अप्रतिपत्ति जो है; उसको निग्रहस्थान कहते हैं। उसमें साधनाभासमें अर्थात् जो यथार्थमें तो साधन न हो; परंतु साधन जैसा जान पड़े उसमें जो साधनकी बुद्धि है अर्थात् साधनपना मान लेना है; वह, तथा दूषणाभास ( दूषणके समान प्रतीत होनेवाले ) में जो दूषणकी बुद्धिका होना है; वह; ऐसे इन दोनों प्रकारोंरूप तो विप्रतिपत्ति है। और साधनका अदूषण अर्थात् प्रतिवादीके साधनको दोषरहित मानलेना तथा प्रतिवादीके दिये हुए दूषणको दूर न करना; इन दोनों प्रकारोंरूप अप्रतिपत्ति है। यह निग्रहस्थान बाईस २२ प्रकारका है। वे भेद इस निम्न लिखित रीतिसे है—प्रतिज्ञाहानि १, प्रतिज्ञान्तर २, प्रतिज्ञाविरोध ३, प्रतिज्ञासंन्यास ४, हेत्वन्तर ५, अर्थान्तर ६, निरर्थक ७, अविज्ञातार्थ ८, अपार्थक ९, अप्राप्तकाल १०, न्यून ११, अधिक १२, पुनरुक्त १३, अननुभाषण १४, अज्ञान १५, अप्रतिभा १६, विक्षेप १७ मतानुज्ञा १८, पर्यनुयोज्योपेक्षण १९, निरनुयोज्यानुयोग २०, अपसिद्धान्त २१ और हेत्वाभास २२।

तत्र हेतावनैकान्तिकीकृते प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽभ्युपगच्छतः प्रतिज्ञाहानिर्नाम निग्रहस्थानम्। यथाऽनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वाद् घटवदिति प्रतिज्ञासाधनाय वादी ब्रुवन् परेण सामान्यमैन्द्रियकत्वमपि नित्यं दृष्टमिति हेतावनैकान्तिकीकृते यद्येवं ब्रूयात् सामान्यवद्घटोऽपि नित्यो भवत्विति। स एवं ब्रुवाणः शब्दाऽनित्यत्वप्रतिज्ञां जह्यात्। प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे परेण कृते तत्रैव धर्मिणि धर्मान्तरं साधनीयमभिदधतः प्रतिज्ञान्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति। अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते तथैव सामान्येन व्यभिचारे चोदिते यदि ब्रूयाद्युक्तं सामान्य-

लिङ्गपर्व लिङ्गम् । [illegible] । [illegible] शब्द इति । तदिदं [illegible] प्रतिज्ञान्तर-
[illegible] पृथक् [illegible] विचारस्थानम् । [illegible] । इह तु न [illegible] ।
[illegible] सूचितम् । [illegible]
[illegible] । इति [illegible] ॥३०॥

सू० ३१ [illegible] ( व्यभिचारी ) सिद्ध करते [illegible]
[illegible] होता है । [illegible]
[illegible] है [illegible] ( [illegible] ) [illegible]
[illegible] है, [illegible]
[illegible]
[illegible] है, [illegible]
[illegible] है । ? । [illegible] ( [illegible] )
[illegible]
[illegible] होता है । [illegible] है । [illegible]
[illegible] है [illegible]
[illegible] है [illegible]
[illegible] है [illegible]
[illegible]
[illegible] होता है । [illegible]
[illegible] है । [illegible]
[illegible] है । [illegible] ( [illegible] ) [illegible]

जाति और निग्रहस्थानोंका तत्त्वरूपता ( पदार्थपने ) से उपदेश देतेहुए गोतमऋषीके वैराग्यका वर्णन करना अर्थात् छल आदिके उपदेष्टा गोतमको कारुणिक कहना मानों अंधकारको प्रकाशस्वरूप कहनेके समान है; अतः कैसे उपहासके योग्य न हो। भावार्थ—जैसे अंधकारको प्रकाशरूप कहता हुआ पुरुष हास्यका पात्र होता है; उसीप्रकार छल आदिके उपदेष्टा गोतमको कारुणिक कहते हुए नैयायिक भी उपहासके पात्र है। इस प्रकार काव्यका अर्थ है ॥ १० ॥

**अधुना मीमांसकभेदाभिमतं वेदविहितहिंसाया धर्महेतुत्वमुपपत्तिपुरस्सरं निराकुर्वन्नाह।—**

अब एक प्रकारके मीमांसक अर्थात् पूर्वमीमांसक और उत्तरमीमांसक ( वेदान्ती ) इन दो प्रकारके मीमांसकोंमेंसे पूर्वमीमांसक जो है; वे वेदमें कही हुई हिंसाको जो धर्मकी कारणभूता मानते हैं; उसका युक्तिपूर्वक खंडन करते हुए आचार्य इस अग्रिम काव्यका कथन करते हैं—

**न धर्महेतुर्विहितापि हिंसा नोत्सृष्टमन्यार्थमपोद्यते च।**
**स्वपुत्रघातान्नृपतित्वलिप्सासब्रह्मचारि स्फुरितं परेषाम् ॥ ११ ॥**

**सूत्रभावार्थः**—वेदमें कही हुई भी हिंसा धर्मकी कारण नहीं है। और यदि पूर्वमीमांसक कहें कि; वेदोक्त हिंसाकी विधि अपवादमार्गसे है; इसकारण दोषके लिये नहीं है; सो उचित नहीं है। क्योंकि; उत्सर्गवाक्य जो है; वह दूसरे कार्यके लिये प्रयुक्त किये हुए वाक्यसे अपवादका विषय नहीं होता है अर्थात् शास्त्रमें जिस प्रयोजनको अवलम्बनकरके उत्सर्गवाक्य वर्त्तता है; उसी प्रयोजनको ग्रहणकरके अपवादवाक्य भी वर्त्तता है। इस कारण उन मीमांसकोंकी चेष्टा अपने पुत्रको मार कर राजा बननेवाले पुरुषकी चेष्टाके समान है। **भावार्थ**—जैसे कोई अपने पुत्रको मारकर राजा



१. मीमांसका द्विधा—पूर्वमीमांसावादिनः, उत्तरमीमांसावादिनश्च। तेषु पूर्वमीमांसावादिनामभिमतम्। २. युक्तिपूर्वकम्।

चलजावे तो भी वह अगले पुरुषको मारनेके कारणसे नहीं पाप लगता है, इसीप्रकार यद्यपि वेदोक्त हिंसाको करने से मीमांसक हिंस वेदविद्वानोंको प्रसन्न करलेते हैं, तथापि वे पापसहित उस विद्वान्तिल पापसे रहित नहीं हो सकते हैं ॥ ६१ ॥

अथवा । यह व्यासपीठरंगोत्तरविपक्षभूमिपालीलिना मैत्रिलीवा पुत्यमाख्यातं । यत्र हिंसा गाव्यादि व्यवस्थितेषु या क्रियते तत्रधर्मानुसम्पत्तेः । प्रमादस्खलितात् । दोनिकहरणकाशीनाथिन ५ वेदविधिना तु हिंसा पशुना यज्ञोनुः । देवतादिविधिपिहगा पीतिर्वेषादकत्वात् । तस्मादिपक्षुत्पादवत् । न च वर्त्तीत्रेमम्मावफलमभिन्दात् । लोरोपिकशृणिपक्षालां स्वगात्वं पुत्यादिफले पः सम्बन्धमिभारा या तासीलिनदेवतागिरोधात्मकहेतुक ५ ब्दो त्रिंपुरुषर्णपलिरन्धकुत्राक्षुद्रहेःपाशपरादुधर्मोकृषिरपि अदनुकूलिनवैपत्यत्वात्संपागा । कलिंधिपोत्रिंसु मधुपोके वाहकारदिसमाख्यापला मापदोषनर्लोप । पितृगासदि मासपुरुषतापितलाक्षादिगिगालेन श्रीहिंसाफलं केवलमात्रेण हिंसिगालं गाव्यादेप पीत्वते । अत्रापक्षाम पमा५क्षु ५ त च वेदप्रतिपर्यन्तभागेषोमेधादिविधानागिधायकः प्रतिज्ञ पप । प्रतिषिद्धिगालस्तु "गहोर्ष पा महाजं पा श्रोत्रियाय प्रकल्पयेत्।" इत्यादि १ किंगोगिगर्यमु "ह्रौ माहे चतुरगामंग पीत्वागाल, द्वादिजेन तु । श्रीत्यलेगाय चतुरः शाकुलेनह पक्ष तु १ २ । इत्यौहिः ५

व्याख्यार्थ—यहां पर व्यासिपीठ निवास ( पीठपुर ) पुत्यादिके गायक वैदर्भीय ( वैदर्भिकाशीहे निवास करनेवाले ) ऐसा कहते हैं कि; यज्ञमें न विधिपूर्वक संस्कार की हुई मैत्रीवरुणदेवता की बकरी है, वहां पापके संपर्क नहीं है । क्योंकि, यज्ञकर्ता की आज्ञा है । और जो वेदोक्त हिंसा है वह तो पापके संपर्क वाली नहीं है किंतु उसकी तरह यज्ञादिकी पूजा

---

१ ये सब कल्पनीय करने वेदवर्णित श्रीहिंसाकर्मकी पुष्टि करने के कारण श्रीहिंसाकी व्यवस्थिति । १ विद्वत्पक्षकी व्यवस्थिति । २ पाठ १ में नेतु अशुद्ध, पशुघ्नेतु । ५ वर्षाकालमें खाने हुए संस्कारहीन गवादिकी व्यवस्थिति । एवंरूपसे । ६ व्यवस्थिति । ७ यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ८ यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ९ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । १० । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ११ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । १२ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । १३ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । १४ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । १५ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । १६ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । १७ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । १८ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । १९ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । २० । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । २१ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । २२ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । २३ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । २४ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । २५ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । २६ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । २७ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । २८ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । २९ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ३० । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ३१ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ३२ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ३३ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ३४ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ३५ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ३६ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ३७ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ३८ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ३९ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ४० । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ४१ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ४२ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ४३ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ४४ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ४५ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ४६ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ४७ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ४८ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ४९ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ५० । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ५१ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ५२ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ५३ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ५४ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ५५ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ५६ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ५७ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ५८ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ५९ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ६० । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ६१ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ६२ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ६३ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ६४ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ६५ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ६६ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ६७ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ६८ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ६९ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ७० । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ७१ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ७२ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ७३ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ७४ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ७५ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ७६ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ७७ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ७८ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ७९ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ८० । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ८१ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ८२ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ८३ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ८४ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ८५ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ८६ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ८७ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ८८ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ८९ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ९० । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ९१ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ९२ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ९३ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ९४ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ९५ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ९६ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ९७ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ९८ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । ९९ । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है । १०० । यहांपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि यह वे न अश्वमेधका अंगीभूत विधेय पशु है ।

सेवाके समान धर्मकी कारण है। क्योंकि देवता अतिथि और पितृजनोंके प्रीतिको उत्पन्न करती है। भावार्थ—जैसे वेदोक्त पूजासेवाके करनेसे देवतादि प्रसन्न होते हैं; उसी प्रकार इस वेदोक्त हिंसासे भी देवतादि प्रसन्न होते है अतः यह वेदोक्तहिंसा धर्मबंधकी कारण है। और वेदोक्त हिंसासे देवतादिके प्रीति उत्पन्न नहीं होती है; ऐसा न कहना चाहिये अर्थात् वेदोक्तहिंसासे देवतादि प्रसन्न होते ही है। क्योंकि; कारीरीनामक यज्ञको आदि ले जो यज्ञ हैं; उनके अपने द्वारा सिद्ध करने योग्य वृष्टिआदि फलमें जो अव्यभिचारित्व ( सफलता ) है; वह उन यज्ञोंसे प्रसन्न किये हुए देवोंके अनुग्रहरूप हेतुवाला ही है अर्थात् कारीरी-आदि यज्ञोंके करनेसे जो वृष्टि ( वर्षा ) आदि फलोंकी प्राप्ति होती है; वह उन यज्ञोंद्वारा प्रसन्न किये हुए देवोंकी कृपासे ही होती है। इसी प्रकार त्रिपुरार्णवनामक एक प्रकारके ग्रन्थमें कहे हुए बकरे तथा जांगल ( वनके पशु ) के होमसे दूसरेके राज्यको वशमें करना है; वह भी उस होमसे अनुकूल किये हुए देवताओंके प्रसादसे ही सिद्ध होता है। और मधुपर्कपूजामें तथा और सहस्र आदिके भक्षणसे उत्पन्न हुई अतिथिप्रीति (पाहुणेकी प्रसन्नता) तो प्रत्यक्षमें ही देखनेमें आती है। तथा उन २ उपयाचना किये हुए श्राद्ध आदिके करनेसे प्रसन्न हो गया है आत्मा जिनका ऐसे अर्थात् जो २ पितर जिस २ श्राद्धकी याचना करें; उस २ श्राद्धके करनेसे प्रसन्न हुए वे पितर अपने संतानकी वृद्धि करते है अर्थात् श्राद्धकर्त्ताके पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि उत्पन्न करते हैं; यह भी प्रत्यक्षमें देखा जाता है। और आगम भी इस विषयमें प्रमाण है। वह निम्न लिखित प्रकारसे है। देवोंकी प्रीतिके लिये अश्वमेधयज्ञ ( जिसमें घोडा मारा जावे ऐसे यज्ञ, ) को तथा गोमेधयज्ञ आदिको कहनेवाला आगम प्रसिद्ध ही है। " आये हुए श्रोत्रिय ( वेदपाठी ) के लिये बड़े बैलको अथवा बड़े बकरेको प्रकल्पन करे अर्थात् मारे। " इत्यादि आगम अतिथि ( पाहुणे ) की प्रीतिके लिये हिंसा करनेका उपदेश देता ही है। तथा पितरोंकी प्रीतिके लिये " मत्स्य ( मांछले ) के मांससे दो महिने तक, हिरणके मांससे तीन महिने तक मेष ( मेंढे ) के मांससे चार महिने तक और शाकुन ( पक्षिविशेष ) के मांससे पांच महिनेतक पितृजन तृप्त रहते हैं अर्थात् यदि उक्त जीवोंके मांससे श्राद्ध किया जावे तो पितृजन उक्त समयपर्यन्त किसी पदार्थको खानेकी इच्छा नहीं करते हैं। १। " इत्यादि कथन करनेवाला आगम है।

एवं पराभिप्रायं हृदि संप्रधार्याचार्यः प्रतिविधत्ते। न धर्मेत्यादि। विहितापि वेदप्रतिपादितापि आस्तां तावद-विहिता हिंसा प्राणिप्राणव्यपरोपणरूपा न धर्महेतुर्न धर्मानुबन्धनिबन्धनम्। यतोऽत्र प्रकट एव स्ववचनविरोधः।

तथाहि—" विधिना चेत्प्रवर्तेतेतु। कथम् " । " पर्युदासेऽपि संसर्गपक्षे क्षुण्णा चैषावधार्यताम् ।" इत्यादि। न हि नञर्थे माता च पत्या चेति । द्विष्ठा चात्रत्वे, भावांशस्तु तत्कार्यविधिना गतार्थत्वात्। । नञर्थो निरवयवः। यदो पर्युदासस्तत्सदृशप्रतिपादनपुरस्सरेणैव सम्बन्धं गमयति । यथा सूपिमच्चैत्रमैत्रादि। न च धर्मो विधाय यत्र भवतीति वाक्यशेषिकम् । तत्रोद्देश्यविधानसामर्थ्यगतानां तदङ्गत्वावगमात्। ।

इस पाठपर तत्र एतेषांगाक्षेपके अवलम्बसे इसने पाठ पढ़ते पुस्तिके पर्व वाक्यसम्बन्धसे " न सर्व " इत्यादि लोकसे उत्तरे वाक्य लेकर लिखे हैं. यह अशुद्धमात्र है।—" विधिना अपि " केवल भी कुछ भी अर्थात् केवल न खाने कुछ देश के कुछ नहीं वेदोक्त भी औरोंके वाक्यका त्याग कालेखक लिखा । " पर्युदासे ॥ पर्यंता पाठ " न " नहीं है। क्योंकि, इस वेदोक्त दिखाने वाली वाक्य लगानेमें अर्थ करनेके पर्यंत अपने मिलेप पाठ है। जो ये लिखते हैं—यहां पैंतीस दे को पत्नी आप देते हैं। और पत्नीके हाथ से नहीं लिया भेजे है। क्योंकि श्री लिखा है यह पत्नीके वास्ते नहीं है, जो पत्नीका वास्ते है। यह लिखना नहीं है। क्योंकि—"तुम पत्नीके लोग (गाय्रुह लोग) दो साथ खाओ और भगवानके लक्ष्यमें पवित्र करो, यह पत्नीका वास्ते यह है कि, अपने पतिके पवित्र होनेके पर फलों भर्तृन् भी तुमको दुख नहीं: यह अर्थ इस मन्त्रके लिये भी लग सकता।।" इसलिये स्वामि दयानन्दके वाक्यसे खण्डन पड़ता है। और पत्नी नहीं खाती है. ऐसा लिखना पाखण्ड—जैसे कोई किसी औरको भोजन तो करावे और स्वयं न खावे तो इसमें उसको स्वयं अवश्य विशेष लाभ है। क्योंकि, जो दान है, वह दाता नहीं ही फलती है और भी दाता हो यह दान नहीं ही भक्षती है, इसी प्रकार औरोंके वाक्यका त्याग करनेका प्रेमियोंका यह अभिप्राय है कि—प्रेम तो भाव है और पात्र उस प्रेमका आधार मिला है तो यह लेखना अवश्य ही नहीं है। क्योंकि, जो विषय पत्नीके (खाने) देखकर अपने मनमाने चलता है और अतिरिक्त होनेसे अपने पतिव्रतको खण्डन है; यही पत्नीके वास्ते होने हैं। जैसे कि; पुस्तिके अतिरिक्त पत्नीके लगा लोगोंके देखकर यह आदि अपना लक्ष्य और अतिरिक्त करते हैं। तात्पर्य—जैसा यह पुस्तिकके सम्बन्धे सारी पत्नीको और पुस्तिकके अवलोके अपने सम्बन्धको खण्डन है: यह यह पुस्तिकाके

---

१. यत्पक्षे पतिव्रतायाः लक्षणं न तत्सम्बन्धि। २. हनुमन्नाटके।

कारणका कार्य है; उसी प्रकार यदि धर्म हिंसाके सत्त्वमें अपने सत्त्वको तथा हिंसाके अभावमें अपने अभावको करे तो धर्म हिंसारूप कारणका कार्य हो सकता है। और धर्म हिंसासे ही होता है; यह प्रतीतिका विषय नहीं है। क्योंकि यदि तुम हिंसासे ही धर्मका होना मानोगे तो तपका करना, दानका देना, ध्यानका साधना; इत्यादि जो हैं; उनके धर्मकी अकारणताका प्रसंग हो जावेगा अर्थात् तपश्चरण आदि धर्मके कारण न रहेंने और यह तुमको अनिष्ट है।

**अथ न वयं सामान्येन हिंसां धर्महेतुं ब्रूमः किंतु विशिष्टामेव। विशिष्टा च सैव या वेदविहिता इति चेत्— ननु तस्या धर्महेतुत्वं किं वध्यजीवानां मरणाऽभावेन मरणेऽपि तेषामार्त्तध्यानाऽभावात्सुगतिलाभेन वा। नाद्यः पक्षः। प्राणत्यागस्य तेषां साक्षादवेक्ष्यमाणत्वात्। न द्वितीयः। परचेतोवृत्तीनां दुर्लक्षतयाऽऽर्त्तध्यानाऽभावस्य वाङ्मात्रत्वात्। प्रत्युत हा कष्टमस्ति। न कोऽपि कारुणिकः शरणम्। इति स्वभाषया विरसमारसत्सु तेषु यदन्- दैन्यनयनतरलतादीनां लिङ्गानां दर्शनात् दुर्ध्यानस्य स्पष्टमेव निष्टङ्क्यमानत्वात्।**

यदि कहोकि—हम सामान्यपनेसे हिंसाको धर्मकी कारण नहीं कहते हैं अर्थात् जो हिंसा है; उस सभीको धर्मकी कारण नहीं मानते हैं; किन्तु विशिष्ट ( उन हिंसाओंमेंसे एक प्रकारकी ) हिंसाको धर्मकी कारण कहते हैं। और विशिष्ट हिंसा वही है; जो कि—वेदमें कही हुई है अर्थात् हम वेदोक्त हिंसाको ही धर्मकी कारण मानते हैं; तो हम प्रश्न करते हैं कि; यह वेदोक्त हिंसा क्या वध्य ( मारने योग्य ) जीवोंका मरण न होनेसे अर्थात् जिन जीवोंको यज्ञ आदिमें मारे जाते हैं; उनका मरण नहीं होता है जिससे धर्मकी कारण है ? अथवा वे वध्यजीव मरते हैं; तो भी उनके आर्तध्यान न होनेसे सुगति ( स्वर्ग ) की प्राप्ति होती है जिससे धर्मकी कारण है। यदि कहो कि—वेदोक्तविधिसे मारनेपर उन वध्यजीवोंका मरण नहीं होता है; सो यह ठीक नहीं है। क्योंकि उन वध्यजीवोंके प्राणोंका त्याग साक्षात् ( प्रत्यक्षमें ) ही देखते हैं। यदि कहो कि; मरणसमयमें आर्तध्यानके न होनेसे वे वध्यजीव सुगतिको प्राप्त होते हैं; तो यह कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि; दूसरोंकी चित्तवृत्तियें कठिनतासे देखने योग्य हैं। भावार्थ—दूसरे जीव अपने मनमें भला या बुरा कैसा विचार कर रहे हैं; इस विषयका ज्ञान सुगम रीतिसे ही नहीं हो सकता है; जिससे यह जानलिया जावे कि; उन वध्यजीवोंके मरण समयमें आर्तध्यान नहीं होता है। किन्तु उल्टा हा ! बड़ा दुःख हो रहा है हमारे कोई भी करुणावान शरण ग्रहण करनेयोग्य नहीं है। अर्थात् हमको इस महादुःखसे बचानेवाला कोईभी नहीं है।

है; ऐसी शंका भी न करनी चाहिये। क्योंकि; उस वेदोक्तहिंसाके करनेवाले याज्ञिक (यज्ञ करनेवाले) जन लोकमें पूज्य देखे जाते है। भावार्थ—वेदोक्तहिंसाके कर्ता याज्ञिकजनोंको लोक पूजते है; अतः वेदोक्तहिंसा जगतमें निन्दनीय भी नहीं है। सो तुम्हारा यह कथन भी चतुर पुरुषोंके विचारको नहीं सहता है अर्थात् युक्तिरहित ही है। क्योंकि; तुमने जो लोहपिंड आदिके दृष्टान्त दिये हैं, वे विषमरूप होनेसे असाधकतम हैं अर्थात् वेदोक्त विधिसे जीवोंको मारनेरूप दार्ष्टान्तिकमें बराबर न घटनेसे वेदोक्त हिंसाको निर्दोष सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं है। कारण कि; लोहके पिंड आदि जो हैं; वे पत्र (पत्तर) आदिरूप दूसरे भावों (अवस्थाओं वा पर्यायों) को प्राप्त होकर जलमें तिरने आदिरूप क्रियाके करनेमें समर्थ होते है। और वेदोक्तमंत्रोंसे संस्कारकरनेरूप विधिसे भी मारे जाते हुए उन पशुओंके वेदना (पीड़ा) आदिके उत्पन्न न होनेरूप किसी दूसरे भावकी उत्पत्ति प्रतीत नहीं होती है अर्थात् वेदोक्त विधिसे मारे जाते हुए भी वे पशु मरते समयमें वेदनाको ही भोगते हुए देखे जाते है। यदि कहो कि; मारनेके पश्चात् वे जीव देवपनेको प्राप्त हो जाते हैं यह भावान्तर है ही अर्थात् वे पशु मरकर देव हो जाते है यह एक अवस्थाका पलटना है ही है; तो हम प्रश्न करते है कि; इस कथनमें क्या प्रमाण है अर्थात् तुम जो कहते हो कि; वेदोक्तहिंसासे पशु मरकर देव हो जाते हैं; सो कौनसे प्रमाणसे कहते हो। यदि कहो कि; इस कथनमें प्रत्यक्ष प्रमाण है सो तो नहीं हो सकता है। क्योंकि "चक्षु आदि इंद्रियें अपनेसे संबंधको प्राप्त हुए तथा वर्तमान ऐसे पदार्थका ग्रहण करती हैं।" इस वचनसे वह प्रत्यक्ष इंद्रियोंसे संबंधित वर्तमान पदार्थको ही ग्रहण करता है। और इस कथनमें अनुमान प्रमाण भी नहीं हो सकता है। क्योंकि; उस देवपनेकी प्राप्तिरूप भावांतरसे संबंधित जो लिंग (साधन) है; वह जाननेमें नहीं आता है। और आगम प्रमाण भी इस कथनको सिद्ध करनेवाला नहीं है। क्योंकि; वह अबतक भी विवादका स्थान है अर्थात् उसकी सत्यतामें अभीतक संदेह है। तथा अर्थापत्ति और उपमान ये दो प्रमाण तो अनुमान प्रमाणमें ही अन्तर्गत होते है अर्थात् अनुमानके ही भेद हैं; इसकारण अनुमानप्रमाणमें जो साधनकी अप्राप्तिरूप दूषण दिया है; उसीसे गतार्थ है अर्थात् उसी दोषके कारक हैं।



अथ भवतस्मपि जिनायतनादिविधाने परिणामविशेषात्पृथिव्यादिजन्तुजातघातनमपि यथा पुण्याय कल्प्यत इति कल्पना। तथा अस्माकमपि किं नेष्यते। वेदोक्तविधिविधानरूपस्य परिणामविशेषस्य निर्विकल्पं तत्रापि भावात्। नैवम्। परिणामविशेषोऽपि स एव शुभफलो यत्राऽनन्योपायत्वेन यतनयाऽपकृष्टप्रतनुचैतन्यानां पृथि-

व्याख्येयेऽपि वस्तुनि [1]स्वतन्त्रप्रमाणव्यापनात्प्रमाणविरुद्धकल्पनाक्रान्तिर्न दुर्लभा । अपरिहार्ये तु व्याख्येये सम्प्रदायप्रसिद्धमपि परिहरन्ति सभ्याः । व्याख्यातारस्तूपायेषु यतमानाः, देशानुरोधेन तत्तिरोहिते कल्पनाकदर्थनया काश्चिदीप्सितान् कुर्वन्तोऽपि नेन्द्रियाणि, शाब्दिकपण्डिते सारस्वतो दुरन्वयतामेव [2]दुर्गतिमेवाप्नुवन्तः पुनः पुनः प्रत्यक्षं निर्वाहयन्ति । एवं च ये केचन पदार्थं निर्णीतात्पर्यप्रकाशेनैव दृष्टान्तीकुर्वाणा सपदि सामग्रीमपहरन्ति सहृदयाः ।

भाषा—जैसे अन्य (वैशेषिक) के भी "जिसमें अवयवों के कर्तृत्व की बुद्धि जिसको होती है, उस को ही परिच्छिन्नत्व का ज्ञान होता है" ऐसा नियम है, वहीं पर आप दृष्टों को क्यों नहीं मानते हैं, क्योंकि, वेदोच्चारणादि के अनेकत्व की परिच्छिन्नत्व के साथ व्याप्ति (निश्चय) होती है ही है। समाधान—ऐसा न कहना चाहिये, क्योंकि परिच्छिन्नत्व की यहाँ पर [3]अनेकत्व की साधिका कल्प [4] का पक्ष है, कि—जिसमें जिसकी बुद्धि उत्पन्न होती है, उसमें उसका अवश्य ( कम ) [5]प्रत्यक्ष नहीं होता है (अवश्य ; के संबंध) कुत्सित्व की व्याप्ति होती है और शास्त्र में जो कहीं परिच्छिन्नत्व है, वह गुरुकल्पित भाष्य नहीं है। और [6]सूत्र में जाने हुए जब जब कुछ; पुनः, कुछ का कथन विशेष साधिकों के कहे हुए पर, निश्चय नहीं बहुतने भाष्यों साधिक लक्षणों के लेखपात्र होने से उस २ देखो। और कल्पे पर्यन्त है अनुक देखे वर्ष इस अनुक वस्तु का कहा है, ऐसा विचार करने वाले विद्वान् भी कल्प (कल्पे शेष) पर्यन्त परिच्छिन्नत्वों के दर्शन के अनेक व्याख्यों को देखकर पीछा पाने वाले के कल्पित भी कल्प (कल्पे शेष) पर्यन्त परिच्छिन्नत्व साधने से और सम्प्रदाय का नाश करके केवल दुर्गति के ही अनुकूल कल्पों तक स्थित रहने का व्याख्यानों के देने से बड़े ही दुःख हैं, उनके दुराग्रह से साक्षात् प्रत्यक्षों को छोड़ने वाले हैं। जो कोई भी जिस किसी पदार्थ में किसी व्याख्यान को ही दृष्टान्त करके हुए सब सामग्री को हरते हैं, वे सहृदय किसी को भी अच्छे नहीं होते हैं।

न च जिनागमस्यैवापौरुषेयत्वं पूर्वापरव्याहतिशून्यत्वेऽपि न युक्तम् । तथाहि—सम्पूर्णस्यापि पुरुषानुसन्धितया अध्यायानां योजितत्वात्[7] । पुरुषाश्चैवंविधोपलब्धयः । न मनःप्रमादः, तत्र सर्वोपदेः, अनवद्य कर्मणा निर्देशपरायणत्वात् । तथा

---

1 स्वतन्त्रप्रमाण । 2 दुर्गतिम् । 3 परिच्छिन्नत्वं । 4 कल्पनेति । 5 अवश्यं प्रत्यक्षं । 6 सूत्रेति । 7 योजितत्वात् ।

च भगवान् पञ्चलिङ्गीकारः—"पुढवाइयाण जइवि हु होइ विणासो जिणालयाहिंतो । तब्बिसया वि सुदिट्ठिस्स णियमओ अत्थि अणुकंपा । १ । एयाहिंतो बुद्धा विरया रक्खंति जेण पुढवाई । इत्तो निव्वाणगया अबाहिया आभवमिमाणं । २ । रोगिसिरावेहो इव सुविज्जकिरियाव्व सुप्पउत्ताओ । परिणामसुंदरच्चिय चिट्ठा से बाहजोगेवि" ।३१

और जिनमंदिर बनवाने आदिमें पृथिवी आदि जीवोंका जो वध होता है; उसमें भी गुण नहीं है अर्थात् जैसे आप वेदोक्त विधिपूर्वक हिंसाके करनेमें गुण नहीं बतलाते है, उसीप्रकार जिनमंदिर आदिके बनवानेमें भी गुण नहीं है; ऐसा न कहना चाहिये। क्योंकि श्रीजिनेन्द्रके दर्शन करनेसे श्रीजिनेन्द्रके गुणोंमें अनुराग ( प्रीति ) होता है, श्रीजिनेन्द्रके गुणोंमें प्रीति होनेसे जो भव्य है; उनको बोधि ( सम्यग्दर्शन ) की प्राप्ति होती है, और श्रीजिनेन्द्रकी पूजा तथा अतिशय ( प्रभाव ) को देखने आदिसे चित्त प्रसन्न ( मफुल्लित ) होता है, मनःप्रसादके होनेसे समाधि, ( रामताभाव ) की प्राप्ति होती है; और फिर क्रमानुसार मोक्षकी प्राप्ति होती है। सो ही पंचलिङ्गीके कर्त्ता भगवान् श्रीजिनपतिसूरीश्वरजी कहते है कि;—"यद्यपि जिनमंदिर बनवाने आदि कियाओंके करनेसे पृथिवी आदि जीवोंका विनाश होता ही है। तथापि सम्यग्दृष्टीके उन पृथिवी आदि जीवों संबंधी दया नियमसे है ही अर्थात् सम्यग्दृष्टी जीवके नियमें उन पृथिवी आदि जीवोंकी दया ही बस रही है; उसके परिणाम उन जीवोंकी दयासे शून्य कभी नहीं होते हैं। १। क्योंकि, भव्यजीव इन जिनमंदिर बनवाने आदि कियाओंसे ज्ञानको प्राप्त होकर फिर संसारसे विरक्त होकर अर्थात् मुनि होकर पृथिवी आदि जीवोंकी रक्षा करते हैं; इसीकारण इन पृथिवी आदि जीवोंको बाधा न पहुंचानेवाले इस भवमें मोक्ष गये है। **भावार्थ**—जिनमंदिर बनवाने आदिसे गृहस्थोंको ज्ञानकी प्राप्ति होती है, हेयोपादेयका ज्ञान होनेपर वे गृहस्थाश्रमसे तथा संसारसे विरक्त होकर मुनिपदको धारण करते हैं और मुनिपद धारण करके इन पृथिवी आदि जीवोंकी अधिक रक्षा करते है और जब इन पृथिवी आदि जीवोंकी पूर्ण दया पालते हैं तब वे इसी भवमें मोक्ष चले जाते हैं; अतः जिनमंदिर आदिका बनवाना दयाभावका घातक ही है नाशक नहीं है। २। जैसे रोगीकी नसका छेदना और उत्तमप्रकारसे प्रयोगमें लाई हुई उत्तम

१. पञ्चलिङ्गीकारः श्रीजिनपतिसूरिः। २. "पृथिव्यादीनां यद्यपि भवत्येव ( प्राकृते हु एवकारार्थे ) विनाशो जिनालयादिभ्यः। तद्विषयापि सुदृष्टेर्नियमतोऽस्त्यनुकम्पा। १। एताभ्यः ( जिनालयादिक्रियाभ्यः ) बुद्धा विरता रक्षन्ति येन पृथिव्यादीन्। अतो निर्वाणगता अबाधका आभवं ( अस्मिन् भवे ) एषाम्। २। रोगिसिरावेध इव सुवैद्यक्रिया इव सुप्रयुक्ता तु। परिणामसुन्दरैव चेष्टा सा बाधायोगेऽपि। ३।" इतिटीकायां।

[illegible] गोलोंको नष्ट करना, [illegible] देना आदि किंवा [illegible] के [illegible] होती है अथवा [illegible] कार्य [illegible] है, [illegible] के [illegible] कार्योंको [illegible] है. यह भी [illegible] आदि [illegible] [illegible] में [illegible] इस [illegible] होता है । ३ । "

[illegible] गुरुत्वं [illegible] गुण [illegible] । अथ [illegible] गुरुत्व [illegible] गुरुत्वं [illegible] — न । [illegible] पुष्पोपार्जनमस्मदादि [illegible] । [illegible] गुरुत्वं निर्गुणकर्मैव [illegible] । [illegible] किन्तु [illegible] । तथाह श्रुति — " [illegible] " इत्यादि । एतदपि [illegible] । [illegible] । अथ तत्र [illegible] गुरुत्वं [illegible] । न हि [illegible] । [illegible] गुरुत्वं [illegible] । यथा — " [illegible] गुरुत्व [illegible] । [illegible] गुरुः । ९ । " इत्यादि । [illegible] । [illegible]

और [illegible] कहेंगे तो इस गुरुत्वके [illegible] नहीं होता है । यदि कहो कि [illegible] जो [illegible] है, [illegible] गुरुत्व है तो [illegible] नहीं । क्योंकि, [illegible] है, [illegible] ही गुरुत्व [illegible] हो सकता है । [illegible] गुरुत्वं [illegible] ( [illegible] ) [illegible] ही [illegible] है । यदि कहो कि, [illegible] गुरुत्व [illegible] नहीं है, किन्तु [illegible] ( [illegible] ) [illegible] भी [illegible] है, क्योंकि [illegible] है कि " [illegible] ( [illegible] ) [illegible] " इत्यादि । तो यह [illegible] है । क्योंकि, [illegible] है । यदि कहो कि, [illegible] नहीं [illegible] है, [illegible]

परलोकमें ( अर्थात् दूसरे भवमें ) उत्तमगति ( स्वर्ग ) को प्राप्त होते हैं; यह उन पशुओंके प्रति उपकार होता ही है; तो यह भी कहनेमात्र ही है। क्योंकि, इस कथनमें कोई प्रमाण नहीं है। कारण कि वे मरे हुए पशु उत्तम गतिकी प्राप्ति होनेसे प्रसन्न हो गया है चित्त जिनका ऐसे हो कर अर्थात् हर्षित होकर और स्वर्गलोकसे आकर किसीको अपने उत्तम गतिको प्राप्ति होनेका कथन नहीं करते हैं। यदि कहो कि; इस हमारे कथनमें आगमनामक प्रमाण तो है ही है जैसे कि—औषधियें, पशु, वृक्ष, तिर्यंच और पक्षी ये सब यज्ञके लिये नाशको प्राप्त होवें तो फिर उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं। १। " इत्यादि और भी आगमके प्रमाण है। सो यह भी न कहना चाहिये। क्योंकि तुम्हारे आगमका पौरुषेय (पुरुषका रचा हुआ) तथा अपौरुषेय ( किसीका नहीं बनाया हुआ ) इन दोनों विकल्पोंसे आगे खंडन किया जावेगा। भावार्थ—तुम्हारा आगम पौरुषेय भी नहीं सिद्ध होता है और अपौरुषेय भी नहीं सिद्ध होता है; इसकारण उस असिद्ध आगमका प्रमाण यहां माननेयोग्य नहीं है।

न च श्रौतेन विधिना पशुविशसनविधायिनां स्वर्गावाप्तिरुपकार इति वाच्यम्। यदि हि हिंसयाऽपि स्वर्गप्राप्तिः स्यात्तर्हि वाढं पिहिता नरकपुरप्रतोल्यः। शौनिकादीनामपि स्वर्गप्राप्तिप्रसङ्गात्। तथा च पठन्ति परमार्थाः—"यूपं छित्त्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम्। यद्येवं गम्यते स्वर्गे नरके केन गम्यते। १।" किंचाऽपरिचिताऽस्पष्टचैतन्याऽनुपकारिपशुहिंसनेनापि यदि त्रिदिवपदवीप्राप्तिस्तदा परिचितस्पष्टचैतन्यपरमोपकारिमातापित्रादिव्यापादनेन यज्ञकारिणामधिकतरपदप्राप्तिः प्रसज्यते। अथ 'अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावः' इति वचनाद्दैवकमन्त्राणामचिन्त्यप्रभावत्वात् तत्संस्कृतपशुवधे संभवत्येव स्वर्गप्राप्तिः, इतिचेत्—न। इह लोके विवाहगर्भाधानजातकर्मादिषु तन्मन्त्राणां व्यभिचारोपलम्भाददृष्टे स्वर्गादावपि तद्व्यभिचारोऽनुमीयते। दृश्यन्ते हि वेदोक्तमन्त्रसंस्कारविशिष्टेभ्योऽपि विवाहादिभ्योऽनन्तरं वैधव्याल्पायुष्कत्वादारिद्र्यादुपद्रवविधुराः परःशताः। अपरे च मन्त्रसंस्कारं विना कृतेभ्योऽपि तेभ्योऽनन्तरं तद्विपरीताः। अथ तत्र क्रियावैगुण्यं विसंवादहेतुः, इति चेत्—न। संशयानिवृत्तेः। किं तत्रक्रियावैगुण्यात्फले विसंवादः, किं वा मन्त्राणामसामर्थ्यादिति न निश्चयः। तेषां फलेनाविनाभावासिद्धेः।





१ संशयः।

ग्रीष्म ऋतौ ब्रह्मचर्य का पालन करने से, उसको स्त्रीसंग की इच्छा होती है, यह उसका वैदोष विकार होता है। यह भी न पालन करने से वर्षा ऋतु के आरंभ में अग्नि की शक्ति होने से नाना प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं। व्याख्या—ग्रीष्म ऋतु में अग्नि तीव्र होने से शीतल पदार्थ भी अग्नि के तीव्र होने से शीघ्र पचेंगे, इसलिये भी कामेच्छा अधिक होगा, सो ऊपर लिखा गया है। तो ऐसा मालूम होता है कि,—वैद्यकशास्त्र पढ़के अर्थ ऐसे; जो वैद्यक शास्त्रों के मर्म को नहीं जानते हैं वे मूर्ख ही हैं। ऐसे मूर्खों के कहने से कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य ग्रीष्म ऋतु में स्त्रीसंग करेगा तो फिर नाना प्रकार के रोग उत्पन्न करेगा, ऐसे कहनेवाले का कथन कोई भी नहीं मानेगा। इ।" भी। यह तो निश्चय बात है कि, यदि पदार्थ के गुणों को—सर्वोत्तम (बलवान् पुरुष) स्त्रियों को खाने योग्य पदार्थों के गुण, स्त्रीसंग (समागम) करने से क्या विकार होते हैं, इत्यादि बातों को जानने की आवश्यकता है। ऐसा (सिद्धांत) कथन करने से, उसको शास्त्रों का ज्ञान होना चाहिये। अर्थात् जिसने शास्त्रों का अभ्यास नहीं किया है, उसको यह कथन (सिद्धांत) समझ में नहीं आयेगा। और ऐसा कथन करनेवाले को लोग पागल कहेंगे। इसलिये ऐसा कथन करना योग्य नहीं है। ऐसा कहने से, —"यदि (यत्) यह मैत्र औषधियोंका पदार्थ अधिक (विस्तार से) अनेक प्रकार (अनेक) है;" इस वाक्य से वैद्यक (वैद्यके) में अधिक पदार्थों के कारण है, इस बात का वैद्यकशास्त्रों का ज्ञान हुए पुरुष को स्त्रीसंग संबंधी बातें भी ही मालूम है। सो नहीं। क्योंकि इस वैद्यक शास्त्र, अन्नपान, नक्त (रात्रि) भोजन आदि विषयों का वैद्यकशास्त्रों का अभ्यास किया जाता है, इस कारण नहीं होते हुए भी स्त्रीसंग भी इस वाक्य के अभिप्राय का ग्रहण किया जाता है। क्योंकि, वैद्यकशास्त्रों में आहार के पदार्थ के गुण लिखे हैं वैसे ही स्त्रियों के, अर्थात् स्त्रियों के शरीर के गुण भी लिखे हैं। जिस प्रकार नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। और वातपित्तादि के लिये भी विकार, अर्थात् वातादि दोषों के पदार्थ खाने से नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। वैसे ही स्त्रीसंग करने से भी नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। इसलिये ये [विषय] का विवेचन करके होना आवश्यक है। इसलिये वैद्यकशास्त्रों में स्त्रीसंग के बारे में भी लिखा है। ये तो कितने ही दुःखी जीव जिनके पास्तिक विचारों को कुछ भी नहीं जानते हैं। ऐसे लोगों को कहते हैं कि, तुम वैद्यकशास्त्रों के ज्ञान के बिना विषय वैदुष्य (विद्वत्ता) अर्थात् बिना किये (पढ़ा) तो

भविष्यति । १ । तथा ' अग्निर्मामेतस्माद्धिंसाकृतादेनसो मुञ्चतु छान्दसत्वान्मोचयतु इत्यर्थः " इति । व्यासेनाप्युक्तम्—ज्ञानपालिपरिक्षिप्ते ब्रह्मचर्यदयाम्भसि । स्नात्वातिविमले तीर्थे पापपङ्कप्रहारिणि । १ । ध्यानाग्नौ जीवकुंडस्थे दममारुतदीपिते । असत्कर्मसमित्क्षेपैरग्निहोत्रं कुरुत्तमम् । २ । कषायपशुभिर्दुष्टैर्—धर्मकामार्थनाशकैः । शममन्त्रहुतैर्यज्ञं विधेहि विहितं बुधैः । ३ । प्राणिघातात्तु यो धर्ममीहते मूढमानसः । स वाञ्छति सुधावृष्टिं कृष्णाहिमुखकोटरात् । ४ । " इत्यादि ।

और वेदोक्तहिंसा निंदनीय नहीं है ऐसा भी न कहना चाहिये । क्योंकि सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानके धारक पुरुषोंने तथा अन्य मार्गको स्वीकार करनेवाले वेदान्तवादियोंने उस वेदोक्त हिंसाकी निन्दा की है । सो ही तत्त्वोंके देखने ( जानने ) वाले कहते है कि,—" जो घृणा ( ग्लानि ) रहित पुरुष देवताके भेट करनेरूप छलसे अथवा यज्ञ करनेके मिषसे जीवोंको मारते हैं; वे घोर दुर्गति ( सप्तम नरक आदि ) को गमन करते हैं । वेदान्तिक भी कहते हैं कि;—" जो हम पशुओंसे देवादिकोंकी पूजा करें तो अंध तम ( सप्तम नरक अथवा घोर अज्ञानान्धकार ) में डूब जावें । क्योंकि हिंसा नामक धर्म न तो कभी हुआ और न कभी होगा । १ । " तथा "अग्नि देवता मुझको इस हिंसाद्वारा किये हुए पापसे मुक्त करो [यहांपर मुञ्चतु यह प्रयोग वेदका है; अतः णिजन्तका अर्थ किया गया है] श्रीव्यासजीने भी कहा है कि,—"ज्ञानरूपी पालि ( पाल ) पर गिरा हुआ ब्रह्मचर्य और दयारूप है तल जिसमें ऐसे पापरूपी कर्दमको दूर करनेवाले अत्यंत निर्मल तीर्थमें स्नान करके । १ । जीवरूपी कुंडमें दमरूपी पवनसे दीप्ति ऐसी जो ध्यानरूपी अग्नि है, उसमें अशुभकर्मोरूपी काष्ठको गेरकर उत्तम अग्निहोत्रको करो । २ । धर्म, काम और अर्थको नष्ट करनेवाले, शमरूपी मंत्रसे आहुतिको प्राप्त हुए ऐसे दुष्ट कषायरूपी पशुओंसे ज्ञानवानोंद्वारा किये हुए यज्ञको करो । ३ । जो मूर्खचित्तका धारक मनुष्य जीवोंके मारनेसे धर्मकी प्राप्तिकी इच्छा करता है; वह काले सर्पके मुखरूपी कोटर ( वृक्षके छिद्र ) से अमृतकी वर्षाको चाहता है भावार्थ—जीवोंके मारनेसे धर्म कभी भी नहीं हो सकता है । ४ । " इत्यादि ।

यच्च याज्ञिकानां लोकपूज्यत्वोपलम्भादित्युक्तं इदमप्यसारम् । अबुधा एव हि पूजयन्ति तान्न तु विवित्तबुद्धयः । अबुधपूज्यता तु न प्रमाणम् । तस्याः सारमेयादिष्वप्युपलंभात् । यदप्यभिहितं देवतातिथिपितृप्रीतिसंपादकत्वाद्वेदविहिता हिंसा न दोषायेति तदपि विवित्तधर्म । यतो देवानां संकल्पमात्रोपनताभिमताहारपुद्गलर-

॥ ८४ ॥

पाखादपतुद्दिजाना वैकिपजाओरणाद् पुव्वंतोक्खजैणजुत्तिरुवपत्तमोगा चहुतिपएदीजाविरुद्धेप ब्रुवंधका । जीव-
विरुद्धाणी भक्खेव अनुवाद्दानपोगपत्तात् । अवेषाहारुवीक्खरे च देवाणां गन्धपवरेहलोम्पुक्खागापाप । न च तेषां
पन्धमपवरेहे, ते मणाक्षे न लिंखन्ति । "चतुर्थ्यंगतपदयोग हेपक्षे " पुत्रि जैमिनिवचनाद्यापत्यात् । तथा च सूत्रेकृता
"तच्चेदेवदत्ते पुरुषविधवेनेषु यद्दु । न मा पवाक्षि मातिर्ण पूर्णाया वस्मदाक्षिपत्त ॥ ५ ॥" इति देवता ।

कोई जो सूत्रने यह कहा है कि; स्वर्ग गुरुदेवों नेरयादिक देखते हैं, तात्पर्य केवलि हिंसा निषिद्ध नहीं है, की यह
कल्पना भी अयुक्त (निर्मूल) है, क्योंकि, गुरु स्वयं भी उस बाह्यलोकोंकी पूजा करते हैं किन्तु उनके मुक्तिके बाधक उनकी दूर नहीं
करते हैं । और उनसे दूसरेका दोषका पालन करने योग्य नहीं है । क्योंकि यह दूसरेको दूसरेका धर्म ( दूसरे ) को सिखे ऐसे देख
जाता है अर्थात् दूसरेका धर्म कौन्द्र मनुष्योंकी भी दूर किया करते हैं : और जो सूत्रने कहा है कि; देवता, मनोवि
हता किन्तु अनेकों प्रतिको नाश करनेवाले कारण वेशाख हिंसा देखके विषे नहीं है यो यह कहना भी निष्फल है । क्योंकि
अंकल नाग ( सर्प वेष्ठन करनेवाले रूपका ) अनेकों की नाश हुए जो मनोगतिक स्वप्नसे मुक्तक है,[1] उनके
एवा अत्यन्त फलोंमें मुख होनेवाले देखोंके भोजन करने हुएनेके कारण हुएहाँ भी हुई जो सांत्रिक पदार्थ
सादिक वस्तुयें हैं, उनको अत्यन्त करनेसे दुःखाकर होना ही उचित है । क्योंकि जो औत्पत्तिक बुद्धिके पाठ लोग हैं
वे भी अन्न दुष्करी भी हुई अनुचितिके लक्षण जानेकी लोगका रखते हैं । और वैसे दूसरे लिये हुए भक्षणका लीला-
पना करनेसे ' देव लक्षणवादीके भक्षक हैं' इस दुःखी लोकोंने दोष लगेगा । और देवोंके दर्शनसे सुलोक होना
हुएहाँ करने योग्य नहीं है। क्योंकि, 'देवताओंके वर्ण चतुर्थांगेषपक्षिणीमें पलक की समान करना चाहिये' ऐसे जैमिनिकारि-
का वचन प्रमाण जानने योग्य है । तो ही दूसरे चलिक पक्ष दूसरेका अत्यन्त कहता है कि—"यदि देवता कदाचित ( प्रत्यक्ष )
होनेसे लिये होनेका दर्शन होने तो जैसे हम तुम मूर्ख होनेके बाधक होगी वैसे ही उनको लिये ( विचार ) नहीं हो सकते हैं, और यदि यह देव कि मूर्ख वेदोंके करने प्रमाणभूत होनेसे यह ही अन्यसे लिंग न

[1] यदि अत्यन्तमात्र प्रत्यक्षप्रमाणकल्पनाकल्पना स्वप्नोपलब्धका प्रमाणे तथा लिंगप्रेक्षणाधिष्ठ यावदिष्टु यत्र पक्षेण्ये कुतो न भूतिरूप यत्रेत्यादिप्रमाणेन ।

स्थानोंमें पूजा करनेवाले पुरुषकी समीपताको प्राप्त न हो। (यहां 'सा' इस शब्दसे देवताका ग्रहण करना चाहिये.) भावार्थ—यदि देव मंत्रमय देहके धारक न होवें तो एक ही समयमें अनेक स्थानोंमें पूजा करनेवालोंके समीप न जा सकें, इसलिये देव मन्त्रमय शरीरके धारक ही हैं।

हूयमानस्य च वस्तुनो भस्मीभावमात्रोपलम्भात्तदुपभोगजनिता देवानां प्रीतिः प्रलापमात्रम्। अपि च योऽयं त्रेताग्निः स त्रयस्त्रिंशत्कोटिदेवतानां मुखम्। "अग्निमुखा वै देवाः" इति श्रुतेः। ततश्चोत्तममध्यमाऽधमदेवानामेकेनैव मुखेन भुञ्जानानामन्योन्योच्छिष्टभुक्तिप्रसङ्गः। तथा च ते तुरुष्केभ्योऽप्यतिरिच्यन्ते। तेऽपि तावदेकत्रैवामत्रे भुञ्जते। न पुनरेकेनैव वदनेन। किञ्च एकस्मिन् वपुषि वदनबाहुल्यं क्वचन श्रूयते। यत्पुनरनेकशरीरेष्वेकं मुखमिति महदाश्चर्यम्। सर्वेषां च देवानामेकस्मिन्नेव मुखेऽङ्गीकृते यदा केनचिदेको देवः पूजादिनाऽऽराद्धोऽन्यश्च निन्दादिना विराद्धस्तदाश्चैकेनैव मुखेन युगपदनुग्रहनिग्रहवाक्योच्चारणसंकरः प्रसज्येत। अन्यच्च मुखं देहस्य नवमो भागस्तदपि येषां दाहात्मकं तेषामेकैकशः सकलदेहस्य दाहात्मकत्वं त्रिभुवनभस्मीकरणपर्यवसितमेव संभाव्यत इत्यलमतिचर्चया।

और होम किये जातेहुए पदार्थका केवल भस्म होना ही देखा जाता है, इसकारण उस होम किये हुए पदार्थके उपभोगसे देवोंके प्रीति उत्पन्न होती है; यह तुम्हारा कहना प्रलाप ( बकवाद ) करने रूपही है। और "देव अग्निरूप मुखके ही धारक है अर्थात् देवोंका अग्नि ही मुख है" इस श्रुतिके वचनसे जो यह त्रेताग्नि ( दक्षिणाग्नि, आहवनीयाग्नि तथा गार्हपत्याग्नि नामक तीनों अग्नियोंका समुदाय ) है; वह तेंतीस ३३ करोड़ देवोंका मुख है और जब त्रेताग्नि ही सब देवोंका मुख हुआ; तब एकही मुखसे भोजन करते हुए उन उत्तम, मध्यम तथा जघन्य श्रेणीके सभी देवोंके परस्पर उच्छिष्ट ( जूठन ) खानेका प्रसङ्ग हुआ और ऐसा होनेपर वे देव तुरुष्कों ( मुसलमानों ) से भी अधिक नीच हुए। क्योंकि; वे तुरुष्क तो एक ही पात्रमें भोजन करते हैं और एकही मुखसे भोजन नहीं करते हैं। और भी विशेष वक्तव्य यह है कि;—एक शरीरमें बहुतसे मुखोंका होना किसी २ में अर्थात् ब्रह्मा, स्वामी कार्तिकेय तथा रावण आदि व्यक्तिमें सुना जाता है और जो तुम अनेक शरीरोंमें एक मुखका होना कहते हो; यह बड़ा आश्चर्य है। और यदि सब देवोंके एकही मुखका होना स्वीकार करोगे; तो जब कोई पुरुष एक देवको

सत्कारको जानता है; तब उस पूजा सत्कारको करनेवालेके प्रति प्रसन्नचित्त होकर उस आराधक पुरुषके उन २ अभीष्ट कार्योंको अपनी इच्छाके वशसे सिद्ध कर देता है। और जब उपयोग ( पूजाकी ओर ध्यान व स्थाल ) आदिके न होनेसे उस अपने उद्देश्यसे की हुई पूजाको नहीं जानता है; अथवा जानता हुआ भी पूजा करनेवालेके अभाग्यसे सहकृत होता है; तब वह देव उस पूजकके कार्यको नहीं सिद्ध करता है; क्योंकि; द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावआदि सहकारी कारणोंकी अपेक्षाकरके ही कार्यकी उत्पत्ति होती है; ऐसा देखा जाता है। और वह पूजोपचार पशुओंको मारनेके विना जो अन्य २ प्रकार हैं; उनसे भी सुखपूर्वक ( सुगमतासे ) होता है; फिर इस पापरूप ही एक फलको धारण करनेवाली कसाई पनेकी जीविकासे क्या प्रयोजन है ? भावार्थ—देवोंकी पूजा अक्षत पुष्प नैवेद्यादि द्रव्योंके समर्पण करने आदिसे भी होती है अतः पूजाके अर्थ पशुओंकी हिंसा करना वृथा है।

**यच्च छगलजाङ्गलहोमात्परराष्ट्रवशीकृतिसिद्ध्या देव्याः परितोषानुमानं तत्र कः किमाह। कासांचित् क्षुद्रदेवतानां तथैव प्रत्यङ्गीकारात्। केवलं तत्रापि तद्वस्तुदर्शनज्ञानादिनैव परितोषो न पुनस्तद्भुक्त्या। निम्बपत्रकटुकतैलारनालधूमांशादीनां हूयमानद्रव्याणामपि तद्भोज्यत्वप्रसङ्गात्। परमार्थतस्तु तत्तत्सहकारिसमवधानसचिवाराधकानां भक्तिरेव तत्तत्फलं जनयति। अचेतने चिन्तामण्यादौ तथा दर्शनात्। अतिथीनां तु प्रीतिः संस्कारसंपन्नपक्वान्नादिनापि साध्या। तदर्थं महोक्षमहाजादिप्रकल्पनं निर्विवेकितामेव ख्यापयति।**

और जो तुमने यह कहा है कि;—" बकरा और बनके पशुओंका होम करनेसे पर राज्यका वशीकरण सिद्ध हो जाता है; इस कारणसे देवीकी प्रसन्नताका अनुमान होता है अर्थात् देवीके आगे बकराआदिके मारनेसे दूसरेका राज्य अपने वशमें हो जाता है; अतः अनुमान किया जाता है कि;—बकरेके चढ़ानेसे देवी प्रसन्न होती है।" तो इस कथनमें कौन क्या कहता है? अर्थात् हम ( जैनी ) तुम्हारे इस कथनको असत्य नहीं कहते हैं, क्योंकि; तिलतीही नीच देवियें बकरे आदिके चढ़ानेसे ही प्रसन्नताको स्वीकार करती हैं। परन्तु उस हिंसामें भी केवल उस वस्तु (बकरेके मांसादि पदार्थ) के देखने अथवा जाननेआदिसे ही देवीकी प्रसन्नता होती है और उस मांसादिके भोजन करनेसे देवी प्रसन्न नहीं होती है, क्योंकि;—यदि मांसादिके खानेसे देवी प्रसन्न होवे तो नीमके पत्ते, कड़वा तैल, कांजिक ( कॉजिस ) और धूमांश ( धूमसा ) आदि जो होमे जाते हुए पदार्थ हैं;

अवधी में बोलचाल लगा मेलीने होगा। भावार्थ—यदि ऐसी लोगों गोपन छती है, तेला नागोंग तो देवोंके विमानका मोहन करना भी नेत्र होगा, जो कि असंभव नहीं है। पद्मावत ( पद्मावत ) तो गया २ ग्रन्थकी कहानीके मनोहारी ।दृष्टान्तको गायक कालेखाने जो आकारक पुस्तक है उसकी संक्षिप्त टीका २ भाषित करनेको उत्सुक हुआ है। भावार्थ—जैसे विमानादि रत्न अनेकान्त होनेसे विशेषरूप मुख नहीं होता है, उसी प्रकार मेरी यह विभाषा टीका, सरल नहीं होगी है, किन्तु उस अकारक पुस्तककी कठिन की अपेक्षा सरल तो होगी है। और जो अभिप्रायोंकी भेदसे है, यह तो संस्कृतज्ञ ( पद्मावतिके भाव।।।धारित : जो पाठक संस्कृत ग्रन्थके ज्ञाता ।।। लिख होंगे है, इस मनोभिलाषितके सर्व पक्षोंके ( पद्मा भेद : जोड़ने वाले आशिका पाठक केवल एकदेशी दृष्टि-दाता ही कहता है।

तिलुगा पुनः पीठिरनैकान्तिकी । आत्मसिद्धिविधानेनापि भूयसां संलक्षणसूत्रोनुपलम्भो । तदविधानेऽपि च केवलमिन्द्रियेभ्यस्तदुपलब्धावतीन्द्रियाणामिव सुगतो सर्वज्ञानाम् । तत्रापि आत्मादिलिंगानां गुणगतत्वेनैकतारूपमात्रकत्वेऽपि । ये हि लोकान्तरं पाषण्डे कल्पकल्पकुलसूत्रकुलकरकर्मानुसारेण सुरनारकादिगतिषु क्षुद्रमनुष्यं वा मुक्तात्मानो वर्णयन्ते । ते कथञ्चित् दृष्टपारिपिपिलकादिषु विज्ञानादुपपत्तुं शक्नुवन्तीत्यपि वक्तुं । तथा च मुक्तमूर्तिभिः पठ्यते—"सूत्रात्मकमपि वस्तुनो यस्मद् येषूपलिंगकारणम्। तत्तिपीपलपतीपक्ष क्षेद्रा संस्थानवेदिलासम् ॥ २ ॥" इति । सर्वं च आत्मादिपिधानप्रसंगितं गुरुवं लोगों लघीयस्त्वेषु तत्र तत्प्रकृतात्मात्मा नामागमिकप्रमाणत्वात् ।

और जो हमारे ग्रन्थसंहिके कालेने विरुद्धसंहि लैंडिक लक्षण होना कहा है, वह भी अनैकान्तिक ( व्यभिचार ) दोषसे दूषित है। क्योंकि—अनुमान पुराण लक्षणादि आगे हैं, तैसी उनके कर्त्तासे बनते संस्कारकी शक्ति नहीं तैसी अर्थों है अर्थात् ग्रन्थादिके विशेषत ।ई विद्वानोंही जैसे पंचपरमेष्ठि ही एक माने हैं। और व्याकरणके व कोशोंसे भी विद्वानोंही पुराणोंके गया, पुराण, इस शब्दोंकार्थके कथन संस्कृतकारसे ( अनुकूली ) पाठकोंकी बुद्धि देखते हैं। इस आपसे सिद्ध हुआ कि, ये ग्रन्थकारिका कहा है; वह गोले मनुष्योंको असंभव ही सम्भव पड़ता है। क्योंकि—जो विमूढ़ बालकपने पढ़े गये हैं, वे जो अपने लेखोंसुर पुराण वेदा व्याकरणके अनुसार देखादि उन्हा वाक्यादि आदिसे पुराण व्याकरण तु अपने बोलते हुए ही

रहते हैं। भावार्थ—जिन्होंने पुण्य किया है; वे स्वर्गमें सुखको ही भोगा करते हैं और जिन्होंने पाप किया है; वे नरकमें दुःख ही भोगा करते हैं। इसकारण वे पितृजन, पुत्रादिकोंद्वारा दिये हुए पिंडका भोजन करनेके लिये इच्छाके धारक भी कैसे हो सकते हैं अर्थात् नहीं हो सकते हैं। सो ही तुम्हारे साक्षी कहते हैं कि,—"यदि श्राद्ध मरे हुए जीवोंकी भी तृप्तिका कारण है तो तैल भी बुझे हुए दीपककी शिखाको बढ़ावे"। भावार्थ—जैसे दीपकके बुझ जानेपर तेल उस दीपककी शिखाको नहीं बढ़ाता है; उसीप्रकार श्राद्ध भी मृतक जीवोंको तृप्त नहीं करता है। और श्राद्धआदिके करनेसे प्राप्त किया हुआ जो पुण्य है; वह भी उन मृत पितृजनोंके समीप कैसे जावे, क्योंकि वह पुण्य उनसे भिन्न जो पुत्रादिक हैं उनसे किया हुआ है, जडरूप तथा चरणों ( पगों ) से रहित है।

अथ तेषामुद्देशेन श्राद्धादिविधानेऽपि पुण्यं दातुरेव तन्नादेः स्यादिति चेत् तन्न। तेन तज्जन्यपुण्यस्य स्वाध्यवसायादुत्तारितत्वात्। एवं च तत्पुण्यं नैकतरस्यापि इति विचाल एव त्रिशंकुन्यायेन[1] किन्तु पापानुबन्धिपुण्यत्वात् तत्त्वतः पापमेव। अथ विप्रोपभुक्तं तेभ्य उपतिष्ठत इति चेत्कदैवैतत्प्रत्येतु। विप्राणामेव भेदुरोदरतादर्शनात्। तद्वपुषि च तेषां संक्रमः श्रद्धातुमपि न शक्यते। भोजनावसरे तत्संक्रमलिङ्गस्य कस्याप्यसंवलोकनात्, विप्राणामेव च तृप्तेः साक्षात्करणात्। यदि परं त एव स्थूलकवलैराकुलतरमतिगार्ध्याद्भक्षयन्तः प्रेतप्रायाः। इति मुधैव श्राद्धादिविधानम्। यदपि च गयाश्राद्धादियाचनमुपलभ्यते तदपि तादृशविप्रलम्भकविभङ्गज्ञानिव्यन्तरादिकृतमेव निश्चेयम्।

अब यदि ऐसा कहो कि; "उन पितृजनोंके उद्देशसे जो श्राद्ध आदि किया जाता है; उससे दान देनेवाले पुत्रादिको ही पुण्य होता है। भावार्थ—पुत्र जो पिताके उद्देशसे श्राद्ध करता है; उस श्राद्धसे उत्पन्न हुआ पुण्य यदि उस पुत्रके पिताको प्राप्त नहीं होता है, तो न हो; उस पुत्रको तो होताही है। सो नहीं। क्योंकि,— उस पुत्रने उस श्राद्धआदिके करनेसे उत्पन्न हुए पुण्यको अपने अध्यवसायसे उतार दिया है। भावार्थ—पुत्रने उस पुण्यसे अपना कुछ भी सम्बन्ध न रखकर श्राद्धआदि

[1] त्रिशङ्कुर्नाम राजा चक्रिक्षत्रियचाण्डालो जातो विश्वामित्रं पुरोधाय तुल्यस्तुल्यफलभूतः सत्कर्मोपेन स्वर्गमिवर्तितोऽन्तराल एव स्थितः। तस्मात्र घौरपि न भूरपि तदुपभुक्त्यै यद्वत्।

लिया है, अतः यह गुरु रूप [illegible] ऐसी नहीं हो सकता है । और [illegible] या गुरु [illegible] और [illegible] इन [illegible]
[illegible] भी न हुआ, [illegible] [illegible] अंगमें ही यह [illegible] । भावार्थ—[illegible] जो [illegible]
[illegible] होना और [illegible] [illegible] होकर [illegible] करते ॥ परन्तु इनमें [illegible]
[illegible] नहीं [illegible] सिद्ध. इस यह [illegible] हुआ और [illegible] इन [illegible] [illegible], यह [illegible]
[illegible] है; अभी प्रकार यह [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] और गुण इन [illegible]
भी [illegible] न होकर [illegible] भी [illegible] । और भी [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] गुण [illegible]
[illegible] होता है [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] यह गुण भी [illegible] है । अब
यदि यह [illegible] कि,—"[illegible] [illegible] होता है । तो [illegible] [illegible]
[illegible]—[illegible] ही [illegible] होता [illegible] है । और '[illegible]
[illegible] होता है ' [illegible] नहीं किया जा सकता है, क्योंकि [illegible] [illegible]
[illegible] जाता है, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं जाता
है [illegible] ही [illegible] नहीं जाती है । और [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] हैं । [illegible] [illegible] एक ही है । [illegible]
[illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] हैं, यह भी [illegible] [illegible] [illegible] ( [illegible] ) [illegible] है;
[illegible] सिद्ध हुआ ही [illegible] चाहिये ।

[illegible] [illegible] । [illegible] [illegible], [illegible] वा । [illegible]
[illegible] वा । [illegible] [illegible] । [illegible] च [illegible]—"[illegible]
[illegible] न [illegible] । [illegible] [illegible] ॥ [illegible] ॥" द्वितीयपक्षे तु [illegible]
[illegible] । [illegible] न [illegible] । [illegible] [illegible] । तथाहि "[illegible]

च्यते" इति चेति पुरुषक्रियानुगतं रूपमस्य । एतत्क्रियाऽभावे कथं भवितुमर्हति । न चैतत्केवलं क्वचिद्ध्वनदुपलभ्यते । उपलब्धावप्यदृश्यवक्राशङ्कासंभवात् । तस्मात् वचनं तत्पौरुषेयमेव । वर्णात्मकत्वात्कुमारसंभवादिवचनवत् । वचनात्मकश्च वेदः । तथाचाहुः ।—" तालवादिजन्मा ननु वर्णवर्गो वर्णात्मको वेद इति स्फुटं च । पुंसश्च तालवादिरतः कथं स्यादपौरुषेयोऽयमिति प्रतीतिः । १ । " इति ।

और जो तुमने " हिंसाके करनेमें आगम प्रमाण है " ऐसा कहा है । सो वह तुम्हारा आगम भी हमारे प्रमाणभूत नहीं है । क्योंकि, वह आगम पौरुषेय ( किसी पुरुषका रचा हुआ ) है, या अपौरुषेय ( किसी पुरुषका नहीं रचा हुआ ) है ? यदि कहो कि;—आगम पौरुषेय है, तो हम प्रश्न करते हैं कि,—वह आगम सर्वज्ञ पुरुषकृत है, अथवा असर्वज्ञ पुरुषकृत है ? यदि उत्तर दो कि,—सर्वज्ञ पुरुषकृत है; तब तो " इन्द्रियोंके अगोचर पदार्थोंको प्रत्यक्षमें देखनेवाला कोई नहीं है; अतः नित्य ऐसे जो वेदके वाक्य हैं; उनहीसे उन अतींद्रियपदार्थोंकी यथार्थताका ( अस्तित्व आदि स्वरूपका ) निश्चय होता है । १ । " यह जो तुम्हारा सिद्धांत ( मत ) है; उसका खंडन होगा । यदि कहो कि,—वह आगम असर्वज्ञ पुरुषसे रचा हुआ है; तो वह असर्वज्ञ पुरुष दोषी है अर्थात् असर्वज्ञपनेरूप दोषका धारक है और वह आगम उसीसे किया हुआ है; अतः दोषीकृत आगममें अविश्वासका प्रसंग होगा । भावार्थ—दोषीकृत आगममें विश्वासका करना हम और तुम दोनोंको ही अभीष्ट नहीं है. यदि कहो कि; यह आगम अपौरुषेय है; तो जैसे-शरीररहित होनेसे घोड़ेका सींग असत् है; उसी प्रकार स्वरूपका निराकरण होनेसे वह आगम अपौरुषेय हो ही नहीं सकता है । सो ही दिखलाते हैं कि,—जो उक्ति अर्थात् बोलना है; उसको वचन कहते हैं. इसकारण वचनका स्वरूप पुरुषक्रियासे युक्त है; अतः वह वचन पुरुषक्रियाके विना कैसे हो सकता है । भावार्थ—जब मनुष्य वचनके उच्चारण करनेमें प्रवृत्त होवे; तभी वचन उत्पन्न हो सकता है । और पुरुषक्रियारहित यह केवल वचन कहीं भी शब्द करता हुआ नहीं प्राप्त होता है । और यदि कहीं पुरुषक्रियाके विना शब्द करता हुआ यह वचन मिल जावे तो भी उस स्थानमें अदृश्य वक्ताकी अर्थात् अपने माहात्म्यसे हमारे तुम्हारे देखनेमें नहीं आनेवाला ऐसा जो वचनको कहनेवाला पुरुष है; उसकी आशंका हो सकती है । इसकारण अनुमान किया जाता है कि,—जो वचन है, वह पौरुषेय ही है । अक्षररूप होनेसे कुमारसंभव आदि ग्रन्थोंके वचनोंकी समान । भावार्थ—जैसे—अक्षररूप होनेसे कुमारसंभव काव्य

मांसके लक्षण दीखते हैं; अतः यहां अन्न लक्षणा बनती है। और जो मेध है, वह अन्नरूप है, अतः मेध को मांसरूप कहा है। तो इस श्रुतिमें यह है कि,—"कलेजा मांस सिंधव काले गाय आदि कालोंके अन्नरूप होता है और पैर पक्षी (अन्नरूप) मांस है, यह भी विहित है और ये सब आदि लेकर गुलाबके दोहे हैं, अतः यह उपरका व्याख्यान (भाष्य) अर्थशून्य है यह स्पष्ट होने पर होने अर्थात् नहीं हो सकती है।" ३।"

अनेनैवोपदेशेनानुमतिप्रतिषेधावपि व्याख्यातौ वेदितव्यौ। तत्रानुमतिप्रतिषेधौ तावत्। अनुमतिः प्रोक्षणादिषु। प्रतिषेधः खल्वपि। अनुमतिप्रतिषेधौ कस्मात्। उच्यते। श्रुत्यभावात्। इतरथा श्रुत्यभावे अनुमतिप्रतिषेधौ कि नावौ विरोधकत्वेऽप्यपवादौ। यद्यपि यद्यपि श्रुत्यभावेऽपि लौकिकेनानुमानेन। यानु लाक्षणिकेषु श्रुत्यभावेऽपि अन्न न वाक्यार्थम्। आप्तपुरुषाधीना हि वाचां प्रामाण्यस्थितिः। एवं च सत्याप्तवाक्ये सत्यपि लक्षणया अनुमतिप्रतिषेधविरुद्धमतिपादिनि हिंसाकर्मणो धर्मत्वाकाङ्क्षिणि सामान्यादेतुरं पश्येति।

तो इसके भी पूर्व (वैदिकी गया) को लौकिक मान करके उस श्रुतिके अर्थके आक्षेपको दोषरूप ही बोधन किया है। तब इस श्रुतिके अर्थ व्याख्यानको दोषरूप न करते हैं 'अनुमतिरेव प्रतिषेधात्' इस श्रुतिका तो 'अर्थकी इच्छा लोगोंमें अधिक जगह मांसमें' ऐसा संक्षेप अर्थ है, उसके बाद 'तत्रैतत् प्रयोजन आलभ्य (कूपे) के जल (यज्ञ) को लाकर' यह अर्थ भी कभी नहीं होवे। क्योंकि,—इस श्रुतिमें अन्नरूप पशु अर्थ नहीं, परन्तु अन्न 'यह' इस वाक्यसे दूसरे निमन्त्रण नहीं है। इसलिए जैसे-तैसे श्रुतिके अर्थको गुणरूप करनी है, तभी उस श्रुतिको भी गुणरूप ही वाक्यसे ही अन्न है। अथवा चाहे इस आलभ्यको अन्नरूप ही मानें, तथापि उस अन्नरूपसे आलभ्यकी प्रशंसा नहीं है। क्योंकि—उसमेंकी प्रशंसा आप (यथार्थवक्ता) पुरुषके आधीन है अर्थात् लोकमें यथार्थवादी पुरुषके वाक्य ही प्रमाणरूप माने जाते हैं। अतः अन्नरूपसे आलभ्य आलभ्य ही होनेसे उसकी प्रशंसा नहीं है। और इसलिए उस श्रुतिको अनुमतिरूप: सिद्ध होनेसे: उस आलभ्यको भी अनुमतिरूप कल्पनेसे (वैदिकी अनुमति उत्पन्न होनेसे) लौकिकोंसे कहा हुआ भी हिंसारूप मांसादिकोंका भक्षण है, ऐसा समझना ही है।

अब पीछे 'न हिंसायां सर्वेषुमतिः' इत्यादिना हिंसाविधायक श्रुतिका संक्षेपार्थ कहते हैं। महामांसको विधिविरुद्धार्थ। वेदविधिना तु विहित मांसवादपद विशेषतो विधिविरुद्धार्थः। तत्र श्रीउपस्थादेनेत्यादिना मांसभक्षणे दोषोक्ति

हिंसाविधिर्दोषाय। "उत्सर्गापवादयोरपवादो विधिर्बलीयान्" इति न्यायात्। भवतामपि हि न खल्वेकान्तेन हिंसानिषेधः। तत्तत्कारणे जाते पृथिव्यादिप्रतिसेवनानामनुज्ञातत्वाद् ग्लानाद्यसंस्तरे आधाकर्मादिग्रहणभणनाच्च। अपवादपदं च याज्ञिकी हिंसा देवतादिप्रीतेः पुष्टालम्बनत्वात्। इति परमाशङ्क्य स्तुतिकार आह—नोत्सृष्टमित्यादि।

शंका—जो यह "न हिंस्यात् सर्वभूतानि" अर्थात् 'सब जीवोंकी हिंसा मत करो।' इत्यादि वचनोंसे हिंसाका निषेध है, वह उत्सर्गका मार्ग है अर्थात् सामान्य प्रकारसे हिंसा न करनेका उपदेश है। और जो वेदोक्त हिंसा है; वह अपवादका मार्ग है अर्थात् विशेष प्रकारसे हिंसा करनेका उपदेश है। और अपवादके उपदेशसे उत्सर्गका उपदेश बाधित होता है; अतः वेदोक्त हिंसाका विधान दोषके अर्थ नहीं है अर्थात् आपने जो पहले एक वाक्यसे हिंसाका निषेध और दूसरे वाक्यसे हिंसाका विधान करनेसे हमारे पक्षमें स्ववचनविरोध नामक दोष दिया था; वह दोष हमारे पक्षमें नहीं हो सकता है। क्योंकि उत्सर्गविधि और अपवादविधि इन दोनोंमेंसे अपवादविधि बलवान् होती है; ऐसा न्याय है। और आप (जैनियों) के भी एकान्तसे (सर्वथा) हिंसाका निषेध नहीं है, क्योंकि उन २ कारणोंके उत्पन्न होनेपर पृथ्वीकाय आदिके प्रतिसेवनोंकी (वध करनेकी) आज्ञा दी गई है। और ग्लान (रोगी) आदि मुनियोंका निर्वाह न होनेपर आधा कर्म आदिके ग्रहण करनेका कथन किया गया है। भावार्थ—उत्सर्गमार्गसे मुनियोंको अपने निमित्त किये हुए भोजनका आहार करनेकी आज्ञा नहीं है, परंतु यदि मुनि रोगी हो और उसका निर्वाह न हो सके तो वह अपने निमित्त किये हुए भोजनका भी आहार करले ऐसा अपवादमार्गसे उपदेश किया गया है। [ अपने निमित्त किये हुए भोजनको ग्रहण करनेवाला मुनि आधाकर्म नामक दोषसे दूषित होता है ] और यज्ञमें होनेवाली जो हिंसा है; वह अपवादरूप है। क्योंकि; देवताआदिकी प्रीतिका पुष्ट आलंबन है अर्थात् यज्ञआदिमें हिंसाके कियेविना देवताआदि प्रसन्न नहीं होते हैं। इसप्रकार वादियोंकी ओरसे परम आशंका करके स्तुतिके कर्ता आचार्य महाराज "नोत्सृष्टम्" इत्यादि काव्यके दूसरे चरणका कथन करते हैं।—

अन्यार्थमिति मध्यवर्त्ति पदं डमरुकमणिन्यायेनोभयत्रापि सम्बन्धनीयम्। अन्यार्थमुत्सृष्टं अन्यस्मै कार्याय प्रयुक्तं उत्सर्गवाक्यमन्यार्थप्रयुक्तेन वाक्येन नापोद्यते नाऽपवादगोचरीक्रियते। यमेवार्थमाश्रित्य शास्त्रेषूत्सर्गः

॥ ८९ ॥

१ अनिर्वाहे।

मन्तव्ये [illegible] प्रवर्तते । [illegible]-

[illegible] । [illegible]

[illegible] । [illegible] ।

[illegible] । [illegible]

[illegible] ॥ १ ॥" [illegible] ।

'[illegible]' इस वाक्य में 'अन्यार्थ' का [illegible] है। [illegible]

[illegible] किया गया है। "अन्यार्थ" इससे [illegible] "[illegible]" [illegible] "[illegible]"

[illegible] "न [illegible]" [illegible] नहीं किया जाता है।

भावार्थ—[illegible] है। [illegible] है।

क्योंकि—जैसे [illegible]

[illegible] ( [illegible] ) [illegible] है।

[illegible] और [illegible]

[illegible] है। [illegible]

[illegible] है। और [illegible] और [illegible]

[illegible] है। [illegible]

[illegible] है। और [illegible] है। और "[illegible]" है [illegible]

[illegible] है [illegible]

[illegible] । क्योंकि "[illegible]

१ [illegible] । [illegible] । । । [illegible] ।

ही रक्षा करे; जो संयमकी रक्षा करनेपर मरण होता हो तो; उस अवस्थामें संयमको छोड़कर आत्मकी रक्षा करे। क्योंकि—संयमका त्याग करनेसे जो दोष लगते हैं; उनसे वह मुनि रहित हो जाता है। कारण कि उन दोषोंकी प्रायश्चित्त आदिसे फिर शुद्धता हो जाती है। और ऐसी दशामें वह मुनि अविरति ( व्रतरहित ) नहीं होता है। १।" यह आगम अपवादको ग्रहण करनेका उपदेश देता है।



तथा आयुर्वेदेऽपि यमेवैकं रोगमधिकृत्य कस्यांचिदवस्थायां किंचिद्वस्त्वपथ्यं तदेवाऽवस्थान्तरे तत्रैव रोगे पथ्यम्। "उत्पद्यते हि साऽवस्था देशकालामयान् प्रति। यस्यामकार्यं कार्यं स्यात् कर्म कार्यं तु वर्जयेत्। १।" इति वचनात्। यथा बलवदादेर्ज्वरिणो लङ्घनं क्षीणधातोस्तु तद्विपर्ययः। एवं देशाद्यपेक्षया ज्वरिणोऽपि दधिपानादि योज्यम्। तथा च वैद्याः "कालाऽविरोधि निर्दिष्टं ज्वरादौ लङ्घनं हितम्। ऋतेऽनिलश्रमक्रोध-शोककामकृत-ज्वरान्। १।" एवं च यः पूर्वमपथ्यपरिहारो यश्च तत्रैवाऽवस्थान्तरे तस्यैव परिभोगः स खलूभयोरपि तस्यैव रोगस्य शमनार्थः। इति सिद्धमेकविषयत्वमुत्सर्गाऽपवादयोरिति।

इसी प्रकार आयुर्वेद ( वैद्यक शास्त्रों ) में भी जिस ही एक रोगमें किसी अवस्थामें कोई वस्तु अपथ्य है; उसी रोगमें दूसरी अवस्थामें वही वस्तु पथ्य है। क्योंकि—"देशकालसंबंधी रोगोंमें वह अवस्था उत्पन्न होती है कि, जिसमें न करने योग्य कार्य तो करने योग्य हो जाता है और करने योग्य कार्य छोड़ दिया जाता है। १।" ऐसा वैद्यकशास्त्रोंका कथन है। जैसे—यदि ज्वररोगी बलआदिका धारक हो तो उसको लंघन कराया जाता है और यदि ज्वररोगी क्षीणवीर्य हो तो उसको लंघन न कराके प्रत्युत भोजन कराया जाता है। इसीप्रकार किसी देश आदिकी अपेक्षासे ज्वररोगीको भी दहीका पान कराना आदि समझ लेना चाहिये अर्थात् किसी देशकी अपेक्षासे ज्वररोगीको दधिपानादि अपथ्य है और दूसरे देशकी अपेक्षा ज्वर रोगीके लिये वेही दधिपानादि पथ्य हैं। सो ही वैद्य लोग कहते हैं कि—"वात, श्रम, क्रोध, शोक और काम, इनसे उत्पन्न हुए जो ज्वर हैं उनको छोड़कर अन्य कारणोंसे उत्पन्न हुए ज्वरोंमें कालका अविरोधी अर्थात् ग्रीष्म शीत आदि ऋतुओंके अनुकूल ऐसा जो लंघन है; वह हितकारी ( पथ्य ) कहा गया है।" और इसप्रकारसे जो जिस रोगमें पहले अपथ्यका त्याग है और उसी रोगमें दूसरी अवस्था होनेपर जो उस अपथ्यका ग्रहण है; वह दोनों ही अवस्थाओंमें उसी रोगकी शांतिके

अर्थ है। और इस शब्द प्रयोग में धर्म और धर्मवान् में (दोनों में) एकान्त भिन्न होना। भावार्थ—शास्त्रों में जिस धर्म के लिये अहिंसा है, उसी के लिये व्यवहार भी है, यह जो हम [जैनी] कहते हैं सो सब शास्त्रों के लिये ही कहा।

यथा वा चोदनाशब्दोऽनर्थकः, नयप्रयोगस्थानत्वात्। "न हिंस्यात्सर्वभूतानि।" इत्यनुवादो हि कुतश्चिन्निमित्तात्। यथाऽऽदित्यो हव्यवाडित्यत्र वैदिकस्त्रिलिङ्गनिमित्तोपपत्तावपि लिङ्गविशिष्टस्तुतिवत्। तथा परप्रसिद्धनिरोधाभावे अप्रतिषेधार्थोऽभावोऽपि शास्त्रे। तुल्यबलयोर्विरोधे हीति न्यायात्। विशेषार्थप्रयोगेऽपि तेन नानुपपन्नोऽनिवारणात्। न च शास्त्रे पौरुषेयहिंसाविधिवदपि स्वर्गादेरनुवादो गुणनिमित्तोपपत्तौ एवेति। तत्तोऽनुक्तस्य कल्पितस्याभावनिर्णयात्। तत्कल्पनेऽपि न प्रधानस्वरूपेऽपि तन्निमित्तोपपत्तेः। गुणप्रधानभावे प्रधानस्वरूपस्वीकारः॥

और इसके सिवाय जो अन्यान्य दूषण सर्वज्ञत्वके लिये हैं तथा व्यवहार चलने वगैरहके लिये हैं। जैसे-'इस यज्ञके लिये हिंसा न पाप होनी चाहिये' इस वाक्यमें जो अग्नि पुराणादिमें न आनेके भाव हैं और वेदोंमें हिंसा करने रूप जो व्यवहार है; यह वेदमें और पुराणादिमें परस्पर विरोध दिखाने के लिये है। और इसीसे यह [अग्नि पुराणादि] शास्त्र प्रमाण नहीं हैं। अर्थात् [वेदमें] हिंसा करनेका विधान होने से [अग्नि पुराणादिमें] हिंसा न करनेका भाव कैसे हो? क्योंकि—'एक ही वाक्य परस्पर विरोध होता है अर्थात् दो वाक्योंके दो भाव कभी एकसे नहीं होते' ऐसा न्याय है। यदि अग्नि पुराणादिको 'सिद्ध हुए पदार्थोंका ही' कहने वाले होनेसे उनमें अप्रमाणपना होगा तो अग्निहोत्र होम वगैरहका व्यवहार होनेसे वेदोंमें भी पुराणादिक वाक्य कहनेके लिये ही हैं, ऐसा कहना अयुक्त होगा। क्योंकि 'विधानरूप नहीं हैं' यह भी तुमको न कहना चाहिये। क्योंकि उन वेदोंके विधि वाक्योंमें पुराणादिका पूर्वापर प्रकरणसे व्यवहार हो चुके हैं। और उस वेदोंके विधि वाक्योंके बिना जो व्यवहार है उसमें भी अनेक विधि होती है। जैसे उस वृक्षका कोई अवयव न हो तो भी वृक्षका व्यवहार होता है।

तथा व्यवहारेऽपि पुराणादिवाक्यानामनुपयोगेऽपि [नोपयोगाभावेऽपि] अप्रतिषेधार्थत्वात्। यथाह व्यासमहर्षिः—"मूलघ्ने किमुपस्कुरुते—गामेकामोषधिं वा। तथा वाक्यविधानेऽपि वेदस्य प्रमाणे च मुक्तिदम्॥१॥" अन्यथा विधानार्थवेदवाक्यस्य व्याख्यानादिविधानेऽपि तस्यानो व्यवहारोऽपि हेतुवादं व्यवहारार्थत्वस्य पुराणादेरनुपयोगेऽपि [नोपयोगाभावेऽपि] तथा न व्यवहारनिर्दोषः ज्ञानपाठीलोकादिव्यवहारेऽपि स्वयमिष्टत्वात्।

और हम जैनी ही वेदोक्त यज्ञविधानको सुगतिका कारण नहीं मानते हैं ऐसा नहीं है किंतु तुम्हारे आप्त (यथार्थवक्ता) भी यज्ञविधानको सुगतिका कारण नहीं कहते हैं। सो ही व्यास महर्षिने कहा है कि–'पूजाके करनेसे बडा राज्य मिलता है. अग्निकार्य (वेदोक्त यज्ञोंके विधान) से संपदाओंकी प्राप्ति होती है; तप पापोंसे शुद्ध (रहित) होनेके अर्थ है और ज्ञान तथा ध्यान ये दोनों मुक्तिके दाता हैं। १।' इस श्लोकमें 'अग्निकार्य' इस शब्दसे कहे जाने योग्य जो याग आदि विधान है; उसको अन्य २ उपायोंसे भी प्राप्त होने योग्य संपदाओंका ही कारण कहकर व्यासजीने अर्थतः (वस्तुतः) वेदोक्त यज्ञविधानके सुगतिकी कारणताका खंडन कर ही दिया। और यही व्यासमहर्षि पहले दिये हुए 'ज्ञानपालिपरिक्षिप्ते' इत्यादि श्लोकोंसे भावाग्निहोत्र (भावयज्ञ) को स्थापित कर चुके हैं।

तदेवं स्थिते तेषां वादिनां चेष्टामुपमया दूषयति। स्वपुत्रेत्यादि। परेषां भवत्प्रणीतवचनपराङ्मुखानां स्फुरितं चेष्टितं स्वपुत्रघातान्नृपतित्वलिप्सासदृशम्। यथा किल कश्चिद्विपश्चित्पुरुषः परुषाशयतया निजमङ्गजं व्यापाद्य राज्यश्रियं प्राप्तुमीहते। न च तस्य तत्प्राप्तावपि पुत्रघातपातकलङ्कपङ्कः क्वचिदपयाति। एवं वेदविहितहिंसया देवतादिप्रीतिसिद्धावपि हिंसासमुत्थं दुष्कृतं न खलु पराह्रियेत। अत्र च लिप्साशब्दं प्रयुञ्जानः स्तुतिकारो ज्ञापयति। यथा तस्य दुराशयस्याऽसदृशतादृशदुष्कर्मनिर्मूलितसत्कर्मणो राज्यप्राप्तौ केवलं समीहामात्रमेव न पुनस्तत्सिद्धिः। एवं तेषां दुर्वादिनां वेदविहितां हिंसामनुतिष्ठतामपि देवतादिपरितोषणे मनोराज्यमेव। न पुनस्तेषामुत्तमजनपूज्यत्वमिन्द्रादिदिवौकसां च तृप्तिः। प्रशुक्तयुक्त्या निराकृतत्वात्। इति काव्यार्थः॥ ११॥

इस प्रकार वेदोक्त हिंसाविधिका खंडन हो चुकनेपर स्तुतिके कर्ता आचार्य महाराज 'स्वपुत्रघातादित्यादि' उत्तरार्धद्वारा उन मीमांसक वादियोंकी चेष्टाको उपमासे दूषित करते हैं। "परेषाम्" आप करके रचे हुए वचनोंसे पराङ्मुख अर्थात् आपकी आज्ञाको न माननेवाले उन वादियोंकी "स्फुरितम्" चेष्टा जो है सो "स्वपुत्रघातान्नृपतित्वलिप्सासदृशम्" अपने पुत्रको मारकर राज्यको प्राप्त करनेके मनोरथके समान है। भावार्थ—जैसे कोई मूर्खपुरुष कठोरस्वभावपनेसे अपने पुत्रको मारकर राज्यलक्ष्मीकी प्राप्तिके अर्थ इच्छा करता है और उस राज्यके मिल जानेपर भी उस पुरुषके पुत्रके मारनेसे उत्पन्न हुआ जो पाप-

[illegible] है [illegible] नहीं [illegible] [illegible]
[illegible]
[illegible] है । [illegible] [illegible]
[illegible] है [illegible] नहीं [illegible]
[illegible]
[illegible] नहीं है [illegible]
[illegible] है । [illegible]
नहीं होता है और [illegible] नहीं होती है । [illegible]
हो [illegible] है । [illegible] है ॥ ११ ॥

[illegible]
[illegible]—

अब [illegible] है [illegible] नहीं [illegible] है [illegible]
ऐसा कहनेवाले जो [illegible] नैयायिक [illegible] है [illegible]
[illegible] है [illegible] है [illegible]
[illegible] है —

स्वार्थावबोधक्षम एव बोधः प्रकाशते नार्थकथाऽन्यथा तु ।
परे परेभ्यो भयतस्तथापि प्रपेदिरे ज्ञानमनात्मनिष्ठम् ॥ १२ ॥

भावार्थः—ज्ञान जो है वह निज और पर पदार्थके जाननेमें समर्थ ही प्रतिभासता है । जो ऐसा न हो तो पदार्थकी कथनी भी कैसे करे । तो भी हे नाथ, अन्यमतवादीने [illegible] ज्ञानको [illegible] माना है ॥ १२ ॥

[illegible]

बोधो ज्ञानं स च स्वार्थावबोधक्षम एव प्रकाशते स्वस्यात्मस्वरूपस्यार्थस्य च योऽवबोधः परिच्छेदस्तत्र क्षम एव समर्थ एव प्रतिभासते। इत्ययोगव्यवच्छेदः। प्रकाशत इति क्रियावाऽवबोधस्य प्रकाशरूपत्वसिद्धेः सर्वप्रकाशानां तु स्वार्थप्रकाशकत्वेन बोधस्यापि तत्सिद्धिः। विपर्यये दूषणमाह। नार्थकथान्यथातिति। अन्यथेति अर्थप्रकाशनेऽविवादाज्ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वाऽनभ्युपगमेऽर्थकथैव न स्यात्। अर्थकथा पदार्थसंबन्धिनी वार्त्ता सदसद्रूपात्मकं स्वरूपमिति यावत्। ( तुशब्दोऽवधारणे भिन्नक्रमश्च स चार्थकथया सह योजित एव ) यदि हि ज्ञानं स्वसंविदितं नेष्यते तदा तेनात्मज्ञानाय ज्ञानान्तरमपेक्षणीयं तेनाप्यपरमित्याद्यनवस्था ततो ज्ञानं स्वयंवेद्यत्वावबोधव्यप्रतामग्नम्। अर्थस्तु जडतया स्वरूपज्ञापनाऽसमर्थ इति को नामार्थस्य कथामपि कथयेत्।

व्याख्यार्थः—"बोधः" ज्ञान जो है वह "स्वार्थावबोधक्षमः" अपने और पदार्थके जाननेमें समर्थ "एव" ही "प्रकाशते" प्रतिभासता है। [ इस प्रकार यहां अयोगका व्यवच्छेद है ] 'प्रकाशते' इस क्रियापदका प्रयोग करनेसे ज्ञानके प्रकाशरूपता सिद्ध होती है; अतः जैसे अन्य सब प्रदीप आदि प्रकाश अपने और पदार्थके प्रकाशक हैं उसीप्रकार ज्ञान भी निजस्वरूप तथा पदार्थ इन दोनोंका प्रकाशक सिद्ध होता है। विपर्ययमें अर्थात् ज्ञानको निजका और पदार्थका प्रकाशक न माननेपर आचार्य 'नार्थकथान्यथा तु' इस वाक्यद्वारा दोषका कथन करते हैं। "अन्यथा" ज्ञानको अर्थका प्रकाशक माननेमें तो किसीको विवाद नहीं है अर्थात् सभी वादी ज्ञानको पदार्थका प्रकाशक मानते हैं; इसकारण योग जो ज्ञानका स्वप्रकाशकपना है; उसको यदि न स्वीकार किया जावे तो "अर्थकथा एव" पदार्थसंबन्धी वार्ता अर्थात् पदार्थ है वा नहीं है; इत्यादि प्रकारका कथन ही पदार्थके विषयमें न होवे। 'नार्थकथान्यथा तु' यहां पर जो 'तु' शब्द है उसके निश्चय और भेदरूप दो अर्थ होते हैं; उनमेंसे यहां निश्चय अर्थको ग्रहण करके 'तु' के पर्यायी 'एव' को अर्थकथाके साथ लगा दिया गया है। ]

भावार्थ—यहां पर यह है कि,—यदि ज्ञानको स्वसंविदित ( अपनेद्वारा ही अपने स्वरूपको जाननेवाला अर्थात् स्वप्रकाशक ) न माना जायेगा तो वह ज्ञान अपने स्वरूपको जाननेके लिये दूसरे ज्ञानकी अपेक्षा करेगा और वह दूसरा ज्ञान भी अपने स्वरूपको विदित करनेके लिये तीसरे ज्ञानकी अपेक्षा करेगा तब अनवस्था दोष हो जावेगा। अतः ज्ञान तो अपने स्वरूपके ॥ ९२ ॥

अनेन ही विशेषेण द्वयं व्यवहार्यं तत्र गवार्थं ज्ञानं गवादयः. इयमाद्यं मानसं व्यवहारं नाभिनयति नाभिनयेत्। इत्यनेन गवार्थस्य व्यवहारे भी चैत्र व्यवहारः।

तथाचैतत् प्रतीतस्य स्मरणविधिरूपेण पुनस्था गवयमानेऽपि यदि गौर्भवेत्सदृशी गौरिति ज्ञानं कार्तिकेयस्यापि गवि स्यात् । तस्य हि गवयमानेऽपि गौरिति ज्ञानं प्रमाणं । कुत एतत् ?—अदोषो ह्यवयवः । यदि पूर्वमनुपलब्धविभक्तेन सकलेन, ज्ञानस्य स्मरणविधिरूपत्वे वीप्सायामे संस्कर्तरि विनष्टविशेषणविशिष्टस्य व्यापारस्यावयवेऽपि गवयत्वं गोसादृश्यविशिष्टेऽवयवे ।

'तथापि' इस पूर्वांश से यद्यपि शब्दके सामयिकत्वका पूर्वभाग सिद्ध होता है तो भी 'यदि' शब्दसे प्रकट 'पूर्वदृष्ट' पदकी ( 'वीप्सया' तथा 'अपेक्षिते' इन दोनोंका कर्म है । ) 'अनालम्बिनिमित्त' नहीं है अतः लिङ्ग विशिष्ट लिङ्गी पदार्थ ( विशेषणविशिष्ट अर्थात्मक ) "गोपिण्डे" गवादे है । अब आलोचनेने अवयवी व्यवहारमें कारण नहीं होता है तो कहते हैं । "गोत्व" का भी पूर्वदृष्टके स्मरणे करने में उसी "सदृश" शब्दके सामयिकत्वका सिद्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि—उसी भाषामें विशेष विशेष है, एक जगह-की भाषामें अगर कुछ शब्दों पदका करते हैं वहांतोंने उसको व्यवहारका काल लेता है । भाष्यार्थ—'अतो यद्यपानुमानी आगमे व्यवहारः ( अतः पदार्थके ज्ञान करनेमें ) पात से तो उसके लिङ्ग व्यापारसे लिङ्ग व्यवहार गवादे होगा. क्योंकि, लिङ्ग व्यापारं लेना गवे लिङ्ग पूर्व व्यवहारसे व्यवहार नहीं होसकता है । और जैसा व्यापारेण वैशेषिक आदि व्यवहारे उसको कहेंगे कि—यह अवयव विशेषणयुक्त है और 'पूर्वदृष्टस्मृतिरूपेण' इस कथनसे पूर्व विशेषणसे युक्त किया गया है. अतः तुम उसको व्यवहारमें नहीं ला सकते हो' इस प्रकार वैशेषिकोंने जैसा ही यहांने शब्दके सामयिकत्वका खण्डन किया है ।

वाक्यसदरणपूर्वकृत्य विषयः मीमांसायः पराक्रमते । अहाल्लाभविधिं गृह्णन्ति । यदि तावत् प्रत्यक्षेणैतेन न अवगतिः, व्यापारेण विशेषितेनापि । न हि सुतरामितरो ऽपि तदवगमः । एवमनुमानमधिरोढुं गृह्णन्ति च सुतरामागमविषयारा तथैवोपमा-

---

। अवयवः अवयवे च सामान्यविशेषयोः अवयवे विशेषणविशिष्टः पूर्वदृष्टविशिष्टः इति पाठान्तरम् । अतः पाठान्तरे । इति वैशेषिकोक्तलक्षणवाक्यादिभिः न व्यवहारः ।

हितव्यापारा । ततश्च परोक्षमेव ज्ञानमिति । तदेतन्न सम्यक् । यतः किमुत्पत्तिः स्वात्मनि विरुध्यते ज्ञप्तिर्वा । यद्युत्पत्तिः सा विरुध्यतां, न हि वयमपि ज्ञानमात्मानमुत्पादयतीति मन्यामहे । अथ ज्ञप्तिर्नेयमात्मनि विरुद्धा तदात्मनैव ज्ञानस्य स्वहेतुभ्य उत्पादात् । प्रकाशात्मनैव प्रदीपालोकस्य । अथ प्रकाशात्मैव प्रदीपालोक उत्पन्न इति परप्रकाशको ऽस्तु आत्मानमप्यतावेन्मात्रेणैव प्रकाशयतीति कोऽयं न्याय इति चेत् तर्हि तेन वराकेणाप्रकाशितेनैव स्थातव्यम्, आलोकान्तराद्वाऽस्य प्रकाशेन भवितव्यम् । प्रथमे प्रत्यक्षबाधो द्वितीये ऽपि सैवानवस्थापत्तिश्च ।

इस प्रकार अक्षरोंका अर्थ करके अब विस्तारपूर्वक भावार्थका कथन करते हैं । प्रथम ही भट्ट यह कहते हैं कि–'ज्ञान स्वसंवेदित नहीं होता है; क्योंकि; निज आत्मामें क्रियाका विरोध है अर्थात् निजस्वरूपमें क्रिया नहीं होती है । दृष्टान्त–जैसे अच्छे प्रकारसे शिक्षाको प्राप्त हुआ भी नटका शिष्य अपने कंधेपर चढ़नेके लिये चतुर नहीं है अर्थात् अपने कंधेपर नहीं चढ़ सकता है और बहुत तीक्ष्ण ( तीखी ) भी तलवारकी धार अपने छेदनेके लिये व्यापारको नहीं धारण करती है अर्थात् आप आपको नहीं काटती है; इसीप्रकार ज्ञान भी आप आपको नहीं जानता है; इसकारण ज्ञान परोक्ष ( आप अपने प्रत्यक्षको न करनेवाला ) ही है; सो यह भट्टोंका कहना ठीक नहीं है; क्योंकि, हम पूछते हैं कि; ज्ञानकी निज आत्मामें उत्पत्ति विरुद्ध है अर्थात् ज्ञान निजस्वरूपमें उत्पन्न नहीं होता है ? अथवा ज्ञानकी निज आत्मामें ज्ञप्ति विरुद्ध है अर्थात् ज्ञान निजस्वरूपको जानता नहीं है ? यदि कहो कि–ज्ञानकी निज आत्मामें उत्पत्ति विरुद्ध है; तो वह विरुद्ध रहो; क्योंकि, हम ( जैनी ) भी निज आत्मामें ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं मानते हैं । यदि कहो कि–ज्ञानकी निजआत्मामें ज्ञप्ति विरुद्ध है; तो यह ज्ञप्ति ज्ञानके निजस्वरूपमें विरोध नहीं करती है क्योंकि; जैसे अपने कारणोंसे प्रदीपका प्रकाश प्रकाशरूप ही उत्पन्न होता है; उसीप्रकार ज्ञान भी अपने कारणोंसे ज्ञप्तिरूप ( जाननेरूप ) ही उत्पन्न होता है । अब यदि ऐसा कहो कि; प्रदीपका प्रकाश प्रकाशरूप उत्पन्न हुआ है; अतः वह पर ( घट पट आदि ) का प्रकाशक रहो, प्रकाशरूप उत्पन्न होनेसे ही वह आपको भी प्रकाशता है; इस माननेमें कौनसा न्याय है ? तो हम पूछते हैं कि; क्या वह बेचारा प्रदीपका प्रकाश स्वयं अप्रकाशित ही रहेगा ? वा कोई दूसरा प्रकाश इस प्रदीपके प्रकाशका प्रकाशक होगा ? यदि कहो कि;-प्रदीपका प्रकाश स्वयं अप्रकाशित ही रहेगा; तो इस कथनमें प्रत्यक्षसे बाधा आती है। भावार्थ—प्रदीपका प्रकाश जैसे घट आदि पदार्थोंके स्वरूपका प्रकाशक है; उसी प्रकार अपने

सकता। भी आवश्यक है. [illegible] [illegible] देना जाता है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] विरोध आता है।
यदि कहो कि [illegible] [illegible] [illegible] ऐसी [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] होता है, तो हम कहेंगे भी वही [illegible] [illegible]
सकती है, क्योंकि, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हो रहा है, अब [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] कोई [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] नहीं जाता है और एक [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] और दूसरे [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] होगा। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] होती है।

अत [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], आत्मानं न [illegible]। [illegible]-
तथा [illegible] [illegible] [illegible]। न हि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible],
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। यथा तु [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible],
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] एव।

अब यदि ऐसा कहें कि — [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं [illegible] [illegible] है। भावार्थ — [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हुए [illegible] और [illegible] दोनों [illegible] नहीं [illegible] सकते हैं [illegible] [illegible] भी [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] है, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं हो सकता है. [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] है, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं [illegible] है, और [illegible] [illegible] [illegible] है, [illegible] [illegible]
[illegible] होता ही है; [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हुए [illegible] [illegible] ( [illegible] ) [illegible] [illegible]
है, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] भी [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] करते हैं, क्योंकि, ' [illegible] [illegible] [illegible] है ' [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ही [illegible] है।
और [illegible] [illegible] [illegible] ' [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है ' [illegible] [illegible] [illegible] से [illegible] [illegible] होता है. [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] है; [illegible] [illegible] [illegible] भी [illegible] [illegible] [illegible] ही है।

---

1 [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।

यस्तु स्वात्मनि क्रियाविरोधो दोष उद्भावितः, सोऽयुक्तः अनुभवसिद्धेऽर्थे विरोधासिद्धेः । घटमहं जानामीत्यादौ कर्तृकर्मवज्ज्ञप्तेरप्यवभासमानत्वात् । न चाप्रत्यक्षोपलम्भस्यार्थदृष्टिः प्रसिध्यति । न च ज्ञानान्तरादुपलम्भसम्भावना, तस्याप्यनुपलब्धस्य प्रस्तुतोपलम्भप्रत्यक्षीकाराभावात् । उपलम्भान्तरसम्भावने चानवस्था । अर्थोपलम्भात्तस्योपलम्भे ऽन्योन्याश्रयदोषः ।

और जो तुमने 'अपनी आत्मामें क्रियाका विरोध है' यह दोष ज्ञानके स्वसंविदित माननेमें उत्पन्न किया है, सो ठीक नहीं है; क्योंकि, अनुभवसे सिद्ध पदार्थमें विरोधकी प्राप्ति नहीं होती है; कारण कि 'मैं घटको जानता हूं' इत्यादि प्रयोगमें जैसे कर्त्ता और कर्मका अनुभव होता है; उसीप्रकार ज्ञप्तिका भी भान होता है । और परोक्ष ज्ञानके पदार्थका जानना सिद्ध नहीं होता है अर्थात् ज्ञानको अस्वप्रकाशक माननेपर ज्ञान परोक्ष हो जावेगा और तब वह परोक्षज्ञान पदार्थको जान नहीं सकता है । यदि कहो कि; उस परोक्ष ज्ञानका ज्ञान दूसरे ज्ञानसे हो सकता है । सो ठीक नहीं । क्योंकि वह दूसरा ज्ञान भी अज्ञात ( नहीं जाना हुआ ) अर्थात् परोक्ष है; इसकारण प्रस्तुत जो पहला ज्ञान है, उसका प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है । और यदि यह कहोगे कि; उस दूसरे ज्ञानके ज्ञानको तीसरा ज्ञान कर सकता है तो ऐसा माननेपर अनवस्था आती है । यदि कहो कि; पदार्थके ज्ञानसे उस ज्ञानका ज्ञान होगा तो ऐसा माननेमें अन्योन्याश्रयदोष प्राप्त होगा अर्थात् 'ज्ञानका ज्ञान होनेसे तो अर्थका ज्ञान होगा और अर्थका ज्ञान होनेसे ज्ञानका ज्ञान होगा' इस प्रकार ज्ञान और अर्थ ये दोनों ही अपने ज्ञानके लिये परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षाको धारण करेंगे ।

अथार्थप्राकट्यमन्यथा नोपपद्येत यदि ज्ञानं न स्यात् इत्यर्थापत्त्या तदुपलम्भ इति चेत् न । तस्या अपि ज्ञापकत्वेनाज्ञाताया ज्ञापकत्वायोगात् । अर्थापत्त्यन्तरात्तज्ज्ञानेऽनवस्थेतरेतराश्रयदोषापत्तेस्तदवस्थः परिभवः । तस्मादर्थोन्मुखतयैव स्वोन्मुखतयापि ज्ञानस्य प्रतिभासात्स्वसंविदितत्वम् ।

॥ ९४

१ परस्परसापेक्षत्वमन्योन्याश्रयत्वम् । २ 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यत्र यथा दिवसाधिकरणकभोजनकर्तृत्वाभावविशिष्टदेवदत्तस्य रात्रिभोजनमन्तरा पीनत्वं नोपपद्यत इति पीनत्वान्यथानुपपत्त्या रात्रिभोजनं कल्प्यते । तथेदमपि घटज्ञानमन्तरा घटप्राकट्यं नोपपद्यत इति घटप्राकट्यान्यथानुपपत्त्या घटज्ञानस्योपलम्भः (ज्ञानं) कल्प्यते ।

यदि ऐसा कहो कि,—जो शास्त्र न होवे, तो पदार्थोंका स्वरूप न होवे। इस अनुमानसे शास्त्र प्रमाण सिद्ध होता है। उत्तर—जैसे 'देवदत्त लेता है और जिनो भोजन नहीं करता है' इस वाक्यसे यदि देवदत्त जिनदत्तके भोजन नहीं करता है ऐसे लेना कैसे हो सक्ता है। इस वाक्यसे उलटा अर्थात्‌ विपरीत अर्थ है कि,—देवदत्त भोजन करता है। परन्तु, यदि देवदत्त न कहे तो देवदत्तके भोजनका सिद्ध न होवे, इसी प्रकार यहां भी परस्परापेक्षा रखनेके विना पदका प्रकाश नहीं हो सक्ता है और पदका प्रकाश होना ही है. इस वास्ते पदका प्रकाश सिद्ध करनेके लिये वर्णानुपूर्वीके ज्ञानकी अपेक्षा है। सो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि, जैसे ज्ञान प्रत्यक्ष (आत्मप्रत्यक्ष) है, उसी प्रकार अर्थापत्ति भी प्रत्यक्ष है अथवा शब्द अनित्य है; इस अनुमानसे भी पदको सिद्ध किया जासक्ता है। और यदि पूर्वी वर्णानुपूर्वीसे उत्तर अनुपूर्वीमें उत्तर अनुपूर्वीसे भी अन्योन्याश्रय दोष आवेगा। क्योंकि, इतरेतराश्रय उसमें आवे जहां एक एक पदार्थों के ज्ञानसे दोनों पदार्थ सिद्ध होवें, वहां नहीं भी आवेगा। क्या सिद्ध हुआ कि—जैसे अग्नि प्रत्यक्षोपलब्धि लक्षण है अर्थात्‌ अग्नि प्रत्यक्ष है, उसी प्रकार शब्दादिमें भी इस प्रतिज्ञाके वे अर्थात्‌ शब्द आदि भी प्रत्यक्ष होते हैं। अतः सिद्ध सिद्धसेनसे अनेकान्तिकता दोष हो गया।

अत्रोच्यते—नेदमनुमानं पदस्यैवंप्रकारानुपूर्व्या विषयाकारः। प्रयोगस्तु ज्ञानमनुभवफलापरोक्षानुपूर्व्या भवति, अनुभवाभावाद् घटवत्। धातुपदार्थे च वर्णसंहत्यादयो भ्रान्ताः, स्थिरत्वेऽसत्त्वात्। क्षणिकत्वं हि—अन्यदेवोत्पन्नमन्यदेव विनश्यति। न चानुपूर्व्यनुभवस्यापि दोषोऽवर्णिसंबन्धानुभूतेऽर्थेऽस्मरणापेक्षया भावानुभवाभावात्। एकस्मिन्नुच्चारणेऽपेक्षैकस्य पुनरुच्चारणस्य वर्णाद्यैक्यापेक्षया भावात्।

शंका—यदि शब्द अनुपलब्धि (अदृष्टि) से अर्थात्‌ वर्णानुपूर्वीके विषयके अनुरूप (अनुसार पड़ने योग्य) (अनुपलब्धि होने योग्य) होनेसे तो पदादिके ज्ञानके लिये जो अनुपूर्वीसे संस्मरणका कारण होता है वह अर्थात्‌ वैसे पदादि पदार्थ अनुभवमें आनेसे अनुपलब्धि नहीं है; क्योंकि। वह भी अनुभव (देखा) होनेसे अनुपलब्धि (नहीं) शब्दका न होना। इस लिये अनुमानका प्रयोग इस प्रकार है कि,—शब्द अनुपलब्धि है तो भी अनुपलब्धि नहीं है, अनुभवमें होनेसे, घटके समान। तो

१ यदि अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तमेव पदादि तत्र तस्य अनुपूर्व्यनुस्मरणकारणत्वमनुपपन्नमित्याशङ्क्याह। तदनुपलब्धिलक्षणप्राप्तमपि।

आप ज्ञानको अनुभाव्य स्वीकार करते ही है; क्योंकि, आपके मतमें ज्ञान स्वसंविदित है। **समाधान**—यह तुम्हारा कथन ठीक नहीं है। क्योंकि; जैसे ज्ञाता (जाननेवाले) को ज्ञातृतासे अर्थात् मैं जाननेवाला हूं इसरूपसे अनुभव होता है; उसीप्रकार अनुभूतिके अनुभूतिपनेसे ही अनुभव होता है, और अनुभूतिको अनुभाव्यता दोष नहीं है अर्थात् अनुभूतिको अनुभाव्य माननेमें जो जो तुमने दोष दिया है, वह नहीं हो सकता है, क्योंकि; वह अनुभूति अर्थकी अपेक्षासे तो अनुभूति है और अपनी अपेक्षासे अनुभाव्य है; इसकारण जैसे एक ही पुरुष अपने पिताकी अपेक्षासे पुत्रत्व और अपने पुत्रकी अपेक्षासे पितृत्व धर्मको अविरोधतासे धारण करता है अर्थात् भिन्न २ अपेक्षासे पुत्रत्व और पितृत्वरूप दोनों धर्मोंको धारण करनेसे उस पुरुषमें कोई विरोध उत्पन्न नहीं होता है, इसी प्रकार अनुभूतिको भिन्न २ अपेक्षासे अनुभूतित्व और अनुभाव्यत्व धर्मको धारण करनेवाली माननेमें कोई विरोध (दोष) नहीं है।

**अनुमानाच्च स्वसंवेदनसिद्धिः। तथा हि-ज्ञानं स्वयं प्रकाशमानमेवार्थं प्रकाशयति प्रकाशकत्वात्प्रदीपवत्। संवेदनस्य प्रकाश्यत्वात्प्रकाशकत्वमसिद्धमिति चेत् न। अज्ञाननिरासादिद्वारेण प्रकाशकत्वोपपत्तेः।**

और अनुमानसे भी ज्ञानके स्वसंवेदनता सिद्ध होती है। सो ही अनुमानका प्रयोग दिखाते हैं कि;—ज्ञान जो है वह स्वयं (अपनेको) प्रकाशता हुआ ही अर्थको प्रकाशित करता है; प्रकाशक होनेसे, प्रदीपके समान अर्थात् जैसे प्रकाशक होनेसे प्रदीप आपके और पदार्थके दोनोंके स्वरूपको प्रकट करता है; उसीप्रकार ज्ञान भी प्रकाशक है अतः अपने और पदार्थके दोनोंके स्वरूपको जानता है। यदि कहो कि; ज्ञान प्रकाश्य (प्रकाशित होने योग्य) है अतः ज्ञान प्रकाशक (प्रकाश करनेवाला) सिद्ध नहीं होता है सो नहीं, क्योंकि; ज्ञान जो है वह उत्पन्न होते ही अज्ञानके नाश आदिको करता है; इस कारण ज्ञानके प्रकाशकपना सिद्ध होता है।

**ननु नेत्रादयः प्रकाशका अपि स्वं न प्रकाशयन्तीति प्रकाशकत्वहेतोरनैकान्तिकतेति चेत्, न नेत्रादिभिरनैकान्तिकता। तेषां लब्ध्युपयोगलक्षणभावेन्द्रियरूपाणामेव प्रकाशकत्वात्। भावेन्द्रियाणां च स्वसंवेदनरूपतैवेति न व्यभिचारः। तथा संवित् स्वप्रकाशा[1] अर्थप्रतीतित्वात्। यः स्वप्रकाशो न भवति नासावर्थप्रतीतिः। यथा घटः।**

[1] ज्ञानं स्वप्रकाशकम्, अर्थप्रकाशकत्वात्। यन्नैवं तन्नैवं यथा घट इति तात्पर्यम्।

यदि ऐसा कहो कि,—जैन जाति सत्कारक है सो भी निश्चय नहीं करते हैं अर्थात् जैन इनमें [illegible] को भी [illegible] है, १८६ वर्ष [illegible] है, [illegible] अनुमानमें जो सकते [illegible] हेतु दिया है, वह अनैकान्तिक है अर्थात् 'यह [illegible] हेतु [illegible] को [illegible] सिद्ध करता है और जैन जातिमें [illegible] सिद्ध नहीं करता है, [illegible] है ' तो कहते यह है कि,—एक अनुमानमें [illegible] हेतुके जैन जातिमें [illegible] सिद्ध नहीं होती है। क्योंकि, [illegible] और [illegible] जो [illegible] हैं, वह भाव [illegible] में जैन जाति है, उनके ही [illegible] है और जो [illegible] जैन जाति हैं; वे [illegible] ; [illegible] हैं [illegible] । [illegible]—[illegible] ( [illegible] ) [illegible] और [illegible] इन्द्रियोंको [illegible] है, [illegible] भी जो [illegible] है [illegible] और [illegible], [illegible] जो जैन [illegible] है, वह [illegible] है, और ( [illegible] ) [illegible] जैसा [illegible] है वह [illegible] कहलाती है। [illegible] है। और [illegible], [illegible] इन्द्रिय भी जो [illegible] है, [illegible] जैन [illegible] जो [illegible] है जो [illegible] है और जो [illegible] ज्ञान होता है, [illegible] है। [illegible] है, और [illegible] जो [illegible] । [illegible] जैन [illegible] हेतु [illegible] सिद्ध नहीं कर सकते हैं। और [illegible] है, [illegible] । जो [illegible] नहीं है, [illegible] भी नहीं है। [illegible] । [illegible]—[illegible] है, जो [illegible] नहीं है, [illegible] भी नहीं है, जैसे कि, [illegible] नहीं है, इसलिये [illegible] भी नहीं है। [illegible] सिद्ध होते हैं।

तदेवं [illegible] "संप्रयोगे इन्द्रियबुद्धिजन्मलक्षणं ज्ञानं, ततोऽन्य[illegible]" [illegible]।

इस [illegible] और [illegible] सिद्ध होता है तो जो [illegible] जो ' [illegible] होनेसे ( [illegible] होनेसे ) इन्द्रियबुद्धिजन्मलक्षण [illegible] ( इन्द्रियोंसे जो बुद्धि उत्पन्न होती

है उसरूप ) ज्ञान होता है, उस ज्ञानसे अर्थका प्रकाश होता है; पदार्थके प्रकाशसे अर्थापत्ति होती है और अर्थापत्तिसे प्रवर्तक ( पदार्थको प्रकाशित करनेवाले ) ज्ञानका ज्ञान होता है' इस प्रकारसे त्रिपुटी प्रत्यक्षकी कल्पना की है; अर्थात् तीन पुट (चक्कर) लगाकर ज्ञानका प्रत्यक्ष माना है वह केवल परिश्रमरूप फलको ही धारण करती है। भावार्थ—भट्टोंने ज्ञानको स्वसंवेदन न मानकर जो इतना जाल फैलाया है; उससे लाभके बदले परिश्रमकी वृद्धिरूप हानि ही होती है।

यौगास्त्वाहुः। ज्ञानं स्वान्यप्रकाश्यम् ईश्वरज्ञानान्यत्वे सति प्रमेयत्वात्। घटवत्। समुत्पन्नं हि ज्ञानमेकात्मसमवेताऽनन्तरोज्झद्विष्णुमानसप्रत्यक्षेणैव लक्ष्यते न पुनः स्वेन। नचैवमनवस्था। अर्थापत्तिज्ञानोत्पादमात्रेणैवार्थसिद्धौ प्रमातुः कृतार्थत्वात्। अर्थज्ञानजिज्ञासायां तु तत्रापि ज्ञानमुत्पद्यत एवेति।

और यौग ( नैयायिकमतावलम्बी पुरुष ) यह कहते हैं कि,—' ज्ञान अपनेसे भिन्न जो कोई दूसरा है; उससे प्रकाशित होता है, ईश्वरके ज्ञानसे भिन्न होकर प्रमेय ( प्रमाणका विषय ) होनेसे घटके समान। भावार्थ—जैसे घट पदार्थ ईश्वरके ज्ञानसे भिन्न है और प्रमेय है उसीप्रकार संसारी जीवोंका ज्ञान भी ईश्वरके ज्ञानसे भिन्न तथा प्रमेय है अतः जैसे घटका ज्ञान घटसे भिन्न जो ज्ञान है; उससे होता है; उसीप्रकार ज्ञानका ज्ञान भी दूसरेसे होता है अर्थात् जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह उसी आत्मामें समवायसंबंधसे रहनेवाला तथा ज्ञानकी उत्पत्तिके पश्चात् ही उत्पन्न होनेवाला ऐसा जो मानस प्रत्यक्ष है उसीके द्वारा जाना जाता है और अपने द्वारा अपना ज्ञान नहीं करता है। और इस हमारे मतमें अनवस्था दोष नहीं होता है। क्योंकि; प्रमाता ( ज्ञानको करनेवाला ) जो है, वह पदार्थका निश्चय करानेवाले ज्ञानकी उत्पत्ति होनेसे ही प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर कृतार्थ ( संतुष्ट ) हो जाता है। और जब प्रमाताके पदार्थके ज्ञानकी जिज्ञासा ( जाननेकी इच्छा ) होती है; तो उस जिज्ञासामें भी ज्ञान उत्पन्न होता ही है।'

॥ ९६ ॥

तदयुक्तं पक्षस्य प्रत्यनुमानबाधितत्वेन हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात्। तथा हि-विवादास्पदं ज्ञानं स्वसंविदितं ज्ञानत्वात्। ईश्वरज्ञानवत्। न चायं बाह्यप्रतीतौ दृष्टान्तः पुरुषविशेषस्येश्वरतया जैनैरपि स्वीकृतत्वेन तज्ज्ञानस्य तेषां प्रसिद्धेः।

अरे यह ग्रन्थकार कौन कहते हैं, क्योंकि: पाणिनी अष्टाध्यायिमें भगवेदका भी पता है, यह प्रत्यक्षप्रमाणसे सिद्ध है। इस वाक्यका प्रयोग निम्नलिखित स्थलोंमें है ।—" जिसका स्वरूप भी ज्ञान है: यह स्वप्रकाशित है: जिस होनेसे इसके ज्ञानके उपरान्त अर्थात् जैसे ईश्वरका ज्ञान सर्वप्रकाशक है। इसीप्रकार सम्बन्धीका ज्ञान भी व्यवहारमें है। क्योंकि: ईश्वरज्ञानके उपरान्त यह भी ज्ञान है " जैसे इस व्यक्तिको पाणी ( जैनी ) नहीं जानते हैं अर्थात् जैनी ईश्वरको नहीं मानते हैं और जब ईश्वरको नहीं मानते हैं तो वास्तवमें ईश्वरके ज्ञानका सम्बन्ध उनसे हुआ हुआ ईश्वर नहीं जानते हैं यह न कहना चाहिये, क्योंकि जैनियोंने भी किसी न किसीरूपमें ईश्वरका स्वीकार किया है, इसलिये जैनियोंने ईश्वरका ज्ञान अवश्य ही है।

व्यर्थापेक्षेत्यस्यवचन तथा हेतुः यस्मादविद्योपलब्धेरेवमनेन साध्यनिर्देशसिद्धिर्नहि मुख्यस्यासिद्धिर्भवति मुख्यस्यासिद्धिर्ईश्वरज्ञानस्यऽऽदिशब्देनाग्रहणात्तेन च व्यवहार्यत्वं न ईश्वरज्ञानाभ्युपगमेविदितत्वेऽपि व्यवहारमात्रेण यद्व्यवहार्यत्वं तस्येवापादिद्धि सिध्येत्, सोपलम्भो व्यक्तिरूपलब्ध सर्वत्र समानत्वात् ।

और इस सूत्र अनुवादमें जो आगे हेतु दिया है, वह व्यर्थापेक्षत्वका वाचक है, क्योंकि, यदि ईश्वरको ज्ञान कहनेसे ही व्यवहार सिद्ध हो जाती है। तात्पर्य—जैसे घटका ज्ञान है घटवान् होकर व्यवहार होनेसे, इस अनुमानमें ज्ञानवान् होनेसे इस अर्थमें विशेषणके जोड़नेसे ही व्यर्थत्व निवृत्ति हो जाती है, अर व्यवहारका भी हेतुका सम्बन्ध नहीं रहता है: क्या अर्थ ( निष्प्रयोजन ) है क्योंकि, हेतुके कहनेसे विशेष्य अर्थ होई हुआ अर्थ लाभितेहु अथवा असम्बन्ध नहीं है कि; जिसको हेतु कहनेसे जिसे ज्ञान अनुमानमें पर्यवसन्न होनेसे, ऐसा कथन करो, अतः कि तुम्हारे मतमें ईश्वरके ज्ञानसे जिस वस्तुमें ज्ञान है, वे सभी प्रमेयत्वसे ज्ञात होते हैं ।

अपवर्गेऽनवस्थायां हेतुः गौणत्वात् । लाघवात्व्यवहारः अनवस्थानिवृत्तिश्च अनुमानेनैवसिद्धेः । अनुवादेन विधानमिति यथाश्रुतार्थपरित्यागान्नतु। तथाविधपाठस्य असम्भवम् । तथाहि—ईश्वरज्ञानाभ्युपगमे पर्यवसन्ने च

सत्यपि यदेव जडस्तम्भादि तदेव स्वस्मादन्येन प्रकाश्यते । स्वप्रकाशे परमुखप्रेक्षित्वं हि जडस्य लक्षणम् । न च ज्ञानं जडस्वरूपम् । अतः साधनाव्यापकत्वं जडत्वस्य । साध्येन समव्याप्तिकत्वं चास्य स्पष्टमेव । जाड्यं विहाय स्वप्रकाशाभावस्य तं च त्यक्त्वा जाड्यस्य क्वचिदप्यदर्शनात् । इति ।

और जो तुमने अनुमानके प्रयोगमें ' ईश्वरके ज्ञानसे भिन्न हो कर प्रमेय है ' ऐसा हेतु दिया है; वह अप्रयोजक है; क्योंकि, यह हेतु उपाधिसहित है । भावार्थ—जो साधनमें तो अव्यापक हो और साध्यके साथ व्याप्त रहे उसको उपाधि कहते हैं; जैसे " गर्भस्थः श्यामो मैत्रतनयत्वात्, इतरत्पुत्रवत् " अर्थात् गर्भमें स्थित जो पुत्र है वह श्याम (काला) है क्योंकि मैत्रका पुत्र है, मैत्रके अन्यपुत्रोंके समान अर्थात् जैसे मैत्रके अन्य पुत्र काले हैं; उसीप्रकार मैत्रका गर्भस्थ पुत्र भी काला है । इस अनुमानके प्रयोगमें शाक आदिके आहारका परिणाम जो है; वह उपाधि है अर्थात् गर्भस्थ मैत्रपुत्रकी श्यामताको सिद्ध करनेमें मैत्रके अन्य पुत्र कारण नहीं हैं; क्योंकि; जो मैत्रके पुत्र नहीं हैं; उनमें भी श्यामता देखी जाती है । इसकारण गर्भस्थकी श्यामताका कारण शाकादिके आहारका परिणाम है अर्थात् उस गर्भस्थ पुत्रकी माता शाक आदिका भक्षण अधिक करेगी तो वह पुत्र श्याम होगा । और यह शाकादिके आहारका परिणाम उपाधि है; क्योंकि, साधन (हेतु) रूप जो मैत्रके अन्य पुत्र हैं; उनमें तो नहीं रहता है और श्यामतारूप जो साध्य है; उसमें रहता है; उसी प्रकार जो इस प्रकृत अनुमानमें भी जडत्व उपाधि है सो ही दिखलाते हैं—ईश्वरके ज्ञानसे भिन्न तथा प्रमेय होनेपर भी जो जडरूप स्तंभ आदि पदार्थ हैं वेही अपनेसे भिन्न ऐसे किसी परपदार्थसे प्रकाशित होते हैं, क्योंकि; जो अपने प्रकाशित होनेके लिये परपदार्थका मुख देखना अर्थात् परपदार्थकी अपेक्षा (जरूरत) रखना है; यही जडका लक्षण है । और ज्ञान जडरूप नहीं है; इस कारण यह जडत्व ईश्वरज्ञानसे भिन्न और प्रमेय ऐसे ज्ञानरूप साधनमें नहीं रहता है । और यह जडत्व स्वान्यप्रकाशकतारूप साध्यके साथ व्याप्तिको धारण करता है; यह स्पष्ट ही है । क्योंकि; जडत्वको छोड़कर स्वप्रकाशकताका अभाव और स्वप्रकाशताके अभावको छोड़कर जडत्व ये दोनों कहीं भी नहीं देखे जाते हैं अर्थात् जो जड है; वही अपनेसे भिन्न दूसरे पदार्थ द्वारा प्रकाशित होता है और जो पदार्थ परसे प्रकाशित होता है वही जड है । भावार्थ—जैसे शाक आदिके आहारका परिणाम मैत्रपुत्रकी साधनमें न रहकर श्यामतारूपी साध्यके साथ व्याप्तिको धारण

कर्मोंका उदय है, तो फिर उसका अभाव कैसे हो सकता है? इसके सिवाय दूसरी बात यह भी है कि यदि क्षायिक सम्यक्त्वको भी औपशमिक सम्यक्त्वके समान सादि माना जाय तो फिर उसमें और औपशमिक सम्यक्त्वमें कोई विशेषता नहीं रहती।

यदि कहा जाय कि "सादिपर्यवसानं हि ज्ञानमेकान्तक्षयधर्मकम्" इत्यादि। तदप्ययुक्तम्। क्षायिकमेकान्तात्क्षयधर्मकमपि सादिपर्यवसानमपि। अपर्यवसानत्वस्याभावात् इति चेत्। साधूक्तम्। कस्मात्तत्रैकान्तशब्दस्य क्षयविशेषणस्य निवृत्तिरिति चेत्। निर्मूलान्वयविनाशाभावात्। न च क्षायिकस्य निर्मूलान्वयविनाशोऽस्ति। अस्तित्वादिष्वपि योगपद्येषु निष्पद्यमानत्वात्। न चार्थज्ञानयोरस्त्यदृष्टम्। अकस्मात्तयोरनुत्पत्तेश्च। इति निर्मूलान्वयविनाशे सत्येकस्मिन् ज्ञानेऽन्यज्ञानोत्पादप्रसङ्गः। अथोत्पद्यत एव नाशेषु, इति चेत्, नन्वेवमेव तज्ज्ञानमज्ञानेऽप्यपरज्ञानोत्पादप्रसङ्गः। तत्रापि चैतदेवापादम्। इत्यनवस्थापरिहारोत्पादप्रसङ्गाभावेऽपि क्षायिकस्य अपर्यवसानं विषयाभिष्वङ्गाभावात् स्यादिति। अलमतिप्रसङ्गेन तत्त्वज्ञानोपयोगे प्रकृतेऽनिष्टप्रसङ्गाभावात्। यथा हि पूर्वपरान्तरप्राप्तिज्ञानक्षणमात्रिणोऽपरान्तरप्राप्तिज्ञानोत्पादाद्विज्ञानाक्षरक्षणस्यात्मनः। ज्ञाने च स्थित्यादाख्यातिर्न क्षणादिरूपतेति न क्षणिकस्य ज्ञानात्मनोऽपेक्षा गुणिनि सञ्चते। इति कालाधारो। ४. १८ ४।

और जो कुछ यह कहा है कि, उसका कुछ बनाना चाहे जैसी कल्पनायें किये जाओ और उस ज्ञानके अभाव उसका कुछ नाश नहीं होता है, यही तो अज्ञान है। क्योंकि "इसका कारण होने कुछ पदार्थके ज्ञानसे और पदार्थान्तरके ज्ञानसे कुछ नहीं मेलजोल नहीं है, अतएव यह पदार्थ ज्ञान तो पहले उत्पन्न हुआ और वह पदार्थान्तर ज्ञानका कारण हुआ इन पदार्थोंका अब नहीं देखा जाता है।

और यह कहना,—जैसे कि [ ... ] पदार्थोंके ज्ञानोंको क्षणिक मानते हुये बौद्ध लोग जो ऐसा कहते हैं, क्योंकि, वे बौद्धलोग ऐसे होते हैं, इसलिये उनका कहना और न कहना बराबर होता है, अतः इनसे कुछ लेना देना नहीं है। क्योंकि पूर्वोत्तर विज्ञान (अनेकोंमें [illegible] अवयवोंके अवयवी विज्ञानमें ही अर्थक्रियाकारी अवयवी होता है; ऐसा पहले कहा जा चुका है। और ज्ञान तो है नैरात्म्य (आत्मासे रहित होते हैं फलतः सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि, जो अविच्छिन्न दीर्घ संतानरूप विषय है अर्थात् जो इन्द्रियोंके विषय आगे पीछे होनेवाले योग एकत्वादि पिण्डपात है, उस सबसे-

को जाननेकी इच्छा किये विना भी उन विषयोंका ज्ञान उत्पन्न होनेकी प्रतीति होती है। और पदार्थका ज्ञान अयोग्यदेश नहीं है अर्थात् जानने योग्य स्थलमें विद्यमान नहीं है ऐसा नहीं है, क्योंकि; यह आत्मामें समवेत (समवाय संबंधसे संबद्ध हुआ) उत्पन्न होता है। इस प्रकार जिज्ञासाके विना ही अर्थज्ञानमें ज्ञानकी उत्पत्तिका प्रसंग होता है।

यदि कहोकि,—जिज्ञासाके विना ही अर्थज्ञानमें ज्ञान उत्पन्न होजाओ क्या दोष है, तो यह तुम्हारा कथन ठीक नहीं है। क्योंकि, ऐसा माननेपर उस अर्थज्ञानके ज्ञानमें दूसरे ज्ञानकी उत्पत्तिका प्रसंग होगा और उसमें भी इसीप्रकार फिर दूसरे ज्ञानकी उत्पत्तिका प्रसंग होगा और इसप्रकार दूसरे दूसरे ज्ञानोंकी उत्पत्तिकी परंपरामें ही अपना व्यापार होनेसे ज्ञानका दूसरे विषयोंमें संचार नहीं होगा। इस कारण जो ज्ञान है वह अपना ज्ञान होनेके लिये किसी दूसरे ज्ञानके व्यापारकी अपेक्षा नहीं करता है। जैसे कि– एक विषयको छोड़कर दूसरे विषयको ग्रहण करनेवाले ज्ञानसे पहले होनेवाले विषयान्तरको ग्रहण करनेवाले धारावाही ज्ञानके प्रबंधका अन्तिम ज्ञान अपने ज्ञानके लिये किसी दूसरे ज्ञानके व्यापारकी अपेक्षा नहीं करता है। और यहां विवादापन्न जो ज्ञान है; वह रूप आदिका ज्ञान है। भावार्थ—जैसे पटका ज्ञान होनेके पश्चात् पटका ज्ञान किया जावे तो जबतक पटका निश्चय न हो तबतक 'पटोऽयं पटोऽयम्' अर्थात् यह पट है यह पट है इत्यादि रूप जो धारावाही ज्ञान है; उस धारावाही ज्ञानके प्रबंधका जो पटका निश्चय करानेवाला अंतिम ज्ञान है; वह अपने ज्ञानके लिये दूसरे ज्ञानकी सहायता नहीं चाहता है; इसी प्रकार जो ज्ञान है; वह अपने ज्ञानके लिये किसी दूसरे ज्ञानकी अपेक्षा नहीं करता है। इस उक्त प्रकारसे सिद्ध हुआ कि,– नैयायिकमतवाले जो ज्ञानको दूसरे ज्ञानसे अर्थात् मानसप्रत्यक्षसे ज्ञेय (जानने योग्य) मानते हैं सो युक्तिको सहन नहीं करता है अर्थात् मिथ्या है। इसप्रकार कारिकाका अर्थ है। १२।

**अथ ये ब्रह्माद्वैतवादिनोऽविद्याऽपरपर्यायमायावशात्प्रतिभासमानत्वेन त्रिभुवनवर्त्तिवस्तुसमूहमपारमार्थिकं समर्थयन्ते। तन्मतमुपहसन्नाह।—**

अब जो ब्रह्माद्वैतवादी (एक आत्माको ही पदार्थरूप कहनेवाले) अर्थात् वेदान्ती अविद्या है दूसरा नाम जिसका ऐसी मायाके वशसे प्रतिभासमान होनेसे तीन लोकमें विद्यमान पदार्थोंके समूहको अपारमार्थिक सिद्ध करते हैं अर्थात् तत्त्वरूप नहीं मानते हैं; उनके मतका हास्य करते हुए आचार्य इस अग्रिम कारिकाका कथन करते हैं।—

माता मतीं चेद्धृयतत्त्वसिन्दिरधारती हृत्त कृत श्रपत्य। । :
माहेव गोनर्मसहा च तल्कि माता च वन्त्या च भगरूपरेषाम् ॥ ३ ॥

सूत्रमाचार्य—हे गवत्! यदि कैकसी माताको स्तुत्य नहीं हम तो जो शब्द लिख दिये हैं। अर्थात् एक से लेकर सात पुत्रों भाग्यशाली है ही और हुआ। शुक्ल यजुर्वेद माध्यंदिन ।।काण्व नत्स ।। लिख देखने। और यदि ये मन्त्रोंके अस्तुत्य लगे तो आश्चर्य है कि, यह रामचरित्रकी स्तुत्यताके एकदम्मे पर्वत कैसे नहीं लगेगा देखि है । और जो ये कैकसी एक अंश मे. यह सत्य भी है और वर्णनिकी सबसे बड़ाईकी लिखनाओं ।। नहीं है तो क्या आपके पड़ोसी : का कैकसीकी माता भी है और क्या भी दे । ।३ ॥

भाष्यम् । ऊर्ध्वादिक्रियाविषयकाज्ञानजन्यविपरीतज्ञाना या माता अविद्या सदसद्वस्तुः यदेकस्मिन् वा एकस्मिन् सदसद्वस्तुनि या कल्पी गति। । सती सद्भूता चेत् यदा हृयतत्त्वसिन्दिर्ऊर्ध्ववर्ष, अग्न तद् हृयं तत्त्वसिन्दिरे वचनपे परमाण्डस्य सिन्दिः । अवयवैः एवं तत्त्वलाभवन्दिः।।ध अग्निमाताया।।ध, हिंसीया च ।।या हृयतत्त्वस्य सद्भूतपदार्थविषयकाज्ञा-नात्। । तथा चाहैतपादस्य गुरो निर्दिता पुनाः । अवैदिसे गवत्तत्त्वार्थलोकं । यदि अगवती एतनाशोऽजायमुक्त-पा मा-भावि। तनो हृत्तैकपदार्थज्ञे माहेयं पा, कृत। सवत्सा धेनु जिह्मकलोदरविवाणिपक्षिवत्सगोत्तार्थैकपदा-त। पुनो च पुत्रोऽपि तत्त्वार्थज्ञे। । माताया अपत्युत्पत्तेनास्तुपगमात्, अगत्युत्पाद्य गुरुशास्त्रसंघ सर्वेषत्पत्तावि-रविरुद्ध माताकैकसीमाणोऽविपर्ययवचनेऽज्ञानवैस्यत्। किंतेन्द्रजाहादी मृगतृष्णादी वा मापोपरविचित्रार्थानाग-विषयगोचरापर्यं दीहत्, अत्र तु तदुपदिष्टपदार्थज्ञानं माताज्ञपदेन। अन्यीपपत्तात्।

व्याख्यार्थः—अब वेदोक्तवाक्योंमें तत्त्वज्ञानके हेतु ऐसी जिन माता ( अविद्या ) को आपने कल्पना की है, वह माता या तो सद्वस्तु होवे और वह असद्वस्तु होवे; ये दोनों विकल्प हैं। " सती चेद् " यदि आपने कल्पना करी; तब तो " हृयतत्त्वसिन्दि। " लिखके जो अवयव होते हैं, उन ( जो चक्षुरादिक पांच ) वेणु के तत्त्व अर्थात् परमार्थ है, उनकी सिद्धि होगी। क्योंकि पहले एक तो उत्तम गाता तुम अस्तुत्य मानते हो और

अर्थक्रियामें समर्थ पदार्थोंको दिखलानेमें समर्थ स्वीकार करनेपर उन वेदान्तवादियोंको भी अपने वचनसे विरोध आता है, यह स्पष्ट ही है। इस प्रकार काव्यका संक्षेपसे अर्थ है ॥

**व्यासार्थस्त्वयम्। ते वादिन इदं प्रणिगदन्ति तात्त्विकमात्मब्रह्मैवास्ति। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्च न। आरामं तस्य पश्यन्ति न तत्पश्यति कश्चन ॥ १ ॥" इति न्यायात्। अयं तु प्रपञ्चो मिथ्यारूपः, प्रतीयमानत्वात्। यदेवं तदेवम्। यथा शुक्तिशकले कलधौतम्। तथा चायं तस्मात्तथा।**

विस्तारसे तो काव्यका अर्थ यह है—वे वेदान्तवादी यह कहते हैं कि "जो आत्मब्रह्म है वही तात्त्विक अर्थात् वस्तु तथा परमार्थरूप है। क्योंकि—" यह सब ब्रह्मरूप है, इसमें नानाप्रकारका कुछ भी नहीं है। उसके आराम ( प्रपंच ) को सब देखते हैं परंतु उस ब्रह्मको कोई भी नहीं देखता है " इत्यादि आगमके वचन हैं। और यह ( देखनेमें आता हुआ ) प्रपंच मिथ्यारूप है; क्योंकि प्रतीयमान है अर्थात् इसकी प्रतीति होती है। जो प्रतीत होता है, वह मिथ्यारूप होता है। जैसे सीपके टुकड़ेमें चांदी प्रतीत होती है; इसकारण सीपके टुकड़ेमें चांदी मिथ्यारूप है। उसीप्रकार यह प्रपंच भी है, इसप्रकारण मिथ्यारूप है।

**तदेतद्वार्त्तम्। तथा हि मिथ्यारूपत्वं तैः कीदृग् विवक्षितम्। किमत्यन्तासत्त्वम्, उतान्यस्यान्याकारतया प्रतीतत्वम्, आहोस्विदनिर्वाच्यत्वम्। प्रथमपक्षेऽसत्ख्यातिप्रसङ्गः। द्वितीये विपरीतख्यातिस्वीकृतिः। तृतीये तु किमिदम् अनिर्वाच्यत्वम्। निःस्वभावत्वं चेत् निसः प्रतिषेधार्थत्वे स्वभावशब्दस्यापि भावाभावयोरन्यतरार्थत्वेऽसत्ख्यातिसत्ख्यात्यभ्युपगमप्रसङ्गः। भावप्रतिषेधेऽसत्ख्यातिरभावप्रतिषेधे सत्ख्यातिरिति।**

सो यह वेदान्तियोंका कहना असत्य है। अब वेदांतियोंका कथन असत्य क्यों है सो ही दिखलाते हैं।—उन वेदान्तवादियोंने मिथ्यारूपत्वको कैसा कहना चाहा है अर्थात् क्या जो अत्यंत असत्रूप है उसको मिथ्यारूप कहना चाहते हैं, अथवा अन्य पदार्थकी अन्य आकारतासे जो प्रतीति होती है उसको मिथ्यारूप कहना चाहते हैं। वा जो अनिर्वाच्य ( कहने योग्य नहीं ) है उसको मिथ्यारूप कहना चाहते हैं। प्रथम पक्षमें अर्थात् यदि वे अत्यंत असत् ( अविद्यमान ) रूप पदार्थको मिथ्यारूप कहें तब तो उनको असत् ख्यातिका प्रसंग होगा अर्थात् असत् पदार्थको मिथ्यारूप कहनेसे उनको असत्पदार्थके कथन करनेका दोष आवेगा। और दूसरे पक्षमें अर्थात् यदि वे अन्यपदार्थकी अन्य आकारसे जो प्रतीति होती है अर्थात् रज्जुमें जो सर्पका ज्ञान होता

है, उसको निकाल देते हैं, तो उसके लिये उसमें लौकिक व्यवहार चलता रहेगा और शास्त्रार्थ करने वाले भी वे ही रहेंगे। इसके लिये कहते हैं कि—यह अनिर्वचनीय है। यदि ये कहा जाय कि जो निःशब्द (शब्दरहित) है वह अनिर्वचनीय है तो ये शब्द इस वाक्य में "निस्" इस शब्दका पर्यायवाची शब्द होकर शब्द सहित हो जाने से। तब, और व्यवहार दो प्रकार है: उनमेंसे किसी एक प्रकारको लेकर वादीके उसको भी पराजयसिद्धि होकर शास्त्रार्थ समाप्त होगा। तात्पर्य— व्यवहार दो प्रकारका है एक शब्दरूप और दूसरा अशब्दरूप, इसलिये इस वादीसे कि तुमने इन दोनों प्रकारके व्यवहार निषेधरूप अनुष्ठानादिको और अनुष्ठानादिसे होनेवाले फलोंका निषेध किया। वह भी नहीं बनता और न उसको अनिर्वचनीय ही है।

प्रतीत्यसमुत्पन्नत्वे निःस्वभावत्वमिति चेत्, अत्र विरोधः। न ह्यपरो हि नः प्रतीत्यसमुत्पादे हेतुफलोपन्यासः। तयोरपाये वा कार्यं न प्रवर्तयते। यथा प्रतीत्यसमुत्पादे न शून्यादि विपरीतस्वभावादिरिष्टसाधनम्। स्यान्। किञ्चेयमनिर्वाच्यता प्रत्यक्षतः प्रमाणतो वा। प्रथमपक्षेऽपि किं निर्वचनं प्रत्यक्षं प्रमाणं वा। द्वितीयपक्षेऽपि प्रत्यक्षेणाग्रहणात्। अनुमानेन चेत्, तत्रापि किं निर्वचनं प्रत्यक्षं प्रमाणं वा। इतरेतराश्रयदोषानुषङ्गात्। प्रत्यक्षेणाग्रहणाच्च।

यदि वादी यह कहे कि इस 'निस्' का पर्युदासरूप अर्थ करने पर अभाव शब्दसे साक्षात्-अभावका बोध नहीं होने से किन्तु जो व्याप्तिके अवलोकन से वहांको ले सकता होते हैं, तो ऐसा कहनेपर उसके इस पक्षमें अनुमानके प्रयोगमें दोष आता है। क्योंकि, वह संबंध है ही नहीं जैसे उसकी प्रतीति ही नहीं होती है अथवा 'वह सिद्धसाध्य है, प्रतीयमान होनेसे' इस अनुमानमें उसमें प्रयुक्त प्रतीयमानत्वरूप हेतु भी सिद्ध है। और प्रतीत्यसमुत्पादको हेतुफलरूपसे कैसे पहचान सकेगा है।। और जो इसमें उसके प्रतिपक्षी द्वारा प्रतीयमानत्वके हेतुत्वके पहचानने सिद्ध है तो फिर वहां कैसे अनेक नहीं होगा है' अर्थात् सामने प्रतीतिसमुत्पन्नत्व दोष ही है! यदि यही कहे कि— उसमें विरुद्धपना होने होगा है उस पक्षके साध्यरूप नहीं है इसलिये वह उसके प्रतिपक्षी अभावका कहने है तो ऐसा कहनेपर उसको विरोध इत्यादि बाधा उत्पन्न होगी। यही तक ही विशेष है कि,— यह जो अनेकको अनिर्वचनीयता कहा गया है वह उसके साक्षित है। क्योंकि, 'वह घट है' इस प्रत्यक्षका साक्षी से प्रत्यक्ष है वह

प्रपंचकी सत्यताको ही निश्चय कराता है। कारण कि; 'यह घट है' इस आकारका जो प्रत्यक्ष है वह घट आदि प्रतिनियत (खास मुकर्रर किये हुए) पदार्थोंके ज्ञानरूप ही उत्पन्न होता है और एक दूसरेसे भिन्न हुए ऐसे पदार्थ ही प्रपंच इस शब्दसे वाच्य (कहे जाने योग्य) हैं। भावार्थ—प्रत्येक भिन्न २ पदार्थको तुमने प्रपंच माना है; और प्रत्यक्ष भी घट आदि पदार्थको दूसरे पदार्थोंसे भिन्न करके ही जनाता है।

**अथ प्रत्यक्षस्य विधायकत्वात्कथं प्रतिषेधे सामर्थ्यम्। प्रत्यक्षं हि—इदमिति वस्तुस्वरूपं गृह्णाति। नान्यत्स्वरूपं प्रतिषेधति। " आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्दृ विपश्चितः। नैकत्व आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते ॥ १ ॥" इति वचनात्। इति चेत्—न। अन्यरूपनिषेधमन्तरेण तत्स्वरूपपरिच्छेदस्याप्यसंपत्तेः। पीतादिव्यवच्छिन्नं हि नीलं नीलमिति गृहीतं भवति। नान्यथा। केवलवस्तुस्वरूपप्रतिपत्तेरेवान्यप्रतिषेधप्रतिपत्तिरूपत्वात्। मुण्डभूतलग्रहणे घटाभावग्रहणवत्। तस्माद्यथा प्रत्यक्षं विधायकं प्रतिपन्नं, तथा निषेधकमपि प्रतिपत्तव्यम्।**

यदि वादी कहें कि,— " विद्वानोंने प्रत्यक्षको विधायक (पदार्थके स्वरूपको ग्रहण करनेवाला) कहा है और निषेधक (पदार्थके स्वरूपको निराकरण करनेवाला) नहीं कहा है; इस कारण उस प्रत्यक्षसे एकत्व आगमका अर्थात् केवल एक ब्रह्मको ही माननेवाले वेदान्तियोंके सिद्धान्तका बाध (खंडन) नहीं होता है ॥१॥ " इस वचनके अनुसार प्रत्यक्ष विधायक अर्थात् वस्तुके स्वरूपको ग्रहण करनेवाला है; इस कारण वस्तुके स्वरूपका प्रतिषेध करनेमें उस प्रत्यक्षका सामर्थ्य कैसे हो सकता है? । सो यह उनका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि; घटादि दूसरे पदार्थोंका निषेध किये विना उस एक घटादि पदार्थके स्वरूपका ज्ञान ही नहीं हो सकता है। क्योंकि, पीत (पीले) आदि वर्णोंसे भिन्न हुआ ऐसा जो नीलवर्ण है उसीका 'यह नील है' इस प्रकार ग्रहण होता है। अन्य प्रकारसे नहीं। कारण कि; जैसे केवल भूतलका ग्रहण होनेसे उस भूतल (जमीन) में घटके अभावका ग्रहण हो जाता है उसी प्रकार केवल पदार्थके स्वरूपका जो ग्रहण है वही अन्य पदार्थोंके निषेधको ग्रहण करने रूप है। इस कारण जैसे उन वादियोंने प्रत्यक्षको विधायक माना है; उसी प्रकार उन्हें प्रत्यक्षको निषेधक भी स्वीकार करना चाहिये।

**अपि च विधायकमेव प्रत्यक्षमित्यङ्गीकृते यथा प्रत्यक्षेण विद्या विधीयते, तथा किं नाविद्यापीति। तथा च**

[illegible]। [illegible] सर्वेषां [illegible]। [illegible] न [illegible] [illegible]। इति [illegible]। इति।

और जो [illegible] यह है कि—आपने ' [illegible] है ' ऐसा स्वीकार करके भी [illegible] [illegible] है, [illegible] [illegible] है और [illegible] भी क्यों नहीं [illegible] करता है। और [illegible] [illegible] [illegible] तो [illegible] ( [illegible] ) की [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] से [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] की [illegible] और [illegible] [illegible] भी [illegible] की [illegible]। अर्थात् [illegible] न [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है सो भी [illegible] [illegible] नहीं है ऐसा [illegible] [illegible] [illegible] नहीं है [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ' [illegible] है ' [illegible] [illegible] है, [illegible] [illegible] है।

[illegible]। [illegible] [illegible] न [illegible] [illegible]। [illegible]। [illegible] न [illegible] [illegible] न च [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।

और ' [illegible] है ' [illegible] [illegible] अनुमान [illegible] भी [illegible] है। सो ही [illegible] [illegible] है कि—[illegible] [illegible] नहीं है क्योंकि [illegible] [illegible] ( [illegible] ) [illegible] [illegible] है, [illegible] [illegible]। [illegible]—जैसे [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] नहीं है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है, [illegible] [illegible] नहीं है। और '[illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] ' [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है। क्योंकि [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] नहीं है। और भी [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं [illegible] [illegible] ( [illegible] नहीं [illegible] हुए ) [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं हो सकती है। [illegible] जो [illegible] [illegible] [illegible] है, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] जा सकता है, न [illegible] नहीं [illegible] हुए [illegible] [illegible]। इस [illegible] [illegible] [illegible] उन [illegible]

तेषां प्रकाशकत्वात् सत्ताद्वैतस्यैव साधकम् । सत्तायाश्च परमब्रह्मरूपत्वात् । तदुक्तं "यदद्वैतं तद्ब्रह्मणो रूपम्" इति ।



और जैसे प्रत्यक्षसे विधिकी प्रतीति होती है, उसीप्रकार परस्पर व्यावृत्तिका अर्थात् एक पदार्थकी दूसरे पदार्थके साथ आपसमें भिन्नताकी प्रतीति भी प्रत्यक्षसे ही होती है, इसकारण द्वैतकी सिद्धि होती है, ऐसा कोई कहे तो वह ठीक नहीं है। क्योंकि, निषेध करना यह प्रत्यक्षका विषय नहीं है। कारण कि, "विद्वानोंने प्रत्यक्षको विधायक माना है, निषेधक नहीं माना" इत्यादि आगमका वचन है। और जो घट-पट आदिके भेदको सिद्ध करनेवाला सविकल्पक प्रत्यक्ष है वह भी सत्तारूपसे परस्पर संबंधको प्राप्त हुए ही जो घट पट आदि पदार्थ हैं उनका प्रकाशक है; इसकारण सत्ताके अद्वैतको ही सिद्ध करनेवाला है। और जो सत्ता है, वह परमब्रह्मरूप है। सोही कहा है कि;- "जो अद्वैत ( एकता ) है वही ब्रह्मका रूप है"।

अनुमानादपि तत्सद्भावो विभाव्यत एव । तथा हि विधिरेव तत्त्वं प्रमेयत्वात् । यतः प्रमाणविषयभूतोऽर्थः प्रमेयः । प्रमाणानां च प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्तिसंज्ञकानां भावविषयत्वेनैव प्रवृत्तेः । तथाचोक्तम् । "प्रत्यक्षाद्यवतारः स्याद्भावांशो गृह्यते यदा । व्यापारस्तदनुत्पत्तेरभावांशे जिघृक्षिते ॥१॥" यच्चाभावाख्यं प्रमाणं तस्य प्रामाण्याभावान्न तत्प्रमाणम् । तद्विषयस्य कस्यचिदप्यभावात् । यस्तु प्रमाणपञ्चकविषयः स विधिरेव । तेनैव च प्रमेयत्वस्य व्याप्तत्वात् । सिद्धं प्रमेयत्वेन विधिरेव तत्त्वं, यस्तु न विधिरूपं, तन्न प्रमेयम् । यथा खरविषाणम् । प्रमेयं चेदं निखिलं वस्तुतत्त्वम् । तस्माद्विधिरूपमेव ।

और अनुमान प्रमाणसे भी उस एक परमब्रह्मका सद्भाव जाननेमें आता ही है । सोही अनुमानका प्रयोग दिखलाते हैं कि;- विधि ही तत्त्व है प्रमेय होनेसे। क्योंकि प्रमाणका विषयभूत जो पदार्थ है वह प्रमेय कहलाता है। और प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान तथा अर्थापत्ति नामक जो पांच प्रमाण हैं वे सब भाव ( अस्तित्व ) को ग्रहण करके ही प्रवृत्त होते हैं । सो ही कहा है कि "जब भावांशको ग्रहण किया जाता है अर्थात् पदार्थकी सत्ताका ज्ञान करनेमें आता है तब प्रत्यक्ष आदि पांचों प्रमाणोंका अवतार होता है अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणोंकी उत्पत्ति होती है; और जब पदार्थके अभावांश ( अविद्यमानत्व ) का ग्रहण करनेकी इच्छा होती है; तब प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंकी अनुत्पत्तिका व्यापार होता है अर्थात् अभावांशके ग्रहण करनेमें प्रत्यक्ष आदि

इसका स्मरण नहीं होता है । ( । " और जो अनागतत्व [illegible] है, [illegible] नहीं है इस कारण यह [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] भी नहीं है । और जो [illegible] आदि [illegible] [illegible] विषय है, वह तो विशिष्ट ही है और [illegible] [illegible] [illegible] है क्योंकि जो विशिष्ट है वह [illegible] [illegible] है । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है और जो विशिष्ट नहीं है, वह संभव नहीं है । जैसे कि, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं है [illegible] [illegible] [illegible] में नहीं है । [illegible] [illegible] के [illegible] [illegible] [illegible] है सो [illegible] है; [illegible] विशिष्ट ही है ।

[illegible] वा [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] । [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] विधि होती है । [illegible] और [illegible] ( [illegible] ) आदि जो [illegible] है, [illegible] [illegible] है क्योंकि, [illegible] है । [illegible] आदि [illegible] [illegible] [illegible] होते हैं [illegible] [illegible] [illegible] है । [illegible] अनुमान है कि जो [illegible] है ( [illegible] ) वह [illegible] [illegible] है [illegible] — [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] वह [illegible] है । और [illegible] [illegible] आदि [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] है ।

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । "[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]" इत्यादि । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । उक्तं च " [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] न [illegible] [illegible] ॥ १ ॥ " इति ।

[illegible] भी [illegible] ही [illegible] [illegible] है । क्योंकि " जो [illegible], जो [illegible], जो [illegible] [illegible] है, जो [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] होता है, जो [illegible] है, जो [illegible] है, जो [illegible] है, जो [illegible] है, जो [illegible] है, जो [illegible] [illegible] है, जो [illegible] [illegible] [illegible] है " इत्यादि । [illegible] " [illegible] [illegible] [illegible] चाहिये, [illegible] [illegible] [illegible] चाहिये और [illegible] [illegible] "

इत्यादि जो वेदवाक्य हैं, उनसे भी परमब्रह्मकी सिद्धि होती है। और कृत्रिम ( पुरुषप्रणीत ) आगमने भी उसी परमब्रह्मका प्रतिपादन किया है। सो ही कहा है कि;—" यह सब ब्रह्म है, यहां नानारूपका धारक कोई नहीं है; उसके प्रपंचको सब देखते हैं, परंतु उसको कोई नहीं देखता है। १। "

**प्रमाणतस्तत्सर्वं सिद्धेः परमपुरुष एक एव तत्त्वम्, सकलभेदानां तद्विवर्त्तत्वात्। तथा हि—सर्वे भावा ब्रह्मविवर्त्ताः सत्त्वैकरूपेणान्वितत्वात्। यद्यद्रूपेणान्वितं तत्तदात्मकमेव। यथा घटघटीशरावोदञ्चनादयो मृद्रूपेणैकेनान्विता मृद्विवर्त्ताः। सत्त्वैकरूपेणान्वितं च सकलं वस्तु। इति सिद्धं ब्रह्मविवर्तित्वं निखिलभेदानामिति।**

इस पूर्वोक्त प्रकारसे प्रत्यक्ष अनुमान तथा आगम प्रमाणद्वारा यह परमब्रह्म ही सिद्ध होता है; इसकारण एक परमब्रह्म ही तत्त्व है, क्योंकि; सब भेद उसीके विवर्त्त पर्याय हैं अर्थात् ब्रह्मरूप है। सो ही अनुमानका प्रयोग है कि;— सब पदार्थ ब्रह्मके विवर्त्त हैं, क्योंकि सत्त्वरूपी एकरूपसे अन्वित ( संबंधको प्राप्त ) हैं। जो जिस रूपसे अन्वित होता है वह उसीरूप होता है। जैसे—घट, गागर, सकोरा, ढकना इत्यादि पदार्थ एक मृत्तिकारूपसे अन्वित हैं; इसकारण मृत्तिकाके विवर्त्त ( पर्याय ) हैं अर्थात् मृत्तिकारूप है। और जगत्के समस्त भेद ( पदार्थ ) सत्त्वरूपी एकरूपसे अन्वित हैं। इस पूर्वोक्त प्रकारसे सब पदार्थोंका ब्रह्मविवर्त्तित्व ( ब्रह्मका पर्यायपना ) सिद्ध हो चुका।

**तदेतत्सर्वं मदिरारसास्वादगद्गदोद्गदितमिवाभासते विचारासहत्वात्। सर्वं हि वस्तु प्रमाणसिद्धं न तु वाङ्मात्रेण। अद्वैतमते च प्रमाणमेव नास्ति तत्सद्भावे द्वैतप्रसङ्गात्। अद्वैतसाधकस्य प्रमाणस्य द्वितीयस्य सद्भावात्। अथ मतं—लोकप्रत्यायनाय तदपेक्षया प्रमाणमप्यभ्युपगम्यते। तदसत् तन्मते लोकस्यैवासम्भवात्। एकस्यैव नित्यनिरंशस्य परब्रह्मण एव सत्वात्।**

सो यह वेदांतियोंका उपर्युक्त सब कथन मदिराके रसका आस्वादन करके गद्गद हुए पुरुषके प्रलाप करनेके समान जान पड़ता है, क्योंकि; उक्त कथन हमारे विचारोंको नहीं सह सकता है। क्योंकि; समस्त ही पदार्थ जब प्रमाणद्वारा सिद्ध होजाते हैं तभी वे सिद्ध अर्थात् पदार्थरूप समझे जाते हैं और केवल उनका कथन करनेसे वे पदार्थ सिद्ध नहीं होते हैं। और अद्वैत मतमें तो प्रमाण ही नहीं है क्योंकि; यदि अद्वैतमतमें प्रमाणका अस्तित्व मान लिया जावे तो अद्वैतको सिद्ध करनेवाले प्रमाणरूप दूसरे पदार्थका

साहस होनेसे चोरोंका दोष पाया होता है। यदि कदाचित् कहो कि इस उदाहरणमें चोरीके लिये हुए लोहेमें चोरीसे पदार्थको भी गन्धसे है; तो यह अनुचित कहना होगा। क्योंकि उसके सम्बन्धका ही नहीं है। अर्थात् कि:—इसलिये लोहेमें चोरी पैसे एक साथ सम्बन्ध हो असंभव नहीं है।

अथवा यथाकथञ्चित्सम्बन्धमात्रमपि। तत्किं प्रत्यक्षमनुमानागमाभासो वा तत्साधकं प्रमाणमुपन्यस्यते। न तावत्प्रत्यक्षम्। तस्य स्वसंवेद्यसुखसम्बन्धमात्रविषयत्वेन सकलाक्षसम्बन्धात्। मायावादिभेदवादे पुनरेतत्प्रत्यक्षम्। 'निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनां न प्रमाणम्। तस्य पारोक्ष्यात्तत्फलस्यापि। सुखसंवित्तिरूपस्य स्वसंवेद्यकालेऽक्षैरसंपादनात्तेषु सौख्योपचारो। गार्हिकल्पकं तु नायमेव जगति सुनिश्चितमेव निर्विकल्पस्य परमार्थतः स्वांशेऽप्यपरिभासनात्।

अथवा कहो बिना परीक्षाके उसके गलेमें पताका भी हो। यानी प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा आगम, इन तीनोंमेंसे प्रमाणको उपस्थित करना चाहिये। यदि वे प्रत्यक्षादिकमें उस पक्षपर प्रकाश डालते हैं, तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि, यह प्रत्यक्ष तो सिर्फ अपनेमें अपना ही वेद है, उसीका संवेदक है। अतः जिन अक्षोंको लेकर पुरुषोंको यह प्रत्यक्ष होता है उनका सम्बन्ध ही उस प्रमाणसे नहीं होता है। और भी इसीने पहले कहा है कि:—निर्विकल्पक प्रत्यक्ष तक भी प्रमाण माननेवाले हैं' सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि उस निर्विकल्पक प्रत्यक्षका परोक्षमें ही गणना की गई है। इसलिये कि अक्षसंबन्धके (विषय संबन्धके) पूर्व ही पुरुष सम्बन्धके सौख्यसंवेदनसे संयुक्त, विशेष और सामान्यस्वरूपकी ग्रहणशक्ति नष्ट होती है। मायावी—जो अपने पदार्थोंको सिद्धान्तमें कुछ भाषा है वहां परोक्षरूप माना गया है, अतः प्रत्यक्षाभासरूप न होनेसे निर्विकल्पक प्रत्यक्षको प्रमाण नहीं है। और परोक्षरूप जो सविकल्पक प्रत्यक्ष है उससे तो निर्विकल्प एक ही प्रमाणरूप। उसमें भी परिस्थिति। छि: ! यही हो रहा है।

यदप्युक्तं "आगमविचारः प्रक्रान्तः" इत्यादि। तदपि न चोद्यम्। प्रकान्तेन अनुपयुक्तव्यापृताक्षसंज्ञानस्यापि प्रत्यक्षत्वात्। एतच्च पारोक्ष्यं मुख्यम्। न ह्यनुपयुक्तैकत्वमात्रे भवतोऽपि निर्विकल्पनिर्णीते। तत्प्रत्यक्षं संविदेऽपि।

येन यवद्वैतं तद्ब्रह्मणो रूपमित्याद्युक्तं शोभेत । विशेषनिरपेक्षसामान्यस्य खरविषाणावदप्रतिभासनात् । तदुक्तम्

" निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत् । सामान्यरहितत्वेन विशेषास्तद्वदेव हि ॥ १ ॥ "

और जो उन्होंने " प्रत्यक्ष विधायक है, निषेधक नहीं है " इत्यादि आगम प्रमाणका कथन किया है; वह भी मनोहर नहीं है । क्योंकि; प्रत्यक्षद्वारा तो अनुवृत्त तथा व्यावृत्त आकारको धारण करनेवाले पदार्थका ज्ञान होता है अर्थात् सामान्य विशेषात्मक वस्तु ही प्रत्यक्षसे गृहीत होता है; और इस विषयका खंडन पहले ही कर चुके हैं । क्योंकि; अनुस्यूत ( दूसरेमें नहीं मिला हुआ ) एक, अखंड, सत्तारूप और विशेषकी अपेक्षासे रहित ऐसा सामान्य नहीं प्रतिभासता है; जिससे कि जो अद्वैत है; वह ब्रह्मका रूप है इत्यादि उनका कहा हुआ सिद्धान्त शोभाको प्राप्त होवे । भावार्थ—अनुस्यूत, एक, अखंड, सत्तारूप और विशेष निरपेक्ष ऐसे सामान्यका प्रतिभास होवे तो जो अद्वैत है; वह ब्रह्मका रूप है ऐसा कहना ठीक हो सकता है; और सामान्य ऐसा है नहीं; इसकारण वादियोंका उक्त कथन मिथ्या है । क्योंकि; जो विशेषकी अपेक्षासे रहित सामान्य है उसका गधेके सींगके समान प्रतिभास नहीं होता है, अर्थात् जैसे गधेके सींगका प्रतिभास नहीं होता है वैसे ही विशेषकी अपेक्षारहित सामान्यका प्रतिभास भी नहीं होता है । सो ही कहा है कि;—" विशेषकी अपेक्षारहित जो सामान्य है; वह गधेके सींगके समान असत्रूप है और सामान्यकी अपेक्षा न रखनेवाले जो विशेष हैं; वे भी गर्दभके सींगके समान असत् रूप ही हैं । १ । " इसकारण सामान्य विशेषात्मक जो पदार्थ है; वही प्रमाणका विषय है । यह हमारा सिद्धान्त सिद्ध होगया और इसके सिद्ध होनेपर उन वादियोंके माने हुए एक परमब्रह्मके प्रमाणका विषयपना कहांसे हो सकता है अर्थात् एक परमब्रह्म प्रमाणका विषय नहीं हो सकता है ।

ततः सिद्धे सामान्यविशेषात्मन्यर्थे प्रमाणविषये कुत एवैकस्य परमब्रह्मणः प्रमाणविषयत्वम् । यच्च प्रमेयत्वादित्यनुमानमुक्तम् । तदप्येतेनैवापास्तं बोद्धव्यम् । पक्षस्य प्रत्यक्षबाधितत्वेन हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात् । यच्च तत्सिद्धौ प्रतिभासमानत्वसाधनमुक्तम् । तदपि साधनाभासत्वेन न प्रकृतसाध्यसाधनायालम् । प्रतिभासमानत्वं हि निखिलभावानां स्वतः परतो वा । न तावत्स्वतो, घटपटमुकुटशकटादीनां स्वतः प्रतिभासमानत्वेनासिद्धेः । परतः प्रतिभासमानत्वं च परं विना नोपपद्यते । इति ।

और जो उन्होंने ' विधि ही तत्त्व है प्रमेय होनेसे ऐसा अनुमान कहा है, उसका भी इस उक्त कथनसे ही खंडन होगया;

क्योंकि, जिस हेतु [illegible] है वह [illegible] है, अतः हेतु [illegible] है। और जो उन्होंने [illegible] हेतुके लिये [illegible] कहा है अर्थात् 'सब [illegible] [illegible] [illegible] हैं, [illegible]' इस अनुमानमें [illegible] हेतु दिया है, वह भी [illegible] होनेके कारण [illegible] सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं है। क्योंकि, [illegible] जो [illegible] है, [illegible] ( [illegible] ) है। [illegible] है। [illegible] [illegible] है [illegible]। यदि ये कहें कि, [illegible] है, तो वे ठीक नहीं। क्योंकि [illegible] [illegible] सिद्ध नहीं है। और यदि वे [illegible] करें तो [illegible] [illegible] सिद्ध नहीं हो सकता है।

तथा [illegible] । [illegible] । [illegible] न [illegible] । ततो न किञ्चिदेतदपि । [illegible] न [illegible] ।

और जो [illegible] है, वह भी [illegible] ( [illegible] ) [illegible] है, क्योंकि ' [illegible] ' इस अनुमानमें [illegible] नहीं है [illegible]; [illegible] होने में [illegible] संभव होता है। [illegible] [illegible] ( [illegible] ) भी नहीं है, क्योंकि, [illegible] है [illegible] अनुमानसे भी [illegible] सिद्ध नहीं होता है।

किञ्च [illegible] । [illegible] । यदि च [illegible] । तदुक्तम् " [illegible] । [illegible] न सिद्ध् ॥ ६ ॥ "

इस विषयमें और भी विशेष प्रष्टव्य यह है कि;– अनुमानके उपयोगभूत जो पक्ष, हेतु और दृष्टान्त हैं; वे परस्पर भिन्न हैं या अभिन्न हैं ? । यदि वादी कहें कि;–पक्ष, हेतु तथा दृष्टान्त परस्पर भिन्न हैं; तब तो द्वैत सिद्ध होता है और यदि कहें कि;–पक्ष, हेतु, दृष्टान्त परस्पर अभिन्न हैं तो इन सबके एक रूपताकी प्राप्ति होती है; और जब पक्ष-हेतु-दृष्टान्त परस्पर एकरूप होंगे तो इन पक्ष–हेतु–दृष्टान्तोंसे अनुमान अपने सारूपको कैसे प्राप्त होगा अर्थात् अनुमानकी उत्पत्ति ही न होगी । और यदि कहें कि; हेतुके विना भी साध्यकी सिद्धि होती है, तो आगमसे या कहने मात्रसे ही द्वैतकी सिद्धि भी कैसे न होगी ? अर्थात् जैसे वे हेतुके विना पुरुषाद्वैतको मानते हैं; उसीप्रकार द्वैतको भी क्यों नहीं मानते हैं ? सो ही कहा है, कि;–" हेतुसे अद्वैतको सिद्ध किया जावे तब तो हेतु और साध्य इन दोनोंका द्वैत सिद्ध होगा ? और यदि हेतुके विना ही अद्वैतको सिद्ध करें तो केवल वचनमात्रासे द्वैतकी सिद्धि क्यों न होगी । १ । " अथवा यदि यहां वाङ्मात्रशब्दसे आगम अर्थका ग्रहण किया जावे तो यह अर्थ होता है कि यदि हेतुके विना केवल आगमसे ही एक परमब्रह्मको सिद्ध करें तो एक तो परमब्रह्मतत्त्व है ही और दूसरा आगमतत्त्व हो जायगा, इसकारण आगमसे भी द्वैतकी सिद्धि होती है ।

**" पुरुष एवेदं सर्वम् " इत्यादेः, " सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" इत्यादेश्चागमादपि न तत्सिद्धिः । तस्यापि द्वैताविनाभावित्वेन अद्वैतं प्रति प्रामाण्यासम्भवात् । वाच्यवाचकभावलक्षणस्य द्वैतस्यैव तत्रापि दर्शनात् । तदुक्तम् । ' कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं विरुध्यते । विद्याविद्याद्वयं न स्याद्बन्धमोक्षद्वयं तथा ॥ १ ॥ " ततः कथमागमादपि तत्सिद्धिः । ततो न पुरुषाद्वैतलक्षणमेकमेव प्रमाणस्य विषयः । इति सुव्यवस्थितः प्रपञ्चः । इति काव्यार्थः ॥१३॥**

और 'यह सब पुरुष ही है' 'यह सब ब्रह्म ही है' इत्यादि जो आगमप्रमाण है; उससे भी उस एक ही परम ब्रह्मकी सिद्धि नहीं होती है। क्योंकि; वह आगम भी द्वैतके विना नहीं हो सकता है, इसकारण अद्वैतको सिद्ध करनेके अर्थ उसको प्रमाणता नहीं हो सकती है । क्योंकि; उस आगममें भी वाच्यवाचकभावरूप ( शब्द अर्थरूप ) द्वैत ही देखा जाता है । सो ही कहा है कि— 'कर्मद्वैत, फलद्वैत, लोकद्वैत, विद्या और अविद्याका द्वय तथा बंध और मोक्षका द्वय ये सब विरुद्ध होते हैं ॥ १ ॥' भावार्थ— यदि अद्वैतहीको माना जावे तो पुण्य-पापरूपी कर्मोंका द्वैत न होगा, उसके न होनेपर उसका फलरूप सुख-दुःखरूपी द्वैत न होगा। उसके न होनेपर इसलोक तथा परलोकरूप द्वैत न होगा । यदि अविद्याके उदयसे पुण्य-पापादिका द्वैत मानें तो पुण्य-पापके

विना किसी अविनाभाव के न होना यानी अन्यथानुपपत्ति के कारण जिसका एकलक्षण स्थिर न हो सके। अर्थात् सपक्षसत्व व पक्षधर्मत्व आदि तीनों रूपों का होना भी एकान्तरूप से हेतु का लक्षण नहीं हो सकता, किन्तु बल्कि अन्यथानुपपत्ति के बिना हेतु में पक्षधर्मत्व और सपक्षसत्व आदि तीनों रूपों का होना भी व्यर्थ है, जैसे कि एक पक्षधर्मत्व को ही एकान्तरूप मानने वाले बौद्ध और सपक्षसत्व मानने वाले नैयायिक आदि का सिद्धान्त है। इसी तरह अन्यथानुपपत्ति के बिना पक्षधर्मत्व आदि तीनों रूप हेतु में भी सिद्ध होने पर, हेतु सकल कार्यकारी नहीं है ॥ ८ ॥

अथ स्वाभिप्रेतसाधनस्वरूपविपरीतसाधनाभासस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह तत्साधनाभासं स्वेष्टाविरुद्धादन्यदनन्यथोपपन्नादिलक्षणैकलक्षणोपेतम्। अनेकान्तात्मकेऽर्थे वाक्यस्य प्रयोगाभासत्वप्रकाशनार्थमाह—

अब स्वाभिप्रेत साधन के स्वरूप से विपरीत साधनाभास के स्वरूप का प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं कि वह साधनाभास स्वेष्ट से अविरुद्ध अन्य अनन्यथोपपन्नादि लक्षण रूप एक लक्षण से युक्त होता है। अनेकान्तात्मक अर्थ में वाक्य के प्रयोगाभासत्व को प्रकाशित करने के लिये कहते हैं—

अनेकमेकात्मकमेव वाक्यं ह्यात्मन्यसत्यन्यवचोऽवयत्वम्।
अतोऽन्यथा वाचकवाच्यकूटसाक्षात्तदाभासमतिप्रसादः ॥ ९४ ॥

सूत्रसारार्थः—वाक्यं (वाक्यमेव प्रमाणं) वाक्यकी प्रमाणता अनेकान्तात्मक है, क्योंकि विधिरूपसे अनेकान्त प्रतीतिगोचर होता है। और वाक्यं (वाक्यमेव प्रमाणं) वाक्यकी प्रमाणता (अनेकान्तात्मके अर्थे) अनेकान्तात्मक अर्थ में (अन्यवचोऽवयत्वं) विधिप्रकल्पके अवयवरूपसे अनेकान्तात्मक है। (ह्यात्मन्यसत्यन्यवचोऽवयत्वं) क्योंकि विधिप्रकल्पके अवयवरूपसे अनेकान्तात्मक अर्थ में अन्य वचनों की अपेक्षा रहती है। (अतोऽन्यथा) अनेकान्तात्मक अर्थ में अन्य वचनों की अपेक्षा न रहने पर (वाचकवाच्यकूटसाक्षात्तदाभासमतिप्रसादः) वाचक वाक्य के साक्षात् समूहरूप वाक्याभास की प्रतीति का प्रसाद होता है ॥ ९४ ॥

तात्पर्यार्थः—वाक्यमपि विधिरूपेण चेतनाधर्मेतरे च वस्तुनि (एवकारस्यात्मनोऽन्वयात्) तत्प्रतिपादकवाक्यस्य पक्षधर्मत्वादिरूपमपि व्यक्तिमेदेनाश्रयेणानेकात्मकम्। अनुमानाङ्गीकरणमपि एकात्मकमन्योऽन्यसंसृष्टत्वादिरूपमपि ज्ञानस्यानेन न दोषः। तथा

च वाचकमभिधायकं शब्दरूपं तदप्यवश्यं निश्चितं द्वयात्मकं सामान्यविशेषोभयात्मकत्वादेकानेकात्मकमित्यर्थः। ( उभयत्र वाच्यलिङ्गत्वेऽप्यव्यक्तत्वान्नपुंसकत्वम्। अवश्यमितिपदं वाच्यवाचकयोरुभयोरप्येकानेकात्मकत्वं निश्चिन्वत्तदेकान्तं व्यवच्छिनत्ति )। अत उपदर्शितप्रकारादन्यथा सामान्यविशेषैकान्तरूपेण प्रकारेण वाचकवाच्यशक्तौ वाच्यवाचकभावकल्पनायामतावकानामत्वदीयानामन्ययूथ्यानां प्रतिभाप्रमादः प्रज्ञास्खलितमित्यक्षरार्थः। ( अत्र चाल्पस्वरत्वेन वाच्यपदस्य प्राप्तिपाते प्राप्तेऽपि यदादौ वाचकग्रहणं तत्रायोऽर्थप्रतिपादनस्य शब्दाधीनत्वेन वाचकस्यार्थ्यत्वज्ञापनार्थम् ) तथा च शाब्दिकाः। "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते। १।" इति।



व्याख्यार्थः—"वाच्यम्" कथन करने योग्य चेतन तथा अचेतन पदार्थ "एकात्मकम् अपि" सामान्यरूपतासे एक स्वरूप है; तौभी "अनेकम्" व्यक्तियोंके भेदसे अनेक रूप है। [ 'एकात्मकमेव' यहाँपर जो एवकार है; वह अपिके अर्थमें है। ] अथवा मूलमें अर्थात् "अनेकमेकात्मकमेव" यहांपर अनेक और एक ये दोनों शब्द परस्पर मिले हुए हैं; इस लिये वाच्य अनेक हैं; तौभी एकरूप हैं; ऐसा व्याख्यान किया जावे तो उसमें भी कोई दोष नहीं है। और "वाचकम्" पदार्थोंका कथन करनेवाला शब्दरूप वाचक "अपि" भी "अवश्यम्" निश्चय करके "द्वयात्मकम्" सामान्य तथा विशेष; इन दोनों स्वरूपोंका धारक होनेसे एक और अनेकरूप है। [ वाच्य और वाचक ये दोनों शब्द यद्यपि वाच्यलिङ्गके धारक हैं तथापि अव्यक्तपनासे यहांपर नपुंसकलिङ्गका प्रयोग किया गया है। और मूलमें जो अवश्य यह पद दिया गया है; वह वाच्य और वाचक इन दोनोंमें ही एक तथा अनेकपनेका निश्चय कराता हुआ वाच्य और वाचकके उस एक तथा अनेकपनेके एकांतको दूर करता है। ] "अतः" इस ऊपर दिखाये हुए प्रकारसे "अन्यथा" सामान्य और विशेषके एकांतरूप प्रकारसे "वाचकवाच्यशक्तौ" वाचक और वाच्यभावकी कल्पना करनेमें "अतावकानाम्" हे जिनेंद्र! आपसे सम्बंध न रखनेवालोंके अर्थात् अन्य मतावलम्बियोंके "प्रतिभाप्रमादः" बुद्धिका नाश है; इस प्रकार अक्षरोंका अर्थ है। "वाचकवाच्यशक्तौ" यहांपर यद्यपि अल्पस्वरपनेसे वाच्यपदका पूर्वनिपात प्राप्त होता था तौभी जो पहिले वाच्यका ग्रहण न करके वाचकका ग्रहण किया गया है; वह इस बातको विदित करनेके लिये है कि; प्रायः अर्थका प्रतिपादन करना शब्दके अधीन है; इसलिये वाचक अर्थात्

एवम् पदार्थकी अनेक। प्रकार है। जो ही वैशेषिकाचार्य कहते हैं कि, "द्रव्यादि पदार्थ सर्वथा भिन्न भिन्न ही हैं, और उनके सम्बन्ध ( समवाय ) के बिना होते। तब ये ही बात उनके इस वचन मात्रसे ही मान लेने योग्य नहीं है" ॥ ६ ॥

सामान्यमेकमेवास्तु। एकं नीलादिकं सामान्यमनेकेषु व्यक्तिष्वनुगतमनुभूयते। ते च व्यक्तयोऽनेकस्वभावानुगामिनो भिन्नेष्वेकस्वभावाऽननुगामिनः सांकर्यप्रसङ्गात्। नैकस्मिंश्च विरुद्धधर्मसंसर्गे सामान्यं सिध्येच्च। ते च पदार्थाश्चैकस्वभावानुगामिनः सोऽयमिति। स्वरूपे च परस्परविरुद्धगवाश्वपुरुषसङ्कीर्णस्वभावान्यपिण्डेषु एकस्मिन् सामान्येन सिद्धिरस्तीति। ते च नैकस्वभावानुरोधिनः। कारणादा अकारणाद्वा।

सामान्य तो एक पदार्थ है। कि; एक गायके गोत्वजातिको ही अन्यसमस्त गायोंमें सर्वत्र जाने हैं वे व्यक्तियें अनेक स्वभावोंसे युक्त होनेसे एक नहीं स्वभावसे अनुगामी अर्थात् पेहचानी, और भिन्नस्वभावसे हैं। और जितने भी काली विशेषतासे ही काला कहते हैं और वे सर्वत्र अविरुद्धस्वभावानुगामी सोऽयं ( यही ) है। और इससे अन्य गायोंसे भिन्न गो। एवंविध विलक्षण भी गोत्वजाति सिद्ध है, जब कोई वादी ऐसे एकस्वभावी गोत्वजातिको सिद्ध करते हैं। तो वैशेषिकका अनुगामी एकस्वभावसे पेहचानेके योग्य नहीं है।

एकस्य पदार्थस्यापि विरुद्धधर्मयोगः। तथाहि—संयोगसमवायाभ्यां गुणिनः सन्तिष्ठमानस्य। सामान्यमेव हि तत्र तत्र गुणाश्रयेषु विशेषणभावमापद्यमानम्। तथा गवि गोत्वमनित्येनैकत्वसङ्ख्यानेनाश्वादिव्यावृत्तिविशिष्टानुवृत्तिलिङ्गानुमितमनेकाश्रयत्वात्। तथा अश्वत्वमपि गत्वं तत्रैवार्थान्तरभूतानां पर्याप्तिधर्मकाहारहरणशब्दवृत्तिकर्मजातिसत्तासामान्यानुपलम्भे। किंच ये सामान्यात् पृथग्भूता अन्योऽन्यव्यवच्छेदाकारा विशेषाः कल्प्यन्ते, तेषु विशेषत्वे विद्यते न वा। ॥ नो चेत्तेषामसामान्यात्मनां पदार्थत्वं। स्वलक्षणस्यैवाऽपदार्थत्वात्। अस्ति चेत्तर्हि तदेव सामान्यम्। यतः सर्वानुगतो भावः सामान्यम्। विशेषाश्च पदार्था गवादेर्गोत्वमपि विशेषोऽपरापरैः सिद्धमेव।

अब इस श्लोक तीनों ही पक्षोंका पूरा खण्डन करते हैं। जो कि दिखलाते हैं—संयोगसम्बन्धी आप वैशेषिकोंके गुण। अर्थात्

। व्यक्तयोः। द्वयोरिव्यक्त्योः। ३ विरुद्धस्वभावसंसर्गेऽपि। ४ सर्वत्रैकस्मिन् गोत्वजातिसम्बन्धेऽपि अश्वेभ्यो भिन्नेषु गोषु
अश्वत्वजातिवत् सत्ता प्राप्नोति।

वेदांती और सांख्य कहते हैं कि; सामान्य ही तत्त्व है; क्योंकि उस सामान्यसे भिन्नरूप ऐसे विशेष नहीं देखे जाते हैं। तथा सब एक है; क्योंकि विशेषरहितपनेसे सत् इसप्रकारके ज्ञाननामक जो अनुवृत्तिरूप लिङ्ग है उसके द्वारा उसकी सत्ताका अनुमान किया जाता है। तथा द्रव्यत्व ही तत्त्व है; क्योंकि उस द्रव्यत्वसे भिन्न पदार्थरूप ऐसे धर्म्म, अधर्म्म, आकाश, काल, पुद्गल, और जीव द्रव्य नहीं देखे जाते हैं। और भी विशेष यह है कि; जो सामान्यसे भिन्न ऐसे एक दूसरेकी परस्पर व्यावृत्ति करनेरूप विशेषोंकी कल्पना की जाती है; उन विशेषोंमें विशेषत्व धर्म्म रहता है वा नहीं रहता है? । यदि इस प्रश्नके उत्तरमें कहा जावे कि; विशेषोंमें विशेषत्व नहीं रहता है। तो विशेषोंके स्वभावरहितताका प्रसंग होता है। क्योंकि उन विशेषोंमें विशेषत्वरूप निजस्वरूपका ही अभाव है। यदि कहा जावे कि; विशेषोंमें विशेषत्व है तो वह विशेषत्व ही सामान्य है। क्योंकि समानोंका जो भाव है; वही सामान्य कहलाता है और विशेषरूपतासे उन सब सामान्योंके समानरूपतासे प्रतीति सिद्ध ही है।

**अपि च विशेषाणां व्यावृत्तिप्रत्ययहेतुत्वं लक्षणम्। व्यावृत्तिप्रत्यय एव च विचार्यमाणो न घटते। व्यावृत्तिर्हि विवक्षितपदार्थे इतरपदार्थप्रतिषेधः। विवक्षितपदार्थश्च स्वस्वरूपव्यवस्थापनमात्रपर्यवसायी कथं पदार्थान्तरप्रतिषेधे प्रगल्भते?। न च स्वरूपसत्वादन्यत्तत्र किमपि येन तन्निषेधः प्रवर्तते। तत्र च व्यावृत्तौ क्रियमाणायां स्वात्मव्यतिरिक्ता विश्वत्रयवर्त्तिनोऽतीतवर्तमानाऽनागताः पदार्थास्तस्माद् व्यावर्त्तनीयाः। ते च नाज्ञातस्वरूपा व्यावर्त्तयितुं शक्याः। तत्तश्चैकस्यापि विशेषस्य परिज्ञाने प्रमातुः सर्वज्ञत्वं स्यात्। न चैतत्प्रतीतिकं यौक्तिकं वा। व्यावृत्तिस्तु निषेधः। स चाऽभावरूपत्वात्तुच्छः कथं प्रतीतिगोचरमञ्चति खपुष्पवत्।**

और विशेषोंका व्यावृत्ति प्रत्ययका हेतुरूप लक्षण है। और जब विचार करते हैं तो विशेषोंमें व्यावृत्ति प्रत्यय ही सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि; किसी विवक्षित पदार्थमें अन्यपदार्थका जो निषेध है; उसको व्यावृत्ति कहते हैं। और निजस्वरूपके स्थापन (सिद्ध करने) मात्रमें ही समाप्त हो जानेवाला विवक्षित पदार्थ अन्य पदार्थोंके निषेध करनेमें कैसे प्रवृत्ति कर सकता है?। और स्वरूपसत्वके अर्थात् निजरूपमें विद्यमानताके सिवाय उस पदार्थमें अन्य कुछ भी नहीं है; जिससे कि, अन्यपदार्थके निषेधकी प्रवृत्ति होवे। और उसमें यदि व्यावृत्ति की जावे; तो उस पदार्थके निजस्वरूपसे भिन्न ऐसे जो तीनलोकमें रहनेवाले भूत, भविष्यत् और वर्तमानकाल सम्बन्धी सभी पदार्थ वे उस पदार्थसे भिन्न करने योग्य होवेंगे। और नहीं जाना गया है स्वरूप

[illegible] के कार्य आत्मा पदार्थके लिङ्ग कदापि सिद्ध नहीं किये जा सकते हैं। और फिर इनमेंसे एक पदार्थका विशेष गुण [illegible] आत्माके लक्षणका भाव दोषमेंसे पाया [illegible] के असंभवसे सिद्ध होने लगेगा। और यह भी कि विशेषोंके आत्मनेको उपलक्षण होना नहीं सिद्धसेनादि भाष्य गुल्लिमाद्र कही है। आत्मनिका अर्थ विशेष है और यह विशेष आत्मका होनेसे मुख्य है; इस कारण जैसे आत्मासे गुण सम्बन्धका होनेसे आत्मा नहीं होता है, वैसी आत्मा का आत्मनि की कल्पनेके लिये पदार्थोंके लिये पात्र हो जाते हैं।।

तथा चेन्द्रो ज्ञानाधिकरणं द्रव्यमात्मा या। ज्ञानादयश्चात्मनो [illegible] किं न आत्मनि। यद्यात्मनोऽसाधारण्यात्। का पुनरियं आत्मनिविशेषेण लिङ्गत्वे सा नयासु विशेषपदार्थविशेषेऽन्तर्भूता या। अनेकत्र [illegible] अपि विशेषमात्मविशेषैकलक्षणैकजीवितत्वादिहेतोरभावाद्। [illegible] नास्ति। अतो विशेषपदार्थान्तर्भावादनुपपत्त्या भाष्यम्। आत्मनिवृत्तिरपि च ज्ञानादयो विशेषगुणाभावात्। [illegible] स्यात्। [illegible] आत्मनि चतुर्विधलक्षणाभावात्। एवं सामान्यमेव संज्ञान्तरेण सत्तेति पदार्थं [illegible] किं चासौ विशेषेणाः सामान्यादिभिन्ना वर्तितात् वा। भिन्नाश्चेत्कथमुच्यते तदात्मकमिति। अविभक्ताश्चेत्तेषु तदात्मकमेव। इति गतार्थत्वात्।।

तथा जैसे पदार्थोंमें व्यावृत्ति की कल्पना है वैसे ही [illegible] है। यदि कहो कि, वे पदार्थ अनुकूल हैं तो अनुकूलताके [illegible] पाये जानेसे क्यों नहीं होती है। यदि कहो कि, वे पदार्थ महत्त्व हैं, तो वे पदार्थ महत्त्वके ही कुछ [illegible] नित्य द्रव्यादिको छोड़ते हैं, वह [illegible] एक विशेष व्यक्तिमेंसे पड़ते हैं। अवयव कहोगे हैं; यदि कहो कि, अवयव है, तो वह व्यावृत्ति भी विशेषरूप ही हुई। [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] एक जीवित है अर्थात् अनेकोंमें भी विशेषोंका [illegible] है। और तब तो व्यावृत्तिकी भी विशेषपदार्थके लिंग अन्यथासिद्ध सिद्ध न होनेसे अर्थात् व्यावृत्ति विशेषरूप सिद्ध होनेसे व्यावृत्तिसे भी अन्य व्यावृत्ति होनी चाहिये। और इस व्यावृत्तिसे भी व्यावृत्ति की भी विशेषोंमें अभाव ही होजायगा। क्योंकि, विशेषसत्त्व भी व्यावृत्ति है अतएव अनिषेध है; विशेषोंमें अभाव है। और अनवस्था दोषकी भी संभावना होती है। यदि कहो कि व्यावृत्ति पक्ष है और पूर्वके व्यवहारसे पूर्वके दृष्टान्तको ही मीमांसा लेना। क्योंकि, अनुकूलव्यवहार तो सामान्यका लक्षण है यह यहां घट जाता है, व्यभिचार नहीं है। यहांपर और भी विशेष कथन यह है कि, वे विशेष व्यापकत्वसे सिद्ध हैं। कि अनित्य हैं? यदि कहो

कि भिन्न हैं तो भेंडकके जटाभारके समान है। यदि कहो कि अभिन्न हैं तो जैसे सामान्यसे अभिन्न होनेके कारण सामान्यका स्वरूप सामान्यरूप है उसी प्रकार वे विशेष भी सामान्यरूप ही होंगे। इस प्रकार सामान्यका एकांतविषयक वाद है।

पर्यायनयान्वयिनस्तु भाषन्ते।–विविक्ताः क्षणक्षयिणो विशेषा एव परमार्थः; ततो विष्वग्भूतस्य सामान्यस्याऽप्रती-यमानत्वात्। न हि गवादिव्यक्त्यनुभवकाले वर्णसंस्थानात्मकं व्यक्तिरूपमपहायाऽन्यत्किंचिदेकमनुवायि प्रत्यक्षे प्रतिभासते; तादृशस्यानुभवाभावात्। तथा च पठन्ति। "एतासु पञ्चस्वभासिनीषु प्रत्यक्षबोधे स्फुटमङ्गुलीषु। साधारणं रूपमवेक्षते यः शृङ्गं शिरस्यात्मन ईक्षते सः। १।" एकाकारपरामर्शप्रत्ययस्तु स्वहेतुदत्तशक्तिभ्यो व्यक्तिभ्य एवोत्पद्यते। इति न तेन सामान्यसाधनं न्याय्यम्।

अब पर्यायास्तिक नयके अनुयायी बौद्ध कहते हैं कि, भिन्न और क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाले जो विशेष हैं वे ही परमार्थ-रूप हैं। क्योंकि; उन विशेषोंसे भिन्नरूप किसी सामान्यकी प्रतीति नहीं होती है। कारण कि गौआदि व्यक्तियोंका जिस समय अनुभव होता है उस समय वर्ण (रंग) तथा संस्थानस्वरूप जो व्यक्तिका आकार है, उसको छोड़कर अन्य कुछ भी एक तथा सब व्यक्तियोंमें चले आते हुए पदार्थका अर्थात् सामान्यका प्रत्यक्षमें प्रतिभास नहीं होता है; क्योंकि ऐसे किसी पदार्थका अनुभव ही नहीं होता है। सो ही विद्वानोंने कहा है कि "प्रत्यक्ष ज्ञानमें प्रकटरूपसे दीखती हुई इन पांचों अंगुलियोंमें जो साधारण रूपको अर्थात् सामान्यको देखता है वह पुरुष अपने मस्तकपर सींगको देखता है।" और एक आकारके विचारकी प्रतीति तो अपने कारणोंसे उत्पन्न हुई है शक्ति जिनमें ऐसी व्यक्तियोंसे ही उत्पन्न होती है। इस कारण उस अनुवृत्तिप्रत्ययसे जो सामान्यको सिद्ध किया जाता है वह न्यायसंगत नहीं है।

किं च यदिदं सामान्यं परिकल्प्यते तदेकमनेकं वा? एकमपि सर्वगतमसर्वगतं वा? सर्वगतं चेत्किं न व्यक्त्यन्तरालेष्वपलभ्यते?। सर्वगतैकत्वाऽभ्युपगमे च तस्य यथा गोत्वसामान्यं गोव्यक्तीः क्रोडीकरोति एवं किं न घटपटादिव्यक्तीरपि; अविशेषात्?। असर्वगतं चेद्विशेषरूपापत्तिरभ्युपगमबाधश्च।

और भी अधिक वक्तव्य यह है, कि जो यह सामान्य कल्पित किया जाता है, वह सामान्य एकरूप है? अथवा अनेकरूप है? यदि कहो कि एक है तो भी प्रश्न होता है कि वह सामान्य सर्वगत है वा असर्वगत है? यदि कहो कि सर्वगत है तो वह

—

व्यक्तियोंके लक्षणमें भेद नहीं मिलता है। और गायत्वके सम्बन्ध होनेपर जैसे गोत्व[गौजातिके सहचारिपनेसे गायत्व पदार्थ गोत्वाश्रयोंमें व्यवहार कराता है, उसी प्रकार एक एक व्यक्ति व्यक्तियोंमें भी कोई नहीं व्यवहार करा सकता है। क्योंकि, व्यक्तिमें है अर्थात् यह गायत्व सम्बन्ध इस एक ही गौ व्यक्तिमें रहता है उसके सम्बन्धसे जैसे गौ है वैसी अन्य अन्य व्यक्तियोंमें भी है। यदि कहो कि, यह गायत्व एक एक व्यक्तिमें है तो उस सामान्य विशेषपना हो जाता है और तुमारे मतमें भी ऐसा होता है।

अथाऽनेकेषु गोत्वाऽऽगायपटलघटादिभेदभिन्नेषु गौरिति विशेषेषु सदृशं सामान्यमभ्युपगम्यते। अत्यन्तभेदे व्याप्तिहेत्वभावात्। न हि पटादौ गवादिसम्बन्धकृतमिति। अर्थक्रियाकारित्वं च वस्तुनो लक्षणम्। अथ विशेषेष्वेव स्फुटं सर्वावबोधः। न हि सामान्येन सदृशेष्वपि विषयेऽस्ति चैष्टित्वस्वप्नः। बाह्योपादिकालभ्यभेदित्वात् विशेषगतावेवोपयोगात्। तथेह गोत्वसामान्ये विशेषेभ्यो भिन्नमभिन्नं वा? भिन्नं चेदयुक्तम्। विशेषव्यतिरेकेणाऽर्थक्रियाकारित्वाभावात्। अभिन्नं चेदिहेवेदं सदृशमुक्तमेव। इति विशेषैकान्तपक्षः।

यदि कहो कि गोत्व सामान्य ; तो[गायत्व पटत्व आदि भेदोंसे भिन्न होनेवाले सदृश सामान्य अर्थात्मक है तो तुमारे मतानुसार व्यक्तियोंमें भिन्न भिन्न ही होगा। विशेष। क्योंकि; जो गोत्व है वह अवयवोंका नहीं है परन्तु है। तथा पदार्थका लक्षण अर्थक्रियाकारित्व है। और वह अर्थक्रियाकारित्व विशेषोंमें ही अनुभवमें आता है। अतएव कहे, सामान्यमें केवल भी अर्थक्रिया नहीं होती है। क्योंकि, वह विकल्पित है। और वस्तुका एक देशमें वस्तुविरुद्ध जो अर्थक्रियाकारित्व है वह विशेषोंका ही उपयोग होता है। तथा यह गोत्व विशेषोंसे भिन्न है वा अभिन्न है ? यदि कहो कि भिन्न है तो भिन्न होनेसे वस्तु हमारे मतानुसार ही हुआ। तथा यह सामान्य कोई वस्तु ही नहीं है। क्योंकि, विशेषोंसे भिन्न होनेसे वस्तु हमारे अर्थक्रियाकारित्वका अभाव है। यदि कहो कि अभेद है तो विशेषोंके स्वरूपसे गोत्व भी विशेष ही हुआ। विशेषोंको ही एकैक गोत्वविशेषोंका हम कहा करते हैं॥

नैगमनयाऽऽश्रयाऽनियतवाक्यात्मा।—अवयवसमुदायोपचारकर्मधारयेणैषां[नैगमानां समासोपचारात्। तथाहि। गौणाः[वर्तमानेषु गवादिषु मुख्यसम्प्रत्ययनिमित्तेषु[निरूढप्रवृत्तिशब्देषु[निवेशनात्। यानेन आत्मने कर्मणा पाणिपादादौ। तथा चैतत्। एकमात्मपदम्। नानात्मनि हि गोपादि सर्वगतम्। अङ्गेषूपसर्जनत्वात् प्रधानकार्यकरणत्वाच्च विशेषाः। तत्र कथमेषामेकत्वं युक्तम्?

नैगमनयका अनुसरण करनेवाले ऐसे जो वैशेषिक और नैयायिक हैं वे कहते हैं कि, सामान्य तथा विशेष ये दोनों स्वतंत्र ( स्वाधीन अर्थात् परस्पर निरपेक्ष ) हैं। क्योंकि, प्रमाणद्वारा ऐसे ही प्रतीत होते हैं। सो ही दिखलाते हैं। सामान्य और विशेष ये दोनों अत्यंत भिन्न हैं। क्योंकि; विरुद्ध धर्मका धारण करनेवाले हैं। जो विरुद्ध धर्मके धारक होते हैं वे एक दूसरेसे अत्यंत भिन्न होते हैं। जैसे कि जल और अग्नि। वे दोनों परस्पर विरुद्ध धर्मके धारक होनेसे अत्यंत भिन्न हैं। उसी प्रकार ये दोनों सामान्य विशेष भी विरुद्ध धर्मके धारक है इस कारण अत्यंत भिन्न हैं। क्योंकि गोत्व ( गोपना ) आदि जो सामान्य है वह तो सर्वव्यापी है और गौव्यक्तिमें प्राप्त जो कर्बुरवर्ण तथा चित्रवर्ण आदि रूपविशेष हैं, वे सामान्यसे विपरीत अर्थात् असर्वगत हैं। इस कारण सामान्य और विशेष इन दोनोंकी एकता कैसे ठीक हो सकती है? अर्थात् सामान्य और विशेष ये दोनों एक नहीं हैं।

**न सामान्यात्पृथग्विशेषस्योपलम्भ इति चेत् कथं तर्हि तस्योपलम्भ इति वाच्यम्? सामान्यव्याप्तस्येति चेन्न तर्हि स विशेषोपलंभः; सामान्यस्यापि तेन ग्रहणात्। ततश्च तेन बोधेन विविक्तविशेषग्रहणाऽभावात् तद्वाचकं ध्वनिं तत्साध्यं च व्यवहारं न प्रवर्तयेत्प्रमाता। न चैतदस्ति; विशेषाभिधानव्यवहारयोः प्रवृत्तिदर्शनात्। तस्माद्विशेषमभिलषता तत्र च व्यवहारं प्रवर्तयता तद्ग्राहको बोधो विविक्तोभ्युपगन्तव्यः।**

यदि कहो कि, सामान्यसे जुदा विशेष कहीं नहीं मिलता है, तो उस विशेषकी प्राप्ति किस प्रकारसे हो सकती है सो बताना चाहिये। यदि कहो कि, सामान्यके साथ मिले हुए विशेषकी प्राप्ति होती है; तो वह विशेषकी प्राप्ति नहीं हुई। क्योंकि; उसके द्वारा सामान्यका भी ग्रहण होता है। और इस कारण उस ज्ञानद्वारा सामान्यसे भिन्न शुद्ध विशेषका ग्रहण न होनेसे प्रमाता (ज्ञान करनेवाला ) उस विशेषके कहनेवाली ध्वनि (शब्द) को और उस शब्दसे साध्य ऐसे व्यवहारको नहीं प्रवर्ताये। परंतु ऐसा है नहीं। क्योंकि; विशेषके वाचक शब्द की तथा विशेषजन्य व्यवहारकी प्रवृत्ति देखी जाती है। इस कारण विशेषको चाहनेवाले और उसमें व्यवहारके प्रवर्ताबनेवाले पुरुषको उस विशेषका ग्रहण करनेवाला भिन्न ज्ञान स्वीकार करना चाहिये।

**एवं सामान्यस्थाने विशेषशब्दं विशेषस्थाने च सामान्यशब्दं प्रयुञ्जानेन सामान्येऽपि तद्ग्राहको बोधो विविक्तोऽङ्गीकर्तव्यः। तस्मात्स्वस्वग्राह्यिणि ज्ञाने पृथक् प्रतिभासमानत्वाद् द्वावपीतरेतरविशकलितौ। ततो न सामान्यविशेषात्मकत्वं वस्तुनो घटते। इति स्वतन्त्रसामान्यविशेषवादः।**

इस प्रकार [illegible] जानने [illegible] और विशेषके जानने [illegible] । [illegible] सामान्यसे भी [illegible] ग्रहण [illegible] करना चाहिये। [illegible] होनेसे [illegible] और [illegible] है । और [illegible] नहीं होता है । [illegible] विशेषका [illegible] है ।

[illegible] न [illegible] । [illegible] न [illegible] । [illegible] हि [illegible] । [illegible] तथा [illegible] [illegible] ।

[illegible] दोनों ही [illegible] नहीं रहते हैं । क्योंकि, [illegible] है । [illegible] कि, [illegible] है, [illegible] होता है [illegible] है । और [illegible] ( [illegible] ) से ही [illegible] है । [illegible] है कि, [illegible] ऐसा [illegible] ( [illegible] ) [illegible] होता है [illegible] भी [illegible] है ।

[illegible] तथापि [illegible] । [illegible] तथा [illegible] । [illegible] । न हि [illegible] । [illegible] ।

और [illegible] ( [illegible] ) है ऐसा नहीं कहते हैं [illegible] विशेषका [illegible] होता है इसी प्रकार [illegible]

सामान्यका भी प्रतिभास स्पष्ट रीतिसे होता ही है। और यदि शबल ऐसे केवल विशेषणकाही उच्चारण किया जाय तो भी वहां अर्थसे वा प्रकरणसे गोत्व सामान्यकी अनुवृत्ति होती ही है। और विशेष कहना यह है कि—शबलपना भी अनेक प्रकारका देखा जाता है। इस कारण शबल है, ऐसा मुखसे कहनेपर समस्त शबलत्व सामान्यको ग्रहण करके विवक्षित गो व्यक्तिमें भास हुआ ही शबलपना सिद्ध किया जाता है। सो इस प्रकार बालकसे लेकर गोपालपर्यंत प्रतीतिद्वारा प्रसिद्ध ऐसे भी पदार्थके सामान्यविशेषात्मक स्वरूपमें परस्पर स्वतंत्र सामान्य विशेषका कथन करना प्रलापमात्र ही है। क्योंकि; विशेषके विना किये हुए सामान्यका अथवा सामान्यके विना किए हुए विशेषोंका किसी स्थलमें और किसी समयमें किसीने भी अनुभव नहीं किया है। केवल एकांत पक्षरूपी दुर्नयकी वासनाको भास हुई अर्थात् एकांतपक्षकी धारक बुद्धिके व्यामोहवश होकर मूर्ख जन एकको छिपाकर दूसरेका शापन करते हैं। परंतु यह अंधगजन्याय है। भावार्थ—जैसे जन्मांध पुरुष हाथीके एक एक अवयवको ग्रहण करके हाथीका स्वरूप जुदे जुदे प्रकारसे सिद्ध करते हैं; उसी प्रकार एकांतपक्षसे अंधी हुई बुद्धिके धारक पुरुष भी सामान्य विशेष इन दोनोंमेंसे एकको छिपाकर दूसरेको सिद्ध करते हैं।

**येपि च तदेकान्तपक्षोपनिपातिनः प्रागुक्ता दोषास्तेप्यनेकान्तवादप्रचण्डमुद्गरप्रहारजर्जरितत्वान्नोच्छ्वसितुमपि क्षमाः।**

और जो उन एकान्त पक्षोंके माननेमें संभवते दोष दिखाये थे वे भी अनेकान्तवादरूपी प्रचण्ड मूसलके प्रहारकर जर्जरित होनेसे श्वास भी नहीं लेसकते हैं। अर्थात् अनेकांतवादसे खंडित होजानेके कारण निष्फल हैं।

**स्वतन्त्रसामान्यविशेषवादिनस्त्वेवं प्रतिक्षेप्याः।—सामान्यं प्रतिव्यक्ति कथंचिदभिन्नं; कथंचित्तदात्मकत्वाद्विसदृशपरिणामवत्। यथैव हि काचिद्व्यक्तिरुपलभ्यमाना व्यक्त्यन्तराद्विशिष्टा विसदृशपरिणामदर्शनादवतिष्ठते तथा सदृशपरिणामात्मकसामान्यदर्शनात् समानेति; तेन समानो गौरयं सोनेन समान इति प्रतीतेः। न चास्य व्यक्तिस्वरूपादभिन्नत्वात्सामान्यरूपताव्याघातः। यतो रूपादीनामपि व्यक्तिस्वरूपादभिन्नत्वमस्ति; न च तेषां गुणरूपताव्याघातः। कथंचिद्व्यतिरेकस्तु रूपादीनामिव सदृशपरिणामस्याप्यस्त्येव; पृथग्व्यपदेशादिभाक्त्वात्।**

अब सामान्य तथा विशेष पदार्थोंको सर्वथा स्वतंत्र माननेवालोंका निराकरण इस प्रकार करना चाहिये।—सामान्य भी कथंचि-

विशेषका ही होनेसे सामान्य [illegible] है। [illegible]

[illegible]

विशेष यदि [illegible]

[illegible] । सामान्य [illegible] ।

[illegible] नहीं [illegible] सकते हैं। क्योंकि, यदि सामान्य [illegible] सिद्ध हो [illegible] सिद्ध नहीं है। [illegible] सिद्ध होता है। [illegible] भी है ।

[illegible] ।

पयस्त्वपावकत्वादिना हि तयोर्विरुद्धधर्माध्यासो भेदश्च, द्रव्यत्वादिना पुनस्तद्विपरीतमिति। तथा च कथं न सामान्यविशेषात्मकत्वं वस्तुनो घटते? इति। ततः सुष्ठूक्तं "वाच्यमेकमनेकरूपम्" इति।

सामान्यगें एकता सदा संग्रहनयकी अपेक्षासे ही सर्वत्र जाननी चाहिये। क्योंकि; प्रमाणात्मक ज्ञानकी अपेक्षा तो प्रत्येक व्यक्तिमें जैसे विसदृश परिणाम भिन्न भिन्न हैं तैसे उस समान परिणाममय सामान्यगें भी प्रतिव्यक्ति कथंचित् भेद ही है। इस प्रकार सामान्य तथा विशेषमें सर्वथा विरुद्धधर्मपनेका निराकरण होता है। यदि कथंचित् विरुद्धधर्मपना इष्ट हो तो हमारा मानना भी यही है। क्योंकि; कथंचित् विरुद्ध धर्म तभी हो सकता है जब भेद भी कथंचित् ही हो, न कि सर्वथा भेद माननेपर। जल तथा अग्निका दृष्टान्त भी परस्परका भेद सर्वथा सिद्ध नहीं कर सकता है। क्योंकि; जल तथा अग्निमें भी विरुद्धधर्मपना तथा भेद कथंचित् ही माना गया है। जैसे जलपने तथा अग्निपनेसे ही जल तथा अग्निगें विरुद्ध धर्म तथा भेद है; द्रव्यत्वादिक धर्मोंकी अपेक्षा भेद नहीं है। इस प्रकार वस्तुका पूर्ण स्वरूप सामान्यविशेषात्मक क्यों न माना जाय? इसलिये यह ठीक कहा है कि "वाच्यमेकमनेकरूपम्।" अर्थात् वस्तु एकरूप भी है तथा अनेकरूप भी है।

एवं वाचकमपि शब्दाख्यं द्वयात्मकम् (सामान्यविशेषात्मकम्)। सर्वशब्दव्यक्तिष्वनुस्यूतशब्दत्वमेकम्। शाङ्गशार्ङ्गतीव्रमन्दोदात्तानुदात्तस्वरितादिविशेषभेदादनेकम्। शब्दस्य हि सामान्यविशेषात्मकत्वं पौद्गलिकत्वाव्यक्तमेव। तथा हि। पौद्गलिकः शब्दः; इन्द्रियार्थत्वाद्रूपादिवत्।

इसी प्रकार वस्तुका वाचक शब्द भी एक तथा अनेकरूप अर्थात् सामान्यविशेषात्मक है। वाचकपनेसे सर्व व्यक्तियोंमें अनुयायी अर्थात् रहनेवाला होनेसे तो एकरूप है और शंखका शब्द, शार्ङ्गका शब्द, तीव्र शब्द, मंद शब्द, उदात्त शब्द, अनुदात्त शब्द तथा स्वरित शब्द इत्यादि अंतर्गत भेदोंकी अपेक्षा अनेकरूप भी है। पुद्गलकी पर्यायरूप होनेसे सामान्यविशेषात्मकपना भी शब्दमें स्पष्ट है। अब पुद्गलपना कैसे है यह दिखाते हैं। इंद्रियोंके गोचर होनेसे जैसे रूपरसादिक पुद्गलके अवस्थाविशेष हैं तैसे शब्द भी पुद्गलका अवस्थाविशेष है।

यच्चास्य पौद्गलिकत्वानेषेधाय स्पर्शशून्याश्रयत्वादतिनिबिडप्रदेशे प्रवेशनिर्गमयोरप्रतिघातात् पूर्वं पश्चाच्चावयवानुपलब्धेः सूक्ष्ममूर्तद्रव्यान्तराप्रेरकत्वाद्गगनगुणत्वाद्येति पञ्च हेतवो यैरुपन्यस्तास्ते हेत्वाभासाः। तथा हि।

वस्तुतः पुद्गलपरमाणु अनन्त प्रकारके अनियतसे पौद्गलकार्योंके नियत हेतु सिद्ध है। (१) एक पुद्गलस्कंध नहीं है; क्योंकि; स्वांगुलसिद्ध है। (२) शून्य पुद्गलवर्गणा नहीं है। क्योंकि, जगत् उपर वर्गणाओंसे ही व्याप्त होने तथा सिद्धान्तमें भी उसका कथन नहीं है। (३) चलन पुद्गलकर्म नहीं है। क्योंकि अन्यथा पर्याप्तक पुद्गलोंका सर्वथा अभाव नहीं होनेसे है (४)। शब्द पौद्गलिक नहीं है। क्योंकि, अन्य कोई दोष पुद्गलके गुणोंको प्राप्त नहीं होता है। (५) बंधन पुद्गलका विकार नहीं है। क्योंकि, बन्ध सम्बन्धका मूल है। जो वैस्रसिक होता है वह सर्वकालीन होता है, अतः सादि पारिणामिक स्निग्ध रूक्ष का लक्षण है तथा उसमेंसे भेदन भी नहीं कहा है, आगे गिनाये अभावके कथनसे अतः उसके दोनों हैं, अन्य कुछ होने पुद्गल पुद्गलोंसे बन्ध कहा भी है और जो पुद्गलकी होनेसे है वह सादिरूप गुण नहीं होता है। पौद्गलकबीजके ये सारे ही नियत हेतुवाले हैं। किन्तु वहां हेतुवाले है सो ऐसा है।

शब्दपर्यायपरिणामरूपो भाषावर्गणा, न पुनरन्यस्वरूपः। तत्र च स्पर्शो निरीक्ष्यते एव। यतः-बन्धापवः सार्थवान्। अनुपातमतिघातयोर्पिण्डकटिकटाहीनिर्वाहस्फुटनात्। अभ्यासनेन्द्रियार्थेन पात्, यथापि परमाणुवत्। इत्यसिद्धेः। पथमः। द्वितीयायां सम्बन्धयोग सर्वपेक्षादनैकान्तिकः। चाक्षुषत्वमात्रकस्यूलिकाणि सम्पद्यन्ते हि विशिष्टसंस्थानपरिणतान्यन्धकारेऽपि चक्षुषा नियोगतः, न चाक्षुषाणीत्यतः।

शब्दरूप वर्गणाका अवस्थान्तर मात्र भाषावर्गणास्वरूप पुद्गल है, आकाश नहीं है। और उसमें स्पर्शका निरीक्षण भी होता ही है। कैसे ? इसलिए स्पर्शवान् ( स्पर्शगुण धारण ) स्पर्शसहित भी है। क्योंकि; यदि शब्द स्पर्शयुक्त ( दूसरेके आनेके रुकनेसे ) अन्य आलेखवान ; हो तथा पुद्गलसंबन्धवाला अन्यसे बन्ध होता है उसमें यह हो और भी वह बन्ध पुनर्ग्रहण भी नहीं ही (शब्द पौद्गलिक पुद्गलोंका सम्बन्धी उसमें संबंध कारणके पर भी हो भी ; नहीं। जैसे-यदि वायु स्पर्शयुक्त ( अन्यको आलेखवान ) हो तो पुद्गलोंका वायु बन्धके वालोंसे एक यदि भी बन्ध स्पर्श करने वाली है तथा तो नहीं ।इसलिये जैसे वायुवत् पौद्गलिक है वैसे शब्द भी पौद्गलिक ही होना चाहिये )। इस स्पर्श पौद्गलिकत्वसे। पवन हेतु सहित सूक्ष्म। सूक्ष्म हेतु भी स्पर्शवाले हैं।

। यहां हेतु स्पर्श पिंड वर्गणाके अभिन्नरूपसे सिद्ध किया है कि यदि सूक्ष्म (अनन्त) हो तो उसमें हेतुवाला कहते हैं। शब्दरूपके एकसी वर्गणाके स्पर्शसे संबंध आते हैं।शब्दको पर्यायरूप ही कहा है।पुद्गलोंसे एकसा स्पर्श भेदवाला है। जिससे शब्द वर्गणाके शब्दों सम्बन्धवाला कहते हैं।

व्यभिचारी होनेसे अनैकान्तिकनामक हेत्वाभास है । अर्थात्—जैसे गन्धद्रव्य अत्यंत सघन पदार्थोंमें प्रवेशकरते तथा उनमेंसे निकलते हुए नहीं रुकनेपर भी पौद्गलिक है तैसे ही शब्दके भी अत्यंत सघन पदार्थमें प्रवेश करते तथा निकलते हुए नहीं रुकनेसे पौद्गलिकपनेमें बाधा नहीं आसकती है । क्योंकि; उत्तम कस्तूरीआदिक गन्धद्रव्य किवाड़आदिक बंद करदेनेपर भी बाहरसे भीतर घुस जाता है तथा भीतरसे निकल भी आता है परंतु पौद्गलिक ही है; अपौद्गलिक नहीं है ।

अथ तत्र सूक्ष्मरन्ध्रसंभवान्नातिनिविडत्वम् । अतस्तत्र तत्प्रवेशनिष्क्रमौ । कथमन्यथोद्घाटितद्वारावस्थायामिव न तदेकार्णवत्वम्? सर्वथा नीरन्ध्रे तु प्रदेशे न तयोः संभवः । इति चेत्तर्हि शब्देष्येतत्समानम् । इत्यसिद्धो हेतुः । तृतीयस्तु विद्युल्लतोल्कादिभिरनैकान्तिकः । चतुर्थोपि तथैव; गन्धद्रव्यविशेषसूक्ष्मरजोधूमादिभिर्व्यभिचारात् । न हि गन्धद्रव्यादिकमपि नासायां निविशमानं तद्विवरद्वारदेशोद्भिन्नश्मश्रुप्रेरकं दृश्यते । पञ्चमः पुनरसिद्धः । तथा हि । न गगनगुणः शब्दः; अस्मदादिप्रत्यक्षत्वाद्रूपादिवत् । इति सिद्धः पौद्गलिकत्वात्सामान्यविशेषात्मकः शब्द इति ।

यदि कहो कि " किवाड़ आदिकोंमें छोटे छोटे छिद्र रहनेसे अत्यंत सघनता नहीं है इसलिये उनमें प्रवेशकरना तथा निकलना होसकता है । यदि ऐसा न हो तो किवाड़ खुले रहनेपर जैसा गन्ध निकलता है तैसा बंद होनेपर भी क्यों नहीं? और जो सर्वथा छिद्ररहित हो उसमें न तो प्रवेश ही करसकता है और न निकल ही सकता है " तो हम भी शब्दमें ऐसा ही स्वभाव मानते हैं । अर्थात् जिसमें सूक्ष्म छिद्र हों उसीमें शब्दका घुसना निकलना होसकता है; अन्यत्र नहीं । इस प्रकार दूसरा हेतु भी असिद्ध हुआ । यद्यपि उल्कापात अथवा बिजलीआदिकोंके भी पहले पीछेके अवयव जिनसे वह बने या नाश होनेके अनन्तर जो रहे, नहीं दीखते है परंतु तो भी ये सब पौद्गलिक ही हैं । इसलिये तीसरा हेतु सदोष ( अनैकांतिक ) है । चौथा भी इसी प्रकार सदोष ( अनैकांतिक या व्यभिचारी ) है । क्योंकि; अनेक प्रकारके गन्धद्रव्य या सूक्ष्म ( बारीक ) धूली अथवा धूमादिक भी मूर्तिक द्रव्यकी प्रेरणा नहीं करते हैं इसलिये यहां चौथा हेतु तो विषमरूप है परंतु पुद्गलपनेका अभावरूप



१–२ जिस साध्यके साधनेकेलिये जो हेतु बोला जाय वह हेतु यदि उस साध्यके रहनेसे अन्यत्र भी रहै तो वह हेतु व्यभिचारी अथवा अनैकान्तिक कहा जाता है । यह हेत्वाभासका एक भेद है ।

[illegible] नहीं है [illegible] सामान्य [illegible] अधिकार [illegible] होना [illegible] है। क्योंकि, [illegible]
भी [illegible] अपने [illegible] नहीं है। [illegible] है। [illegible] है। [illegible] भी
[illegible] नहीं [illegible] है। जो पौद्गलिक होता है [illegible]
है। जैसे [illegible], [illegible], [illegible] । [illegible] पौद्गलिक सिद्ध होनेसे [illegible] है

न च [illegible] " [illegible] कथं सामान्यविशेषात्मकत्वं [illegible] " इति। [illegible]
[illegible]
[illegible] ।
[illegible] पौद्गलिकत्वं सामान्यविशेषात्मकत्व [illegible]
[illegible] इति ।

" यदि [illegible] सामान्यविशेषात्मक है तो [illegible] सामान्यविशेषात्मकता [illegible]
[illegible] है " [illegible] नहीं है। क्योंकि, जैसे [illegible]
[illegible] है [illegible]
[illegible] पौद्गलिक भी सिद्ध [illegible] है। [illegible] पौद्गलिक [illegible]
[illegible] पौद्गलिक [illegible] सामान्यविशेषात्मक [illegible] है [illegible]
[illegible] पौद्गलिक [illegible] नहीं [illegible] है। पौद्गलिक [illegible] सामान्यविशेषात्मक
[illegible] है। [illegible] सामान्यविशेषात्मक सिद्ध [illegible] भी सिद्ध किया है।

[illegible] नित्यशब्दवादिसम्मतः [illegible]

[illegible]

प्रतिक्षेप्यः । अथवा वाच्यस्य घटादेरर्थस्य सामान्यविशेषात्मकत्वे तद्वाचकस्य ध्वनेरपि तत्त्वः; शब्दार्थयोः कथंचित्तादात्म्याभ्युपगमात् । यदाहुर्भद्रबाहुस्वामिपादाः ।—



यहांपर शब्दको नित्य कहनेवालोंकर माने गये शब्दके सर्वथा एकपनेका तथा शब्दको अनित्य माननेवालोंकर माने हुए शब्दके सर्वथा अनेकपनेका निराकरण प्रथम दिखाये हुए ढंगसे करना चाहिये ।

अथवा वाच्यरूप घटादिक पदार्थ सामान्यविशेषात्मक सिद्ध होनेसे ही उन पदार्थोंके वाचक शब्दोंमें भी सामान्यविशेषात्मकपना सिद्ध हो सकता है । क्योंकि; शब्द तथा अर्थका संबन्ध कथंचित् तादात्म्यरूप माना गया है । यही बात पूज्य भद्रबाहु स्वामीने कही है ।—

**अभिहाणं अभिधेयाउ होइ भिण्णं अभिण्णं च । खुरअग्गिमोयगुच्चारणम्हि जम्हा दु वयणसवणाणं । णत्थि छेउ णापि दाहो ण पूरणं तेण भिण्णं तु ॥ जम्हा उ मोयगुच्चारणम्हि तत्थेव पच्चओ होइ । ण य होइ स अण्णत्थे तेण अभिण्णं तदत्थाउ ॥**

छाया-अभिधानम् अभिधेयाद् भवति भिन्नम् अभिन्नं च । क्षुराग्निमोदकोच्चारणे यस्मात् तु वचनश्रवणानाम् । नापि छेदो नापि दाहो न पूरणं तेन भिन्नं तु । यस्मात्तु मोदकोच्चारणे तत्रैव प्रत्ययो भवति । न च भवति स अन्यार्थे तेन अभिन्नं तदर्थात् ॥

अभिधान ( वाचक=शब्द ) अभिधेय ( वाच्य=पदार्थ ) से भिन्न भी है तथा अभिन्न भी है । बोलनेवालोंके मुख तथा सुननेवालोंके कान " छुरा "शब्दसे छिदते नहीं हैं, " अग्नि " शब्दसे जलते नहीं हैं, " मोदक " ( लड्डू ) शब्दसे पूरित नहीं हो जाते हैं इसलिये तो पदार्थसे शब्द भिन्न है । और जिस मोदकादिक अर्थके कहनेवाला शब्द बोला जाता है उस शब्दसे उसी पदार्थका ज्ञान होता है अन्यका नहीं इसलिये अर्थसे शब्द अभिन्न भी है ।

एतेन " विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः । कार्यकारणता तेषां नार्थे शब्दाः स्पृशन्त्यपि " इति प्रत्युक्तम् । शब्दस्य ह्येतदेव तत्त्वं यदभिधेयं याथात्म्येनासौ प्रतिपादयति । स च तत्तथा प्रतिपादयन् वाच्यस्वरूपपरिणामपरिणत एव वक्तुं शक्तो नान्यथा अतिप्रसङ्गात्, घटाभिधानकाले पटाद्यभिधानस्यापि प्राप्तेरिति । ॥११४॥

इस कथनसे " शब्दकी विकल्पसे उत्पत्ति है तथा विकल्पकी शब्दसे । इस प्रकार शब्द तथा अर्थमें परस्पर कार्यकारणरूप

तो है परंतु सत् असत् भाव सर्वथा एकांतसे भी नहीं कहते हैं। [illegible] सप्तभंगी [illegible] होता है, क्योंकि, "स्यात्", शब्द (जिस [illegible]) द्वारा सत् के तीनों ही [illegible] होते हैं" इस [illegible] कथन है। [illegible] (स्योतक [illegible]) है कि जनमें वाच्य सर्वथा [illegible] निरूपण करे। और यह (शब्द) नामों [illegible] [illegible] [illegible] हुआ करते वाच्यार्थस्वरूप होता ही [illegible] इच्छा है, अन्य दशा नहीं। यदि [illegible] [illegible] भी [illegible] है [illegible] वाच्यका यहाँ अर्थ है ऐसा कोई नियम न होनेसे "घट" शब्दसे "पट" [illegible]। [illegible] ज्ञान क्यों न हो! (क्योंकि ऐसा होनेमें इस शंकाका कोई [illegible] नहीं है)।

अथवा गन्धपत्नांतेन शक्ति [illegible] व्याख्यायते। यत्र्चः गन्धपुष्पादिकमेकत्वागवयेन (एकत्वार्थेन) पद्मनेकम् [अनेकधर्मकम्]। मकमर्थः।—[illegible] कथन् [illegible] [illegible] निषिनोति। तथा समानीयपविजातीयपयपकेः [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] पदार्थविदितो पर [illegible]। तेषां च सजाती-यविजातीयानां [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।

अथवा इसी अर्थ शब्दका व्याख्यान दूसरी प्रकारसे करते हैं। गन्ध आदि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ही अनेक [illegible] अर्थात् अनेकरूप है। [illegible] [illegible] (तीनों लिंगों सहित) अभिप्राय है कि [illegible] ([illegible]) [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है। और यह [illegible] सजातीय तथा विजातीय [illegible] [illegible] ([illegible]) [illegible] [illegible] [illegible] है। जैसे [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] करते है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] किया जाता है। यदि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] "घट नहीं है अन्य नहीं" [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible]।

---

[illegible] [illegible] [illegible]।

सर्वभावानां हि भावाभावात्मकं स्वरूपम् । एकान्तभावात्मकत्वे वस्तुनो वैश्वरूप्यं स्यात् । एकान्ताभावात्मकत्वे च निःस्वभावता स्यात् । तस्मात् स्वरूपेण सत्त्वात्पररूपेण चासत्त्वाद्भावाभावात्मकं वस्तु । यदाह " सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च" । अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात् स्वरूपस्याप्यसंभवः " । ततश्चैकस्मिन् घटे सर्वेषां घटव्यतिरिक्तपदार्थानामभावरूपेण वृत्तेरनेकात्मकत्वं घटस्य सूपपादम् । एवं चैकस्मिन्नर्थे ज्ञाते सर्वेषामर्थानां ज्ञानं; सर्वपदार्थपरिच्छेदमन्तरेण तन्निषेधात्मन एकस्य वस्तुनो विविक्ततया परिच्छेदासंभवात् । आगमोप्येवमेव व्यवस्थितः " जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ" । जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ ( संस्कृतच्छाया-य एकं जानाति स सर्वं जानाति । यः सर्वं जानाति स एकं जानाति ) ॥ " तथा- " एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः । सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः" ॥

सभी पदार्थोंका स्वरूप भावाभावात्मक है। यदि किसी पदार्थका स्वरूप सदा भावात्मक ही मानलिया जाय तो वस्तु संपूर्ण जगत्-स्वरूप होजाय । यदि सर्वथा अभावरूप ही माना जाय तो वस्तुका कोई स्वरूप ही न ठहरे । इसलिये निज स्वरूपकी अपेक्षा भावात्मक तथा अन्य रूपकी अपेक्षा अभावात्मक संभव होनेसे वस्तुका पूर्ण स्वरूप भावाभावात्मक ही संभवता है । यही कहा भी है "सभी वस्तु स्वरूपकी अपेक्षा सत्‌रूप हैं तथा अन्य स्वरूपकी अपेक्षा नास्तिरूप है । यदि ऐसा न हो-अर्थात् यदि सर्वथा भावस्वभाव ही माना जाय तो एक वस्तुकी उपस्थितिमें सभी वस्तुओंकी सत्ता (मौजूदगी) उपस्थित होनेलगे तथा (यदि अभावस्वरूप ही माना जाय तो) निज स्वरूपका भी अभाव हो जाय।" इस प्रकार एक घटमें उस घटके अतिरिक्त सभी पदार्थ अभावरूपसे रहनेसे यह सिद्ध हुआ कि एक भी घड़ा अनेकस्वरूप है । ऐसा सिद्ध होनेसे यह भी सिद्ध होता है कि जहां एक पदार्थका ज्ञान हो वहां सभी पदार्थोंका ज्ञान होना चाहिये। यदि ऐसा न हो तो किसी भी इष्ट पदार्थका स्वरूप तो यही है कि अपने सिवाय अन्य सभीका निषेध करै । सो यह स्वरूप बिना अन्य सर्व पदार्थोंके जाने कैसे जाना जासकता है ? आगममें भी यही कहा है " जो एक वस्तु जानलेता है वह सभी जानलेता है । जो सर्व जानता है वही एक भी जानता है ॥" तथा दूसरा प्रमाण-" जिसने एक पदार्थ पूर्णतया देखा है उसने सभी पदार्थ पूर्णतया देखे हैं। जिसने सर्व पदार्थ पूर्णतया देखे हैं एक पदार्थ भी पूर्णतया उसीने देखा है ।



ये तु सौगताः परासत्त्वं नाङ्गीकुर्वते तेषां घटादेः सर्वात्मकत्वप्रसङ्गः । तथा हि । यथा घटस्य स्वरूपादिना

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

यौगमतवाले ऐसा कहते हैं कि अभावको पदार्थसे सर्वथा जुदा माननेसे ही यदि प्रत्येक पदार्थकी जुदाई सिद्ध होती है तो उस पदार्थको ही असत्स्वरूप कल्पना करनेसे क्या प्रयोजन है? परंतु यह कहना सर्वथा दूषित है। क्योंकि; जब प्रत्येक पदार्थका अभाव तो जुदा और पदार्थ जुदा ही है इसलिये कोई भी पदार्थ अपनेसे भिन्न वस्तुओंके अभावरूप तो है ही नहीं तो फिर घड़ा भी वस्त्रादिक अन्य वस्तुरूप हो जाना चाहिये। और जैसे पटाभावसे घट भिन्न है इसलिये घट पटस्वरूप है वैसे वस्त्रादिक भी घटाभावसे भिन्न हैं इसलिये वे भी पटस्वरूप क्यों न हों? भावार्थ—योगमतमें प्रत्येक पदार्थकी सिद्धि उसके अभावसे जुदे होनेकी अपेक्षा मानी है। जैसे घड़ाका अभाव एक जुदा पदार्थ है। वह जहां नहीं होता है वहां ही घड़ा है ऐसा निश्चय यौगमतमें माना गया है। परंतु इसमें दोष इस प्रकार आता है कि वस्त्रादिक पदार्थ भी घड़ाके अभावरूप नहीं है इसलिये वस्त्रादिक भी घड़ाके अभावसे भिन्न होनेसे घड़ारूप क्यों नहीं होजाते हैं? क्योंकि; वस्त्रादिकोंमें ऐसा कोई भी धर्म रोकनेवाला नहीं है जो घड़ारूप होनेसे रोक सके। हमारे यहां तो घटके अतिरिक्त सभी पदार्थोंके अभावस्वरूप उस घड़ाको माना है। इसलिये हमारे यहां तो वह घड़ा जब वस्त्रादिकोंके अभावस्वरूप है तो वस्त्रादिस्वरूप कैसे हो सकता है? क्योंकि; जो जिसके अभावस्वरूप है वह उसके आकारस्वरूप नहीं हो सकता है। इतना खण्डन ही बस है।

एवं वाचकमपि शब्दरूपं द्व्यात्मकम्। एकात्मकमपि सदनेकमित्यर्थः; अर्थोक्तन्यायेन शब्दस्यापि भावाभावात्मकत्वादथ वा एकविषयस्यापि वाचकस्यानेकविषयत्वोपपत्तेः। यथा किल घटशब्दः संकेतवशात् पृथुबुध्नोदराद्याकारवति पदार्थे प्रवर्तते वाचकतया तथा देशकालापेक्षया तद्वशादेव पदार्थान्तरेष्वपि तथा वर्तमानः केन वार्यते? भवन्ति हि वक्तारो योगिनः शरीरं प्रति घट इति; संकेतानां पुरुषेच्छाधीनतयाऽनियतत्वात्। यथा चौरशब्दोऽन्यत्र तस्करे रूढोपि दाक्षिणात्यानामोदने प्रसिद्धः। यथा च कुमारशब्दः पूर्वदेशेऽश्विनमासे रूढः। एवं कर्कटीशब्दादयोपि तत्तद्देशापेक्षया सोन्यादिवाचका ज्ञेयाः।

इसी प्रकार पदार्थके अर्थका कहनेवाला शब्द भी दोनो प्रकार है। अर्थात्—कथंचित् एकस्वरूप है, कथंचित् अनेकस्वरूप है। क्योंकि; जैसे पदार्थ भावाभावात्मक सिद्ध किया है वैसे ही शब्द भी भावाभावात्मक है। अथवा एक विषयका वाचक भी शब्द अनेक विषयका वाचक होसकता है इसलिये भी शब्द भावाभावात्मक है। जैसे एक घड़ा संकेतके वशसे स्थूल तथा लंबे

[illegible] और [illegible] है [illegible] क्योंकि, [illegible] अनेक होते हैं [illegible] अर्थात्–[illegible] अर्थ [illegible] करते हैं। [illegible] होता है, [illegible] होता है। [illegible] अनेक अर्थ होते हैं।

[illegible] उपपद्यमानम् [illegible] इत्यादि। न चैवं [illegible] । [illegible] शब्दार्थप्रतिपादन- [illegible] ।

[illegible] (पृ. [illegible]) [illegible] " [illegible] " शब्दका अर्थ [illegible] " [illegible] " शब्दका अर्थ [illegible] है। [illegible] " [illegible] " शब्दका अर्थ [illegible] होता है। [illegible] है। [illegible] क्योंकि, [illegible] होता है। [illegible] है।

तथा च निर्जितदुर्जेयपरप्रवादाः श्रीदेवसूरिपादाः " स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्दः ।" अत्र शक्तिपदार्थसमर्थनं ग्रन्थान्तरादवसेयम् । अतोऽन्यथेत्यादि उत्तरार्द्धं पूर्ववत् । प्रतिभाप्रसादस्तु तेषां सदसदेकान्ते वाच्यस्य प्रतिनियतार्थविषयत्वे च वाचकस्योक्तयुक्त्या दोषसद्भावाद्व्यवहारानुपपत्तेः । तदयं समुदायार्थः -सामान्यविशेषात्मकस्य भावाभावात्मकस्य च वस्तुनः सामान्यविशेषात्मको भावाभावात्मकश्च ध्वनिर्वाचक इति। अन्यथा प्रकारान्तरैः पुनर्वाच्यवाचकभावव्यवस्थामातिष्ठमानानां वादिनां प्रतिभैव प्रमाद्यति न तु तद्भणितयो युक्तिस्पर्शमात्रमपि सहन्ते ।

ऐसा ही बड़े बड़े दुर्जेय परवादियोंको जीतनेवाले श्रीदेवसूरि आचार्यने कहा है "स्वभावसे ही उत्पन्न हुई सामर्थ्य तथा संकेतके वश होकर शब्द अर्थका बोध कराता है अर्थात् अर्थबोधका कारण है । शब्दमें सामर्थ्य किस प्रकारकी तथा कौन कौनसी होती है इस विषयका प्रतिपादन अन्य ग्रन्थोंसे समझ लेना चाहिये । इस प्रकार पहिले आधे श्लोकका यह अर्थ है । अतोऽन्यथा इत्यादि उत्तरार्द्धका अर्थ तो पहिले ही कहचुके हैं । पदार्थको सर्वथा सत्स्वरूप अथवा असत्स्वरूप माननेमें तथा शब्दको अपना अपना निश्चित अर्थ बतानेमें वादियोंका कहना अनेक प्रकार दूषित होनेसे कार्यकारी नहीं है इस बातको प्रथम ही लिखचुके हैं इसलिये उन वादियोंकी बुद्धि उन्मादरहित समझनी चाहिये । इस संपूर्ण कारिकाका संक्षेपसे अर्थ इस प्रकार है कि सामान्यविशेषस्वरूप तथा भावअभावस्वरूप शब्द ही सामान्यविशेषस्वरूप तथा भावअभावस्वरूप वस्तुका वाचक हो सकता है । जो वादी ऐसा न मानकर दूसरे प्रकारसे ही शब्दार्थमें वाच्यवाचकपनेकी व्यवस्था ठहराते हैं उनका कहना किंचित् भी युक्तिपूर्वक नहीं है किंतु उनकी बुद्धि ही प्रमादको प्राप्त होरही है जो पूरा विचार नहीं करसकते हैं ।

कानि तानि वाच्यवाचकभावप्रकारान्तराणि परवादिनामिति चेदेते ब्रूमः । अपोह एव शब्दार्थ इत्येके "अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां न वस्तुविधिनोच्यते" इति वचनात् । अपरे सामान्यमात्रमेव शब्दानां गोचरः, तस्य क्वचित्प्रतिपत्तौ तस्यैकरूपतया सर्वत्र संकेतविषयतोपपत्तेः, न पुनर्विशेषाः, तेषामानन्त्यतः कात्स्न्येनोपलब्धुमशक्यतया तद्विषयतानुपपत्तेः । विधिवादिनस्तु विधिरेव वाक्यार्थोऽप्रवृत्तप्रवर्तनस्वभावत्वात्तस्येत्याचक्षते । विधिरपि तत्तद्वादिविप्रतिपत्त्याऽनेकप्रकारः । तथा हि । वाक्यरूपः शब्द एव प्रवर्तकत्वाद्विधिरित्येके । तद्व्यापादो भावनाऽपरपर्यायो

[illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । एवं [illegible] [illegible] [illegible] । इति काव्यार्थः ।

[illegible] कहते हैं [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । न्यायकुमुदचन्द्रनामक ग्रन्थमें इस मतका [illegible] किया है सो वहाँसे जानना चाहिये । इस प्रकार [illegible] श्लोकका अर्थ पूर्ण हुआ ।

इदानीं सांख्याभिमतप्रकृतिपुरुषादितत्त्वानां विरोधावरुद्धत्वं [illegible] [illegible] ।

अब जो सांख्यमतवाले प्रकृति पुरुष आदि तत्त्व मानते हैं उनमें परस्पर विरोध दिखलाते हुए यह भी दिखाते हैं कि उनकी [illegible] कितनी [illegible] है ।

चिदर्थशून्या च जडा च बुद्धिः शब्दादितन्मात्रजमम्बरादि ।
न बन्धमोक्षौ पुरुषस्य चेति कियज्जडैर्न ग्रथितं विरोधि ॥ १५ ॥

गूढार्थ—चेतना तो पदार्थको स्वयं जानती नहीं है तथा बुद्धि स्वयं अड़स्वरूप है। आकाश शब्दसे उत्पन्न है। गन्धसे पृथिवी उत्पन्न है। रससे जल, रूपसे अग्नि तथा स्पर्शसे वायु उत्पन्न है। जीव न बँधता है और न मुक्त होता है। इस प्रकार मूर्खोंने विरोधसे भरा हुआ क्या क्या नहीं लिखा है।

व्याख्या—चित्–चेतनशक्तिरात्मस्वरूपभूता, अर्थशून्या–विषयपरिच्छेदविरहिता; अर्थाध्यवसायस्य बुद्धिव्यापारत्वादित्येका कल्पना। बुद्धिश्च महत्तत्त्वाख्या जडा–अनवबोधस्वरूपा इति द्वितीया। अम्बरादि–व्योमप्रभृति भूतपञ्चकं शब्दादितन्मात्रजं, शब्दादीनि यानि पञ्च तन्मात्राणि सूक्ष्मसंज्ञानि तेभ्यो जातमुत्पन्नं शब्दादितन्मात्रजमिति तृतीया। अत्र "च" शब्दो गम्यः। पुरुषस्य च प्रकृतिविकृत्यात्मकस्यात्मनो न बन्धमोक्षौ; किंतु प्रकृतेरेव। तथा च कापिलाः "तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित्। संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः।" तत्र बन्धः प्राकृतिकादिः। मोक्षः पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानपूर्वकोऽपवर्गः। इति चतुर्थी। इति शब्दस्य प्रकारार्थत्वादेवं प्रकारमन्यदपि विरोधीति विरुद्धं पूर्वापरविरोधादिदोषाघ्रातं जडैः–मूर्खैस्तत्त्वावबोधविधुरधीभिः कापिलैः कियन्न ग्रथितं–कियन्न स्वशास्त्रेषूपनिबद्धम्! कियदित्यसूयागर्भः; तत्प्ररूपितविरुद्धार्थानामानन्त्येनेयत्तानवधारणात्। इति संक्षेपार्थः।

व्याख्यार्थ—" चित् " अर्थात् आत्मस्वरूपमय चेतनशक्ति " अर्थशून्या " अर्थात् किसी पदार्थको जान नहीं सकती है। क्योंकि; पदार्थका जो निश्चय होता है वह बुद्धिके संबन्धसे होता है। यह प्रथम कल्पना है। महत्तत्त्व है नाम जिसका ऐसी जो "बुद्धिः" बुद्धि है वह स्वयं "जडा" जडस्वरूप है अर्थात् स्वयं ज्ञानरूप नहीं है; चेतनाका जाननेमें केवल सहाय करती है। यह द्वितीय कल्पना है। " अम्बरादि " आकाश आदिक पांच भूततत्त्व " शब्दादितन्मात्रजम् " अर्थात् सूक्ष्मभूतरूप शब्दादि पांच तन्मात्राओंसे जात नाम उत्पन्न हैं। यह तीसरी कल्पना है। इस श्लोकके वाक्यमें " और " इस अर्थका वाचक एक " च " शब्द ऊपरसे लगाकर अर्थ करना चाहिये। और " पुरुषस्य " अर्थात् जो प्रकृति तथा विकृतिमय पदार्थोंसे

१ इसके लगानेसे अन्वयका संबन्ध ठीक होता है। अर्थात् " और आकाशादिक पांच भूततत्त्व शब्दादि पांच तन्मात्राओंसे उत्पन्न हैं " यह अर्थ संबंधसहित होसकता है। च शब्द यदि न लगाया जाय तो " और " देश दो वाक्योंको जोड़ना कैसे बनसकेगा ?

पित है वो चलाता "न हत्यबोद्धो" न वध है और न बोध । किंतु जिसका वध होता है वह तत्व वस्तुतः ही है। गोम्मटसार के कर्मकांड अधिकार के अनुसार भी ऐसा ही कहा है "इसलिये न तो कोई जीव वैसा है, न मुक्ता है और न मुक्तारे योग्य काल है। जो बंधित्वा करता है, मुक्तारे योग्य होता है वह चलेदोना आवश्यक नहीं है"। यहां कर्म शास्त्रीय भाव समझना चाहिये। और इसको अधिक स्पष्ट करने के लिये अन्य ग्रंथों से भी स्पष्ट खुलासा लेना चाहिये। यह भी ध्यान रखना चाहिये। लोकमें "बुद्धि" शब्द जो कहा है उसका अर्थ भी अनेक दार्शनिकों के भिन्नभिन्न होता है। इसलिये यह समझना चाहिये कि इस प्रकरणकी भाषा में "विवेकिनि" अर्थात् शास्त्र जिसे ऐसी समझ हो "उसे" मुक्तिका "क्षिप्रत्व अर्थात् न मिलने जितना नहीं दूसरे है" अर्थात् अवश्य प्राप्त होता है। यहां अन्य ग्रंथकारोंके बोलने लिखने जैसे कालिमयमुक्तानी ही "जन" शब्दका अर्थ है। इस कालिमयमुक्तानोंने अपने ग्रंथादि भाषा प्रकरणों अनेक जगह की है। "क्षिप्रं" शब्द भी कोलने कहा है उसमें लिखता सूचित होता है। "न चिरम्" शब्दका अर्थ अधिकांश बहुतसी है। उसके पहले कुछ काल बीतने अर्थ भी आता है इसलिये इस शब्दसे लिखित संख्या न लिखकर "चिरम्" शब्द कहा है। इसका यह अर्थ समझना चाहिये।

ज्ञानावर्णकल्पम्। यस्मिन्सति जीवः सामान्यविशेषयोः पुरुषस्य ज्ञानगानहेतुत्वावरणनिशामा प्रवर्तते। मतिज्ञानविकल्पमाश्रित्यैकविकल्पादिकं चेति बहुविधम्। श्रुतज्ञानाश्रित्य द्विविधं चतुर्दशं। अवधिं। मनःपर्ययज्ञानं द्विविधं ऋजुविपुलमतिभेदात्। केवलं च। ज्ञानावरणं पञ्चविधं ज्ञानावरणीयं। यस्य प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायोपघातैस्तत्प्रदोषादिकं तुल्यम्। यस्योदयात्तिरोध्यं बुद्धौ द्विधा आभिनिबोधिकमतिविकल्पं चेति। तत्रावग्रहेहावायधारणाभेदाच्चतुर्विधं। बहुबहुविधक्षिप्रानिश्रितासंदिग्धध्रुवाणां सेतराणां। यथाक्रमं बहुबहुविधक्षिप्रानिश्रितासंदिग्धध्रुवाणां सेतराणां। अर्थस्य व्यञ्जनस्य चावग्रहादयो भवन्ति न व्यञ्जनस्य। न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्। श्रुतं द्विविधं अनक्षरं साक्षरं च। अनक्षरं श्वासनिःश्वासकासक्षवथुपूतिकादिभ्यो हेतुभ्यः। अनेन भूयस्कारेण स्वल्पविषयावग्रहेण बहुविधविषयो बहुविधविषयोऽवग्रहः प्रतिकूलतया प्रतिपक्षभूतोऽवग्रहः।

अब ज्ञानके भेद विस्तारसे लिखते हैं। जीव पदार्थ दुःखोंसे दुःखित हुआ जीव इन दुःखोंसे नष्ट करनेकी इच्छासे ज्ञानके उपायका स्वरूपको जानता है। आत्मविषय, अनिंद्रियविषय तथा मतिज्ञानविषय ऐसे तीन प्रकारके दुःख हैं। इनमेंसे आत्मविषय दुःख दोषरूप है, शरीरके आश्रयसे होता, जिस प्रकारके जिन्होंने : जिस प्रकारमें :

होते हैं। और मानसिक दुःख काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्याके उत्पन्न होनेसे तथा विषयभोगोंके न मिलनेसे होते हैं। ये सर्व दुःख अंतरंग कारणरूप मनके चिन्तवनमात्रसे होते हैं इसलिये इनको आध्यात्मिक दुःख कहते हैं। बाह्य कारणोंकी सहायतासे उत्पन्न होनेवाले दुःख दोप्रकार हैं पहिले आधिभौतिक तथा दूसरे आधिदैविक। इनमेंसे आधिभौतिक तो वे दुःख हैं जिनकी उत्पत्ति मनुष्य, पशु, पक्षियोंसे तथा स्थावर पदार्थोंसे हो। आधिदैविक वे हैं जो यक्ष, राक्षस, गन्धर्व देवता आदिकोंके कोपादिकसे उत्पन्न हों। ये तीनो प्रकारके दुःख बुद्धिमें रजोधर्मसे उत्पन्न होते हैं। जब इन दुःखोंका चेतना शक्तिके साथ अनिच्छितरूपसे संबंध होता है तब चेतना शक्तिका अभिघात माना जाता है।

**तत्त्वानि पञ्चविंशतिः। तद्यथा। अव्यक्तमेकम्। महदहङ्कारपञ्चतन्मात्रैकादशेन्द्रियपञ्चमहाभूतभेदात् त्रयोविंशतिविधं व्यक्तम्। पुरुषश्च चिद्रूप इति। तथा चेश्वरकृष्णः "मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः"॥ प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकानां लाघवोपष्टम्भगौरवधर्माणां परस्परोपकारिणां त्रयाणां गुणानां सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। प्रधानमव्यक्तमित्यनर्थान्तरम्। तच्चानादिमध्यान्तमनन्तयवं साधारणमशब्दमस्पर्शमरूपमगन्धमव्ययम्। प्रधानाद्बुद्धिर्महदित्यपरपर्यायोत्पद्यते। योऽयमध्यवसायो गवादिषु प्रतिपत्तिरेवमेतन्नान्यथा, गौरेवायं नाश्वः, स्थाणुरेष नायं पुरुष इत्येषा बुद्धिः। तस्यास्त्वष्टौ रूपाणि। धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यरूपाणि चत्वारि सात्त्विकानि। अधर्मादीनि तु तत्प्रतिपक्षभूतानि चत्वारि तामसानि।**

तत्त्व पचीस हैं। इनमेंसे एक तो अव्यक्तनामक है। दूसरा महान्, तीसरा अहंकार, पांच तन्मात्रा, ग्यारह इन्द्रिय, पांच महाभूत ( पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश ) ये तेईस व्यक्तरूप हैं। पचीसवां चेतनालक्षणरूप पुरुष है। ईश्वरकृष्णनामक एक अन्यकारने भी कहा है " सबका मूल कारण प्रकृति है और वह स्वयं किसीका विकाररूप अर्थात् किसीसे उत्पन्न हुई नहीं है। महदादिक सात तत्त्व प्रकृतिसे उत्पन्न हुए प्रकृतिके विकाररूप हैं। ग्यारह इन्द्रिय तथा पांच महाभूत ये सोलह तत्त्व विकाररूप ही हैं। पचीसवां पुरुषतत्त्व न तो प्रकृति ही है और न विकृतिरूप "॥ सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुणकी साम्यरूप ( अनेक विकारोंसे रहित ) अवस्थाका नाम प्रकृति है। जब इनमें विकार होता है तब सत्त्वगुण तो प्रीतिरूप होता है, रजोगुण अप्रीतिरूप होता है और तमोगुण विषादमय होता है। सत्त्वगुणमें लाघवरूप तथा रजोगुणमें उपष्टम्भरूप तथा

[illegible] है। [illegible] हैं। [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

कान, नाक, जिह्वा, स्पर्शन ये पांच तो ज्ञानेन्द्रिय हैं। वचन, हाथ, पाँव, गुदा (विष्टा निकलनेका द्वार) और लिङ्ग (मूतनेका द्वार) ये पांच कर्मेन्द्रिय हैं। ग्यारहवां मन इंद्रिय है।

पञ्चतन्मात्रेभ्यश्च पञ्च महाभूतानि उत्पद्यन्ते। शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दगुणम्। शब्दतन्मात्रसहितात् स्पर्शतन्मात्राद्वायुः शब्दस्पर्शगुणः। शब्दस्पर्शतन्मात्रसहिताद्रूपतन्मात्रात्तेजः शब्दस्पर्शरूपगुणम्। शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहिताद्रसतन्मात्रादापः शब्दस्पर्शरूपरसगुणाः। शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहिताद्गन्धतन्मात्रात् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथिवी जायते इति। पुरुषस्त्वमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियोऽकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कपिलदर्शने इति।

पांच तन्मात्राओंसे पांच महाभूत उपजते हैं। शब्दतन्मात्रासे शब्दगुणवाला आकाश उपजता है। शब्द स्पर्श तन्मात्राओंसे मिलकर शब्द तथा स्पर्शगुणवाला वायु उपजता है। शब्द, स्पर्श, रूप इन तीन तन्मात्राओंसे मिलकर शब्द, स्पर्श, रूप गुणवाला अग्नितत्त्व उत्पन्न होता है। जिसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस ये चार गुण पाये जाते हैं ऐसा जलतत्त्व शब्द, स्पर्श, रूप, रस इन चार तन्मात्राओंसे मिलकर उत्पन्न होता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन पांच गुणोंवाली पृथिवी शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन पांच तन्मात्राओंसे मिलकर उत्पन्न होती है। पचीसवां पुरुषतत्त्व अमूर्तिक है; चेतना गुण सहित है; सुख दुःखोंका भोगनेवाला है; नित्य (अविनाशी) है; सर्वगत है; क्रियारहित है; बुरे भले कर्मोंका कर्ता स्वयं नहीं है; स्वयं निर्गुण है; सूक्ष्म है तथा आत्मास्वरूप है। कपिल(सांख्य)दर्शनमें ऐसा पचीस तत्त्वोंका स्वरूप निरूपण किया है।



अन्धपङ्गुवत् प्रकृतिपुरुषयोः संयोगः। चिच्छक्तिश्च विषयपरिच्छेदशून्या; यत इन्द्रियद्वारेण सुखदुःखादयो विषया बुद्धौ प्रतिसंक्रामन्ति। बुद्धिश्चोभयमुखदर्पणाकारा। ततस्तस्यां चैतन्यशक्तिः प्रतिबिम्बते। ततः सुख्यहं दुःख्यहमित्युपचारः। आत्मा हि स्वं बुद्धेरव्यतिरिक्तमभिमन्यते। आह च पतञ्जलिः "शुद्धोपि पुरुषः प्रत्ययं बोद्धमनुपश्यति। तमनुपश्यन्नतदात्मापि तदात्मक इव प्रतिभासते" इति। मुख्यतस्तु बुद्धेरेव विषयपरिच्छेदः। तथा च वाचस्पतिः "सर्वो व्यवहर्ता आलोच्य नन्वहमत्राधिकृत इत्यभिमत्य कर्तव्यमेतन्मयेत्यध्यवस्यति। ततश्च प्रवर्तते इति लोकतः सिद्धम्। तत्र कर्तव्यमिति योयं निश्चयश्चितिसन्निधानापन्नचैतन्याया बुद्धेः सोध्यवसायो बुद्धेरसाधारणो व्यापार" इति।

श्रो और दंडे ( डण्डे ) के समान दीखने और प्रतिमा कहलाते हैं। शैवसम्प्रदाय अर्थ विस्तार नहीं कर सकते। क्योंकि, शास्त्र प्रतिमा किस प्रकार बनानी चाहिये यह विधान करते हैं। अर्थात् दृष्टिके समान एकांगी स्वरूप प्रतिमा पूजनेके अधिकारी होने हैं। दृष्टिको लाकर गोली की भांति ( गोल आकृति ) बनाने हैं। अर्थात् इसके एकांगी स्वरूप सिद्ध है। इसलिये उक्त युक्तिसे जैनसम्प्रदाय अविरोधिक होती है ( दीखती है )। शैवसम्प्रदायकी पुस्तकों शैवसिद्धान्त एकदेशी होनेसे परिणामसे पूर्ण पुरुषरूप कि विशेषरूप अर्थ धारण होने लगा है कि, पुरुषके आदिम चेहरेको बाजारे हैं। यह भी होनेसे की पुजारी ( पूजक ) वर्गको एकदेशी दृष्टि रखने वाला है और अपने बुद्धिको अधिक प्रकाशक है। पाठकों लिखे की बात है कि "पूर्ण स्वरूप अर्थ से शुद्ध है परंतु बुद्धिमंद अधिकारियों को समझाने के लिए केवल है : यदि एकदेशी अंगोंसे लिंग है तो भी उसको देखना पूजा करनेवाले लोगों को अधिक लाभदायक है।" अर्थात् तो यह आर्य दृष्टिकोण दी है। फलतः लिंगे भी यही कहा है "योगिनो योगिनी सर्वदेवताओं सभी मनुष्य लिंगाकृतिक यह मानने वाले हैं कि लिंग पूजा करनेवाला है; और वेदा स्वरूपका ही ध्येय लिंग भी बनाते हैं कि यह इसके पूजा करनी चाहिये। लिंग। इसके अलावा प्रमाणों नहीं है। यह परिहारी कोटिके अनुसरने लिए है"। फलतः "पूजा करनी चाहिये" ऐसा जो पुष्टिक विधान है वह लिंगार पुष्टिक पूजा प्रधान है। अर्थात् "ऐसा" यह लिंगार पूजनेवाले ही होता है, अन्यको नहीं। क्यों पूजा चाहिये वेदा तो पुष्टिक लिंग है यह होना सभी है जब वैशेषिक प्रतिमा पुष्टिके पक्ष में। और उसके अलावा वैशेषिक प्रतिमाहीना संभव होनेसे पुष्टिके विरुद्धपक्षिक भग होने लगता है :

विरुद्धविशेषलिंगानाशापेक्षत्वादि पुष्टिधेक्षणाकांक्षाभिधानाद्यर्थे । वाक्यशब्दार्थबोधात् ' पुष्टिर्दृष्टिनलक्ष्यान्तर्यत्रदृष्टि-लिंगाकृतिर्दिव्यरूपैकदेशदर्शनेन पूर्णपरब्रह्मबोधिनी । एवंच गोपुरुषत्वस्य च स्वरूपगते विषयतावच्छिन्न इति । तथा चाहुः। "दृष्टिर्दृष्टेरेकदेशगामी पुंसो भोगोक्ष फलत्वतः । अतोऽखिलोदयः स्वरूपो यदा चन्द्रमसोरूपमिति । २ ।" विरुद्धपक्षमी तथैव भोगमापटे "पुरुषोऽयमिति दृष्टान्तो व्यक्तिर्भोक्तृत्वसंस्थितः । यस्मात् फलमेतेषां दृष्टिर्व्याप्तानि स्मृतेर्यथा । १ ।"

कुछ तर्क कोशल होता भी जैनसम्प्रदायिक्ष लेखन होनेसे वेदों जान पड़ती है जैसे वैशेषिकाधिकरण में ही : शास्त्रार्थकर्ता भी इस विषयों ऐसा कहा है कि "दर्शनके अलावा इस पुष्टिके सर्व प्रतिमाविशेष होता हुआ आपकर्मके दूसरे कर्मके प्रतिमाविशेष

होने लगता है। अर्थात् जो प्रतिबिम्ब बुद्धिमें पड़ता है उस प्रतिबिम्बका प्रतिबिंब पीछेसे पुरुषरूपी दर्पणमें पड़ने लगता है। इस बुद्धिके प्रतिबिंबका पुरुषमें झलकना ही पुरुषका भोग है; इसीसे पुरुष भोक्ता कहाता है। अन्य कुछ भी भोगरूप विकार पुरुषमें नहीं होता है"। यही आसुरिने कहा है कि "बुद्धिमें भिन्न रहनेवाले पदार्थोंका प्रतिबिंब पड़नेपर आत्मामें भोक्तापना कहा जाता है। दर्पणके समान निर्मल पुरुषमें यह भोग केवल प्रतिबिंब पड़नेमात्र है। जैसे निर्मल जलमें पड़ा हुआ चन्द्रमाका प्रतिबिंब जलका ही विकार समझा जाता है"। इस भोगके विषयमें विंध्यवासीनामक अन्यकार ऐसा कहता है कि "यह आत्मा स्वयं अधिकारी होते हुए भी समीपमें रहनेवाले अचेतन मनको अपने समान चेतन बना देता है जैसे समीपमें लगाया हुआ रंग सफेद स्फटिकको रंगीनसा बना देता है (यह विकार यद्यपि निजी नहीं है तो भी जो निजीसा मालुम पड़ता है यही आत्माका भोग है)।"

**न च वक्तव्यं पुरुषश्चेदगुणोऽपरिणामी; कथमस्य मोक्षः? मुचेर्बन्धनविश्लेषार्थत्वात् सवासनक्लेशकर्माशयानां च बन्धनसमाम्नातानां पुरुषेऽपरिणामिन्यसंभवात्। अत एव नास्य प्रेत्यभावापरनामा संसारोस्ति; निष्क्रियत्वादिति। यतः प्रकृतिरेव नानापुरुषाश्रया सती बध्यते संसरति मुच्यते च न पुरुष इति बन्धमोक्षसंसाराः पुरुषे उपचर्यन्ते। यथा जयपराजयौ भृत्यगतावपि स्वामिन्युपचर्येते तत्फलस्य कोशलाभादेः स्वामिनि संबन्धात् तथा भोगापवर्गयोः प्रकृतिगतयोरपि विवेकाग्रहात् पुरुषे संबन्ध इति।**

"यदि पुरुष स्वयं निर्गुण तथा निर्विकार (अपरिणामी) है तो इसका मोक्ष कैसे? क्योंकि मुच् धातुका अर्थ बंधनका छूटना है (इसी धातुसे मोक्ष शब्द बनता है)। और आत्मामें जब वासना क्लेश कर्मोंके संबंधसे होनेवाले नानाप्रकारके बंधन ही संभव नहीं हैं तो मोक्ष किसका? इसीलिये जिसका दूसरा नाम प्रेत्यभाव या परलोक है ऐसा जो संसार वह भी इस आत्माका नहीं है। क्योंकि; संसार नाम परिभ्रमणका है सो क्रियारहित इस आत्मामें परिभ्रमण कैसे हो सकता है?" यह शंका नहीं हो सकती है। क्योंकि; प्रकृति ही नानापुरुषोंके आश्रय रहकर बंधती है और फिर संसारमें परिभ्रमण करती है और फिर वह प्रकृति ही श्रम दूर होनेपर मुक्त होती है; न कि पुरुष। परंतु प्रकृतिकी बंधन, संसार तथा मोक्षरूप अवस्था आत्मासे संबंध रहनेके कारण आत्मामें आरोपित की जाती हैं। जैसे जय अथवा पराजय सेनाका होता है परंतु वह जय, पराजय उस सेनाके स्वामीका समझा जाता है। क्योंकि; राजानेआदिकका जय होनेपर लाभ अथवा पराजय होनेपर हानि इत्यादि जयपराजयका हानि-

नाम किया है। परंतु यह क्रिया मानना सांख्यमतके विरुद्ध है। क्योंकि; सांख्यमती प्रकृतिको निष्क्रिय मानता है। और जो स्फटिकादिकका दृष्टान्त भी इस विषयमें लिखा कि जैसे स्फटिक स्वयं क्रियारहित होनेपर भी लाल पुष्पादिक उपाधिका संबंध होनेसे स्फटिकमें रंग अपूर्व दीखता है परंतु वह यह दृष्टान्त भी ठीक नहीं क्योंकि; स्फटिकादिकमें लालपुष्पादिकका प्रतिबिंब तभी पड़सकता है जब थोड़ी बहुत क्रिया मानी जाय। यदि पर्यायपलटनके विना भी स्फटिकादिमें प्रतिबिंब पड़ता हो तो प्रत्येक साधारण पत्थरोंमें भी क्यों न पड़े? और कोई दूसरा उत्तर न होनेसे ऐसी क्रिया यदि चेतनामें मान ही लीजाय तो न चाहते हुए भी चेतनाशक्तिमें कर्तापना तथा भोक्तापना आ उपस्थित होता है।

**अथापरिणामिनी भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुभवतीति पतञ्जलिवचनादौपचारिक एवायं प्रतिसंक्रम इति चेत्तर्हि "उपचारस्तत्त्वचिन्तायामनुपयोगी" इति प्रेक्षावतामनुपादेय एवायम्। तथा च प्रतिप्राणि प्रतीतं सुखदुःखादिसंवेदनं निराश्रयमेव स्यात्। न चेदं बुद्धेरुपपन्नं; तस्या जडत्वेनाभ्युपगमात्। अत एव "जडा च बुद्धिः" इत्यपि विरुद्धम्। न हि जडस्वरूपायां बुद्धौ विषयाध्यवसायः साध्यमानः साधीयस्तां दधाति।**

सांख्यमती कहता है कि "भोक्ता जो पुरुष उसकी चेतना शक्तिमें न तो परिणमन (पलटन) होता है और न विषयकी तरफ संक्रमण (गमन)। वह चेतना केवल विषयके परिणमनका तथा बुद्धिके प्रति संक्रमण होनेका अनुभव करती है" ऐसा पतंजलिने कहा है। इस पतंजलिके वचनसे चेतनाका संक्रमण केवल उपचारसे ही सिद्ध होसकता है। यह सांख्यमतीका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि; यदि इस चेतनाके परिवर्तनका होना उपचारसे ही माना जाय तो "यथार्थ तत्त्वोंके निर्णयमें उपचारसे वस्तुका स्वरूप मानना निष्प्रयोजन है (इसलिये न मानना चाहिये)" इस वचनके अनुसार यह उपचारसे माना हुआ चेतनाका परिवर्तन बुद्धिमानोंको मान्य न होगा। और जब यह मानना झूठा ठहरा तो प्रत्येक प्राणीमें होनेवाला सुखदुःखका ज्ञान भी निराधार ही हुआ समझना चाहिये। कदाचित् कहो कि सुखदुःखका ज्ञान तो बुद्धिमें उपज सकता है परंतु यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि; बुद्धि तो सांख्यमतीने जड़ मानी है। इन अनेक दोषोंके कारण ही बुद्धिको जड़ मानना भी विरुद्ध प्रतीत होता है। क्योंकि; बुद्धि भी यदि जड़रूप मानी जाय तो उसमें विषयोंका निश्चय होना सिद्ध न होसकेगा।

नवयुवकसंघनवाले बुद्धिविशेषकिसलिएदायेहनावनीवापाखसरे हरि। मसयमुलक्ष्य। कणुगा सूक्ष्मम्। न हि पिहल्वादसि गुरुवादो प्रतिपक्षकाले परेणाल्य चैवम्भावविरो। चैवम्भावेनस्भावोवपरोपदिशभावपरेच सर्वेणाकल्पका-र्यगुरुसवपावात्। हि एवंवेनवाणि चैवनावस्तोव मतिभारते हुते पुरुषस्वंदनरोगो गम्यते। न वादोषोर्यकिलाना-र्थो। न स्वाचलिकोत्पत्तिदिना सणारोपिनाभिनो पक्षक्षकः कहतर्पिदवि गुरुप्रापिमाप्त दाहमाफलसर्वेकिंगं फलोपिभक्त। इति विरुद्धपंवेव लिंगाप्रवपवनाथो एवते। न ऋहकुरुपा चुरुहेतिहि। अत पव सर्वाधदक्षालापि सत्या पाक्षत्वपेव पणोदिनाक्षमधर्मत्वात्। अत पव पाचकुलपे न पुरिहितस्यो गुरुदरे। तस्माभिस्यनाप्रसक्षपेनत-त्सपर्मस्वाचेनानुरागापोगत्। अन्यथापीणां च पक्षक्षदेवतन्मात्रसत्वं प्रतीतिपराहतावेवेव सिद्धिलोपप्रप्त्।

उत्तर।—यह जो एक वचन ही कहा जाता है कि "बुद्धि अच्छेद्य है" तो भी पैलवके साथ होनेसे पैलवाविशिष्टकी जाती है।" उत्तर।— यह बात जानने योग्य तो अवश्य है परंतु यह प्रश्न अनुचित है। पैलसंयुक्तके संयोगित पदार्थ एवंभूत केवल नहीं हो सकता है। जो पैलवान अच्छा अच्छेद्य है वह होगा ही होगा। पैलवाले तक अच्छेद्यताका कथन असंगति भय। अधिकारी है। इस प्रकरणका तात्पर्य पैलवाले सिवा पदार्थ अच्छेद्य अभेद्यत्वको पैलवान कह देना। इसीसे सा-धारणे भी अनुभव है। और भी एक बात ध्यान रहे कि "अनेकवस्तु बुद्धि पैलवाविशिष्टकी संख्याजाती है" इस वाक्यमें संख्याशब्दकी जैसे गुणवाचकोंसे समता। गौण है परंतु जो जो पदार्थ अपनेसे भारी होता है वह वह पदार्थ अनिर्दिष्ट भारी हुए बस्तुसे नहीं कर सकता है। इसीलिये कालनामादिके भावनेमें तो अपीवन्त अवा। किसी वातमें अन्यत्र लोगादि देखकर उसका भारी अर्थात् बड़ा हो तब तैल चाम ले भी वह उसके एवंभूते कोई जब सकता है। जो अवश्य पक्षवाचादि अर्थ मुख्य वाक्यसे हो सकते हैं वे स्वतं नामाख्यसे नहीं हो सकते हैं। इसी कारण जो आप चैत्रना धनिक लिखोंका कल होगी बोल है वह कथा मैत्राके यह चैत्रना ऐसी अकली नामाधिकी धारण करनेवाली बुद्धिसे हो सकता है। कदापि नहीं। इसी प्रकार बुद्धिके पार्थिव आदि चैत्र मानना भी उचित नहीं है। क्योंकि, पार्थिव तो है तो अवश्यके ही उपयुक्त है। इसी प्रकार आकाशका भी मनोवृत्ति बुद्धिमें अवश्य होना असंगत है। क्योंकि, सर्वविषयका जब आकाश है और वह अस्तित्व सत्ता आकाश पैलवाले सिवा हुआ है इसलिये पैलवान अच्छेद्य ही अवश्य हो सकता है। पैलवान अच्छेद्यकी

उत्पत्ति जड़ वस्तुसे होना संभव नही है। आकाशादिकका शब्दादिक पांच तन्मात्राओंसे उत्पन्न होना तो सर्वथा ही प्रतीतिबाधित है। इसलिये इसका अधिक विचार क्या लिखें?



अपि च सर्ववादिभिस्तावदविगानेन गगनस्य नित्यत्वमङ्गीक्रियते। अयं च शब्दतन्मात्रात्तस्याप्याविर्भावमुद्भावयन्नित्यैकान्तवादिनां च पुरि आसनं न्यासयन्नसंगतप्रलापीव प्रतिभाति। न च परिणामिकारणं स्वकार्यस्य गुणो भवितुमर्हतीति शब्दगुणमाकाशमित्यादि वाङ्मात्रम्। वागादीनां चेन्द्रियत्वमेव न युज्यते इतरासाध्यकार्यकारित्वाभावात्; परप्रतिपादनग्रहणविहरणमलोत्सर्गादिकार्याणामितरावयवैरपि साध्यत्वोपलब्धेः। तथापि तत्कल्पने इन्द्रियसंख्या न व्यवतिष्ठते अन्याङ्गोपाङ्गादीनामपीन्द्रियत्वप्रसङ्गात्।

और भी दूसरा दोष यह है कि सर्व वादियोंने आकाशको निर्विवाद नित्य माना है और यह (सांख्यमती) शब्दतन्मात्रासे उसकी उत्पत्ति भी मानता हुआ सर्वथा नित्यमाननेवालोंमें सबके आगे अपना आसन जमाता है। ऐसा भी सांख्य क्या असंगत भाषी नही है? और भी तीसरा दोष यह है कि जो किसी वस्तुका पर्याय पलटानेमें कारण होता है वही स्वयं उस पलटे हुए पर्यायका गुण नही हो सकता है। इसलिये आकाशको शब्दसे ही उत्पन्न कहकर शब्दगुणवाला मानना तथा ऐसे ही और भी कथन कहनेमात्र ही हैं। वचन, हाथ, पैर, गुदा तथा लिंगको (पुरुषचिह्नको) इन्द्रिय मानना भी सर्वथा अयोग्य है। क्योंकि; इंद्रिय वही होसकता है जिसके द्वारा ऐसा कार्य हो जो अन्यसे न होसके। वचनसे दूसरोंको समझाना, हाथसे किसी वस्तुको उठाना, पैरोंसे चलना, गुदाके द्वारा विष्टाका त्यागना तथा पुरुषचिह्नसे मूतना इत्यादि कार्य जो वचनादि इंद्रियोंसे किये जाते है वे तो अन्य प्रकार भी किये जा सकते हैं। यदि तो भी इनको इंद्रिय माना जाय तो इंद्रिय ग्यारह ही हैं ऐसा नियम ही न होसकै। क्योंकि; ऐसे और भी बहुतसे शरीरके अवयव है जो हाथ पैर आदिके समान इंद्रिय मानेजासकते है।

यच्चोक्तं "नानाश्रयायाः प्रकृतेरेव बन्धमोक्षौ संसारश्च; न पुरुषस्य" इति तदप्यसारम्; अनादिभवपरम्परानुबद्धया प्रकृत्या सह यः पुरुषस्य विवेकाऽग्रहणलक्षणोऽविष्वग्भावः स एव चेन्न बन्धस्तदा को नामान्यो बन्धः स्यात्? प्रकृतिः सर्वोत्पत्तिमतां निमित्तमिति च प्रतिपद्यमानेनायुष्मता संज्ञान्तरेण कर्मैव प्रतिपन्नं; तस्यैवंस्वरूपत्वादचेतनत्वाच्च।

और जो यह कहा कि, "अनेक पुरुषोंके साथ एकांतकी स्त्रीका विश्वास होता है, इसलिये नहीं" यह भी असत्य है। क्योंकि, लक्षणिकवादमें संतानपरंपरारूपसे स्थित हुई वासनाके भी पुरुषका ऐसा भाव मनमन्दर संचार होनेसे कुलांगना अस्वतंत्र न हुई यह भी पक्षे स्त्रीका पक्ष नहीं है ऐसा और दोषका संभव है। अर्थात्- कोई भी होना है जिसके होनेसे पापबंध हो। इसलिये यहांपर भी पुरुषका पहलेके भाव पैदा असंकल्प निष्फलरूप ही संभव होगा चाहिये। क्योंकि, इस वासनाके साथ एकताका संबंधरूप क्षण है उत्पत्ति और नाशसे है। जब यह क्षण नष्ट हो जाता है अर्थात् पुरुष संसर्गसे चलेकी कुछ संबंधने भाव है तभी संसारके कुछ कुछ भावना है। यही सौत्रांतिकका भी कथन है। इस कथनसे यही सिद्ध होता है कि पहले जो दर्शनोंने है और उनके यह एकांतरूप क्षण संतान नहीं घटता। अतः है। इसलिये पुरुष दो चलनेवाले वासनाके मिलानेसे है संबंध होता है और जो आगामी परिणाम संबंध है और यह मिथ्याज्ञान हो जाता है उसके इसकी सृष्टि हो जाती है। अतः, बौद्ध तथा सांख्यरूप अनेक पुरुषोंकी वासनाका संबंधकर जो संसारीको ही नाश है यह खंडित किया है। क्योंकि, वासनाको कर्मबंध है और बंधरूप है इसलिये यह सब कथनोंसे ही यह सब पुरुष कैसे स्त्री उत्पन्नी है। अपने संबंधसे संसारीको कोई सुखका ही संबंधना तथा दुःखोत्पन्न होना चाहिये। जैसे बौद्धी ने अंधमेंदी है और उसने तथा उससे दुःखोत्पन्न होते और नाश भी होता है। जैसे यह कभी नाश दुःखी नहीं है। संसारी दुःखी वासनाके संबंधसे कल्पित जैसिद्ध होता है जैसा अपने (सांख्यके) मान भी है। इस तीन दर्शनका स्वरूप ऐसा ही घटाते हैं तब संबंधी नाश भी घटते हैं। इसलिये आपके सर्वज्ञ और इनके दर्शनमें कुछ अंतर नहीं है। केवल नाममात्र भिन्न है। अर्थात् नाम पहले कहते हैं और इन नाम पहले कहते हैं।

पक्षे आकुलिपर्यंतैकत्रिंशाधिकशतभेदानिर्विषो बन्धः। तथाहि। पंचप्रत्ययाज्ञानाष्टे अकृत्रिमुपासने क्रोधो पाकृत्रिमो गन्धः। वे पंचेन्द्रियाणि षट्कायपुरुषैः पुरुषपुरुषोत्पादने नेत्रा वैनयिकः। इहापूर्वे आत्रिंशः। पुरुषनिमित्तमभिजो हीमापूर्वकारैः कामोपहासना अध्यवसे इति। इहापूर्वे मध्यमाना गर्दिम आगामध्येगो वैमिनस्यन्ति मूढा। नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेन भूत्वा इमं लोकं वा हीनतरं विशन्ति इति पंचनावृ।

य त्रिंशेषोत्रि फलाभावात्। फर्मन्द्रियमिथ्यात्वकषायाविरतिमनवचनकायक्रियाभेदात्पंचविंशतिभेदेन क्रियाभेदेन

वान्तर्भावात् । बन्धसिद्धौ च सिद्धस्तस्यैव निर्बाधः संसारः । बन्धमोक्षयोश्चैकाधिकरणत्वाद्य एव बद्धः स एव मुच्यते इति पुरुषस्यैव मोक्षः; आबालगोपालं तथैव प्रतीतेः ।

प्राकृतिक ( प्रकृतिमें एकत्वबुद्धि होनेसे उत्पन्न होनेवाला ), वैकारिक ( इंद्रिय अहंकारादिक विकारोंसे उत्पन्न होनेवाला ) और दाक्षिण ( शुभकर्मोंसे होनेवाला पुण्यबंध ) ऐसे बंध तीन प्रकार है । जो प्रकृतिमें आत्माका भ्रम होनेसे प्रकृतिको ही आत्मा समझकर उपासना करते हैं उनके प्राकृतिक बंध होता है । पृथिव्यादि पांच भूत, इंद्रिय, अहंकार तथा बुद्धिरूप विकारोंको पुरुष समझकर जो उपासना करते हैं उनके वैकारिक बंध होता है । यज्ञादिक ( इष्ट ) और दानादिक ( आपूर्त ) शुभ कर्म करनेसे दाक्षिण ( पुण्य ) बंध होता है । सांसारिक इच्छाओंसे जिसका मन मलिन होरहा है और जो आत्मतत्वको नहीं समझता है ऐसा जीव भी यज्ञदानादिक शुभकर्म करनेसे बंधको प्राप्त होता ही है । ऐसा कहा भी है कि; जो मूढ मनुष्य यज्ञदानादि कर्मोंको ही सबसे श्रेष्ठ समझते हैं; यज्ञदानादिके अतिरिक्त किसी भी शुभ कर्मकी प्रशंसा नहीं करते हैं वे इस यज्ञदानादिके पुण्यसे प्रथम तो स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं परंतु अंतमें फिर भी इसी मनुष्यलोकमें अथवा इससे भी हीन स्थानोंमें आकर जन्म लेते हैं ।

इस प्रकार जो ऊपर तीन प्रकारका बंध सांख्यमतीने कहा है वह कहनेमात्र ही है । क्योंकि; हमने जो मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योगोंको कर्मबंधका कारण कहा है उन्हींमें इस तीन प्रकारके बंधका भी किसीप्रकार अंतर्भाव हो जाता है; उनसे भिन्न कुछ भी नहीं है । इस प्रकार जब जीवका बंध सिद्ध है तो इस कर्मबंधके कारणोंसे जो संसारमें परिभ्रमण होता है वह भी उस जीवका ही होना चाहिये । और जो बंधता है वही कभी छूटता है । क्योंकि; जो बंधा ही नहीं है वह छूटे किससे ? बंध तथा मोक्ष (छूटने) का स्वामी ( आधार ) एक ही होता है । इस प्रकार मोक्ष होना भी पुरुषका ही निश्चित है । जो बँधता है वही छूटने योग्य है यह बात इतनी प्रसिद्ध है कि बच्चोंसे लेकर सभी जानते हैं ।



प्रकृतिपुरुषविवेकदर्शनात् प्रवृत्तेरुपरतायां प्रकृतौ पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानं मोक्ष इति चेन्न; प्रवृत्तिस्वभावायाः प्रकृतेरौदासीन्यायोगात् । अथ पुरुषार्थनिबन्धना तस्याः प्रवृत्तिः विवेकख्यातिश्च पुरुषार्थः । तस्यां जातायां निवर्तते; कृतकार्यत्वात् । " रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते ॥१२४॥

अनुनिः" इति अनन्तात् । इति चर्चितम्। तत्तेन सम्बन्धस्य विमुक्तपक्षादित्याभावात्। यथेयं कृतेति कृत्याप्रत्ययान्ते कृताभ्यर्हो अभ्यर्हे तथा कृत्यैकाधिकरणे कृताधाराभावे पुनरावृत्तौ प्रत्ययः स्यादिति। सप्तम्यन्तस्यापि अभावपक्षानपेक्षत्वात् । नन्वाहोरात्रान्तरमनु स्त्रक्षुर्कीत्यत्राकारी । सत्यां हि सर्वस्मिन् काले पात्रेणैकेनैव नक्तंपित्वा निवृत्तायामपि पुनराकृष्णायां सप्तम्यां तत्र तन्निमित्तेऽपि पुरुषाचारमात्रं दर्शयित्वा निवृत्तायामपि पुना रात्रं स अपर्वान्तरमिति। सम्पन्नात् स्त्रक्षुर्कीत्यत्रे पुरुषाणोप गोत्व इति आलोचनायाम् ।

अपि च। जो "अष्टमी और पुरुषके जो संबंध है आपने उसमात्र अथ गृहीत पर्वांगी फलेसे लेख माने है तब जो पुरुषका अवयव सम्बन्धी और होता है वही लेना है" तो यह युक्त। नहीं है । क्योंकि, यज्ञ पशुविशेष। संबंध ही पशुविशेषत्व कहते हो तो यहांपर लक्षणा किस प्रकार है ? क्योंकि: पशुका संबंध नहीं होनेसे तो पशुसंबंध नाश ही पहुंचता है।"सप्तमीका अर्थ केवल पुरुषार्थ संबंध फलोपकारित्व ही होती है और पहले तथा पुरुषसे गौणसंबंध होजाता है पुरुषार्थ है। इसलिये मैत्रवरुणि-रूप पुरुषार्थ [अर्थी] रात्रम् होनेसे पहले पहले इक्ष्वाकुदोनोंसे निर्वासने का होती है। जैसे नदी वाणुक्तिको अपना रूप दिखाता एक होती है तैसे ही सप्तमि पुरुषसे सम्बन्ध स्वरूप दिखाकर विलय होती है" ऐसा कहना भी पक्षा है। यह कहना गर्हित आगत है। क्योंकि; अवयवत्व होनेसे सप्तमिसे निमित्तत्वरूप फल कल्पना भी साधन है। और भी सुनो पहले भी पशुविशेषका होना सम्बन्ध होनेपर भी जिसके अकरणनिमित्तक प्राय काटनेसे सम्बन्धी है वैसे कहलाते अथवा पुरुषके लिखित आदि होनेपर भी जिसे स्त्री न करती। क्योंकि, पर्वांगत्वसे ही सब पशुविशेष स्त्री होना ही नहीं है। इस विषयमें सम्पूर्ण शास्त्र भी समझ सुधारे तो सिद्धान्तका पार पाना है । किंच पक्षान्तर। जैसे नदी दर्शपौर्णमासे अवान्तर भेद दिखाने लिए होनेसेवा भी अवश्य सम्बन्ध होनेसे आगे सर्वत्रकाल जिस भी आवश्यक होने से जिसे भी रात्र आदि अवयवी है तो ही सप्तमि भी पुरुषको आवश्यक लक्षणा दिखाने लिए होनेसे अवश्य जिसे क्यों न कहते हो? यदि यहां कोई कहे कि अवयवित्व नाश होनेसे भी नाश भी तो नहीं होगा। इसलिये पहले सम्बन्धी अवयवी नाश होनेपर पुरुष ( आत्मा ) का ही गौण होता है ऐसा मानना चाहिये ।

एतस्माच्चामिमपि लक्षणसमाधानं "तत्तोऽनेदवाक्यादयोदरणमिमारभ्यतामिसंबन्धस्य एवमपि अविद्यमानेऽपि तत्तेन

वेशरूपो विपर्ययः । ब्राह्मप्राजापत्यसौम्येन्द्रगान्धर्वयक्षराक्षसपैशाचभेदादष्टविधो दैवः सर्गः । पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरभेदात् पञ्चविधस्तैर्यग्योनः । ब्राह्मणत्वाद्यवान्तरभेदाविवक्षया चैकविधो मानुषः । इति चतुर्दशधा भूतसर्गः । वाधिर्यकुण्ठताऽन्धत्वजडताऽजिह्मतामूकताकौण्यपङ्गुत्वबैन्द्योदावर्तमत्तारूपैकादशेन्द्रियवधतुष्टिनवकविपर्ययसिद्ध्यष्टकविपर्ययलक्षणसप्तदशबुद्धिवधभेदादष्टाविंशतिविधा शक्तिः । प्रकृत्युपादानकालभोगाख्या अम्भःसलिलौघवृष्ट्यऽपरपर्यायवाच्याश्चतस्र आध्यात्मिकाः । शब्दादिविषयोपरतयश्चार्जनरक्षणक्षयभोगहिंसादोषदर्शनहेतुजन्मानः पञ्च बाह्यास्तुष्टयः । ताश्च पारसुपारपारापारानुत्तमाम्भआत्तमाम्भःशब्दव्यपदेश्याः । इति नवधा तुष्टिः । त्रयो दुःखविघाता इति मुख्यास्तिस्रः सिद्धयः प्रमोदमुदितमोदमानाख्याः । तथाध्ययनं शब्द ऊहः सुहृत्प्राप्तिर्दानमिति दुःखविघातोपायतया गौण्यः पञ्च तारसुतारतारतारारम्यकसदामुदिताख्याः । इत्येवमष्टधा सिद्धिः । धृतिश्रद्धासुखविविदिषाविज्ञप्तिभेदात् पञ्च कर्मयोनयः । इत्यादीनां " संवरप्रतिसंवरादीनां च तत्त्वकौमुदीगौडपादभाष्यादिप्रसिद्धानां विरुद्धत्वमुद्भावनीयम् । इति काव्यार्थः ।

इसी प्रकार सांख्यमतियोंकी और भी नीचे दिखाई गई कल्पनाओंने तथा तत्त्वकौमुदीके गौड़पाद भाष्य आदिक ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध संवर प्रतिसंवरादिक कल्पनाओंमे अनेक प्रकारका विरोध विचारलेना चाहिये । वे नीचे लिखी हुई कल्पनाएं ये हैं ।— तम, मोह, महामोह, तामिस्र तथा अंधतामिस्र ऐसे पांच प्रकारका अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश( आग्रह )नामक विपर्यय है । ब्रह्मलोकमें उत्पन्न होने, प्रजापतिलोकमें उत्पन्न होने तथा सौम्यलोकमें, इन्द्रलोकमें, गन्धर्वोंके लोकमें तथा यक्ष, राक्षस, पिशाचोंके लोकमें उत्पन्न होनेकी अपेक्षा देवताओंकी सृष्टि आठ प्रकार है । पशु, मृग, पक्षी, सर्प तथा वृक्षादिक स्थावर ऐसी पांच प्रकार तिर्यंचोंकी सृष्टि है । ब्राह्मणादिक अंतर्गत भेदोंकी अपेक्षा न करनेसे मनुष्य एक प्रकार ही गिने हैं । इस प्रकार प्राणियोंकी उत्पत्ति सर्व चौदह प्रकारसे है । बधिरापन ( श्रोत्रका ), कुंठता (त्वचाकी), अंधापन (नेत्रोंका), जडपना (स्पर्शेन्द्रियका ), गंधका ज्ञान न होना ( नासिकाका ), तोतलापन ( जिह्वाका ), लूलापन ( हाथका ) लंगड़ापन ( पैरोंका ), नपुंसकपना ( लिंगका ), कब्जियात ( गुदासंबंधी ) तथा उन्मत्तता ( मनकी ) यह ग्यारह प्रकारका इंद्रियोंका वध तथा नौ तुष्टियोंके नौ प्रकार विपर्यय तथा आठ सिद्धियोंके आठ प्रकार विपर्यय ऐसे सत्रह प्रकारका बुद्धिका वध यह सर्व अट्ठाईस प्रकारकी शक्ति

है । [illegible] तथा [illegible] अथवा [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] सिद्ध है । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] सिद्ध हैं । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] अर्थ [illegible] [illegible] ।

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं है ।

न तुल्यकालः फलहेतुभावो हेतौ विलीने न फलस्य भावः ।
न संविदद्वैतपथेऽर्थसंविद्विलूनशीर्णं सुगतेन्द्रजालम् ॥ १६ ॥ [illegible]

मूलार्थ—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है ।

व्याख्या—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

प्रमाणफलमधिगमरूपत्वात्" । उभयत्रेति प्रत्यक्षेऽनुमाने च, तदेव ज्ञानं प्रत्यक्षानुमानलक्षणं फलं कार्यम् । कुतोऽधिगमरूपत्वादिति परिच्छेदरूपत्वात् । तथा हि। परिच्छेदरूपमेव ज्ञानमुत्पद्यते । न च परिच्छेदाद्व्यतेऽन्यज् ज्ञानफलम्; अभिन्नाधिकरणत्वात्। इति सर्वथा न प्रत्यक्षानुमानाभ्यां भिन्नं फलमस्तीति। एतच्च न समीचीनं यतो यद्यस्मादेकान्तेनाऽभिन्नं तत्तेन सहैवोत्पद्यते । यथा घटेन घटत्वम् । तैश्च प्रमाणफलयोः कार्यकारणभावोऽभ्युपगम्यते । प्रमाणं कारणं फलं कार्यमिति । स चैकान्ताऽभेदे न घटते । न हि युगपदुत्पद्यमानयोस्तयोः सव्येतरगोविषाणयोरिव कार्यकारणभावो युक्तः; नियतप्राक्कालभावित्वात्कारणस्य; नियतोत्तरकालभावित्वात्कार्यस्य । एतदेवाह "न तुल्यकालः फलहेतुभावः" इति । फलं कार्यं हेतुः कारणम् । तयोर्भावः स्वरूपं कार्यकारणभावः । स तुल्यकालः समानकालो न युज्यत इत्यर्थः ।



व्याख्यार्थ—बुद्धमतावलम्बी प्रमाणसे उत्पन्न हुए फलरूप ज्ञानको प्रमाणरूप ज्ञानसे सर्वथा अभिन्न मानते हैं । ऐसा ही उनके सिद्धान्तमें कहा है "दोनो प्रकारके ( प्रत्यक्ष तथा अनुमानरूप ) प्रमाणज्ञानमें ही फलरूप ( कार्यरूप ) प्रत्यक्ष तथा अनुमानज्ञान भी गर्भित हैं । क्योंकि; ज्ञान जितना होता है वह सर्व अधिगम ( परिच्छेदरूप ) अर्थात् फलरूप ही होता है" । इसी अभिप्रायको अनुमानद्वारा दिखाते हैं । ज्ञान जितना उपजता है वह सर्व परिच्छेदरूप अर्थात् फलरूप ही उपजता है । परिच्छेदरूपके सिवाय दूसरा कोई ज्ञानका फल है ही नहीं। क्योंकि; दूसरा जो कुछ फलरूप कल्पना किया जायगा वह सभी प्रमाणसे भिन्न स्थानमें रहनेवाला सिद्ध होगा । किंतु कारण तथा कार्यका आधार होना एक ही चाहिये । इस प्रकार प्रमाणरूप प्रत्यक्ष तथा अनुमान ज्ञानोंसे इसके फलरूप ( कार्यरूप ) प्रत्यक्ष तथा अनुमान ज्ञान किसी प्रकार भिन्न सिद्ध नहीं होते । इस प्रकार प्रमाणके फलरूप ज्ञानको प्रमाणज्ञानसे सर्वथा अभेदरूप मानना बौद्धोंका मत है सो ठीक नहीं है । क्योंकि; जो जिससे सर्वथा अभिन्न होता है वह उसके साथ ही उत्पन्न होता है । जैसे घट और घटपना अर्थात् घटमें रहनेवाले धर्म । ये दोनो एक ही हैं इसलिये साथ ही उपजते हैं । और बौद्धोंने प्रमाण और प्रमाणके फलमें कार्यकारणरूप संबंध भी माना है। प्रमाण कारण है और प्रमाणका फल कार्य । यह कार्यकारणभाव संबंध भी प्रमाण तथा प्रमाणके फलको सर्वथा एकरूप माननेपर सिद्ध नहीं होसकता है। क्योंकि; दक्षिण ( सीधे ) और वाम ( बायें ) सींगके समान एकसाथ उपजनेवाले प्रमाण और प्रमाणके फलमें कार्यकारणपना किस

कथन होगया है । पर्वतेन अर्थमें वत्तिमें पञ्चमी विभक्तिके स्थानमें तृतीया विभक्ति होगई है और कार्य निमित्तसे कारणमें कार्यका उपचार करनेसे धूमसे अग्निका ज्ञान होता है । इसी आशय को लेकर "धूमेन खलु अग्निः अनुमीयते" ऐसा कहा जाता है । अथवा धूमेन यहां हेतु अर्थमें तृतीया विभक्ति है । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये । इस प्रकार इन्द्रियोंके और हेतु अर्थात् साधनोंसे होनेवाले ज्ञानोंको ही अभिनिबोध कहते हैं । और यह अभिनिबोध मतिज्ञानका पर्यायवाची शब्द है ।

अब अभिनिबोधके अनन्तर श्रुतज्ञानका निर्देश करनेके लिये सूत्रकार कहते हैं "तेनो पितीनि च कथनका तात्पर्य:" इत्यादि । जैसी कि पहले प्रकाशकारणोंमें पितीनि सूत्रमें कथनकी आवश्यकता नहीं है ऐसा कहा गया है उसी प्रकार यहां पर भी समझ लेना चाहिये । क्योंकि, पूर्वसूत्रसे ही इसकी सिद्धि हो जाती है । यदि यहां पर भी पितीनि सूत्रका कथन किया जायगा तो पुनरुक्त दोष आता है । यदि यहां पर यह शंका की जाय कि पितीनि सूत्रका कथन करनेसे ही यह ज्ञान अर्थ है ऐसा कैसे जाना जा सकता है ? तो इसका समाधान यह है कि यह सूत्र अभिनिबोधके अनन्तर कहा गया है । अतः अभिनिबोधके अनन्तर होनेवाला ज्ञान ही श्रुतज्ञान है ऐसा निश्चय हो जाता है । इसलिये पितीनि सूत्रका कथन करना व्यर्थ है ।

किं च यह हेतुपरक पञ्चमी विभक्ति है । या च एतेन यह समास है । न चायमेकः श्रुतशब्दोऽनेकार्थत्वात् संकल्प इष्यते । अतः पूर्ववर्ती हेतुर्निर्देशः फलमिति अभिनिबोधस्य परोक्षस्य आद्येऽन्तर्भावप्रसङ्गात् "इन्द्रियमनोनिमित्तं विषयविषयिसन्निपातानन्तरभावि ज्ञानं मतिः" इति पश्चात् ।

यहां कार्यिणाकारण सूत्र पहले कहना चाहिये । संवेद्य को जानलेनेके बाद ही श्रुत होता है । और श्रुतको अर्थात् श्रुतज्ञानको कारणमें कार्यके उपचार होनेके कारण श्रुत शब्दसे श्रुतज्ञान ( मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ) अर्थ नहीं हो सकता है इसलिये श्रुतं मतिपूर्वं ( तत्त्वार्थ ) सूत्रमें श्रुत शब्द हेतु है, यह अर्थ ही यहां ग्रहण करना चाहिये । "यो यस्मादुत्पद्यते तत्तस्य

ज्ञान उन दोनों वस्तुओंका प्रथम ज्ञान होनेपर ही होसकता है; यदि उनमेंसे एक वस्तुका ही ज्ञान हो तो उस संबंधका ज्ञान कदापि नहीं हो सकता" ऐसा पूर्वाचार्योंका कथन है।



यदपि धर्मोत्तरेण "अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणं तदध्यादर्थप्रतीतिसिद्धेः" इति न्यायबिन्दुसूत्रं विवृण्वता भणितं "नीलनिर्भासं हि विज्ञानं यतस्तस्मान्नीलस्य प्रतीतिरवसीयते। येभ्यो हि चक्षुरादिभ्यो ज्ञानमुत्पद्यते न तद्धशात्तज्ज्ञानं नीलस्य संवेदनं शक्यतेवस्थापयितुं नीलसदृशं त्वनुभूयमानं नीलस्य संवेदनमवस्थाप्यते। न चात्र जन्यजनकभावनिबन्धनः साध्यसाधनभावो येनैकस्मिन्वस्तुनि विरोधः स्यात्। अपि तु व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावेन। तत एकस्य वस्तुनः किंचिद्रूपं प्रमाणं किंचित्प्रमाणफलं न विरुध्यते। व्यवस्थापनहेतुर्हि सारूप्यं तस्य ज्ञानस्य व्यवस्थाप्यं च नीलसंवेदनरूपम्" इत्यादि तदप्यसारम्; एकस्य निरंशस्य ज्ञानक्षणस्य व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकत्वलक्षणस्वभावद्वयाऽयोगात् व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावस्यापि च सम्बन्धत्वेन द्विष्ठत्वादेकस्मिन्नसंभवात्।

और भी—धर्मोत्तर नामक बौद्ध आचार्यने "ज्ञानके आकारके साथ अर्थकी समानता होनेसे ही ज्ञानमें प्रमाणता होती है। क्योंकि ज्ञानमें अर्थकी समानता होनेपर ही अर्थकी प्रतीति होती है" ऐसे अभिप्रायवाले न्यायबिन्दु[1] ग्रन्थके सूत्रका विवरण करते हुए "जिसमें नीलरूपका प्रतिभास हो ऐसा विज्ञान जिससे उत्पन्न होताहो उसीसे नीलरूपकी प्रतीतिका निश्चय होता है। और जिन चक्षुरादि इन्द्रियोंके द्वारा नीलादिका ज्ञान उत्पन्न होता है केवल उन इन्द्रियोंके ही वश यह ज्ञान नीलादि संवेदनका निश्चय नहीं करासकता है। और नीलके सदृश अनुभव किया हुआ नीलादिज्ञान (अर्थके द्वारा) तो नीलका संवेदन कराता है। भावार्थ—पदार्थकी समानता रखनेवाला ही ज्ञान पदार्थकी सहायतासे प्रमाण समझा जाता है और इन्द्रियादिककी सहायतासे उत्पन्न होनेपर भी वह ज्ञान इन्द्रियादिकके वशसे प्रमाणरूप नहीं होता। यहांपर जन्यजनकभावका आलंबन लेकर साध्यसाधनपना नहीं मानागया है जिससे कि एक वस्तुमें (एक समयमें) परस्पर विरोध संभव हो। भावार्थ-यदि जन्यजनकभावकी अपेक्षा लेकर साध्यसाधनपना यहां मानाजाता तो एक वस्तुमें साध्यसाधनपनेका विरोध आता। क्योंकि; एक समयमें एक वस्तु या तो साध्यरूप ही हो सकती है या साधनरूप ही। दोनोंरूप नहीं होसकती। इसीलिये हमने जन्यजनकभावकी अपेक्षा साध्यसाधनभाव यहां नहीं माना



१ बौद्धोंके एक न्यायग्रन्थका नाम न्यायबिन्दु है। २ "अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणं तदध्यादर्थप्रतीतिसिद्धेः" ऐसा न्यायबिन्दुका सूत्र है।

है। और द्वादशांगमें कहा हुआ विशेषरूप तीर्थ भी दर्शन नहीं है। किन्तु अक्षरात्मक-अनक्षरात्मकरूपसे भी अनेकप्रकारसे श्रुतज्ञानरूप तीर्थ है। इसमें एक ही वस्तुके कुछ शब्दरूप तथा कुछ ज्ञानादिके स्वरूप वाचकोंमें विरोध नहीं आसकता है। अर्थात् जैसे अक्षरात्मक शब्दोंसे ज्ञानादिका बोध होता है उसी प्रकार अनक्षरात्मक शब्दोंसे भी होता है। इस कथनसे नैयायिकोंकी अवधारणा दूर होजाती है।" इत्यादि विवाद ( व्याख्यान ) किया है तदपि यह भी अवश्य है। क्योंकि, शास्त्रकारने यह निश्चय होनेसे बोध ( व्याख्यान ) तथा अक्षरात्मक अनक्षरात्मक ( शब्दरूपसे ) दोनों ही प्रकारोंसे श्रुतज्ञानका विषय कहा होगया है। क्योंकि; अक्षरात्मक-अनक्षरात्मक भी एक प्रकारके शब्द होनेसे दोनोंका ही शब्दरूपसे ग्रहण होजाता है। इसलिये शब्दप्रमाणसे तो अवश्य होना सिद्ध है।

किं चात्र प्रस्तुतरूपमवधारणम् ? तथा सिद्धान्तकालमनिश्रुतग्रहणं वा ? निश्चयरूपं भेदाभेदेन अवधारणमस्तु। किमुपयोगस्तस्य ? अनिश्चिते वोपयोगे व्यवहारिणो कथं इन्द्रियनिमित्तेभ्यो भागमे संशयादेः ? अथवि च केवलमवधारणं किमर्थमेवकारेण सह प्रयुज्यते अवधारणमित्युच्यते ? नैष। सिद्धत्वात्। सिद्धमेतत् शास्त्रेषु प्रायेणैवकारानुकरणात्। अन्यथा नियमाभावः। तत्र यत्रानादिकालेन केवलमेवकारेण गम्यमानं यथा। यद्यथा नाधातव्ये हि पदार्थसार्थे न च्यवहारः तत्रावधिरेषाम्। न हि आकाशमस्य प्रमाणमधिगति। फलमेवमि सर्वथा आवश्यके विशेषलक्षणमिति।

यदि स्वरूपके अंश यह दर्शन विषय होने की अपेक्षा नहीं तो भी अवधारणात्मक सर्व ज्ञानका पदार्थके अनुसार होजाना है : तो क्या अवधारणरूप भी निश्चयरूप है अथवा अनिश्चयरूप ? नहि निश्चयरूप मानलेनेसे ही अवधारणके अनुसार होते हैं। किंतु अवधारणका अवधारण एक प्रकार तो सब मानलेनेकी बात चालू रहती है। जैसे यदि अवधारणको अनिश्चयरूप माना जाय तो वो तब अवधारण ( अनिश्चित ) है यह नैयायिकोंकी सिद्धान्त अवधारणा कैसे होसकती है। अर्थात् नैयायिकोंका सिद्धान्त कैसे होसकता है। और भी—अवधारणात्मक अर्थ जो अवधारणा किया गया वह अवधारणा एक चीज है तथा अवधारणा ज्ञानात्मक विशिष्ट है अथवा उस ज्ञेय पदार्थके अनुसार होजानेसे। आदिका पक्ष तो ठीक नहीं। क्योंकि, पदार्थके अनुसार होनेमें अनिश्चय तो पूर्वमें ही सिद्ध है इसलिये सिद्धान्तमें अवधारणके ग्रहण करनेका विशेष होजाता है। यदि द्वितीय पक्ष अर्थात् ज्ञानात्मक अवधारण होजाना माना जाय तो फलमें उसके अनिश्चित होनेसे

जड़त्वादिक अनेक दोष आते हैं। इसलिये सर्वथा प्रमाणसे उसके फलका अभेद सिद्ध नहीं होसकता है। प्रमाण और उसके फलका सर्वथा तादात्म्य[1] संबंध माननेसे भी प्रमाण और फलकी व्यवस्था ( विभाग ) नहीं होसकती है। क्योंकि; एक स्वरूपमें परस्पर विरुद्ध दो स्वभावोंका होना असंभव है। सर्वथा तादात्म्य माननेपर ज्ञानमें पदार्थके समानपनेका होना तो प्रमाण और उसका निश्चय होना अथवा संवेदन होना फल, ये दो भाव नहीं होसकते हैं; नहीं तो एक जलादि पदार्थमें शीत तथा उष्ण भाव होना इत्यादि अनेकप्रकार अतिव्याप्ति दोष आनेकी संभावना होने लगेगी।

**ननु प्रमाणस्याऽसारूप्यव्यावृत्तिः सारूप्यमनधिगतिव्यावृत्तिरधिगतिरिति व्यावृत्तिभेदादेकस्यापि प्रमाणफलव्यवस्थेति चेन्नैवं; स्वभावभेदमन्तरेणाऽन्यव्यावृत्तिभेदस्याप्यनुपपत्तेः। कथं च प्रमाणस्य फलस्य चाऽप्रमाणाऽफलव्यावृत्त्याः प्रमाणफलव्यवस्थावत्प्रमाणान्तरफलान्तरव्यावृत्त्याप्यप्रमाणत्वस्याऽफलत्वस्य च व्यवस्था न स्यात्? विजातीयादिव सजातीयादपि व्यावृत्तत्वाद्वस्तुनः। तस्मात्प्रमाणात्फलं कथंचिद्भिन्नमेवेष्टव्यं; साध्यसाधनभावेन प्रतीयमानत्वात्।**

कदाचित् बौद्ध कहै कि प्रमाणमें असमानपनेका निषेध ही सारूप्य अर्थात् समानपना है और अज्ञानके अभावका ही नाम अधिगति अथवा प्रमाणका फलरूप ज्ञान है। इस प्रकार व्यावृत्ति ( निषेध ) का भेद होनेसे एक तथा निरंश ज्ञानमें भी प्रमाण तथा फलकी व्यवस्था होसकती है। परंतु बौद्धका यह कथन भी उचित नहीं है। क्योंकि; यथार्थमें स्वभावभेदके विना अन्य पदार्थोंसे व्यावृत्ति करनेमें भेद किस प्रकार होसकता है? और प्रमाण तथा फलकी व्यवस्था जैसे अप्रमाण तथा अफल अथवा फलाभावकी व्यावृत्तिसे होती है तैसे ही प्रमाणान्तर अर्थात् अन्य प्रमाण तथा अन्यफल ( विवक्षित प्रमाणफलके अतिरिक्त दूसरे ) की व्यावृत्तिसे ( निषेधसे ) अप्रमाणता तथा फलाभावकी व्यवस्था भी क्यों न हो? क्योंकि; जैसे विजातीयसे वस्तुकी व्यावृत्ति होती है तैसे ही सजातीय वस्तुओंमें भी एकसे दूसरेकी व्यावृत्ति होसकती है। इसलिये प्रमाणसे प्रमाणके फलको कथंचित् जुदा ही मानना चाहिये। क्योंकि; यह साध्य है, यह साधन है ऐसी जो जुदी २ प्रतीति होती है वह निष्कारण नहीं है। ॥१२८॥

[1] एक वस्तुमें जो गुणगुणी, स्वभावस्वभाववत्, पर्यायपर्यायी आदिक अनेक अवस्था होती हैं उन अवस्थाओंके साथ जो वस्तुका संबंध सो यह तादात्म्य है।

ये कहे गये वाक्य अनुपयोगी हैं। वे केवल निरर्थक हैं। यदि कोई व्यक्ति उन्हें कहता है तो वह केवल अपना समय नष्ट करता है। ऐसे वाक्य न तो किसी को कुछ बताते हैं और न ही किसी को कुछ सिखाते हैं। वे केवल शब्दों का ढेर हैं।

जो वाक्य अनुपयोगी होते हैं वे अर्थहीन होते हैं। उनका कोई अर्थ नहीं होता। वे केवल शब्दों का समूह होते हैं। उन्हें सुनकर या पढ़कर कोई लाभ नहीं होता। वे केवल समय की बर्बादी हैं।

ऐसे वाक्यों को पहचानना आवश्यक है। जब हम किसी वाक्य को सुनते या पढ़ते हैं तो हमें यह देखना चाहिए कि क्या उसमें कोई उपयोगी जानकारी है। यदि नहीं है तो हमें उसे छोड़ देना चाहिए।

अनुपयोगी वाक्यों से बचने के लिए हमें अपने विचारों को स्पष्ट करना चाहिए। हमें यह जानना चाहिए कि हम क्या कहना चाहते हैं और क्यों कहना चाहते हैं। जब हमारे विचार स्पष्ट होते हैं तो हमारे वाक्य भी उपयोगी होते हैं।

इसके अतिरिक्त हमें दूसरों के वाक्यों को भी ध्यान से सुनना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति अनुपयोगी वाक्य कहता है तो हमें उसे रोककर या टोककर उसे सही दिशा में ले जाने का प्रयास करना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपयोगी और अनुपयोगी वाक्यों में बहुत अंतर होता है। हमें सदैव उपयोगी वाक्यों का ही प्रयोग करना चाहिए और अनुपयोगी वाक्यों से बचना चाहिए। इससे हमारा समय भी बचेगा और हमारे विचार भी स्पष्ट होंगे।

निश्चय करते हैं कि संपूर्ण सत्पदार्थ क्षणिक हैं। क्योंकि; सर्व ही घटादि वस्तु मूसल आदिक जोर गिरपड़नेपर नष्ट होते हुए दीखते हैं। जिस स्वरूपसे अंतअवस्थामें घटादि वस्तु नष्ट होते हैं वही स्वरूप उत्पन्न होते समय भी पदार्थमें विद्यमान है इसलिये उत्पन्न होनेके अनंतर ही प्रत्येक पदार्थ नष्ट होजाना चाहिये। इस प्रकार सभी वस्तुओंमें क्षणध्वंसीपना सिद्ध होता है। शंका—यदि अपनी उत्पत्तिके कारणभूत सहायकोंके द्वारा प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न ही ऐसा होता हो जो उत्पत्तिके अनंतर कुछ काल ठहरकर नष्ट होजाता हो तो क्षणध्वंसीपना स्वभाव क्यों माने? ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि; यदि वस्तुका स्वभाव क्षणध्वंसी न मानाजायगा तो मुद्गरादिक (मूसल) पड़नेपर भी उस पदार्थका विद्यमान रहनेका स्वभाव बदल न सकैगा और इसीलिये उसको मूसल वगैरह ऊपर गिरपड़नेपर भी जैसाका तैसा ही विद्यमान रहना चाहिये; नष्ट न होना चाहिये। इस प्रकार यह सब नहीं देनेकी इच्छा रखनेवाले धनियेका पत्रमें लिखे हुए ऋणको प्रत्येक दिवस आगामी कलदिन देनेका वायदा करना जैसा ही न्याय (कहावत) है। अर्थात् जिस समय किसी पदार्थका किसी कारणसे नाश होगा तभी हम पूछ सकते हैं कि यह पदार्थ नाशके कारण मिलनेपर भी अभी नष्ट क्यों हुआ? क्योंकि; अभी इसके नष्ट होनेका समय नहीं था इसलिये जैसाका तैसा ही ठहरारहना चाहिये था। इस दोषके भयसे यदि दो क्षण ठहरनेका स्वभाव भी माना जाय तो भी उत्पत्तिके बाद प्रथम समयके समान दूसरे समयमें भी दो क्षण ठहरनेका स्वभाव विद्यमान रहनेसे और भी आगे दो क्षणतक ठहरना चाहिये। इसीप्रकार फिर तीसरे आदिक क्षणोंमें भी दो क्षण ठहरनेका स्वभाव विद्यमान रहनेसे कभी नष्ट न होना चाहिये।

स्यादेतत् "स्थावरमेव तत् स्वहेतोर्जातं परं बलेन विरोधकेन मुद्गरादिना विनाश्यते" इति तदसत्। कथं पुनरेतद् घटिष्यते "न च तद्विनश्यति स्थावरत्वाद्विनाशश्च तस्य विरोधिना बलेन क्रियत" इति? न ह्येतत्संभवति जीवति च देवदत्तो मरणं चास्य भवतीति। अथ विनश्यति तर्हि कथमविनश्वरं तद्धेतोर्जातमिति? न हि म्रियते चाऽमरणधर्मा चेति युज्यते वक्तुम्। तस्मादविनश्वरत्वे कदाचिदपि नाशाऽयोगाद् दृष्टत्वाच्च नाशस्य नश्वरमेव तद्धेतुरुपजातमङ्गीकर्त्तव्यम्। तस्मादुत्पन्नमात्रमेव तद्विनश्यति। तथा च क्षणक्षयित्वं सिद्धं भवति।

यदि कदाचित् ऐसा कहो कि पदार्थ तो अपने उत्पत्तिके कारणोंसे ठहरनेका स्वभाव लेकर ही उत्पन्न होता है परंतु उसके विरोधी मूसल आदिकसे बलात्कार नष्ट किया जाता है परंतु यह भी असत्य है। क्योंकि; ऐसा कहनेसे परस्पर विरुद्ध ये दो वचन

यहाँ कहलोग कि '' यह नष्ट तो होता नहीं है क्योंकि वह सत्य है, परन्तु भगवान् [illegible] अवश्य [illegible] है '' । यह कथन ठीक नहीं है कि [illegible] है परन्तु [illegible] होता है । ऐसे नष्ट होता है तो वह वस्तु अपने कारणों [illegible] और उत्पन्न होता हुआ भी अविनाशी कैसे? [illegible] है और [illegible] यह [illegible] नहीं [illegible] है । इसलिये यदि अविनाशी है तो कभी भी नष्ट न होना चाहिये परन्तु [illegible] है । इसलिये [illegible] के [illegible] चाहिये । [illegible] नाश होने से [illegible] नाश सिद्ध होता है । और इसी प्रकार [illegible] सिद्ध होता है ।

[illegible] ''परिच्छिन्न[illegible] [illegible] । [illegible] परस्य [illegible] । [illegible] च [illegible]'' । [illegible] । [illegible] पूर्व[illegible] [illegible] । [illegible] ''न [illegible]'' इत्यादि ।

इस [illegible] भी [illegible] है । ''जो [illegible] है वह [illegible] नहीं [illegible] है । [illegible] है । [illegible] है'' । [illegible] अनुमान है । यदि [illegible] है तो [illegible] है [illegible] होता है । क्योंकि, [illegible] है । इस प्रकार [illegible] है कि [illegible]

। [illegible] है । [illegible] है ।

अविद्याके वश होनेसे ऐसा प्रत्यभिज्ञान होता है कि यह वही है। पूर्व क्षणके नष्ट होते ही उसके समान दूसरा क्षण उत्पन्न हो-जाता है इस प्रकार कभी भी पूर्वाकारका नाश न दीखनेसे और पूर्व क्षणके नाश तथा उत्तर क्षणकी उत्पत्तिमें अंतर (व्यवधान) न पड़नेसे पूर्व पर्यायका सर्वथा नाश होनेपर भी यह ही यह है ऐसी अभेदबुद्धि उत्पन्न होसकती है। पहिले काटडाले हुए तथा फिरसे उत्पन्न हुए कुश (कणविशेष), केशादिकोंकी पूर्वापर अवस्थाओंमें अत्यन्त भेद होनेपर भी यह वही है ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता हुआ जैसे दीखता है तैसे ही यहांपर (प्रकरणमें) भी क्यों संभव न हो? इस प्रकार संपूर्ण सत्पदार्थ क्षणिक ही हैं ऐसा सिद्ध हुआ। यहांपर (क्षणध्वंसी क्षणमात्रमें) पूर्वक्षण तो उपादान कारण है और उत्तरक्षण उसका कार्य (उपादेय) है। इस प्रकार जो बौद्धोंका अभिप्राय है उसका निराकरण करनेके अभिप्रायसे ही आचार्यने उपरिके श्लोकमें "न तुल्यकालः" इत्यादि कहा है।

ते विशकलितमुक्तावलीकल्पा निरन्वयविनाशिनः पूर्वक्षणा उत्तरक्षणान् जनयन्तः किं स्वोत्पत्तिकाले एव जनयन्ति उत क्षणान्तरे? न तावदाद्यः समकालभाविनोर्युवतिकुचयोरिवोपादानोपादेयभावाऽभावात्। अतः साधूक्तं: "न तुल्यकालः फलहेतुभावः" इति। न च द्वितीयः। तदानीं निरन्वयविनाशेन पूर्वक्षणस्य नष्टत्वादुत्तरक्षणजनने कुतः संभावनापि? न चानुपादानस्योत्पत्तिर्दृष्टा; अतिप्रसङ्गात्। इति सुष्ठु व्याहृतं "हेतौ विलीने न फलस्य भावः" इति। पदार्थस्त्वनयोः पादयोः प्रागेवोक्तः। केवलमत्र फलमुपादेयं हेतुरुपादानं तद्भाव उपादानोपादेयभाव इत्यर्थः।

ये सर्वथा स्वतन्त्र टूटी हुई मोतियोंकी मालाके समान उत्तरपर्यायको विना उत्पन्न किये ही सर्वथा नष्ट होते हुए पूर्वक्षणवर्ती पर्याय क्या अपने उत्पत्तिके समय ही उत्तरक्षणवर्ती पर्यायोंको उत्पन्न करदेते हैं अथवा उत्पत्तिसमयके बाद? अपने उत्पत्तिसमयमें तो वे उत्तरक्षणवर्ती पर्यायोंको उत्पन्न कर नहीं सकते। क्योंकि; युवतिके दोनो कुचोंके समान एक ही कालमें होनेवाले दो पदार्थोंमें उपादान तथा उपादेयपना अर्थात् कारणकार्यपना नहीं होसकता है। इसीलिये यह ठीक कहा है "न तुल्यकालः फलहेतुभावः।" अर्थात् एक ही समयमें कार्यको उत्पन्न करनेवाला उपादान कारण तथा उसका कार्य संभव नहीं होसकते हैं। दूसरे पक्षसे भी अर्थात् स्वयं उत्पन्न होनेके बाद भी उत्तरक्षणवर्ती पर्यायोंको उत्पन्न करना संभव नहीं है। क्योंकि; उस दूसरेही क्षणमें उपादान कारणरूप



१ जो असत् संस्कारको सत्स्वरूप अनुभव करावे वह अविद्या है। २ किसी भी उत्पन्न हुए पर्यायकी पूर्व अवस्थाको उसका उपादान कारण कहते हैं।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

वर्णोंको जिनि (कारणको) अनित्य है ही नहीं। इसलिये शब्दको उत्पत्ति कैसे हो। क्योंकि, कारणका जो नाश होनेपर है। और जिससे शब्द उत्पन्न होता है उसके उस होनेरूप नाश विशेषका सद्भाव है। क्योंकि; मुद्गरों (चौड़ोंसे) मध्यमें उत्पन्न हुआ शब्द विशेष कारणका है। और प्रतिक्षण अन्य अन्य होते हुए गतियोंके उत्पन्न करनेका कारण भी होता है। और उस उत्पन्न हुए शब्दसे अन्य शब्दोंके उत्पन्न होनेवाले उत्पत्ति विशेष भी नहीं हो सकता है। क्योंकि; एक ही शब्द अनेक पदार्थ नहीं है। (वैशेषिकोंके आत्मत्व पदार्थ है उसका निरास करते हैं।) इसलिये भूतचैतन्यवादी कहते हैं कि "न सुखादयः" इत्यादि। अर्थात् ज्ञान और सुखादि गुण (कार्य) भी। पृथिवी आदि भूतोंके कार्य नहीं होते हैं। क्योंकि, उनके साथ होते अन्वय दृष्टिगोचर होनेसे भी उनकी उत्पत्ति नहीं होती है। भी भी क्योंकि, एक अन्य लक्षण दृष्टिगोचर होनेसे भी उन्हीं (एकके होने तीनोंके होने) उत्पत्तिमें कारणका योगपद्य नहीं है। यदि कहा जाय कि इस कारणों सहित उत्पन्न हुआ कार्य इस कारणको उत्पन्न करेगा ही। तो ठीक नहीं है। क्योंकि "इसी प्रकारसे न कल्पस भाव" ऐसा सूत्रसे कहा है। भावार्थ—इन्द्रिय सहित जो पदार्थ उत्पन्न हुआ है उसका स्वयं स्वरूप नित्यपन नहीं होनेसे उस नष्ट हुए कारणोंसे उत्पन्न (कारणका कार्यरूप) अवश्य नहीं होगा। किन्तु उस उत्पन्न हुएको उत्पन्न करनेवाले कारणोंके नष्ट होनेसे नष्ट होनेवाला ही होगा।

अन्यत्रापि च पाषाणादौ पृथिव्यादिगुणानां पाक्षत्वादर्शनात्, तेषामपि ज्ञानजनकत्वात्। न पाञ्चभौतिकशरीरकारणकलापविशेषे मूलकारणेऽपि अवश्यज्ञानोत्पादात्, उत्पन्नस्य सदृशक्षणक्षयात्। यत्तत्र ज्ञानोत्पत्तिरिति चेत्तन्न, अन्वयव्यभिचारात्। स्थिरीभूय किञ्चित्तत्र तथा। तत्रापि पृथिव्यादेः क्षणक्षयैकान्तेऽपि ज्ञानजनकत्वात्। अस्मिन्पक्षेऽपि कार्यकारणयोः क्षणभेदेऽपि नैव हि तत्कार्ये पाक्षत्वाभेदोऽन्वयः कथं तेनुकरणमात्मनोऽवयविनिमित्तमपि तु यदभावे-ऽभावोऽन्वयः। तथा चात्मिंस्तोऽपि। न योगपद्यकृतत्वात्तस्य।

और जहां अन्वयसे कारणोंके ही पृथिव्यादि ज्ञान जनक पक्षमें भी उस विशेषसे उत्पन्न होते हैं उसको भी कहीं न जानेसे क्योंकि, वह इन्द्रिय भी उस कारणसे उत्पन्न क्षणक्षयरूपसे पड़ है। तात्पर्य यह है कि वहां ज्ञान हो वहां अवश्य उत्पन्न होने पक्ष सिद्धसे ही तब उसके कार्य न होगा। ज्ञान भी न उत्पन्न है ऐसा अन्वयव्यभिचारपन सिद्ध भी उसके प्रति पक्षमें नहीं है। क्योंकि, उत्पन्न भूतोंसे पदार्थोंका शरीरपना होनेसे उस अवस्थामें नहीं होनेवाली है इसलिये यहां उत्पन्न हुआ है कि-

थित है परंतु उस जलज्ञानको पैदा करनेवाला जल है ही नहीं। यदि कहाजाय कि यह ज्ञान भमरूप है तो भ्रमात्मक है या संशय है ऐसा विचार तो पीछेसे स्थिर होकर करलेना। सबसे प्रथम तो यह स्वीकार करना चाहिये कि ज्ञान पदार्थके विना भी होसकता है। यदि कहो कि जहां ज्ञान होता है वहां कुछ नकुछ पदार्थ रहता ही है इसलिये ज्ञानका जनक पदार्थ ही है परंतु यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि; जहां ज्ञान होता है वहां कुछ नकुछ पदार्थ रहता ही है इतने मात्रसे यह सिद्ध नहीं होसकता है कि पदार्थ ही ज्ञानका जनक है। किंतु जहां पदार्थ न हो वहां ज्ञान भी न हो ऐसा नियम यदि मिले तो यह स्वीकार कर सकते हैं कि ज्ञानका जनक पदार्थ ही है। परंतु यह (व्यतिरेकरूप) नियम तो सिद्ध ही नहीं होता है ऐसा युक्तिपूर्वक अभी कहचुके हैं।

योगिनां चाऽतीताऽनागतार्थग्रहणे किमर्थस्य निमित्तत्वं? तयोरसत्त्वात् " ण णिहाणगया भग्गा पुंजो णत्थि अणागए। णिव्वुया णेव चिट्ठंति आरग्गे सरिसोवमा (संस्कृतच्छाया—न निधानगता भग्नाः पुञ्जो नास्ति अनागते। निर्वृताः नैव तिष्ठन्ति आराग्रे सर्षपोपमाः)" इति वचनात्। निमित्तत्वे चार्थक्रियाकारित्वेन सत्त्वादतीतानागतत्वक्षतिः। न च प्रकाश्यादात्मलाभ एव प्रकाशकस्य प्रकाशकत्वं; प्रदीपादेर्घटादिभ्योऽसुत्पन्नस्यापि तत्प्रकाशकत्वात्। जनकस्यैव च ग्राह्यत्वाऽभ्युपगमे स्मृत्यादेः प्रमाणस्याऽप्रामाण्यप्रसङ्गस्तस्यार्थाऽजन्यत्वात्। न च स्मृतिर्न प्रमाणम्; अनुमानप्रमाणप्राणभूतत्वात्; साध्यसाधनसम्बन्धस्मरणपूर्वकत्वात्तस्य।

योगियोंके ज्ञानमें अतीत और आगामी पदार्थ भी झलकते हैं परंतु उस समय वे पदार्थ ही यदि नहीं हैं तो उस ज्ञानमें निमित्तरूप कैसे होसकते हैं? क्योंकि; ऐसा कहा भी है " जो पदार्थ नष्ट होगये वे किसी भंडारमें जमा नहीं हैं तथा जो अभी उत्पन्न ही नहीं हुए ऐसे आगामी होनेवाले पदार्थोंका भी कहीं ढेर नहीं लगा है। जो उत्पन्न होते हैं वे सूईकी अनीपर रखी हुई सरसोंके समान चिरकालकेलिये ठहर नहीं सकते हैं"। और यदि अतीत तथा आगामी पदार्थ भी ज्ञानके जनक माने जांय तो आवश्यकीय क्रियाके जनक होनेसे वे भी विद्यमान ही हैं ऐसा मानना चाहिये; न कि अतीत तथा आगामी। क्योंकि; जो कारण



१ कारणके न रहनेपर कार्यका न उपजना इस नियमको व्यतिरेक कहते हैं। कार्यके होते हुए कारणका विद्यमान रहना इस नियमको अन्वय कहते हैं।

जैसा कहा है कि एक ओर तो वह अपने इन्द्रियोंसे ही विषयोंको ग्रहण करेगा। इस लिये यदि इन्द्रियोंको ज्ञानका कारण माने तो वे सर्वज्ञ नहीं हो सकती, परंतु सभी विषयोंको जानने लगेंगे; फिर भी अनंत सब जानती है ऐसा कहेंगे। यदि कहो कि पदार्थ होने योग्य पदार्थोंसे उत्पन्न ही ज्ञानको (पदार्थजन्य) कहते हैं परंतु यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि, दीपक पदार्थोंसे उत्पन्न नहीं होकर भी उनका प्रकाश करता है। जैसे अग्निको पकानेवाला है वो उसको देखा भी ऐसा मानेंगे और भी एक दोष आता है। वह यह है कि यदि सर्वज्ञ पदार्थोंसे उत्पन्न नहीं होते तो भी वे सर्वज्ञ हैं परंतु उनको पदार्थ उत्पन्न करनेवाले ज्ञानके ही समान पदार्थोंके विषयमें वे असमर्थ ही रहेंगे। स्मृति-ज्ञान तो पदार्थ ही नहीं है देखा भी नहीं पहचानती है। क्योंकि, स्मृति ही अनुभवाभासका गौण है, अब गौणज्ञानको सर्वज्ञ-ज्ञानके पर्यंतका फल होनेका तो कोई अनुमान होना है, सकता नहीं।

विशेषतया च चेतू यदा स्वयंवेदनस्य फलं चाभ्युपेयते[1] तदा हि पार्श्वे स्वरूपमेव। न च गौण शब्दान्वयेन [illegible] । [illegible] ज्ञानविशिष्टस्वभावत्वं [illegible] ज्ञानस्य फलं स्मृतिनिर्वाणकर्मत्वप्रसङ्गात्। अनुपपत्तिमादायाद्यात्मा हि योगाभ्यासे। तस्मादनुत्पन्नाशेषज्ञानस्वभावस्य च ज्ञानस्य सर्वार्थान् प्रापयितुमशक्यत्वात् सर्वपदार्थाः परोक्षाः प्रसज्येरन्। किंच। अनुत्पन्नविज्ञानस्वभावस्यात्मनः परिणामलक्षणोपेक्षाफलपक्षापेक्षया वोत्पन्नस्यैव पश्चान्निर्वाणायोगफलाभ्युपगमात्। अनुत्पन्नस्यापि च योगशास्त्रोपदेशात्। अन्यथाऽनुत्पन्नस्यात्मनोऽभ्युपगमे सर्वार्थज्ञानसंभवेऽपि कुतश्चिदेवार्थात् कस्यचिदेव ज्ञानस्य जन्मेति फलस्वरूपो-पदेशो विरुध्यते।

यदि कहो ज्ञानसे ही उसका विषय होकर फल होता है ऐसा कहना उचित ही है तथापि अनुभवनरूप स्वरूपका विषय होना अशक्य होगा। यदि ज्ञानका अनुभव ही ज्ञानका विषय माना जाय तो यह नियम टूटता है कि अनेक पुरुष अपने अपने अनुभवको ही विषय करते हैं। क्योंकि; अनेकोंके ही अनुभव करनेमें होना संभव नहीं है। दोनों ही क्योंकि, अब आप दोनों ही पुरुष अपने अपने उत्पन्न हुए अनुभवोंको अनुभवोंसे भिन्न कैसे कहते हैं और अब कहें कि भिन्न होनेपर भी अनुभव उत्पन्न होते हैं। तो एक पुरुषको उत्पन्न हुए अनुभवोंको उसी पुरुषके अनुभवोंसे भिन्न होनेपर भी उत्पन्न होनेमें कोई भी विरोध नहीं होना चाहिये। और ज्ञानका उत्पन्न

करनेकी क्रिया ही न होगी तबतक अपनेसे अपनेकी उत्पत्ति कैसी ? इसलिये जैसे दीपक अपनी भिन्न सामग्रीसे पैदा होकर भी घटादिक पदार्थोंको प्रकाशता है तैसे ज्ञान भी प्रकाशनेयोग्य पदार्थोंसे उत्पन्न न होकर ही पदार्थोंको प्रकाशता है; ज्ञान तथा पदार्थोंमें कार्यकारणरूप संबंध नहीं है। पदार्थोंसे न उपजकर ही ज्ञान पदार्थोंको प्रकाशता है यह माननेसे घड़ेका ज्ञान पड़ेको ही प्रकाशता है अन्यको नहीं ऐसा नियम कैसे होसकैगा ? " जिस पदार्थको ज्ञान प्रकाशता है उसीसे उस ज्ञानकी उत्पत्ति तथा उसी पदार्थकासा उस ज्ञानका आकार जब हम मानते हैं तब तो यह नियम होसकता है कि घड़ेका ज्ञान घड़ेको ही प्रकाश सकता है अन्यको नहीं। परंतु यदि ज्ञानकी उत्पत्ति नियत पदार्थसे न मानीजाय तथा उस ज्ञानका आकार भी जिसको वह प्रकाशता है उसके समान न मानाजाय तो एक ज्ञान सभी पदार्थोंको प्रकाशित क्यों नहीं करने लगै" । इस प्रकारकी जो शंका है वह सर्वथा असत्य है। क्योंकि; पदार्थोंसे उत्पन्न हुआ न मानै तो भी योग्यताके अनुसार ज्ञानसे नियमित पदार्थका प्रकाश होना संभव है। जिस समय जिस विषयके ज्ञानको रोकनेवाला कर्म नष्ट होजाता है उस समय उसी विषयका ज्ञान प्रकाशित होसकता है अन्य नहीं। यही ज्ञानकी योग्यता है। पदार्थसे ही ज्ञानकी उत्पत्ति माननेवालोंको भी योग्यता अवश्य माननी पड़ती है। यदि न मानें तो संपूर्ण पदार्थ समीपमें रहनेपर भी अथवा कोई कोई पदार्थ समीपमें न रहै तो भी किसी एक पदार्थसे किसीके आत्मामें तो ज्ञान उत्पन्न होता है और किसीके आत्मामें नहीं यह नियम कैसे बनसकैगा ?

**तदाकारता त्वर्थाकारसंक्रान्त्या तदवदनुपपन्ना; अर्थस्य निराकारत्वप्रसङ्गात् ज्ञानस्य साकारत्वप्रसङ्गाच्च । अर्थेन च मूर्त्तेनामूर्त्तस्य ज्ञानस्य कीदृशं सादृश्यमित्यर्थविशेषग्रहणपरिणाम एव साऽभ्युपेया । ततः " अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम् । तस्मात्प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता " इति यत्किञ्चिदेतत् ।**

ज्ञानको पदार्थाकार मानना तो पदार्थके आकारका फेरफार होते रहनेसे असिद्ध ही है। यदि ज्ञानको पदार्थके आकार ही माना जाय तो पदार्थका आकार ज्ञानमें आजानेसे पदार्थ तो निराकार होजाना चाहिये और ज्ञान साकार ( रूपी ) होजाना चाहिये। परंतु ऐसा दीखता नहीं है। और मूर्तिमान् पदार्थके साथ अमूर्तिक ज्ञानकी समानता भी कैसी ? इसलिये किसी एक पदार्थको ग्रहण करना, सबको नहीं ग्रहण करना यही ज्ञानकी पदार्थके साथ समानता माननी चाहिये। ऐसा सिद्ध होनेसे ही यह कहना भी किसी प्रकार सत्य होसकता है कि " जिस पदार्थके ज्ञानको रोकनेवाले कर्मका नाश होगया हो वही पदार्थ ज्ञानमें झलक

कल्पना है वस्तु नहीं देखी योगाभ्यासके बिना अन्य कुछ भी प्रमाणकी समानता प्राप्त नहीं है। इसीलिये विद्वान लोग योगसे सिद्ध होनेवाले इनको प्रत्यक्षका आकार बोल सकते हैं।"

यदि न ऐसा मानो तो कैसे पहचानोगे ? यदि ऐसा कहो कि अनुमानसे पहचानेंगे तो अनुमान अनुमेय आदि पदार्थों का ज्ञान इन्द्रिय द्वारा होता है। यदि कहो कि अनुमानसे नहीं पहचानेंगे। पूर्वापरसम्बन्ध आदिका प्रत्यक्षसे व्याप्तिसम्बन्ध नहीं हो सकता। ज्ञानलक्षणे लक्षणेति वचनात्। योगिनां ज्ञानं प्रत्यक्षं भवति। तत्र योगजधर्मानुग्रहात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टमतीतमनागतं च सर्वमेव समानमसाक्षात्करोति। तत्र चोदनाप्रामाण्यवदनुमानप्रामाण्यं प्रवर्तते।

और भी एक दोष यह है कि अनुमानसे उसकी व्याप्ति होना। तथा इसमें व्यभिचार आता होगा। वे दोनों व्याप्ति ज्ञान होनेके पूर्व पूर्व काल में रहते हैं अर्थात् पहले तो व्याप्ति ज्ञान होना ही नियम व्यभिचार ज्ञानसे खाली है और फिर व्याप्तिका आकार होना भी असत् है। जो पदार्थ अनुमान से पहले अनिश्चित और अस्पष्ट होती है इसलिये पहले उसका निर्णय होना चाहिये और जो उसमें संशयका निवारण करना है उस व्याप्तिका भी संशयरहित ज्ञान होना चाहिये। अर्थात् अनुमान अपनी संशयरहित व्याप्ति है। यदि प्रत्यक्ष वर्तमान पदार्थ अनेक पर्यायको तथा अतीतानागतको नहीं जानता होगा, ऐसा इसलिये पदार्थोंका तथा पदार्थके अवयवों के पूर्व पूर्व जो निमित्त नैमित्तिक ज्ञान होनेसे व्याप्ति नहीं होसकती है। यदि कहो कि हमारा निर्णयात्मक प्रत्यक्ष भी भावना है अन्यथा नहीं। इस नियमके साथ तीन पदार्थोंके विषय करना है उस पदार्थमात्रमें अनेकान्त आत्मा सत्ता आदि स्वरूपसे उस अनुमानकी उत्पत्ति होती है ऐसा जो विकल्प किया है सो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि, यदि एकान्तरूप अर्थ गोत्वकी भूतादि अवस्थाओं पदार्थका आश्रय लेकर उत्पन्न होनेवाले जो दोनों प्रकार हैं तथापि वे भी एक दूसरेकी अपेक्षा नहीं कर सकती है। यदि वे दोनों ही पदार्थके निश्चित ज्ञान होनेसे प्रमाण होते तो यहां भी निश्चित ज्ञान होना चाहिये था। क्योंकि " यदि जो ज्ञान किसी पदार्थसे उत्पन्न हुआ हो तथा उस पदार्थके ही आकारका हो तो वह ज्ञान उसी पदार्थके सामान्य विशेष रूप उत्पन्न हुआ है तथा निश्चित आकार लिये रहा है किन्तु यह नियम नहीं है कि कोई भी

वस्तु जिसरो उत्पन्न हुई हो तथा जिसाकारका आकार रखती हो उसको वह वस्तु जानराके " सो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि; पीछेसे उत्पन्न हुआ ज्ञान यद्यपि पहिले ज्ञानके सदृश है तथा उसीसे उत्पन्न हुआ है तथा स्वयं ज्ञानरूप भी है इसलिये यदि कारण लिखते हैं तो भी प्रथम ज्ञानको जानता नहीं है परंतु बौद्धोंके कथनानुसार तो जानना ही चाहिये। इसलिये प्रत्येक ज्ञान अपने अपने विषयको ही जानता है अन्यको नहीं ऐसा नियम होनेमें निमित्त कारण योग्यता ही है; योग्यताके सिवाय अन्य कोई भी निश्चायक नहीं दीखता है।

अथोत्तरार्द्धं व्याख्यातुमुपक्रम्यते। तत्र च बाह्यार्थनिरपेक्षं ज्ञानाद्वैतमेव ये बौद्धविशेषा मन्यन्ते तेषां प्रतिक्षेपः। तन्मतं चेदम्। ग्राह्यग्राहकादिकलङ्काऽनङ्कितं निष्पपञ्चं ज्ञानमात्रं परमार्थसत्। बाह्यार्थस्तु विचारमेव न क्षमते। तथा हि। कोऽयं बाह्योर्थः? किं परमाणुरूपः स्थूलावयविरूपो वा? न तावत्परमाणुरूपः प्रमाणाऽभावात्। प्रमाणं हि प्रत्यक्षमनुमानं वा? न तावत्प्रत्यक्षं तत्साधनवद्दक्षम्। तद्धि योगिनां स्यादस्मदादीनां वा? नाद्यम्; अत्यन्तविप्रकृष्टतया श्रद्धामात्रगम्यत्वात्। न हि द्वितीयमनुभवबाधितत्वात्। न हि वयमयं परमाणुरयं परमाणुरिति स्वप्नेऽपि प्रतीमः स्तम्भोऽयं कुम्भोऽयमित्येवमेव नः सदैव संवेदनोदयात्। नाप्यनुमानेन तत्सिद्धिः; अणूनामतीन्द्रियत्वेन तैः सह अविनाभावस्य क्वापि लिङ्गे ग्रहीतुमशक्यत्वात्।

इस प्रकार चौथे सूत्रमेंसे प्रथमके " न तुल्यकालः फलहेतुभावो हेतौ विलीने न फलस्य भावः" इन दो चरणोंका अर्थ तो लिख्या अब आगेके " न संविदद्वैतपथेऽर्थसंविद्विद्लनशीर्णे सुगतेन्द्रजालम् " इन दो चरणोंका व्याख्यान लिखते हैं। इन दो चरणोंमें उन बौद्धोंका खंडन है जो बाह्य पदार्थको सर्वथा न मानकर ज्ञानाद्वैत ही मानते हैं। वे ऐसा कहते हैं कि यह जाननेका विषय है अथवा यह जाननेवाला है इत्यादि झगड़ोंसे रहित, अनेक प्रकारके और भी प्रपंचोंसे रहित ज्ञानमात्र ही केवल यथार्थ वस्तु है। इसके सिवाय बाह्य वस्तु तो विचार करने पर ठहरता ही नहीं है अथवा सिद्ध ही नहीं होता है। कैसे नहीं सिद्ध होता है सो दिखाते हैं। बाह्य पदार्थ क्या वस्तु है? क्या परमाणुरूप है अथवा स्थूल अवयवीरूप? परमाणुरूप होनेमें तो कोई प्रमाण ही नहीं है। बौद्धलोग प्रमाण दो ही मानते हैं; एक तो प्रत्यक्ष और दूसरा अनुमान। यदि परमाणुरूप माननेमें कोई प्रमाण हो तो बौद्धोंके अनुसार इन्हीं दोनोंसे कोई एक होसकता है। यदि प्रत्यक्ष माने तो प्रत्यक्ष भी दो प्रकार है प्रथम

है। कोई भी वस्तु सर्वथा तो नष्ट होती ही नहीं है। और यदि परमाणुओंसे जो पर्याय तीन कालमें परिणमनेवाली हैं उनका एकसाथ ही परिणमन होजाना माना जाय तो यह दोष आता है कि संपूर्ण पर्याय एक समयमें ही उत्पन्न होनी चाहिये। और इसीलिये दूसरे समयोंमें परिणमनेकेलिये कोई पर्याय अवशिष्ट न रहनेसे उन परमाणुओंका निरन्वय नाश ही होजाना चाहिये। क्योंकि; प्रत्येक वस्तु प्रत्येक समयमें किसी नकिसी पर्यायरूप होकर ही ठहरती है; जब पर्याय ही बाकी नहीं हैं तो ठहरे किस अवस्थापर? इसलिये एक क्षणके अनंतर नाश होना ही चाहिये परंतु होता नहीं है। इसीलिये यदि परमाणुओंको अनित्य मानाजाय तो भी क्या क्षण क्षणमें उनका नाश होता है अथवा कुछ समय ठहरकर? यदि क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाले हैं तो क्या किसी हेतुके वश होकर अथवा हेतुके विना ही? यदि हेतुके विना ही क्षण क्षणमें नष्ट होते हैं तो वा तो सदा सत्स्वरूप ही मानने चाहिये अथवा असत्स्वरूप ही। क्योंकि; अन्य निमित्तोंके विना जो निजका स्वभाव होता है वह सदा ही एकसा बनारहता है; एक समय जो सत्स्वरूप हैं उनका दूसरे समयमें असत्स्वरूप होजाना यह स्वभावभेद जो प्रत्येक समयमें बदलता रहता है वह किसी नकिसी भिन्न कारणसे ही बदल सकता है। इसीलिये यदि किसी कारणके वश होकर इनका नाश होना माना जाय तो भी इनका कारण कोई स्थूल पदार्थ होसकता है अथवा वे ही परमाणु? यदि स्थूल पदार्थ उस नाशका कारण माना जाय तो स्थूल तो कोई बाह्य पदार्थ ही नहीं है; बाह्य पदार्थ जितना अंगीकार किया है उतना परमाणुरूप ही किया है। यदि परमाणु ही माने जाय तो भी क्या वे सत्स्वरूप अथवा असत्स्वरूप अथवा सत्असत् दोनोरूप होकर नाशरूप अपने कार्यको करसकते हैं? यदि सत्स्वरूप होकर नाशरूप अपने कार्यको करसकते हैं ऐसा माना जाय तो भी क्या अपनी उत्पत्तिके समयमें ही नाश करते हैं अथवा दूसरे क्षणमें? अपनी उत्पत्तिके समयमें तो वे उपजनेमें ही व्यग्र रहते हैं इसलिये उस समय तो दूसरोंका नाश कर नहीं सकते हैं। अर्थात् जो वस्तु जबतक सर्वथा पैदा ही नहीं होगई है किंतु उपज ही रही है तबतक वह किसी भी कार्यको क्या करसकती है? कोई भी वस्तु स्वयं उत्पन्न होचुकनेके अनंतर ही किसी कार्यके करनेमें उद्यत होसकती है।

अथ "भूतियेंषां क्रिया सैव कारणं सैव चोच्यते" इति वचनाद्भवनमेव तेषामपरोत्पत्तौ कारणमिति चेदेवं तर्हि रूपाणवो रसाणूनाम्। ते च तेषामुपादानं स्युरुभयत्र भवनाऽविशेषात्। न च क्षणान्तरे; विनष्टत्वात्। अथाऽसन्तस्ते तदुत्पादकास्तर्हि एकं स्वसत्ताक्षणमपहाय सदा तदुत्पत्तिप्रसङ्गस्तदसत्त्वस्य सर्वदाऽविशेषात्। सद- ॥१३५॥

सत्यसङ्कल्पः " अत्रैवंके तो पत्नीहीनो अयोगपि कर्मे न सः " इति व्यक्तमाह्निसेपणपाप पत्र । तस्मात्याग श्रेणिकः । नास्ति भाताश्चरमशरीरिणः श्रेणिकपद्मनाभयोर्व्यभिचारात् ।

तसे " जो इनका तीर्थ होगा वे कौन से किस है तथा कहाँ उत्पन्न होंगे" ऐसी जिज्ञासा होनेसे उनकी उत्पत्ति होगा की पूछनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती तो भी उसके पश्चात् इस प्रकरण में तीर्थंकरोंके नौवोंने जुदा जुदा पाठ है वह भाग्य की चर्चा है। क्योंकि. एकसाथ उत्पन्न होनेवालोंके एक मुहूर्तादि कालभेद तथा आयुष्य होता। ॥पेट प्रमाण है। क्योंकि जैसे एक पापयुक्त अर्थ उत्पन्न होने हुए भी दूसरे पापयुक्त आत्मासे अधिकी अधोगति होती है जैसे एक पापयुक्त की साथ उत्पन्न होने हुए इस लोकमें आत्मासे अधोगति होती है इसलिये उत्पन्न नहीं पापयुक्त आत्माओंको अपनी अपनी आत्मासे अधिक पुण्य भुगतने वाला अवश्य ही है। परंतु कैवल्यज्ञान होनेके पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष जाना अवश्य है। इस दोनोंके पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में ही मोक्षमें जाने वाले तीर्थंकरोंके ॥पश्चात् की पहचान होना न होनेसे उनका उत्पत्ति स्थान बतलाने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि, उनके भवान्तर दूसरे ॥पत्नी का कुछ संबंध ही नहीं है, वह तो प्रकृत ॥ नहीं हो जाता है इसलिये नहीं होनेका संबंध नहीं है। अब जिस प्रकार पहले पापयुक्तोंको समझाया गया है उस प्रकार अपुण्य। यदि अभव्यादि पापात्माओंको ही दूसरे पापयुक्तोंकी उत्पत्ति संबंधी पश्चात्ताप से अपने आत्मिक सुखको खोकर और वे अधिकाधिक पापयुक्त होकर नए होना। स्वयं एवं दुःखोंसे घोर पापात्माओंकी जगहोंमें होती रहती चाहिये। क्योंकि, अभव्यादि पापात्मा तो अनादिसे पहले से ही पापयुक्त होते आए हैं। फिर भी ॥ इसका कारण इन तीर्थंकरोंके पापात्माओंके पूर्वभवों की उत्पत्ति संबंधी जानकारी की आवश्यकता ही नहीं है। यही उत्तर है। " जिस एक पक्ष शास्त्रोंके अनुसार जो जो तीर्थंकर वे वे तीर्थ अन्य तीर्थ शास्त्रोंके सिवे हुए पक्ष अपने शास्त्रोंसे वे सब न मानने होंगे । कि कुछ अपना होगा ।" इसलिये सभी तीर्थंकरोंके नाम की तरह होनेवाले पापात्मा दूसरे अपात्माओंके जीवनमें महत्वके होनेसे हैं और न उत्पन्न होनेके पश्चात् विपरीत तरह समझने-वाले ही। क्योंकि, अपने पिछले भवमें हुए होनेवाले पापात्माओंमें महत्वके शास्त्रों की ओर संकेत करते हैं वे ही तीर्थ विपरीतताके अनुसंधानमें पड़ सकते हैं।

कि चामी विंशतिस्थानकाराधनेऽपि किंचिदौचित्यमनाकलय्यैव तीर्थकृत्कर्मोपार्जयन्ति । यतो ज्ञाताधर्मकथाङ्गे श्रेणिकचरित्रे ।

विकल्पे किमसद्रूपं सद्रूपमुभयरूपं वा ते कार्यं कुर्युः ? असद्रूपं चेच्छशविषाणादेरपि किं न करणम् ? सद्रूपं चेत्सतोऽपि करणेऽनवस्था । तृतीयभेदस्तु प्राग्व्यक्षिरोधदुर्गन्धः । तन्नाणुरूपोऽर्थः सर्वथा घटते ।

चिरस्थायी मानकर सहायक माननेमें और भी अधिक दोष ये आते हैं कि उत्पत्तिके अनंतर कितने ही कालतक ठहरते हुए भी परमाणु क्या प्रयोजनीभूत क्रियाओंसे पराङ्मुख होकर ठहरते है अथवा कुछ आवश्यकीय क्रियाओंको करते हुए ठहरते है ? यदि कुछ भी क्रिया न करते हुए ठहरे माने जांय तो यह ठहरना मानना आकाशके पुष्पसमान है । अर्थात् सच्चा ठहरना वही है जिससे कुछ भी प्रयोजनरूप कार्य होता रहै। जिसके द्वारा कुछ होता ही नही है उसके ठहरनेमें प्रमाण ही क्या है ? क्योंकि; जो विद्यमान होता है वह अवश्य कुछ नकुछ क्रिया ही करता है । यदि कुछ करते हुए ही स्थित माने जांय तो भी क्या वह कार्य असत्रूप है वा सत्रूप है अथवा सत्असत् दोनोरूप है जिसको वे करते हैं ? यदि यह कार्य असत्रूप है जिसको वे चिरस्थायी होकर करते हैं तो वे गधेके सींगोंको भी क्यों नही बनाते ? क्योंकि; गधेके सींग भी ठीक वैसे ही असत्रूपहै । यदि सत्रूपको करते हैं तो जो कार्य उत्पन्न होजाता है उसको भी करते ही रहेंगे। क्योंकि; सर्वथा जो सत् होता है उसीको वे करते हैं । इस प्रकार किये हुएको फिर भी करते करते विराम न मिलसकेगा । यदि सत्असत् दोनोरूपके कार्यको करते हुए माने जांय तो जैसा दोष प्रथम दिखा चुके हैं उसी प्रकारका यहां भी संभव है । अर्थात्—जो सत्पक्ष तथा असत्पक्ष माननेमें दोष संभवते हैं वे सब यहां सत्असत् दोनोरूप तीसरा पक्ष माननेमें भी संभवते हैं । इसलिये परमाणुरूप बाह्य पदार्थ किसी प्रकार भी संभव नहीं है ।

नापि स्थूलावयविरूपः । एकपरमाण्वसिद्धौ कथमनेकत्वसिद्धिः ? तदभावे च तत्समुदायरूपः स्थूलावयवी बाह्यार्थः । किं चायमनेकावयवाधार इष्यते । ते चावयवा यदि विरोधिनस्तर्हि नैकः स्थूलावयवी; विरुद्धधर्माध्यासात् । अविरोधिनश्चेत्सन्तीत्यविरोधः; एकस्मिन्नेव स्थूलावयविनि चलाचलरक्तारक्ताऽऽवृतानावृतादिविरुद्धावयवानामुपलब्धेः ।

अब जो स्थूल पदार्थोंको ही बाह्य पदार्थ मानते हैं उनका विचार करते हैं । स्थूलरूप बाह्य पदार्थ मानना भी युक्तिसंगत नही है । क्योंकि; अनेक परमाणुओंके समूहका नाम स्थूल अवयवी है सो यदि परमाणु ही सिद्ध नही है तो उन अनेक

स्कन्धोंके एकत्रित स्थूल स्कन्धोंकी तरह [illegible] पैदा [illegible] ही है। और [illegible] दूसरा [illegible] यह है कि, [illegible] अनेक [illegible] [illegible] होता है, परंतु वे [illegible] नहीं पाया [illegible] है तो [illegible] [illegible]-[illegible] [illegible] एक स्थूल [illegible] [illegible] है। क्योंकि [illegible] [illegible] जुदे जुदे [illegible] [illegible] है। जब [illegible] [illegible] जो [illegible] [illegible] है। क्योंकि, [illegible] ही [illegible] कोई [illegible] है, कोई [illegible] है, कोई [illegible] है, कोई [illegible] है और कोई [illegible] है [illegible] [illegible] एक दूसरेके [illegible] [illegible] दीखते हैं इसलिये [illegible] [illegible] ही [illegible] होता है।

यदि [illegible]। [illegible]-[illegible] न स्यात्। [illegible] [illegible] च [illegible]। [illegible] [illegible]। [illegible] न [illegible]। [illegible] इति नास्ति [illegible]। [illegible]। किन्तु [illegible] परिणमति।

[illegible] और [illegible] हैं। —[illegible] हुआ है कि [illegible] जो [illegible] है [illegible] एक [illegible] है [illegible] एक [illegible] है। यदि एक [illegible] लगता है तो [illegible] जो एक [illegible] ही है इसलिये उनमें [illegible] ही [illegible] है। [illegible]। यदि [illegible] भी [illegible] कि एक [illegible] है तो [illegible] ही [illegible] है जो [illegible] [illegible] हो। जिसमें [illegible] हो [illegible] ही है। और [illegible] हुए [illegible] रही है कि [illegible] अनेक [illegible] होकर भी [illegible] एक [illegible] है [illegible] हुए [illegible] एक [illegible] जुदे जुदे [illegible] है। इसलिये यदि एक [illegible] एक [illegible] [illegible] न [illegible] तो उसमें [illegible] एक [illegible] नहीं

कह सकते हैं। और यदि उसके भी अंश माने जांय तो वे अंश उस अवयवीसे कोई जुदी वस्तु हैं अथवा उस अवयवीरूप ही है? यदि वे अंश भी उस अवयवीसे जुदी वस्तु हैं तो वे अंश भी एक प्रकारके अवयवी ही हुए। क्योंकि; अवयवीके सिवाय कोई बाह्य पदार्थ है ही नहीं। इसलिये वे अंशरूप अवयवी भी प्रत्येक अपने अपने अवयवोंमेंसे एक एक अवयवमें हिस्सेवार रहेंगे। क्योंकि; अवयवीका अपने अवयवोंमें रहना हिस्सेवार ही ऊपर मान चुके हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर प्रत्येक अवयवके हिस्से करनेसे कहीं ठिकाना ही नहीं रहता है। यदि अवयवीके अवयवोंको अवयवरूप ही माना जाय; अवयवीसे भिन्न न माना जाय तो वे अवयव ही नहीं हैं। क्योंकि; अवयव तो एक एक हिस्सेका ही नाम है। भावार्थ—यदि अवयवीमें अवयवोंको ही माना जाय तो वह स्थूल अवयवी है ऐसा व्यवहार भी कैसे हो सकता है? क्योंकि; अनेक अवयव जिसमें हों उसीको स्थूल अवयवी कह सकते हैं। और यथार्थमें वही स्थूल हो सकता है जिसमें छोटे छोटे अनेक अवयव मिल गये हों। जो निरंश एक है वह स्थूल अवयवी कैसे कहा जा सकता है? इसप्रकार स्थूल अवयवीरूप अथवा परमाणुरूप कोई भी बाह्य पदार्थ सिद्ध नहीं होता है। इसलिये बाह्य कुछ है ही नहीं। किंतु जो कुछ बाह्यमें नीलपीतादिकरूप भासता है वह सब ज्ञानका परिवर्तन है।

बाह्यार्थस्य जडत्वेन प्रतिभासायोगात्। यथोक्तं "स्वाकारबुद्धिजनका दृश्या नेन्द्रियगोचराः"[1]। अलङ्कारकारेणाप्युक्तं "यदि संवेद्यते नीलं कथं बाह्यं तदुच्यते? न चेत्संवेद्यते नीलं कथं बाह्यं तदुच्यते?"। यदि बाह्योऽर्थो नास्ति किंविषयस्तर्ह्ययं घटपटादिप्रतिभास इति चेत्तनु निरालम्बन एवायमनादिवितथवासनाप्रवर्तितो निर्विषयत्वादाकाशकेशज्ञानवत्स्वप्नज्ञानवद्वेति। अत एवोक्तं "नान्योऽनुभाव्यो बुध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः। ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्स्वयं सैव प्रकाशते। १। बाह्यो न विद्यते ह्यर्थो यथा बालैर्विकल्प्यते। वासनालुठितं चित्तमर्थाभासं प्रवर्त्तते। २।" इति।

बाह्य पदार्थ

यदि जो प्रतिभासता है वही बाह्य पदार्थ माना जाय तो भी वह तो जड़ है इसलिये उसका प्रतिभासित होना ही संभव नहीं है। ऐसा ही कहा है कि "दृश्यजातिवाले ज्ञानमय पदार्थ बुद्धिको पदार्थाकार उत्पन्न करते हैं"। अर्थात्—बाह्य

[1] बौद्धोंने पदार्थ दो प्रकारके माने हैं प्रथम दृश्य दूसरे विकल्प्य। दृश्य पदार्थ सर्व ज्ञानमय हैं और विकल्प्य वे हैं जो लोकोंकर बाह्य पदार्थरूप मिथ्या कल्पित किये जाते हैं।

पदार्थ कोई भी नहीं है, केवल चित्तका ही बुद्धिके अनेकाकार भासना मात्र है। अर्थात् मनुष्यके सर्व गौडपादाचार्य मतानुयायि ने कहा है कि " जब नीलादिक बाह्य वस्तुमें भी असत् कल्पना है तब उसको पक्ष पदार्थ क्यों मानना चाहिये ? और जब यह सिद्धसाधन रहते होता है तब उसके पक्ष प्रमाण क्यों कहना चाहिये । " तात्पर्य—तब सत्यिकीर्ति होता है कि जो यह प्रतीयमानरूप है इसलिये सत्यिमात्रको अनादि ज्ञानरूप ही मानना चाहिये। क्योंकि बाह्य पदार्थके होनेमें कोई प्रमाण ही नहीं है। और जब कुछ प्रतीयमान ही नहीं होता है तब कुछ है या नहीं इसकी कल्पना ही क्या है। जो यह कुछ प्रतीत होता है वह ज्ञानका ही आकार है। बाह्य पदार्थ तो कोई भी नहीं है जो यह पदार्थ है, परंतु केवल है इत्यादि ज्ञान पदार्थ होता है वैसी प्रत्यक्ष दृष्टि नहीं है। क्योंकि, जैसे बिना किसी बाह्य आलंबके निर्विकल्प ही बालकादिकोंका ज्ञान हो जाता है अथवा जैसे पहले के ज्ञान होता है वह बालकके समान बिना ही होता है वैसे ही पदार्थदर्शनका तर्कसमाप्य ज्ञान भी बाह्य वस्तुके अवलंबन बिना अनादिसे चली हुई पहले संस्कारके बलसे ही पदार्थका है। इसलिये कहा है कि " जो बुद्धिसे ग्रहण नहीं किया जाता है वह कोई वस्तु है। विषय जिसकी किसी विज्ञ पुरुषोंसे बुद्धि ही बाह्य-रूपसे स्थापित होती रहती है ॥ कभी कोई भी पदार्थ नहीं है जैसा कि कुछ लोगोंने अभिष्ट किया है। अनादिवासनासे उत्पन्न हुआ विभ्रम वासनासे बलित हुआ ही ग्राह्यग्राहकके व्यवहारको करता है। "

इत्यनर्थकमेवैतत्। ज्ञानमिति हि क्रियाशब्दस्यायं पर्यायोऽन्वेतीति ज्ञाने क्रियैवं ज्ञातमिति। अथ च फलमेवा भाव्यं: निर्विषयत्वात् ज्ञानेऽपलापात्। न चाकारवेद्यभावो निर्विषयमपि दृश्यं ज्ञानमिति शक्यम्। तस्याप्येकान्तेन नि-र्विषयत्वानुपपत्तेः। न हि सर्वथाऽनुदीरितसत्यविशेषस्य वचनस्येयं गतिः। स्वप्नज्ञानमप्यनुभूतदृश्यविषयमत्यक्षं निराकर्तव्यम्। तथा च पठन्ति भाष्यकाराः "अनुद्भूतपदिदानीन्तेषमुपपत्तिकालेयारवेदयाकृता। तुपिच्छस्य निमित्तभावे प्र-ख्य चापि च भावभावे ( मनकृतश्चायं—अनुभूतदृश्यविशेषानुस्मरणसंस्कारहेतुकाः। स्वप्नस्य तैस्तैर्विषा-नि पुण्य पाप च नाऽऽत्मापः )" ॥ अथ ज्ञानस्वरूपं स च पाठोऽयं। ज्ञानमिति चेच्छिरं तीव। ज्ञानमिति-र्मुख्येऽर्थे ज्ञप्तिमात्रे दृष्टे हृदि कर्तव्यतोऽपलापेनेति चक्षुर्विषयेऽसत्यपि। यथा ज्ञप्तौ एतत्कथनमिति। अर्थे-क्रियाज्ञानार्थेऽपि यत्नुनि यदि ज्ञानमिच्यते तदा वक्तीति ज्ञानमेवाऽऽत्मानमात्मनेपदम्। तथा च पञ्चपादीकारः "ज्ञानम-धीरुपलब्धिः स्मृतिः प्रमा चेति पर्यायाः। एतदीयैर्विषयादि गुरुत्वं तेषां पदत्रयतः। ६ ४"

यह सब जो बौद्धका कहना है वह झूठ है। कैसे? जाननेरूप क्रियाका नाम ज्ञान है। जिससे जाना जाय वह ज्ञान है अथवा जानमात्र ही ज्ञान है। जिससे जाना जाय अथवा जानमात्र ऐसा ज्ञानशब्दका अर्थ होनेसे इस ज्ञानका कर्म कोई न कोई अवश्य होना चाहिये। क्योंकि; विना किसी विषयके जानना कैसे हो सकता है? यदि कहो कि जैसे आकाशमें केशोंका ज्ञान विना किसी विषयके भी होजाना सर्व जनोंमें प्रसिद्ध है तैसे ही सर्वत्र भी विना विषयके ज्ञान हो सकता है परंतु यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि; आकाशमें जो केशोंका ज्ञान होता है वह भी सर्वथा निर्विषय नहीं है। जिस मनुष्यने कभी भी सत्यमुचके केश देखे नहीं हों उसको आकाशमें भी केशोंकी प्रतीति होना संभव नहीं है। अर्थात्–इस कहनेसे यह सिद्ध होता है कि जिसने प्रथम सचे केश देखे हैं उसीको आकाशमें भरे हुए अपरिमित सूक्ष्म रजआदिक केशादिरूप दीख सकते हैं। इसमें विपर्यय होनेका कारण बहुत अंतरका (फासलेका) पड़ना है। इस प्रकार आकाशमें जो केशोंका दीखना है वह रज आदिक वस्तुओंमें विपरीत परिणया ज्ञान है, न कि निर्विषय। इसीप्रकार स्वप्नका ज्ञान भी जाग्रत अवस्थामें पहिले अनुभव किये पदार्थोंका ही होता है इसलिये निर्विषय नहीं है। यही महाभाष्यकारने कहा है "पहिले अनुभव किये, देखे, विचार किये तथा सुने हुए पदार्थ तथा वातपित्तादिजनित विकार तथा देवोंकर विकारको प्राप्त किया मन तथा जलप्रधानदेश अथवा पापपुण्यके कारण ये सर्व स्वप्न आनेमें निमित्तकारण हैं। अर्थात् स्वप्नमें वही वस्तु दीखती है जो पहिले सुनी हो देखी हो चिंतवन की हो तथा अनुभव की हो। और वातपित्तादिके बिगड़नेपर भी मनमें नाना प्रकारकी चिंता तथा विचार उत्पन्न होनेसे स्वप्न आता है। इत्यादि स्वप्न होनेके अनेक कारण मिलते हैं इसलिये स्वप्नकी उत्पत्ति विना कारणके ही मानना मिथ्या है।" और जो ज्ञानके विषय है वे सब बाह्य पदार्थ ही हैं। यदि ज्ञानमें जो पदार्थका दीखना है वह भ्रमरूप माना जाय तो भी भ्रम माननेवालेको हम चिरकाल जीता रहो ऐसा आशीर्वाद देते हैं। क्योंकि; भ्रम माननेसे भी बाह्य पदार्थकी सिद्धि होती है। यदि किसीने एक समय किसी पदार्थको यथार्थ देखा हो और पीछे इंद्रियमें रोगादि उत्पन्न हो जाय अथवा पदार्थ अत्यंत दूर पड़ा हो अथवा उजाला न हो इत्यादि ज्ञानके किसी कारणकी कमी होनेसे किसी दूसरे पदार्थको पहिले देखा हुआ पदार्थ मान लिया हो तो उस ज्ञानको भ्रम कहते हैं। जैसे जिसने पहिले सच्ची चांदी देखी हो वह पीछे किसी कारणवश सीपको चांदी समझने लगे तो उसका यह ज्ञान भ्रमरूप है। परंतु यदि प्रत्येक सच्चे पदार्थके ज्ञानको भी भ्रम मानलिया जाय तो यह ज्ञान सच्चा है और यह झूठा है ऐसा निश्चय ही कैसे

को पकड़ना ? और अगर अन्य पदार्थ कुछ नहीं तो यह कथन भी व्यर्थ हो जाता कि "जितने परमाणु एक क्षेत्र में हैं और जितने समय में एक होते हैं उन दोनोंका ठीक परस्पर और एक एकके प्रत्यक्षित ज्ञान होता है" ।

न चाप्तोपज्ञागमाभावात्तेषां तत्सिद्धिरिति वाच्यं, परमाणुरूपादि स्थूलस्कन्धपर्यन्तस्य आर्षेऽभ्यासात् । यच्च परमाणुप्रसाधनेऽधिगतिरिति तदसत् । तत्कार्याणां घटादीनां प्रत्यक्षत्वे कस्यचिदपि कस्यचिदर्थस्य योगिप्रत्यक्षेण च तीर्थकरत्वस्याप्रसङ्गात् । असुखादिभिश्च । अनुपलम्भादपि तन्सिद्धिः । यथा—सन्ति परमाणवः स्थूलाकारपरिणतिनिष्पत्तिस्वभावतदनुपपत्तेरित्यत्रानुमाने । न चाणुभ्यः स्थूलोत्पाद इत्येकान्तः स्थूलादपि भूम्यब्धनादेः स्थूलस्य दर्शनात् । धातुभौतिकविभजनात् । आगमकाश्यपेत्युपलक्षणपरत्वोपपत्तेश्च । अथ तुल्यस्निग्धरूपादिपरिणतेषु तत्तत्कोष्ठादिषु तत्तत्कालावस्थायिषु कस्मात्तथाविधाद्विशेषात्कार्यविशेषो नोत्पद्यते अनेकोत्पादविशेषवैफल्यप्रसङ्गात् ।

जो यह एकान्तपक्षके दोष कहे गये हैं वे तो उन लोगोंके पक्षमें भी लागू होते हैं जो परमाणुको नहीं मानते हैं । क्योंकि, लकड़ियोंसे भी धुआंरहित तथा स्थूल अवयवी बेरके दोनों टुकड़ोंके साथ एकत्व करते हैं । और जो परमाणुरूप पक्षके खण्डनमें यौगोंने यह कहा था कि "परमाणुके सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण न होनेसे परमाणुका कोई अस्तित्व नहीं है" तो यह कथन अयुक्त है । क्योंकि, परमाणुओंसे बने हुए घटादि स्थूल अवयवोंके प्रत्यक्षसे परमाणुका भी सत्व सहजमें सिद्ध है । और अतीन्द्रिय जो परमाणु हैं भी उनका अनुमान होता है । इन लोगोंके यहां परमाणुका लक्षण भी है तो जो परमाणु सिद्ध होनेमें नहीं है । अर्थात्-जब लोगोंको कथंचित् स्थूल होनेसे परमाणुका साक्षात् करना नहीं है तो जो परमाणु सिद्ध होनेमें नहीं है । क्योंकि, विरुद्ध धर्मका दोष है ऐसा स्थूल अवयवके बिना परमाणुरूप अवयवीके बिना ही समझ लेना है' और बिना अवयवीके नहीं समझ होता है तो अब यह दूसरे अवयवी बौद्धका है जब उसके अवयव दिखलायी देते हैं' यदि अवयव न दीखते हों तो अवयवीका साक्षात्कार अवश्यमें भी होना न चाहिये । क्योंकि अवयवी तो भिन्न भिन्न दिशाओंमें न रहे हुए अंश रूप परमाणु स्वरूप होता है अब अंशोंको स्थूल अवयवी कहते हैं । अवयवी कोई भिन्न पदार्थ नहीं है । अंशोंसे ही अवयवी भिन्न होता है । यही सिद्धान्त है । अवयवी कोई जुदे जुदे अवयवोंसे न हो तो एकत्व रूपसे भी वह अर्थ

नहीं बन सकते हैं। और बड़े बड़े पदार्थ हैं अवश्य इसलिये जिनके विना बड़े बड़े नहीं बन सकते हैं ऐसे छोटे छोटे पदार्थ भी अवश्य हैं। यह अनुमान परमाणुको सिद्ध करता है। हमको (जैनोंको) यह भी आग्रह नहीं है कि स्थूल अवयवी (कार्य) की उत्पत्ति सदा परमाणुओंसे ही होती है। क्योंकि; स्थूल जो तूलका ढेर है उससे भी स्थूल पर्वतरूप स्कन्ध बनता है। और पुद्गलसे भिन्न आत्मा तथा आकाशादिक स्थूल ही हैं तो भी उनकी उत्पत्ति किसी परमाणुसमूहसे नहीं है किन्तु वे अनादिकालके अकृत्रिम हैं इसलिये यह कहना भी ठीक नहीं है कि पुद्गल तथा अपुद्गल सभी स्थूल पदार्थ किसी न किसी परमाणुपुंजसे ही उत्पन्न होते हैं। किंतु "स्थूलोंकी उत्पत्ति परमाणुओंसे ही होती है" इस वाक्यका यही अभिप्राय है कि पुद्गलमयी कुछ स्थूल पदार्थोंकी उत्पत्ति तो साक्षात् परमाणुओंसे ही होती है और कुछकी परंपरा परमाणुओंसे होती है। अर्थात्—साक्षात् हो अथवा परंपरा हो परंतु सबकी उत्पत्ति होती परमाणुओंसे ही है। यदि परमाणु न हों तो किसी भी पुद्गलमयी कार्यकी निर्मूल उत्पत्ति न हो सके। और जहांपर (पौद्गलिक अवयविगोंमें) साक्षात् परमाणुओंसे ही उत्पत्ति होती है वहांपर उन परमाणुओंमें उस अवयवीके समय, द्रव्य, क्षेत्रादिकी अपेक्षासे उत्पन्न हुई एक अपूर्व क्रियाके द्वारा इस प्रकारका विलक्षण संयोग उपजता है कि जिससे एक अवयवीरूप पदार्थ बन जाता है।

**यदपि किं चायमनेकावयवाधार इत्यादि न्यगादि तत्रापि कथंचिद्विरोध्यनेकावयवाऽविष्वग्भूतवृत्तिरवयव्यभिधीयते। तत्र च यद्विरोध्येकावयवाधारतायां विरुद्धधर्माध्यासनमभिहितं तत्कथंचिदुपेयत एव; तावदवयवात्मकस्य तस्यापि कथंचिदनेकरूपत्वात्। यच्चोपन्यस्तमपि चासौ तेषु वर्तमानः कात्स्न्येनैकदेशेन वा वर्तेतेत्यादि तत्रापि विकल्पद्वयाऽनभ्युपगम एवोत्तरम्; अविष्वग्भावेनाऽवयविनोऽवयवेषु वृत्तेः स्वीकारात्।**

और अवयवी क्या अपने अवयवोंमेंसे किसी एक अवयवके आश्रय रहता है अथवा सभी अवयवोंके आश्रय रहता है इत्यादि जो बौद्धने पूछा उसका भी यही उत्तर है कि अनेक अवयवोंमें जो परस्पर विरोध है वह कथंचित् ही है; सर्वथा नहीं है इसलिये प्रत्येक अवयवी अपने अनेक अवयवोंमें ही अभेदरूपसे रहता है। परस्पर विरोधी अवयवोंमें जो एक अवयवी रहता है वह भी कारणरूप अवयवोंमें परस्पर विरोध होनेसे अनेकरूप होना चाहिये ऐसी जो बौद्धने शंका की है उसका भी यही उत्तर है कि हम अवयवोंके परस्परविरोधसे अवयवीमें भी कथंचित् अनेकरूपता मानते ही हैं। क्योंकि; अवयव स्वयं अनेक

है और अवयवी अवयवों से पृथक् सिद्ध नहीं है। अर्थात् यदि अवयवों का विनाश हो तो अवयवी का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। और जो दोनों का यह कहना है कि अवयवी जिस अवयवों से बना है उनसे उसे पृथक् स्वीकार करना है क्योंकि एक एक अवयवों में एक एक अवयवी पाया है तो हमारा उत्तर यही है कि हमने ऐसी कोई प्रतिज्ञा नहीं की है। क्योंकि, हमने अवयवों से वह भेद एक अंशरूप से कहा है कि अंशरूप अवयवों से वह पृथक् नहीं है। अतिव्याप्तिदोष भी ऐसे ही अवयवों में घटते हैं। अर्थात् गुणगुणी, क्रियाक्रियावान्, अवयवावयवी आदि में ऐसा संबंध होता है कि अवयव स्वरूपादि पक्ष (पर्वत या तृण) नष्ट न हो अवयवी गुणगुणी, क्रियाक्रियावान् आदि नष्ट नहीं होते। अवयव अवयवी कथंचित् कुछ नहीं रहते हैं इसीलिये अतिव्याप्तिदोष घटते हैं।

कि च यदि गात्रोऽवयवी चाक्षि चित्रमिदानीं नित्यमाश्रय अनीलमेते नीलमेतन्नित्यं। तत्रानाश्रयेऽप्रतिपत्तिः केवल प्रकाशादिभूतस्य संवेदनात्। एतनाकारत्वे एवं नीलमिति प्रतीतिः स्यात् स्थिर नीलमिति। अवयवी प्रत्येकमवयवेष्वित्यनुमितिः प्रतिज्ञा। अन्यथा विरोधात्तेनाश्रयेण व्यभिचारः स्यात्। तथा च सर्वैकनाशप्रसंगेन तदाश्रयेण व्यभिचारी प्रतीयते। नीलाद्याश्रयत्वन्तु व्यभिचारिता। गात्रस्यैकत्वाभावात्। सक्तिवद्भूतादिभिस्तु व्यभिचारी नीलादिर्न पीतलिखिता एतावे अवयवि तेन न व्यभिचारः। अस्य व्याख्यानात्। एवं अवयव गंधेऽगोऽनुमितो असौमागत इति चेन्मनु ईदं चावयवीति संवेदनमपीदं। कथमन्यथा व्यवहारस्य संभवः। प्रतिपत्तिप्रत्येकवादो व्यक्त करणगोचरागत एव वर्तनते।

और यदि कहा जाय कि नहीं तो ऐसा निश्चयरूप ज्ञान किसका होता है कि यह नीला पदार्थ है। यदि कहो कि यह केवल है ऐसा। आकार प्रतिभासरूप ही होता है तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि, ऐसा आकार तो अपने अंश पदार्थके बहिर्भूत होता हुआ पदार्थरूप दीखता है इसलिये निश्चयरूप कैसा। यदि निश्चयाकार भी होता तो मैं नील पदार्थ हूं ऐसी प्रतीति होती परंतु ऐसी प्रतीति तो कभी कैसी भी नहीं होती ही नहीं है। यदि कहो कि अवयवों में अवयव आदि रहते हैं इसलिये किसी प्रमाणसे तो ऐसा प्रतीत होता है कि ये हैं और किसी प्रमाणसे केवल प्रतीतिरूप। है कि यह ठीक है तो यह कहना भी अनुचित नहीं है। क्योंकि। जिस प्रकार किसी एक नीलादिक गात्र वस्तुका ज्ञान करनेसे तत्पर ही होता है कि यह नीलादिक नील है इस प्रकार

मैं हूं ऐसा ज्ञान किसी एक विषयमें सबोंको समान नहीं होता है। एक जीव अपनेको मैं हूं ऐसा समझता है परंतु दूसरा उसीको मैं हूं ऐसा नहीं समझाता है किंतु तू है ऐसा समझता है। परंतु नीलादिक किसी एक बाह्य वस्तुका ज्ञान सबको एकसा ही होता है। इसलिये बाह्य वस्तुका ज्ञान अवश्य है। अर्थात् नीलादिक बाह्य वस्तुमें यदि एक मनुष्यको यह ज्ञान हो कि यह सामनेकी वस्तु नीलरूपी है तो और भी दूसरे लोगोंको उसका ऐसा ही ज्ञान होगा कि यह नीलरूपी है। कदाचित् किसीको रोगादिके वश नीले पदार्थका पीतरूप भी ज्ञान हो तो भी वह ज्ञान अंतमें भ्रमरूप सिद्ध हो जाता है परंतु निर्विकार मनुष्योंको सदा एक विषयमें सभीको एकसा ही ज्ञान होता है। इसलिये बाह्य पदार्थ अवश्य मानना चाहिये। कदाचित् कहो कि जब जीव स्वयं अपने आपका अनुभव करता है तब उसको मैं हूं ऐसा भासता है सो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि, ऐसा कहना तो तभी शोभित हो सकता है जब अपने सिवाय औरका भी ज्ञान माना हो। यदि ऐसा माना ही नहीं है; किंतु जो कुछ है यह आप ही है ऐसा जब बौद्धोंका मंतव्य है तो "अपने आपको ही अनुभवता है" ऐसा बोलना किसप्रकार ठीक माना जाय? 'अपने आपको' ऐसा शब्द प्रतियोगीशब्द कहा जाता है। प्रतियोगी शब्द उसीको कहते हैं जिसके बोलनेपर उससे उलटे भिन्न पदार्थका भी प्रतिबोध हो जाय। 'अपने आप' ऐसा शब्द भी तभी बोला जा सकता है जब अपने आपके सिवाय अन्य भी पदार्थ माने जाय। क्योंकि 'अपने आप' शब्दका अर्थ यही हो सकता है कि दूसरा नहीं किंतु अपने आप। इसलिये जहां अपने आपके सिवाय दूसरे पदार्थ माने ही नहीं हैं वहां 'अपने आप' ऐसा बोलना ठीक नहीं है।

स्वरूपस्यापि भ्रान्त्या भेदप्रतीतिरिति चेत् हन्त प्रत्यक्षेण प्रतीतो भेदः कथं न बाह्यः? भ्रान्तं प्रत्यक्षमिति चेन्ननु कुत एतत्? अनुमानेन ज्ञानार्थयोरभेदसिद्धेरिति चेत्किं तदनुमानमिति पृच्छामः? यद्येन सह नियमेनोपलभ्यते तत्ततो न भिद्यते। यथा सच्चन्द्रादसच्चन्द्रः। नियमेनोपलभ्यते च ज्ञानेन सहार्थः। इति व्यापकाऽनुपलब्धिः। प्रतिषेध्यस्य ज्ञानार्थयोर्भेदस्य व्यापकः सहोपलम्भानियमस्तस्याऽनुपलब्धिर्भिन्नयोर्नीलपीतयोर्युगपदुपलम्भनियमाभावात्। इत्यनुमानेन तयोरभेदसिद्धिरिति चेन्न। संदिग्धानैकान्तिकत्वेनास्यानुमानाभासत्वात्। ज्ञानं हि स्वपरसंवेदनम्। तत्परसंवेदनतामात्रेणैव नीलं गृह्णाति। स्वसंवेदनतामात्रेणैव च नीलबुद्धिम्। तदेवमनयोर्युगपद्ग्रहणात्सहोपलम्भनियमोऽस्ति। अभेदश्च नास्ति। इति सहोपलम्भनियमरूपस्य हेतोर्विपक्षाद् व्यावृत्तेः संदिग्धत्वात् संदिग्धाऽनैकान्तिकत्वम्।

॥१४०॥

कदाचित् कहो कि हम जो 'स्वसे आत्म' रूपक वेदान्त शब्द बोलते हैं वह भी वाक्यांशको यथा बोलते हैं जो इस पुस्तक है जैसे दर्शके यथार्थ विज्ञान और मनोविज्ञानसे पाठकोंने पढ़ा है और साथ ही वेद सुने चुके हैं। यदि कहो कि वेद विज्ञानो-कथन केवल पक्षपात है क्योंकि: मनुष्यको अपेक्षा सिद्ध होता है तो हम कहते हैं कि यह केवल अनुभव है इस पक्षके समझे बोल चुके, तात्पर्यने अनुभवको दिखाया है कि—जो नैतनपने मात्र विषयके साथ ही मिलता है वह उससे भिन्न नहीं कहा जासकता है। जिस प्रकार चलती अवस्थाओंमें चंद्रमाके होने हुए ही चलते पदा हुआ चंद्रमाका परिचित दिखता है, उस अवस्थाके पहुंचा नहीं होता है तुम उसके उपरका परिचित भी नहीं दिखता है इसलिये अवस्थाके परिवर्तित वह चंद्रमाके कोई भिन्न वस्तु नहीं है। इसी प्रकार जहां जिस समय जैसे पदार्थ दीखता है वहां उस समय उसके अंश की तरह ही परिचित होता है इसलिये यथार्थ भी ज्ञानके अतिरिक्त कोई भिन्न वस्तु नहीं है। यह अनुभव व्यावहारिकसम्पूर्णसिद्धान्तपक्ष है। तात्पर्य—यहां पाठकोंने दिखाया गया है जब भी कोई वर्ष आप होनेके पीछे अवश्य ही अवश्यित नहीं होता है जानिका नाम व्यावहारिकसत्य है। जैसे यहां पर ज्ञान तथा विषयका पदार्थका अपेक्षा व्यवहार है: ज्ञान तथा पदार्थका जो भेद पाया है वह व्यवहारिक सत्य है। इस सिद्धांत पर्यंतकी सिद्धि तभी होसकती है जब वर्तमानका व्यवहार 'तुम तथा पदार्थका साथ साथ मिलना' केवल होता जो मैंने कहा है उसके विपरीत 'ज्ञान तथा पदार्थका ज्ञान व मिलना' ऐसा तो दिखाई दे। परंतु ऐसा कोई नहीं देता क्योंकि। जबसे हमने देखनेसे लेकर सोने तकके बीचमें पदार्थका पदार्थसे मिलना कभी नहीं देखा। फिर भी कोई कहता है जैसे कभी दीखते दीखा। तब पहला सिद्धान्ती कहते हैं कि इस अनुभवसे पहले भी अवश्य सिद्ध होना है वह सिद्ध अनुभव पर्यंत अनुमान है 'क्योंकि। इस अनुमानका हेतु गया नहीं है किंतु व्यभिचारसंशयविपर्ययरूप हेत्वाभास है। तात्पर्य—व्यभिचारसंशयविपर्ययरूपाभास हेत्वाभासको कहते हैं जिसका कहना अनुभवसे विरुद्ध, अनिश्चित अथवा मिथ्या होता है। जो ही दिखाते हैं।—ज्ञान विषय तथा उनका पदार्थका विषय प्रकाश है जो अनुभव सिद्ध कहना जो अनुभवसे परे है वह यदि आत्मा जो ज्ञान अन्य अनुभव नहीं विषयसे भिन्न कहता है और जो अनुभवसे विरुद्ध कहते हुए पर्यंत उसको अवश्य ही अनुभव नहीं होता है। तात्पर्य अनुभव पर्यंत हुए कुंजीको समझे जाओगे। [illegible] है। दृष्टि सीधासिद्धान्तपक्ष परिवर्तन हुए कभी नहीं कहते हैं जब यह नीलापने से भिन्न कहां पदार्थका अनुभव ही नहीं हुआ हो। नीलासिद्धान्तपक्ष परिवर्तन हुए कुंजीको जो

ज्ञान स्वसंवेदनधर्म द्वारा जताता है उसका ऐसा उदाहरण कहा है कि नीलादि ज्ञान जिसको हुआ है वह मैं ( ज्ञान ) ही हूं। इस प्रकार जो प्रथम ही बाह्य पदार्थको जतानेवाला 'यह नीलादिक बाह्य पदार्थ है' ऐसा प्रथम ज्ञान तथा 'नीलादिकका ज्ञान जिसको हुआ है वह मैं ही हूं' ऐसा दूसरा ज्ञान एक साथ ही चेतनामें परिणमते हैं; इनकी उत्पत्तिमें कालका अंतर नहीं है। इसलिये एकसाथ ही मिलना जिनका होता है वे परस्पर भिन्न नहीं होते ऐसा जो बौद्धने कहा था वह असत्य प्रतीत होता है। क्योंकि; ऊपर दिखाये हुए उदाहरणमें दोनों ज्ञानोंका ग्रहण होना तो साथ ही है परंतु वे दोनों ज्ञान एक नहीं हैं किंतु जुदे जुदे हैं। इस प्रकार अभेद सिद्ध करनेमें बौद्धने जो 'एक साथ होना' ऐसा हेतु कहा था वह हेतु अभेदसे विपरीत भेदमें भी रहता हुआ प्रतीत होनेसे संदेहसहित है। और इसीलिये इसको संदिग्धानैकान्तिक कहा है।

**असिद्धश्च सहोपलम्भनियमो; नीलमेतदिति बहिर्मुखतयाऽर्थेऽनुभूयमाने तदानीमेवान्तरस्य नीलानुभवस्याऽननुभवात्। इति कथं प्रत्यक्षस्यानुमानेन ज्ञानार्थयोरभेदसिद्धया भ्रान्तत्वम्? अपि च प्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वेनाऽबाधितविषयत्वादनुमानस्यात्मलाभो, लब्धात्मके चानुमाने प्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वमित्यन्योन्याश्रयदोषोपि दुर्निवारः। अर्थाभावे च नियतदेशाधिकरणा प्रतीतिः कुतः? न हि तत्र विवक्षितदेशोऽयमारोपयितव्यो नान्यत्रेत्यस्ति नियमहेतुः। वासनानियमात्तदारोपनियम इति चेत्; तस्या अपि तद्देशनियमकारणाभावात्। सति ह्यर्थसद्भावे यद्देशोऽर्थस्तद्देशोऽनुभवस्तद्देशा च तत्पूर्विका वासना। बाह्यार्थाभावे तु तस्याः किंकृतो देशनियमः? अथास्ति तावदारोपनियमः। न च कारणविशेषमन्तरेण कार्यविशेषो घटते। बाह्यश्चार्थो नास्ति। तेन वासनानामेव वैचित्र्यं तत्र हेतुरिति चेत्तद्वासनावैचित्र्यं बोधाकारादन्यदनन्यद्वा? अनन्यच्चेद्बोधाकारस्यैकत्वात्कस्तासां परस्परतो विशेषः? अन्यच्चेदर्थे कः प्रद्वेषो? येन सर्वलोकप्रतीतिरपन्हूयते। तदेवं सिद्धो ज्ञानार्थयोर्भेदः।**

'ज्ञान तथा पदार्थकी एक साथ उपलब्धि होना ( मिलना )' यह हेतु असिद्ध भी है। क्योंकि; जब यह नीलादि है ऐसा बाह्य पदार्थ भासता है तभी नीलादिकका जो अंतरंगमें ज्ञान उत्पन्न हुआ है उसका अनुभव नहीं होता है। इन दोनों ज्ञानोंकी उत्पत्तिमें कालका अंतर पड़ता है। इसलिये ज्ञान और पदार्थमें परस्परका भेद जो प्रत्यक्षसे सिद्ध है उसको यह ऊपर दिखाया हुआ बौद्धका अनुमान भ्रमात्मक नहीं ठहरा सकता है। और भी दूसरा दोष यह है कि भेददर्शक जो प्रत्यक्ष है वह जब भ्रमात्मक

सिद्ध हो जब अनेक मिल एकत्र पाया होनेसे अवैध, गलत आदि कहा जाता। अनुमान तर्क पक्षा जाताके और जब अनेकान्तको वह अनुमान सिद्ध हो जब मेरा उनानेकान्त अवैध अनावश्यक कहा जायगे। इस तरहा परिभाषाकी आवश्यकता नहीं सिद्ध हो जाएगा है जब व्यवहार सहज होजाए नहीं जब गलतफहमी एवं विरोधोंका डर यह सहज सुलभ किया होनेसे ) ऐसे दोनों अर्थालङ्कारिक बोध पड़ते हैं। यह ऐसा दुर्विकल्प है। क्योंकि, जो वस्तुओंको कोई भी एक दूसरेके बिना सिद्ध नहीं होसकता है यह किसी तरह भी सिद्ध नहीं हो सकता है। और जो Hindu और यह दे कि यदि जब वस्तुएं एक से नहीं तो आपकी बेतो विधेय पहिले क्यों होती है कि अनुक वस्तु अनुक वस्तुसे अच्छा है। यदि एक सदृश ही तो फिर जब उनमें भेदका व्यवहार भी नहीं होना चाहिये कि अनुक वस्तु अनुक वस्तुसे ही है अन्यसे नहीं है। इत्यादि दोषों यह कुछ नहीं परिभाषाओंमें पड़नेसे किसी लाभ हानिके संबन्धसे होनेवाला गलत। यही ठीक नहीं है। क्योंकि, वास्तव परिभाषित आवश्यकता भी होती नहीं किन्तु वस्तु यही है इसलिये आवश्यकता भी वास्तविक निश्चय करना असंभव है। यदि भाषामें अतिरिक्त पदार्थके कोई अलग पदार्थ हो तो अवश्य यह बताने ऐसा यहां ही जा। परन्तु भेदकी आवश्यकता होना भी वास्तव आवश्यक है। क्योंकि, वास्तव करने फलनेका हेतु वही विचार है। परन्तु अब ऐसे यह आर्थ ही कोई नहीं है जिसके आश्रय चलना। आवश्यक होजाती है तो नवीनता भी अब आवश्यक है किस आवश्यक वस्तुमें पाया जाता है ऐसा लोगोंका किस प्रकार होगा। अब यहांका भेद पड़ता है कि अनुक भेदसे अनुक आवश्यक ही है अन्यसे नहीं है ऐसा निश्चय होनेमें भी कोई आवश्यकता है। वास्तवमें आवश्यक भेदा न हो वास्तव स्वतंत्रमें वास्तव भेद नहीं होसकता है। और वास्तवमें विषय वस्तुओंमें कोई भेद आवश्यक ही है ही नहीं यह पक्ष दृढ़ वस्तु की वस्तुमें है वास्तविक होना। वास्तव कोई भूल ही होना चाहिये। यह दृढ़ता वास्तव इस चौकीके पास भी कुछ अच्छा पक्षपाती वाक्यमें ही है। परन्तु यह चौकीका वास्तव

---

१ जो जो पदार्थोंमें विशेष वास्तव एक दूसरेके अवैध हो वास्तवमें अनेकान्तवाद भेद कहते हैं। वास्तव अवास्तव जैसे—एक वस्तु ऐसा बोलने में उसे ठीक वस्तुके बोलने से हो वास्तव है परन्तु किस वस्तुके गुण नहीं पड़ता है। ऐसे वास्तवमें वास्तवे वास्तविक, पूर्ण वस्तुओंके अंशोंमें ही भेद वास्तव वास्तवमें वास्तवे वास्तविक है तो किस वस्तु वास्तव विरोधाभास हो। Hindu कुछ भेद वास्तव वस्तु नहीं तो वास्तव विरोधाभास। यह वास्तवमें एक वस्तु दूसरा वस्तु वास्तव है इसलिये वास्तव है इसलिये वास्तव ही गुण पड़ता है और वास्तव ही वास्तवमें है।

सर्वथा मिथ्या है। क्योंकि; वे नाना प्रकारकी वासना ज्ञानके अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु हैं अथवा ज्ञानमय ही हैं ? यदि ज्ञानसे अभिन्न ज्ञानमय ही हैं तो ज्ञान तो एक प्रकार ही बौद्धोंने माना है फिर वासना ज्ञानसे अभिन्न होकर भी नाना प्रकारकी होजानेमें क्या कारण है ? यदि ज्ञान के अतिरिक्त वासना कोई अन्य पदार्थ है तो और भी बाह्य पदार्थ जो प्रत्यक्ष दीखतेहैं उनके माननेमें क्या बुराई है ? जिससे कि सर्व जनोंकी प्रतीतिको मिथ्या ठहराते हो। इस प्रकार ज्ञान और बाह्य पदार्थोंमें परस्पर भेद सिद्ध हुआ।

तथा च प्रयोगः । विवादाध्यासितं नीलादि ज्ञानाद्व्यतिरिक्तं विरुद्धधर्माध्यस्तत्वात् । विरुद्धधर्माध्यासश्च ज्ञानस्य शरीरान्तः अर्थस्य च बहिः; ज्ञानस्याऽपरकालेऽर्थस्य च पूर्वकाले वृत्तिमत्त्वात्; ज्ञानस्य आत्मनः सकाशादर्थस्य च स्वकारणेभ्य उत्पत्तेः; ज्ञानस्य प्रकाशरूपत्वादर्थस्य च जडरूपत्वादिति । अतो न ज्ञानाद्वैतेऽभ्युपगम्यमाने बहिरनुभूयमानार्थप्रतीतिः कथमपि संगतिमङ्गति । न च दृष्टमपह्नोतुं शक्यमिति । अत एवाह स्तुतिकारः "न संविदद्वैतपथेऽर्थसंवित्" इति। सम्यगवैपरीत्येन विद्यतेऽवगम्यते वस्तुस्वरूपमनयेति संवित् । स्वसंवेदनपक्षे तु संवेदनं संवित् ज्ञानम्। तस्या अद्वैतम् । द्वयोर्भावो द्वितं । द्वितैव द्वैतं प्रज्ञादित्वात् स्वार्थिकेऽण् । न द्वैतमद्वैतं बाह्यार्थप्रतिक्षेपादेकत्वम् । संविदद्वैतं ज्ञानमेवैकं तात्त्विकं न बाह्योऽर्थ इत्यभ्युपगम्यते इत्यर्थः ।

अनुमानसे भी इसको इस प्रकार सिद्ध करते हैं कि विवादापन्न जो नीलादिक पदार्थ हैं वे अवश्य ज्ञानके अतिरिक्त कोई भिन्न वस्तु हैं । क्योंकि; ज्ञान तथा उन नीलादि पदार्थोंमें परस्पर विरुद्ध धर्म देखे जाते हैं । वे विरुद्ध धर्म कौनसे हैं ? ज्ञान तो शरीरके भीतर ही रहता है और ज्ञेय पदार्थ शरीरके बाहिर भी रहते हैं; ज्ञेय पदार्थ तो ज्ञानसे पहिले समय भी मिलता है परंतु ज्ञान केवल ज्ञेय पदार्थ उत्पन्न होचुकनेपर ही मिलता है; ज्ञान तो आत्मासे उत्पन्न होता है तथा ज्ञेय पदार्थ अपने अपने भिन्न भिन्न कारणोंसे उपजते हैं; इसी प्रकार ज्ञान तो सर्व पदार्थोंको प्रकाशनेवाला है तथा ज्ञेय पदार्थ स्वयं जड़स्वरूप है इत्यादि ज्ञान तथा ज्ञेय पदार्थोंमें परस्पर बहुतसे विरोधी धर्म है । इसलिये यदि ज्ञानके अतिरिक्त कुछ भी बाह्य पदार्थ न माने जायंगे तो बाहिरके पदार्थोंकी जो स्वयं अपने अपने अनुभवसे प्रतीति होती है वह किसी प्रकार सिद्ध न होसकेगी । और प्रत्यक्ष दीखते हुए बाह्य पदार्थोंका "बाह्य पदार्थ हैं ही नहीं" ऐसा विनायुक्ति निषेध करना भी सहज नहीं है । इसीलिये स्तुतिकर्ता श्रीहेमचन्द्राचार्य कहते हैं कि "न संविदद्वैतपथेऽर्थसंवित्" । अर्थात्–केवल ज्ञानाद्वैत यदि माना जाय तो बाह्य

पदार्थोंका ऐसा लक्षण करते हैं। 'इदं' अर्थात् जैसा पदार्थ है वैसा 'वित्' अर्थात् विकल्परूप पक्षपातरहित ज्ञानवाला जानते अर्थात् मानते हैं। और स्याद्वाद अपने स्वरूपको अनेकांत पदार्थ है ऐसा ज्ञानरूप केवल जाननेवाला जब अपित पदार्थ होते हैं। ऐसी संज्ञा नहीं होती वह तो कहते हैं। जो पदार्थोंके स्वरूपका नाम सिद्ध है। सिद्धान्तों ही ऐसे भी अपने हैं। क्योंकि, ऐसा स्वरूप सिद्ध है। यहांपर सिद्धान्तशब्दसे जो कुछ अर्थ है अर्थात् ही सर्वज्ञप्रणीत सिद्धान्तशब्दके अर्थका व्याख्यानके निमित्तसे "सर्वादिभ्य" इत्यादि 'अण्' प्रत्यय हो जाता है। इस अण् प्रत्ययके होनेसे भी सिद्धान्तशब्द 'सैद्ध' बनजाता है। जो ऐसे अर्थात् प्रमाण प्रमेयरूप न हो उसको यथा कहते हैं। ॥८॥ यहांपर कोई यह शंका करता है कि अनेक नाम सुननेसे अनेक पदार्थ जानने चाहिये हैं। जैसे घटके कहनेसे घट पदार्थ जाना जाता है। एकांतसे एकांत ही नित्य तत्त्व है, अन्य कोई भी तत्त्व पदार्थ स्वभावसे नहीं है ऐसे ही सिद्धान्तका नाम अनेकांत है। समाधान—जो कुछ सिद्धान्त है वह सर्व ज्ञान है। ज्ञानके अतिरिक्त और कुछ भी तत्त्व पदार्थ नहीं है ऐसे विचारको सांख्यसिद्धान्त कहते हैं।

तत्त्व पदार्थ आगे संविदद्वैतका पक्षविशेष प्रमाणतत्त्वसंख्यादिके द्वारा पदार्थ। विनिश्चयात "प्रमाणादिवित्"। ऐसे पदोंसे तुल्य अर्थपरीक्षा सांख्यादिसे भी न पहले इत्युपलक्षणात्। दृश्यमान्तरंगेव ज्ञानादिनाद् । अर्थ न स्थिते सति विशेषणात " विज्ञानमात्रं ब्रह्मतत्त्वमास्ते " इति। सुनने से मायापुत्रशालक मुक्तकेश तेन परिकल्पित क्षणक्षयादि पदार्थजालमिच्छन्त्यसौगतेयजनः। गतिक्रियादेर्दृश्यत्वात्। ब्रह्मशब्दज्ञाने चर्चागिरि विनूतनरीत्यैव। पूर्वं गिरिं पश्चात् क्रीडे निरूपणीयोपि। तथा सिद्धिविनिश्चयालंकारादि विनूतनेन धीर्वने निरूपयति एवं लक्षणविनिश्चय प्रमाण प्रमाणाभासपरीक्षाविधिना विस्तरेण निर्णय इति।

अनिश्चितेनेत्यत्र विशेषणे अनुपात्त कर्तृकेत्यादि अनिश्चितेत्यत्र। अनिश्चितेत्यत्र तथा। अनिश्चितेत्यादि। एव ॥विशेषणके पक्षमें व्याख्यान और भाव है। एवंविधा ज्ञान नहीं होनेवाला है। अर्थात् जो यह नाम व्याख्यानी वर्तमान पाषाण अनुभव की जाती है वह कोटि देवेन्द्र शास्त्रोंसे नहीं सकता होगा। इसका विचार भी आगे करेंगे। इस अवसरे यह सिद्ध हुआ कि पदार्थ नामादि भी अनेक पदार्थ हैं वैसे जो बौद्ध और अन्य पदार्थोंके नहीं मानते हैं यह कहना अयुक्त है। यह सिद्ध होनेसे यह सुनिश्चित। ज्ञान [illegible] अनुमान प्रमाणसे। प्रमाण अर्थात् प्रमाणसे। प्रमाण पदार्थ इनसे कहनी गई

होते है; किसी प्रकार भी स्थिर नहीं हैं इत्यादि जो सुगतद्वारा झूठी कल्पना कीगई है वह एक झूठे इंद्रजालके समान है। क्योंकि; बाजीगरोका बनाया हुआ अनेक प्रकारका इंद्रजाल अर्थात् मायामयी झूठा तमासा जिस प्रकार थोड़े समयतक तो भोले मनुष्योंकी बुद्धिको मोहित करता है परंतु अंतमें शीघ्र ही छिन्न भिन्न हो जाता है उसी प्रकार बौद्धका रचाहुआ यह मायामयी झूठा तमासा भी भोले मनुष्योंके चित्तको कुछ समयपर्यंत तो मोहित करता है परंतु विचार करनेपर शीघ्र ही विघट जाता है। इसीलिये इसका नाम सुगतका इन्द्रजाल है। विचार करनेपर प्रथम तो इस इंद्रजालके टुकडे टुकडे हो जाते है और पीछेसे सर्वथा नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार मूंजका बनाहुआ खम्भ थोड़ासा छेदनेसे ही नष्ट हो जाता है उसी प्रकार यह सुगतका कल्पित किया हुआ इन्द्रजाल तृणोके समान निस्सार होनेके कारण तीक्ष्ण युक्तिरूप छुरीसे थोड़ासा छेदनेपर ही विघट जाता है।

अथ वा यथा निपुणेन्द्रजालिककल्पितमिन्द्रजालमवास्तवतत्तद्वस्त्वद्भुतोपदर्शनेन तथाविधं बुद्धिदुर्विधं जनं विप्रतार्य पश्चादिन्द्रधनुरिव निरवयवं विलूनशीर्णतां कलयति तथा सुगतपरिकल्पितं तत्तत्प्रमाणतत्फलाऽभेदक्षणक्षयज्ञानार्थहेतुकत्वज्ञानाऽद्वैताभ्युपगमादि सर्वं प्रमाणाऽनभिज्ञं लोकं व्यामोह्यमानमपि युक्त्या विचार्यमाणं विशरारुतामेव सेवत इति। अत्र च सुगतशब्द उपहासार्थः। सौगता हि शोभनं गतं ज्ञानमस्येति सुगत इत्युशन्ति। ततश्चाहो तस्य शोभनज्ञानता येनेत्थमयुक्तियुक्तमुक्तम्। इति काव्यार्थः।

अथवा जिस प्रकार चतुर बाजीगरने जो इन्द्रजाल बनाया हो वह यद्यपि झूठी वस्तुओंसे भरा हुआ है तो भी वह अद्भुत वस्तुओंके दिखानेसे थोड़े समयतक भोले मनुष्योंके मनको मोहित करता है परंतु पीछे इंद्रधनुषके समान विलीन होता हुआ दीखता है उसी प्रकार जिसमें प्रमाण तथा प्रमाणके फलको अभिन्न कहा है एवं क्षण क्षणमें सबका नाश बतलाया है तथा ज्ञानके अतिरिक्त कोई बाह्य पदार्थ नहीं है इस प्रकारका उपदेश किया है ऐसा जो सुगतका बनाया हुआ इन्द्रजाल वह प्रमाणके स्वरूपको न समझनेवाले भोले मनुष्योंके चित्तको मोहित करता हुआ भी युक्ति पूर्वक विचारनेपर विखर जाता है। इस श्लोकमें सुगत शब्द केवल हसी करनेके अभिप्रायसे लिखा गया है। क्योंकि; गत नाम ज्ञान। सु अर्थात् सच्चा जिसका ज्ञान हो वह सुगत है ऐसा सुगत शब्दका अर्थ सुगतके शिष्योंने किया है। परंतु धन्य है उसके सुज्ञानको जिसने इस प्रकार असंगत युक्तिशून्य उपदेश किया। इस प्रकार इस काव्यका अर्थ पूर्ण हुआ।

सत्त्वमपेक्षते" इत्यादिवचनात्। अप्रमाणकश्च शून्यवादाभ्युपगमः कथमिव प्रेक्षावतामुपादेयो भविष्यति? प्रेक्षावत्त्वव्याहतिप्रसङ्गात्। अथ चेत्स्वपक्षसंसिद्धये किमपि प्रमाणमयमङ्गीकुरुते तत्रायमुपालम्भः—कुप्येदित्यादि। प्रमाणं प्रत्यक्षाद्यन्यतमत्स्पृशते आश्रयमाणाय प्रकरणादस्मै शून्यवादिने कृतान्तः तत्सिद्धान्तः कुप्येत्कोपं कुर्यात्। सिद्धान्तबाधः स्यादित्यर्थः। यथा किल सेवकस्य विरुद्धवृत्त्या कुपितो नृपतिः सर्वस्वमपहरति एवं तत्सिद्धान्तोऽपि शून्यवादविरुद्धं प्रमाणव्यवहारमङ्गीकुर्वाणस्य तस्य सर्वस्वभूतं सम्यग्वादित्वमपहरति।

व्याख्यार्थ—शून्यवादी प्रत्यक्षादि प्रमाणका आश्रय विना लिये अपने माने हुए शून्यवादकी सिद्धि करनेकी प्रशंसाको नहीं पासकता है। किस प्रकार? जिस प्रकार अन्यवादी अपने सिद्धांतोंका मंडन कर प्रशंसा पाते हैं। यह दृष्टान्त प्रतिष्ठा न पानेवाले शून्यवादीकी अपेक्षा उलटा है। अर्थात्—अन्यवादी अपने सिद्धांतोंको प्रमाणद्वारा सिद्धकर जैसी प्रशंसा पासकते हैं तैसी प्रशंसा यह शून्यवादी जबतक प्रमाणका आश्रय नहीं लेगा तबतक कभी नहीं पासकता है। क्योंकि; इसके मतमें प्रमाण प्रमेयादिकका व्यवहार मानना ही जब झूठा बताया है तो शून्यवादकी सिद्धि कैसे होसकती है? शून्यवादियोंके सिद्धान्तमें ऐसा कहा भी है कि "केवल बुद्धिमें यह धर्म है, यह धर्मी है इत्यादि कल्पना करनेमात्रसे ही यह संपूर्ण अनुमान अनुमेयादिका व्यवहार चलता है; किंतु किसी बाह्य पदार्थके होने न होनेकी अपेक्षा नहीं करता है"। इस कथनके अनुसार जिस शून्यवादकी सचाई किसी प्रमाणसे निश्चित ही नहीं होसकती है उस शून्यवादका आदर बुद्धिमानोंके पास किस प्रकार होसकता है? कदाचित् विना परीक्षा किये ही योग्य अयोग्यका विचार न करता हुआ जो कोई उसका ग्रहण करै तो वह मूर्ख समझना चाहिये। यदि कदाचित् शून्यवादी अपना शून्यवाद सिद्ध करनेके अभिप्रायसे किसी प्रमाणको स्वीकार करै तो उसके ऊपर आगे कहा हुआ दोष आपड़ता है। वह दोष यह है कि प्रत्यक्षादि किसी प्रमाणका आश्रय लेते हुए शून्यवादीके ऊपर उसीका माना हुआ सिद्धान्त कोप करने लगेगा। अर्थात् शून्यवादपनेमें बाधा आजायगी। जिस प्रकार सेवकके विरुद्ध आचरणसे कुपित हुआ राजा सेवकका सर्वस्व हरलेता है उसी प्रकार शून्यवादरूपी सिद्धान्त शून्यवादके विरुद्ध प्रमाणादि आचरणको स्वीकार करते हुए शून्यवादीको देखकर उस शून्यवादीका सर्वस्व हरलेगा। शून्यवादका भलेप्रकार निरूपण करना ही शून्यवादीका सर्वस्व है।

कि च स्वाध्योपदेशेनैव तेन यतिना तुल्यपादः कृतश्चेति स्वीकृतमागमप्रमाणम् आवश्यकगिरि पुटदहन दृष्टान्तेन [illegible] वमाणाउ[illegible]करणाउ । किं च क्रमाण सम्मेग निंथा न गयवीति प्रमाणात्तनकीकरणे सम्पेषणार्थे लिंगोक्तम् । तत्प्रायश्च पूर्वतोव पुनः । न पुनः मुख्यपात्रोत्पत्त्यायाय स्वाहताग्रहपात्रादानार्थं। मुख्यपात्रेऽप्यभि प्रमेयत्वात् । अथ च तत्प्रतिपादनं कुतोऽवसेयं न मयुक्तागमेन इत्येवमादीनिप्रपञ्च—पञ्चम्यां मुख्यपात्रादौ दूरे आगमव्यव गर्भमात्रोपकारे पात्र-प्रमाणप्रकर्षापकर्षणि पिपत्रं यथा जघन्यं पलानाणं प्रमाणतः मुख्येतु । मध्यमेतरे हि अवधारतः । तत्रापि स्वशिष्यक-न्यविरुद्धाम्यां प्रमाणपरिमाणलोलापमाणान्तर पत्रेति ।

और भी एक दोष यह है कि मुखवस्त्रिकाको पात्रोंका आवरण कहना है यह अपने आगमोंके भी प्रतिकूल ही कहा है इसलिये उसने अपने आगममें तो पात्रका लक्षण कह ही नहीं, तो फिर उसका मुखवस्त्रिका किस प्रकार सिद्ध होसकता है! क्योंकि, एक आगमकी प्रमाणता तो वह अपने ही स्वीकार चुका । और दूसरा दोष यह है कि पात्रकी सिंधु सौवीरके लिये बड़ी होनेकी है इसलिये यदि मुखवस्त्रिकाको नहीं पात्रे भी बांधे जावें तो सिंधु नहीं हो सकते हैं । जैन और लिंग कुछ है ही नहीं तो मुखवस्त्रिकाकी सिद्धि अनेकोंके लिये अधिक प्रमाण कारण दे कुछ है किंतु मोल ही करना चाहिये । क्योंकि, मुखवस्त्रिका भी एक परिग्रह रूप वस्तु है। पाठवां—अब मुखवस्त्रिकाके लिये यह प्रश्न है कि मुखपर मुख बड़ा नहीं है तो मुखपरकी मुखवस्त्रिका को कहनी चाहिये । यहांपर 'मुख' शब्दसे तात्पर्य 'मुखपत्ति' | समाधान ; मुखके लिखनेसे आ-चार्यका यह अभिप्राय है कि मुखपर बांधकर खाना तो दूर ही रहा किंतु मुंहसे यह मुखवस्त्रिका लगेगा भी होगा तो मुंहके अंश स्वरूप होकर लगेगा । आचार्य-हमारे मतके अनुसार तो है परंतु प्रमाणका कुछ नियम अवश्य चाहिये । जैसे की अनंतानंत प्रदेशोंके विस्तारसे आकाशकी बड़ी अवगाहना भी सिद्ध होसकती है । यह बात कही है कि सिद्ध भगवान्‌का शरीर होनेसे मोक्षकी बड़ी हो जाती है उसी प्रकार यहां भी यह अपनी मुखवस्त्रिकाके सिद्ध भी मानलेंगे। शास्त्रसे यह सिद्ध होता है इसलिये यह सिद्ध मानने योग्य बात है। सर्वज्ञ यह अपने मुखमात्रमय मानते पैदल एवं मुंहपर मुखवस्त्रिका बांधकर फिरनेसे अपने सिद्धांतोंके विरुद्ध होता है। अपने मतमतांतर सिद्ध रहना ही तो सम्यक्त्वका चिह्न है और इसके विरुद्ध होने जाना ही अवश्य पाप समझना चाहिये ।

एवं सति ( अहोइत्युपहासप्रशंसायां ) तुभ्यमसूयन्ति गुणेषु दोषान्नाविष्कुर्वन्तीत्येवं शीलास्त्वदसूयिनस्तन्त्रान्तरीयास्तैर्दृष्टं मत्यज्ञानचक्षुषा निरीक्षितं अहो सुदृष्टं साधु दृष्टम्! विपरीतलक्षणयोपहासान्न सम्यग्दृष्टमित्यर्थः। अत्राऽसूयधातोस्तान्छीलिकणकृमात्तावपि बाहुलकाणिणन्। असूयाऽस्त्येषामित्यसूयिनस्तव्यऽसूयिनस्त्वदसूयिन इति मत्वर्थीयान्तं वा। त्वदसूयुदृष्टमिति पाठेऽपि न किंचिदचारु; असूयुशब्दस्योदन्तस्योदवनाद्यैन्यायसात्पर्यपरिशुद्ध्यादौ मत्सरिणि प्रयोगादिति।

इस प्रकार शून्यवादीका मत सदोष सिद्ध होनेपर 'अहो' शब्दसे उसकी हसी करते हैं। 'अहो' शब्दका अर्थ कहींपर तो हसी करना होता है और कहींपर प्रशंसा करना होता है। हे भगवन्! तुम्हारे विषयमें असूया करनेवाले अर्थात् तुम्हारे गुणोंमें दोष प्रकट करनेकी इच्छा रखनेवाले अन्यमतोंके धारक लोगोंने जो कुछ अपने खोटे मतिज्ञानरूपी नेत्रोंसे देखा है वह 'अहो' अर्थात् विचार करते हुए हमको हसी आती है कि कितना यथार्थ देखा है!!! यहांपर हसी इसलिये आती है कि उन्होंने जो देखा है वह कुछ भी ठीक नहीं देखा है। यथार्थ देखा है ऐसा यहांपर कहना भी हसी आनेके कारण ही है। यहांपर 'त्वदऽसूयिदृष्टम्' इस पदमें जो 'असूयि' शब्द है वह असूय धातुसे असूया करना है स्वभाव जिसका ऐसे अर्थमें बनता है। और यद्यपि यहां 'णक्' प्रत्यय प्राप्त होनेसे 'असूयक' शब्द बनना चाहिये था परंतु उस णक्प्रत्ययके प्रकरणमें बहुलताके अर्थका आश्रय लियागया है इसलिये 'असूय' धातुसे णिन् प्रत्यय होजानेपर 'असूयि' शब्द भी बनजाता है। व्याकरणशास्त्रमें बहुलता उसीका नाम है जिसका आश्रय लेनेसे नियमविरुद्ध प्रत्यय भी प्रयोगपरिपाटीके अनुसार हो जाते हैं। अथवा जिनमें असूया रहती हो वे असूयी हैं इस प्रकार 'असूया' शब्दसे तद्धितके प्रकरणकी मत्वर्थीय 'इन्' प्रत्यय करनेसे भी 'असूयी' शब्द बनजाता है। जो तुम्हारे गुणोंमें असूया करते हैं उनको त्वदसूयी कहते हैं। त्वदसूयियोंकर देखे हुए पदार्थको त्वदसूयिदृष्ट कहते हैं। पूर्वोक्त कारिकामें कोई 'त्वदसूयुदृष्टम्' ऐसा पाठ भी मानते हैं परंतु कुछ हानिकारक नहीं है। क्योंकि; ईर्षासूचक उकारांत असूयु शब्दका उच्चारण उदयनादिक ग्रन्थकारोंने भी अपने बनाये हुए न्यायतात्पर्यपरिशुद्धि आदिक ग्रन्थोंमें किया है। ॥१४५॥

इह शून्यवादिनामयमभिसंधिः—प्रमाता प्रमेयं प्रमाणं प्रमितिरिति तत्त्वचतुष्टयं परपरिकल्पितमयस्त्वेव विचारासहत्वात्तुरङ्गश्रृङ्गवत्। तत्र प्रमाता तावदात्मा। तस्य च प्रमाणग्राह्यत्वाऽभावादभावः। तथा हि। न प्रत्यक्षेण

[illegible]त्वात् । ननु [illegible] [illegible] [illegible]।
[illegible] । [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] सदा [illegible] । [illegible] । यथा [illegible]
[illegible] । [illegible] । [illegible]
[illegible] । यथा हि । [illegible] न [illegible] ।
[illegible] न [illegible] इति [illegible] ।

[illegible] है कि [illegible], [illegible] [illegible] । क्योंकि; [illegible] नहीं [illegible] । [illegible] है । [illegible] न [illegible] । [illegible] है : [illegible] क्योंकि [illegible], [illegible] है [illegible] है । और [illegible] है । क्योंकि, [illegible] है [illegible] है । और यदि [illegible] होना [illegible] न होना [illegible] होती [illegible] । क्योंकि, [illegible] होता है [illegible] है । [illegible] होता है, [illegible] होता है [illegible] होता [illegible] है, [illegible] । [illegible] है । क्योंकि, [illegible] है । और [illegible] है । [illegible] है । [illegible]

पदार्थको जिस प्रकार सिद्ध करता है उस पदार्थको दूसरा शास्त्र उस प्रकारसे अन्यथा ही साधता है। इस प्रकार जब शास्त्रोंमें परस्पर कहीं ही प्रमाणता नहीं दीखती है तो वे दूसरे पदार्थोंका निश्चय किस प्रकार करासकते हैं? इस प्रकार प्रमाता जो आत्मा माना गया है उसकी सिद्धि किसी प्रमाणसे भी नहीं होनेके कारण प्रमाता कोई वस्तु नहीं है।



प्रमेयं च बाह्योऽर्थः। स चानन्तरमेव बाह्यार्थप्रतिक्षेपक्षणे निर्लोठितः। प्रमाणं च स्वपराऽवभासि ज्ञानम्। तच्च प्रमेयाऽभावे कस्य ग्राहकमस्तु? निर्विषयत्वात्। किं चैतदर्थसमकालं तच्चिन्तकालं वा तद्ग्राहकं कल्प्येत? आद्यपक्षे त्रिभुवनवर्त्तिनोऽपि पदार्थास्तत्राऽवभासेरन्; समकालत्वाविशेषात्। द्वितीये तु निराकारं साकारं वा तत्स्यात्? प्रथमे प्रतिनियतपदार्थपरिच्छेदानुपपत्तिः। द्वितीये तु किमयमाकारो व्यतिरिक्तोऽव्यतिरिक्तो वा ज्ञानात्? अव्यतिरेके ज्ञानमेवायम्। तथा च निराकारपक्षदोषः। व्यतिरेके यद्ययं चिद्रूपस्तदानीमाकारोऽपि वेदकः स्यात्। तथा चायमपि निराकारः साकारो वा तद्वेदको भवेदित्यावर्त्तनेनानवस्था। अथाचिद्रूपः किमज्ञातो ज्ञातो वा तज्ज्ञापकः स्यात्? प्राचीने विकल्पे चैत्रस्येव मैत्रस्यापि तज्ज्ञापकोऽसौ स्यात्। तदुत्तरे तु निराकारेण साकारेण वा ज्ञानेन तस्यापि ज्ञानं स्यादित्याद्यावृत्तावनवस्थेति।

बाह्य पदार्थको प्रमेय कहते हैं। परंतु बाह्य पदार्थका विचार करनेमें बाह्य पदार्थका खंडन करते समय करचुके हैं। अर्थात् उस प्रमेयका खंडन अभीहाल करचुके हैं। प्रमाण उसको कहते हैं जो अपना तथा परका बतानेवाला हो। परंतु जब प्रमेयरूप बाह्य पदार्थ ही कोई वस्तु नहीं है तो विषय न रहनेपर प्रमाण बतावेगा किसको? और यदि प्रमेय तथा प्रमाण माने भी जांय तो क्या जब पदार्थ उत्पन्न होता है उसी समय प्रमाण उसको जानता है अथवा किसी दूसरे समय? यदि कहो कि पदार्थ जब उत्पन्न होता है तभी प्रमाण उस पदार्थको जानता है तो तीनो लोकमें होनेवाले सभी पदार्थ उस ज्ञानमें प्रतिभासित होने चाहिये। क्योंकि; समकालीन होनेसे जिस पदार्थको जिस समयमें जिस प्रकार जो ज्ञान जानता है उसी प्रकार और भी पदार्थ जो उसी समय उत्पन्न होते हैं वे सर्व उस ज्ञानके समकालीन हैं। यदि कहो कि पदार्थ उत्पन्न होजानेके अनंतर प्रमाण उस पदार्थको जानता है तो क्या जिस ज्ञानसे पदार्थ जाना जाता है वह ज्ञान निराकार ही है अथवा उसका कुछ आकार भी है? यदि वह ज्ञान निराकार ही है तो जिसका कुछ आकार ही नहीं है उस ज्ञानमें अनेक पदार्थका निश्चय होना

कठिन है। क्योंकि यह समुद्र है अथवा समुद्र नहीं है ऐसा विकल्प उसमें होसकता है जिसका कुछ कारण देखाजाता हो। और यदि यह किसी बाधक शक्ति के जो भी [illegible] तब जानो और फिर [illegible] है [illegible]। यदि [illegible] है तो यह [illegible] ही है इसलिये उसके [illegible] [illegible] न होवेगी [illegible] [illegible] होना नहीं भी असम्भव है। और यदि यह [illegible] [illegible] [illegible] है तो वह [illegible] है [illegible]। [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] तथा [illegible] की [illegible] [illegible] होना ऐसा [illegible] चाहिये। और [illegible] [illegible] [illegible] भी [illegible] है [illegible] [illegible] भी [illegible] [illegible] है [illegible] है [illegible] है। और यदि [illegible] है तो यह [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] है तो [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] मानते हैं उसी प्रकार यह [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] की [illegible] [illegible] होवेगी [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है। और यदि यह [illegible] [illegible] है [illegible] यह [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] होता है [illegible] [illegible] होवेगा। यदि [illegible] [illegible] [illegible] भी [illegible] [illegible] है वो भी [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible]। [illegible] [illegible] से [illegible] चाहिये। क्योंकि, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] की [illegible] है। और [illegible] [illegible] होकर [illegible] [illegible] होवेगी [illegible] [illegible] भी [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] की [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] होना [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं [illegible] है [illegible] [illegible] नहीं भी [illegible] और [illegible] है।

इसमें प्रमाणाऽभावे [illegible] [illegible] गुरुत्वनी? इति सर्वज्ञाभ्युपगम पर [illegible] [illegible]। तथा च [illegible] "यथा [illegible] [illegible] विलोकितं [illegible] तथा। [illegible] [illegible] [illegible] तथा [illegible] प्रमाद"। इति पूर्वपक्षः। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।

इस प्रकार जब प्रमाण ही सिद्ध नहीं होता तो प्रमाणके फलरूप प्रमितिकी क्या कथा? इसलिये सर्वथा शून्यता मानना ही उत्तम सिद्धांत है। ऐसा ही कहा भी है "जैसा जैसा विचार करते हैं तैसा तैसा ही पदार्थका विलय होता जाता है। यदि कोई पूछे कि तुम प्रत्यक्ष दीखते हुए पदार्थोंका अभाव कैसे करसकते हो तो हम उत्तर देते हैं कि हम कुछ नहीं करते हैं परंतु जब पदार्थोंका स्वरूप ही ऐसा है तो उसमें हमारा करना क्या है? इस प्रकार शून्यवादी अपने मतका मंडन करता है। यदि विस्तारसे इसका विवेचन देखना हो तो तत्त्वोपप्लवसिंहनामक ग्रन्थको देखलेना चाहिये।

रा.जै.शा

अत्र प्रतिविधीयते। ननु यदिदं शून्यवादव्यवस्थापनाय देवानांप्रियेण वचनमुपन्यस्तं तच्छून्यमशून्यं वा? शून्यं चेत्सर्वोपाख्याविरहितत्वात् खपुष्पेणेव नानेन किंचित्साध्यते निषिध्यते वा। तत्सिद्धं निष्प्रतिपक्षा प्रमाणादितत्त्वचतुष्टयीव्यवस्था। अशून्यं चेत्तल्लीनस्तपस्वी शून्यवादः; भवद्वचनेनैव सर्वशून्यतायां व्यभिचारात्। तत्रापि निष्कण्टकैव सा भगवती। तथापि प्राभाणिकसमयपरिपालनार्थं किंचित्तत्साधनं दृष्यते। तत्र यत्तावदुक्तं प्रमातुः प्रत्यक्षेण न सिद्धिरिन्द्रियगोचरातिक्रान्तत्वादिति तदसिद्धसाधनम्। यत्पुनरहंप्रत्ययेन तस्य मानसप्रत्यक्षत्वमनैकान्तिकमित्युक्तं तदसिद्धम्; अहं सुख्यहं दुःखीत्यन्तर्मुखस्य प्रत्ययस्य आत्मालम्बनतयैवोपपत्तेः। तथा चाहुः "सुखादि चेत्यमानं हि स्वतन्त्रं नानुभूयते। मनुष्यर्थानुबंधोत्तु सिद्धं ग्रहणमात्मनः।१। इदं सुखमिति ज्ञानं दृश्यते न घटादिवत्। अहं सुखीति तु ज्ञप्तिरात्मनोऽपि प्रकाशिका।२।" यत्पुनरहं गौरोहं श्याम इत्यादिवद्बहिर्मुखः प्रत्ययः स खल्वात्मोपकारकत्वेन लक्षणया शरीरे प्रयुज्यते। यथा प्रियभूत्येऽहमिति व्यपदेशः।

अब इस शून्यवादीके मतका खंडन करते हैं। हम पूछते हैं कि इस शून्यवादीने सर्वशून्यता सिद्ध करनेकेलिये जो वचन बोला है वह भी कुछ है अथवा शून्यरूप ही है? यदि कुछ नहीं है किंतु शून्य ही है तो जिस प्रकार आकाशके पुष्प कुछ न होनेसे कुछ नहीं कर सकते हैं उसी प्रकार इसके वचनसे भी असत्स्वरूप होनेके कारण न तो किसी शून्यवादादिककी सिद्धि होसकती है और न किसी विद्यमान पदार्थका निषेध होसकता है। इसलिये ऐसे शून्यवचनद्वारा निषेध न होसकनेसे ही प्रमा-

॥१४७॥

१ अशून्यपक्षेऽपि। २ तत्त्वचतुष्टयी। ३ चेत्यमानम्। ४ अनुभवात्।

[illegible] [illegible] [illegible] ऐसा निष्कर्ष सिद्ध होता है । और यदि [illegible] [illegible] [illegible] गुण है ऐसा [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] क्योंकि, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] विद्यमान [illegible] [illegible] है जो [illegible] [illegible] [illegible] । इसलिये [illegible] भी [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] सिद्ध है । इस प्रकार [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं होसकता है जो [illegible] पूर्वोक्त [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हैं । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं है क्योंकि, [illegible] [illegible] नहीं है और यह [illegible] । [illegible] भी [illegible] है । अर्थात् [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] कि आत्मा [illegible] [illegible] असिद्ध नहीं है । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] मैं सुखी हूं मैं दुःखी हूं इत्यादि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] मानना है, क्योंकि, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] मानने में भी [illegible] है । [illegible] यह कहना [illegible] है क्योंकि; मैं सुखी हूं मैं दुःखी हूं ऐसा [illegible] [illegible] [illegible] की [illegible] हो सकता है । [illegible] कहा भी है " [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] नहीं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] सिद्ध होता है । यह गुण है [illegible] [illegible] ऐसा जो गुण होता है वह [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है । अर्थात् [illegible] [illegible] [illegible] ऐसा [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] मैं सुखी [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] गुण [illegible] नहीं [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] होता है । इसलिये [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] सिद्ध [illegible] [illegible] [illegible] सिद्ध होता है " । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] गुण [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है तथा [illegible] [illegible] [illegible] है । अर्थात् [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हैं । [illegible] [illegible] भी [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] कि [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] है :

यच्चाहंप्रत्ययस्य कादाचित्कत्वं तत्रेयं वासना ।– आत्मा तावदुपयोगलक्षणः । स च साकाराऽनाकारोपयोगयोरन्यतरस्मिन्नियमेनोपयुक्त एव भवति । अहंप्रत्ययोऽपि चोपयोगविशेष एव । तस्य च कर्मक्षयोपशमवैचित्र्यादिन्द्रियाऽनिन्द्रियालोकविषयादिनिमित्तसव्यपेक्षतया प्रवर्त्तमानस्य कादाचित्कत्वमुपपन्नमेव । यथा बीजे सत्यामप्यङ्कुरोपजननशक्तौ पृथिव्युदकादिसहकारिकारणकलापसमवहितमेवाङ्कुरं जनयति; नान्यथा । न चैतावता तस्याङ्कुरोत्पादने कादाचित्केऽपि तदुत्पादनशक्तिरपि कादाचित्की; तस्याः कथंचिन्नित्यत्वात् । एवमात्मनः सदा सन्निहितत्वेऽप्यहंप्रत्ययस्य कादाचित्कत्वम् । यदप्युक्तं तस्याऽव्यभिचारि लिङ्गं किमपि नोपलभ्यत इति तदप्यसारं; साध्याऽविनाभाविनोऽनेकस्य लिङ्गस्य तत्रोपलब्धेः ।

अहंकारकी उत्पत्तिका कारण जो आत्मा है सो तो सदा ही विद्यमान है इसलिये यदि अहंकार आत्मामें होता हो तो सदा ही होना चाहिये परंतु सदा नहीं होता है सो क्यों ? इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है कि उपयोग नाम चेतनाका है । वह चेतना दोप्रकार है प्रथम निराकार दूसरी साकार । साकार चेतनाको ज्ञान कहते हैं और निराकारको दर्शन अथवा दर्शनोपयोग । ये ज्ञान दर्शन तो चेतनागुणके पर्याय हैं और चेतना सदा शाश्वता है और इन पर्यायोका मूल कारण है । पर्याय तो क्षणभंगुर होते हैं परंतु गुण सदा विद्यमान रहता है तथा उसमें सदा कोई न कोई पर्याय उपजता तथा नष्ट होता ही रहता है । इसलिये चेतनाकी ज्ञान दर्शनरूप साकारनिराकार पर्यायोमेंसे कोई न कोई पर्याय आत्मामें सदा होता ही रहता है । अहंकार भी एक प्रकारका ज्ञानरूप उपयोग है । आत्मामें बंधे हुए कर्मोमेंसे जिस समय जैसे ज्ञानावरण कर्मका क्षय तथा अनुदय होता है वैसा ही इन्द्रिय, मन तथा प्रकाशादिकोके सहारेसे इस आत्मामें ज्ञान उत्पन्न होता है । इस प्रकार आत्मामें ज्ञानोत्पत्तिकी शक्ति सदा रहनेपर भी ज्ञानके उत्पन्न होनेमें अनेक कारणोकी आवश्यकता होनेके कारण जब सर्व कारण मिलते हैं तभी ज्ञान प्रकट होसकता है; सदा नहीं । जैसे बीजमें अंकुर उत्पन्न करनेकी शक्ति यद्यपि सदा विद्यमान है तो भी अंकुरकी उत्पत्ति तभी होसकती है जब उत्पन्न होनेके योग्य मट्टी पानी आदिक संपूर्ण कारण एकत्रित होजांय । जबतक संपूर्ण कारण न मिलें तबतक अंकुरकी उत्पत्ति होना यद्यपि असंभव है तो भी उत्पत्ति न होनेसे ही ऐसा नहीं कहसकते हैं कि अंकुर उत्पन्न करनेकी शक्ति भी बीजमें कदाचित् ही होती है । क्योंकि; सभी शक्ति द्रव्यकी अपेक्षा सदा शाश्वती रहती हैं । इसी प्रकार यद्यपि आत्मा सदा संनिकट

विषयान् अन्ना है तो भी शास्त्र वर्णी तुलसीदास है जब तीसरे कितने चलकी होनेमाने है । और जो यह कहा कि इस जगत्के उत्पत्तिमात्र में ईश्वर हेतु नहीं सिध्यत है जो बातोंके बिना कहीं कुछ न सकता हो ऐसे कह कहना भी सिद्धा है । यथोक्तः ऐसे अनेक हेतु मिलते हैं जो जगत्के कार्योंमें कहीं नहीं सकते ।

तथा च । कथमुत्पत्तिमिच्छः कर्तृत्वं किमपेक्षते । पितृपितृपितृत्वं । यत्तावत्पाठ फर्त्ता स आत्मा । न तावत्र चक्षुरादीनां कर्तृत्वं । तेषां कुठारादिवत् करणत्वेनाकर्तृत्वात् । करणत्वं चैषां बीजादिवत्तेनाऽचेतनत्वात् परार्थत्वात् । लोकवृद्धव्यवहारानिष्पन्नत्वात् । यदीन्द्रियाणामेव कर्तृत्वं स्यात्तदा तेषु पितृष्टेषु पुनर्जन्मनि पुनर्जन्मनि पुनर्जन्मनि दृष्टं स्यात् । तत्पाकस्यादिति सूत्रमिति । तत्तत्तानामेकत्वमुपलब्धरभिन्नत्वं । किं पौद्गलिकानां स्वाभिविषयनिरूपणेन प्रवृत्तयः । सहदृष्टयपपत्तौ न तत्सम्बन्धः । अस्ति च तत्पाविषकत्वे उक्तयुक्तानामनन्तरं तत्पक्षपरिग्रहानुपपत्तौ दिग्मोहिकस्याऽप्यनुपपत्तेः । अत्यन्तुपपत्तौ पाणिगोऽन्यत्वं । तेषां च प्रत्यक्षादिभिर्विषयाणां अन्तःकरणस्यैव परिच्छेदकत्वोपपत्तेः । तत्तानुपपत्तेः । पक्षैकत्व व्यवस्थितिर्वा न प्रमाणं ।

तब तब ये दृश्योंको सिद्धान्ते हैं । उत्पादक पुरुषेच्छ जो तैसादि ज्ञान जरूर होता है वह जगत् कर्त्ताके बिना नहीं होसकता है । यथोक्तः, यह सत्तेश एक अवश्यकी सिद्ध है । जैसे पुरुषार्थसे घटादिक जो किया है वह बिना किसी कर्त्ताके नहीं होसकता है । जो यह कहना कहने लायिक नैयायिकोंका है उसीका नाम लक्षण है । और जिस प्रकार पुरुषार्थसे कार्योंमें पुरुषादि कर्त्ता कारणोंकी नहीं है उसी प्रकार पृथिव्योंकी स्वयंसिद्धसे होनेमें जानेवाले जो इन्द्रिय सब होनेमें जानेवाली नहीं होसकती किन्तु होनेमें जानेवाला कोई और ही होना चाहिये । क्योंकि इन्द्रियके जैसे घटादिमें पुरुषादि कारणरूप होनेमें सिद्धान्तके कारण हैं वैसे कारण है । फल उसको कहते हैं जो एक प्रकार पुरुष क्रियाओंके बिना ही करें जाता है किन्तु कर्त्ता कारणोंका न हो तब उसको कुछ नहीं कहा जाता है । यह कारणका लक्षण पृथिव्योंमें भी घटता है इन्होंने इन्द्रिय भी कहा ही है । कहीं कहना कार्य कारणोंसे सहित होता है, और पाषाण है उस प्रकारका है और यह नहीं कहना है उस कहीं सम्बन्धित है । यह कारणका लक्षण इन्द्रियोंमें भी घटता है इन्होंने इन्द्रिय भी कहा ही है । कहीं कहना कार्य कारणोंसे सहित होता है, और पाषाण है उस प्रकारका है और यह नहीं कहना है उस कहीं सम्बन्धित है । यह कारणका लक्षण इन्द्रियोंमें भी घटता है इन्होंने इन्द्रिय भी कहा ही है । यदि इन्द्रिय ही कर्त्ता हो तो किस इन्द्रियके जिस किसी कारणका अनुभव होनेसे जिसका या उस कारणके अनुभवका स्मरण होनेमें अनुभव यह इन्द्रिय कभी नहीं हो ।

क्योंकि; जो अनुभवका कर्ता होता है वही उसका स्मरण करसकता है। परंतु उस इंद्रियके नष्ट होजानेपर भी ऐसा स्मरण होता है कि मैंने सूंघा था, देखा था, सुना था इत्यादि; अथवा ऐसा ज्ञान भी होता है कि जिसने सूंघा था, देखा था, सुना था वह मैं ही हूं। और भी एक दोष यह है कि इंद्रियोंमेंसे प्रत्येकका विषय नियत है जैसे नेत्र रूपको ही जान सकते है, कान शब्दको ही सुन सकते है इत्यादि। किसी भी इंद्रियकी ऐसी शक्ति नहीं है जो किसी एक ही इंद्रियसे रूपरसादिक सभी विषयोंका अनुभव होसके। परंतु रूप रसादिक अनेक विषयोंका अनुभव कोई एक करता अवश्य है, नहीं तो आमका रूप देखनेके अनंतर ही जीभपर पानी क्यों आजाता है? अर्थात्—यदि अपने अपने विषयको वे इंद्रिय ही जाननेवाली हों; दूसरा कोई एक सबोंका अनुभवकरता न हो तो जब जिव्हा रसको चाखचुकै तभी उसपर पानी आना चाहिये परंतु देखते है कि सुन्दर फलके देखनेमात्र ही जिव्हापर पानी आजाता है। इसलिये गवाक्षगत प्रेक्षकके समान सर्व इंद्रियोंमें तथा मनमें रहकर प्रेरणा करनेवाला इंद्रियोंके अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ भी है। इस प्रकार इंद्रिय तो परतंत्र होनेसे कारण ही हैं किंतु इंद्रियोंको प्रेरणा करनेवाला आत्मा एक भिन्न वस्तु सिद्ध हुआ।

तथा साधनोपादानपरिवर्जनद्वारेण हिताऽहितप्राप्तिपरिहारसमर्था चेष्टा प्रयत्नपूर्विका विशिष्टक्रियात्वाद्रथक्रियावत्। शरीरं च प्रयत्नवदधिष्ठितं विशिष्टक्रियाश्रयत्वाद्रथवत्। यश्चास्याधिष्ठाता स आत्मा सारथिवत्। तथैव पक्षे इच्छापूर्वकविकृतसाध्याश्रयत्वाद् भस्त्रावत्। वायुश्च प्राणापानादिः। यश्चास्याधिष्ठाता स आत्मा भस्त्राध्मापयितृवत्। तथाऽत्रैव पक्षे इच्छाधीननिमेषोन्मेषवदवयवयोगित्वादारुयन्त्रवत्। तथा शरीरस्य वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणं च प्रयत्नवत्कृतं; वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणत्वाद्गृहवृद्धिक्षतभग्नसंरोहणवत्। वृक्षादिगतेन वृद्धादिना व्यभिचार इति चेन्न तेषामपि एकेन्द्रियजन्तुत्वेन सात्मकत्वात्। यश्चैषां कर्त्ता स आत्मा गृहपतिवत्। वृक्षादीनां च सात्मकत्वमाचाराङ्गादेरवसेयं किंचिद्वक्ष्यते च।

तथा हितकी साधनरूप सामग्रीके ग्रहण करनेमें और अहितके उपजानेवाली सामग्रीके छोड़नेमें जो चेष्टा होती है वह किसी न किसी प्रयत्न द्वारा ही होसकती है। क्योंकि; वह चेष्टा भी एक प्रकारकी क्रिया है। क्रिया जितनी होती हैं वे सर्व किसी न किसी प्रयत्नसे ही होती हैं। जैसे रथके चलनेकी जो क्रिया है वह हांकनेवालेके प्रयत्नसे अथवा बैल घोड़ोंके खींचनेरूप प्रयत्नसे होती है। जबतक यह प्रयत्न न किया जाय तबतक यह क्रिया भी नहीं होसकती है। और जो शरीर है वह जैसे रथ रथके चलनेकी

प्रेमाका अपूर्व है और सत्य है। जो एक चीजको हिंसाविरुद्ध लिये हमला करता है वह भला भी है। जैसे हमारे हाथोंका दृष्टांतरूप जानो। और जो जैसे जब कोई चलनेवाला होता है तभी गतवंधोंसे बिलता वायु यदिये उसका निकलना है नहीं तो वहीं जैसे शुद्धिका गतागतविधि वायु हमारानुकूल उसी पक्ष सहना है अब कोई इस शरीरके अंगको हुकाने-वाला हो। जिस प्रकार शरीरकी इच्छेषनका कोई नहीं होता है उसी प्रकार अवागवादि वायुको इच्छानुकूल वर्तनेवाला जानो है। और भी इसी प्रसंगसे एक दीपका अदृष्टांत कहते हैं कि हम। जैसेकि प्रेमाकृत्ति अनेकों अवयव विद्यत अनेकों अवयव हैंसने बोलनेके भी जो चेला है वह किसी न किसी इन्द्रियके अधिष्ठित करने योग्य नहीं होसकता है। जैसे शरीरके बने हुए पदार्थके विशेष जैसे होते हैं जो इसमेंसे रहते जाते हैं तथा हाथ जिस आदिसे कि वह होजाते हैं : इसलिये जे लिखेसे जिस प्रकार इनकी चेतना जिस प्रकार बड़ी एकसे मन हर नहीं हैंसकते हैं तभी शरीर अवयवोंके बिना अनिष्टे चेतनादि संयोग रहना कैसेहोना असंभव है। और जो अवयवकी सिद्धि करनेसे एक अनुमान यह है कि इन्द्रियोंकी सिद्धि होनेसे तथा किसी अधिष्ठानादि स्व इन्द्रियोंसे भी जिसे चक्षुकी पुतली इत्यादिक जो अंग हैं वे किसी न किसी प्रयोजनीय अवयवके बिना नहीं होसकते हैं। क्योंकि, वे इन्द्रियोंके सुरक्षांग अर्थ भी एक प्रकार हुवेहुवेकी अवयव होनेके कारण हैं। जैसे पलका भाग कार्यसाधक हुवेहुवेका सम्पादन करना किसी पलकोंके बिना नहीं होसकता वैसे ही किसी विशेष पलकोंके बिना सुरक्षाकी इच्छे यदि तथा पलका पुतला इत्यादि कार्य नहीं होसकते हैं। इन्द्रियोंमें भी जो कुछ हलके होती है वह तेजके न लिये देहादिक बीजके प्रयोजन ही होती है। अब बीज नहीं कहता है वह इन्द्रियोंका परना पवना भी बंद ही जाता है। यानिये एकदेशेके इन्द्रियोंसे भी सुरक्षा अनुमानसे भाव नहीं है। जैसे पलका भाग यदि पलके पलाने विपक्षणेगाद होता है जैसे भी इस पलके प्रयोजनके सम्बन्धका है वही जाना है। इन्द्रियोंमें जो जैसे जाने जाते हैं उनका जैसाका अवयवादि सामीपे पलेना नहीं है तथा इस भेद एक कहेंगे।

तथा वेर्प गत्र गतिलक्षिविषक्षकल्पविशेषिसंक्षिप्तप्रत्यक्षहाराणगोलकवत्। कथाश्च प्रेमकः न आत्मा इति। लोक आत्मवेत्तलक्षेऽन्यत्रीयगुणवादयः पर्याप्ति न निर्विशिष्टाः पर्यालम्बात् कलशुलकवणादिगर्यालवत्। व्यक्ति-रेके सप्तभूतादि। यत्रैषां विषय- का अभाव। अपरात्रलक्षात्मा अवयवलक्षणं पर्यायवत्कल्पात्। गोरे पोडशाङ्गुलिकस्तु

द्धपर्यायवाच्यः स सोऽस्तित्वं न व्यभिचरति । यथा घटादिः । व्यतिरेके खरविषाणनभोऽम्भोरुहादयः । तथा सुखादीनि द्रव्याश्रितानि गुणत्वाद्रूपवत् । योऽसौ गुणी स आत्मा । इत्यादिलिङ्गानि । तस्मादनुमानतोऽप्यात्मा सिद्धः । आगमानां च येषां पूर्वापरविरुद्धार्थत्वं तेषामप्रामाण्यमेव । यस्त्वाप्तप्रणीत आगमः स प्रमाणमेव कषच्छेदतापलक्षणोपपन्नत्वात् । कषादीनां च स्वरूपं पुरस्ताद्वक्ष्यामः ।

और भी इस विषयमें अनुमान दिखाते हैं । अभिमत कार्योंकी तरफ जो मन दौड़ता है वह किसी न किसीकी प्रेरणासे ही दौड़ता है । क्योंकि; जब दौड़ता है तब किसी चलित पदार्थपर ही पहुंचता है । ऐसा नहीं है कि दौड़ते दौड़ते अनिच्छित पदार्थ पर भी पहुंच जाता हो । जैसे बालकके हाथका गोला । यह गोला वहां फेंका जाय वहां ही फेंकनेपर जापड़ता है । ऐसा नहीं है कि गोला फेंका तो पूर्व दिशाकी तरफ जाय और पड़ता हो पश्चिम दिशामें । इसलिये जिस प्रकार गोलाको फेंकनेवाला बालक है उसी प्रकार मनको चलानेवाला आत्मा है । और भी आत्मा, चेतन, क्षेत्रज्ञ, जीव तथा पुरुष इत्यादिक जो पर्याय हैं वे किसी न किसी द्रव्यके बिना उत्पन्न नहीं होसकते हैं। क्योंकि; पर्याय जितने होते हैं वे किसी न किसी द्रव्यके ही होते हैं । जैसे घड़ा सरवा कलश इत्यादि पर्याय मृत्तिकाद्रव्यके हैं । तथा जिनका कोई आदिकारणरूप द्रव्य नहीं मिलता है वे सचमुच कुछ होते ही नहीं । जैसे छट्ठा भूत । छट्ठे भूतका कोई मूलकारण नहीं है इसलिये छट्ठाभूत केवल कहनेमात्र है; सचमुच कोई वस्तु नहीं है । आत्मा चेतन पुरुष इत्यादि नामवाले पर्यायोंका जो मूलकारण है उसीका नाम आत्मा है । तथा और भी कहते हैं। किसी विकृत पर्यायका नाम न होकर शुद्ध निर्विकार वस्तुका वाचक होनेसे आत्मशब्दका वाच्य अवश्य कोई न कोई वस्तु है । जो जो शब्द विनासंकेत शुद्ध वस्तुके वाचक होते हैं वे ये अपनी अपनी वस्तुकी सत्ताको कभी नहीं छोड़ते । जैसे घट आदिक । और जो शब्द किसी संकेतितमात्र वस्तुके वाचक होते हैं उन शब्दोंके वाच्यरूप पदार्थ कुछ भी नहीं होते हैं । जैसे गधेके सींग तथा आकाशके कमल । तथा जो सुखदुःखादिक हैं वे एक प्रकारके गुण अथवा स्वभाव हैं इसलिये इनका आश्रय कुछ न कुछ अवश्य होना चाहिये । क्योंकि; गुण अथवा स्वभावोंकी स्थिति किसी द्रव्यके विना नहीं होती । जो उनका आश्रय है वही आत्मा है । इत्यादि अनेक साधनोंसे आत्मा सिद्ध होता है इसलिये अनुमानसे भी जीवद्रव्य सिद्ध है । और आगमोंमें जो परस्पर विरुद्धता कही वह कहना भी ठीक नहीं है । क्योंकि; सभी आगम तो परस्पर विरुद्ध अर्थको कहते ही नहीं हैं । जिन आगमोंमें

गास्त्र विरुद्ध सर्व पोथड़ा हो ते अप्रमाण ही है। परंतु गोम्मटके नाम दोनोंमेंके जिनमें एक पोथड़ा पकड़ लिया है तथा फालटू कल्पित अर्थ कर दोनोंको गर्भित कर लिया है दोनों तथा अनुवादके जो अन्य। पढ़े हैं वे भी ऐसे ही हैं। क्योंकि, अनुवादित पाठोंमें कुछ ( अँगरेजी हिंदी )। जैसे तथा उक्त इत्यादिके मूल पुस्तकोंका पता लिखा नहीं दिया है। जिस पाठोंसे लिये अनुवाद हैं लिखनेवाले अथवा छपानेवाले मूल दोष पढ़ हैं उन्होंने मनमाना अर्थ कर लिया है। परंतु जिन मार्गणे हिंदादिक पुस्तकोंसे अनुवाद हुये हैं उन्हें मूल पुस्तक देखे बिना उनके अशुद्ध अथवा अपूर्ण होनेका निर्णय नहीं हो सकता है। फिर, जैसे उक्त गाथा नंबर ७२ के अंकको लेकर देखिये।

न च पाषण्डाम। औपशमपदेऽक्षपाणिके चतुरस्रे फणाली तालीति। यतो दशगाथा कल्पचिदल्पबुद्धिभि-रुक्ते गन्धर्वादिषु क्षुद्रोपद्रवकोऽप्यर्थवोपकल्पात् पूर्णाधोगतकलशदर्पटकरत्। तथा चाह। "मेरुतटो नाडिनो माया दृष्टा निक्षिप्तावरा। ) मेरुपकटनाशादयो यद्वत्तेषं रागादयो मता।" इति। यत्र च नोपगच्छगाम्यैरे मि-श्रीता। न दृष्टाते गाथाकरण् तीर्थंकर। अपटेनादिवाक्षाशादीनां कथ पदार्थ दृष्टि योगा। तपरेतरलक्षणात्। यावत्तेषि सुपूर्णमकल्प ज्ञानस्वभुवमाकारिना लिप्तलेपनस्थान् तथदेवाचार्टेत्यामपि रागादिदोषाणा प्रतिपक्षभू-तस्याभ्यासेन विरोधोपपत्ते। क्षीणदोषस्य च केवलज्ञानाद्यभिधानात्सर्वज्ञत्वम्। नाशिकेत्तु-ज्ञानतारतम्ये सर्वविदुत्वाभावे तावज्ज्ञानावरणकर्मक्षयविशेषाभावात्तुल्यवत्। तथा हि-ज्ञानावरणविशेषाणा। फणविशेषमाणा मनुमेयभाव्-विशिष्टफलवत्त्वविशेषानुमेयत्ववत्। पूर्व चतुर्दशपूर्वाणि विदुषकल्पांविज्ञानशक्तिमाश्रित्याऽक्षरपदादिभेदभिन्नानि-त्यादि हेतवो वाच्यः। तदेवमाह मार्गणेषु अणीत मार्गाद। अमार्गमेव। तदमानाकर्ते हि पदार्थस्वरूपनिरूपणम्। "यथागता हेतवो हेतुहता शास्त्रयुक्त्यं स्वरूपम्। यस्य तु नैते शोपरक्तस्तस्त्वमेवं किं स्यात्" इति न्यायात्। सर्वोत्तम निर्दोषत्वपुरुषादिशब्देन। इति सिद्ध मार्गाद्यादेशात्मा "एवं मार्गा" इत्यादिवचनात्।

गाथाके संबंधमें जो विशेष कहना होवे सो ७ वे अंक में है। जैसे अन्य ग्रंथोंमें अनेक गाथा भिन्न भिन्न ग्रंथोंमें भी होती हैं। उसी तरह इन गाथाओंके भी अनेक ग्रंथोंमें होनेसे कोई अशुद्ध नहीं हो सकते हैं। क्योंकि, अन्य ग्रंथोंमें भी इन गाथाओंकी जो भिन्नभिन्न छाया होती है। जिन भिन्नभिन्न छायाओंसे अनेक दीनभिन्न पीछाने हैं वे भिन्नाक्षरोंसे भी भिन्न संख्या नहीं भी होसकते हैं। किंतु पाठा मूलके अक्षरोंको बोधनेवाले

मेघपटलोंकी कभी कहीं हीनाधिकता होती दीखती है इसलिये कभी कहींपर उनका सर्वथा नाश भी होजाता है। अन्यत्र भी यह कहा है "जिन विकारोंकी कमकमसे कभी हानि कभी वृद्धि होती है उनका कभी सर्वथा नाश भी होजाता है ऐसा नियम है। जिस प्रकार मेघपटल कभी बढते कभी घटतेहुए दीखते हैं इसलिये कभी सर्वथा नष्ट भी होजाते है उसी प्रकार जीवके रागद्वेषादिक दोष भी कभी किसी जीवमें बढते हैं तथा कभी घटते हैं इसलिये इनका कभी सर्वनाश भी होसकता है। जिस जीवके रागादिक दोष सर्वथा विलीन होगये हों वही सर्वज्ञ आप्त भगवान् है। कदाचित् कहो कि जिन रागादिक दोषोंका जीवके साथ अनादि कालसे संबंध है वे किसी प्रकार क्षीण नहीं हो सकते है परंतु यह कहना अयोग्य है। उपाय करनेसे उनका भी नाश होसकता है। जबतक सुवर्ण खानिसे निकालकर शुद्ध नहीं किया हो तबतक उसमें जो किट्टिमा संसक्त होरही है वह अनादि-कालसे ही होरही है परंतु जब उसको सुहागे अग्नि आदिकोंका पुट देकर शुद्ध करते है तब सुवर्ण तथा किट्टिमा भिन्न भिन्न होकर सुवर्ण सर्वथा शुद्ध होजाता है। इसी उदाहरणके अनुसार यद्यपि जीवके साथ रागादिक अनादि कालसे संसक्त होरहे है परंतु जब आत्मरूपी मलिन सुवर्णको रत्नत्रयरूपी अग्निपुटमें रखकर शुद्ध किया जाता है तब रागादिक तथा आत्मा भिन्न भिन्न होकर आत्मद्रव्य सर्वथा निर्दोष होसकता है। और जब दोष क्षीण होजाते है तब केवलज्ञान उपजता ही है। जिस स्वभावकी वृद्धि कुछ कुछ होती रहती है उसकी कहीं पूर्ण वृद्धि होजाना भी संभव है। इसी नियमके अनुसार ज्ञान गुणकी वृद्धि भी जो उत्तरोत्तर एकसे दूसरेमें अधिक होती हुई दीखती है वह किसी जीवमें सर्वोत्कृष्ट भी हो सकती है। जैसे आकाशको नापनेपर बढता हुआ ही दीखता है परंतु इसकी भी वृद्धि कहींपर सर्वोत्कृष्ट है। केवलज्ञान होगा इस अनुमानसे संभव है। तथा और भी कई अनुमानोंसे सर्वज्ञके ज्ञानकी सिद्धि होती है। कैसे? स्वभावसूक्ष्म जो दृष्टिसे प्रत्यक्ष न होसकें ऐसे परमाणु आदिक, जिनके बीचमें बहुतसा व्यवधान पड़ा हो ऐसे सुमेरु आदिक तथा जिनमें कालका बहुतसा अंतर पड़गया हो ऐसे रामरावणादिक पदार्थ भी किसीको प्रत्यक्ष दीखने चाहिये। क्योंकि; अनुमानसे जब हम विचार करते हैं तब उनका होना सिद्ध होता है। जैसे यद्यपि पर्वतपर होनेवाली अग्नि हमको कभी कभी प्रत्यक्ष नहीं होती तो भी धूम देखकर अनुमानसे उसको सिद्ध करलेते हैं इसलिये वह हमको प्रत्यक्ष न होनेपर भी किसी न किसीको प्रत्यक्ष होसकती है उसी प्रकार यद्यपि परमाणु आदिक हमको प्रत्यक्ष नहीं हैं तो भी अनुमान द्वारा सिद्ध होनेसे किसी न किसीको प्रत्यक्ष भी अवश्य होने चाहिये। इसी प्रकार जो चंद्रसूर्यके ग्रहण आदिक

।किन्तु शिष्योंको यात्रा आरम्भसे पूर्वोक्तिके अनुसार है यह बहुत पहलेसे पढ़ने की पद्धति है कि अट्ठाईस मास्टर पढ़ेंगे। और यह पढ़ना यात्रा होना है। ऐसे शास्त्रोंको पढ़ा जाना चाहिए। जो यह पढ़ते हैं। जिन्होंने पढ़ा है उनके साथ किसी बहाने और अज्ञान नहीं होना चाहिए। आप ने तो अनुवाद होने हैं जिसके पढ़नेसे लाभ विशेष न हो, यह भी है कि "हमारे देशके लोग संस्कृतके बड़े विद्वानोंका बहुत कुछ होना। जाता है। किसी के दोष ही नहीं लेते यह अनुवाद किया हुआ पढ़ना ठीक है"। इसके बाद तो पढ़ने है यहां तक कि हमारे शास्त्रोंके बनानेवालोंको क्योंकि गाता तो आपसे होना नहीं। यह भी भूले दे। वेदों विशेष इसमें आलोचना "अन्य। अनेक। है" इसलिए बनानेके सिद्धान्तोंके आनन्दवालसे भी नीचपन्थ श्रेष्ठ है।

तदेतं गणधरानुभावागमो। सिद्धः प्रमाता। समेयं चानन्तरमेण पाठार्थेभ्यापने प्रतिपाद्यु। अनेनात्मा 'अनाद्य ज्ञान ब्रह्म प्रमेयाभावे कल्प तत्पदस्यन्तु लिंगिनिलक्षणात्' इति सूत्रकरणार्थे। करणत्वान्तरेण क्रियासिद्धेलोगाल्पनक दिशु लक्षा वर्णनात्। कर्मार्थेकमनाद्यमिलाषुके तत्र विकल्पदृग्नवि स्त्रीगोत्वेन एव। अस्मत्यदिपत्यंश हि एवम् कारणपदैकवनफुलवं प्रवर्त्यस्त्रीलिंगत्वेन प्राहके शब्दाकृपाने च प्रेक्षानिकलाभ्यांश्च परिच्छेदके। लिंगाकार चैलाद्यपयत्ने। न चाप्योपाद्य। स्वतन्त्रादावरणैर्यान्त्रारापवर्णेनेकक्रमपिंडेगपत्रादेणाय चैपदेन अनुगोः। शेषपिक न्यायानन्तोकार एव लिंगलक्षणः। अधिलेषु पणाचरेत्व चल्ल एव सर्वेन्द्रलिंगेन। न एतेनुपदेशेनुपदेशेनुपदेशेन। चलं ''। लिंगनन्तर्पेपाकर्षणेवाद्य। अनुगतनगर्वेण सर्वत्रमाणानामनानिगुणेन। फलत्व। पाठप्रवेण फेत्यसङ्गतामस्य शब्दत् पत्यप्रेक्षाचौत्ते फेलपक्षणाभो तु इन्तोषाचलोपेक्षानुबन्ध। शेषो अनुष्ठिपस्थिते प्रमाणाद्विगतुकृतम्। अनुष्ठ ''नासत्र सत्य सदसत्र कर्मपत्नुष्ठानफल्। अनुष्ठोदिपिंडिर्मेण तत्त्वगाध्यहिमका पिंडुः '' इत्युक्त्यनानिरिक्त।

इस प्रकार पढ़ना, अनुक्रम आप। अनुवाद इस तीनों पढ़नोंको अनुवाद (आपका) होना चाहिए। जिसे पढ़ा विद्यार्थीके ज्ञान जानने के अनुसार शुद्ध तो अपने चाहिये पढ़ा चुके हैं। इसलिये यह भेदना चेतन लिंगित्व पढ़ना है कि अब पढ़ आनेवाली कोई पीछे नहीं ले ले तो अनुवाद है यह किसके जाने। जिससे किया होगी है कि किसी न किसी आत्मके लिया नहीं होकर्थी। ऐसे पढ़ना पढ़ना। किसी पुस्तकोंको हो तो पढ़ना है, अनुवाद पुस्तकोंको न तो उसके बाद पढ़ नहीं ।।स्था है।

जानना भी एक प्रकारकी क्रिया है इसलिये यह भी बिना किसी करणके नहीं होसकती है। और जो यह पूछा कि जिन पदार्थोंको जानना हो उनके साथ साथ ही उनको जाननेवाला ज्ञान उपजता है अथवा उनके बाद? सो हम दोनो तरहसे मानते हैं। तत्कालीनोंका प्रत्यक्ष तो जो विद्यमान पदार्थ हों उन्हींको जानसकता है और स्मरणज्ञान बीती हुई वस्तुको ही जानसकता है परंतु शब्द सुननेसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान तथा अनुमानज्ञान तीनो कालके पदार्थोंको जान सकते हैं। ये दोनो प्रकारके ज्ञान यद्यपि निराकार ही हैं तो भी अतिव्याप्ति दोष नहीं है। और जो निराकार माननेमें यह दोष बतलाया था कि किसी पदार्थका इस प्रकार निश्चय नहीं होसकेगा कि यह घड़ा ही; अन्य कुछ नहीं है अथवा यह अमुक ही है अन्य कुछ नहीं है सो यह दोष मानना भी भूल है। क्योंकि; ज्ञान किसी समय भी हो परंतु उसी पदार्थको जानसकता है जिसके ज्ञानको रोकनेवाला ज्ञानावरण कर्म तथा वीर्यांतराय कर्म कुछ नष्ट होगया हो। इन शंकाओंके अतिरिक्त जो शंका हैं वे सब आडम्बरमात्र हैं इसलिये उनको स्वीकार न करना ही शून्यवादीका तिरस्कार है। इस प्रकार प्रमाणका जो शून्यवादीने खंडन किया था वह मिथ्या हुआ। और प्रमाणका फल प्रतीति है; उस प्रतीतिका अनुभव स्वयमेव होता है। जिस वस्तुका स्वयमेव अनुभव होसकता है उसका अनुभव उपदेशसे कराना व्यर्थ है। प्रमाणके फल दो प्रकारके हैं पहिला साक्षात् दूसरा परंपरासे उत्पन्न होनेवाला। इनमेंसे किसी पदार्थसंबंधी अज्ञानका नाश हो जाना प्रमाणका साक्षात् फल है। केवलज्ञानका परंपरा फल संसारसे उदासीनता होना है और शेषके अल्पज्ञानियोंके प्रत्येक ज्ञानका परंपरा फल इष्टानिष्ट पदार्थोंमें ग्रहण तथा त्यागकी बुद्धि उत्पन्न होना है तथा मध्यस्थ पदार्थोंमें मध्यस्थ भाव हो जाना परंपरा फल है। इस प्रकार प्रमाता आत्मा तथा प्रमाण, प्रमेय, प्रतीति इन चारों प्रकारके पदार्थोंकी सिद्धि प्रमाणद्वारा होचुकी। इसलिये "न तो पदार्थ सत्‌रूप ही है; न असत्‌रूप ही है; न सत् असत् दोनोंरूप ही है और न सत् असत्‌के अभावस्वरूप ही है किंतु अवक्तव्य विषयके ज्ञाताओंने इन चारों प्रकारकी कल्पनासे जुदा कोई विलक्षण ही तत्त्व माना है" इस प्रकारका जो कहना है वह उन्मत्तकासा कहना है।

॥१५२॥

**किं चेदं प्रमात्रादीनामवास्तवत्वं शून्यवादिना वस्तुवृत्त्या तावदेष्टव्यम्। तच्चासौ प्रमाणादभिमन्यतेऽप्रमाणाद्वा? न तावदप्रमाणात्तस्याऽकिंचित्करत्वात्। अथ प्रमाणात् तत्र। अवास्तवत्वग्राहकं प्रमाणं सांवृतमसांवृतं वा स्यात्? यदि सांवृतं[1] कथं तस्मादवास्तवाद्वास्तवस्य शून्यवादस्य सिद्धिः? तथा च वास्तव एव समस्तोऽपि प्रमात्रा-**

१ अनिरूपितवस्त्वर्था प्रतीतिः संवृतिर्मता। तत्त्वार्थका निरूपण न करनेवाली प्रतीतिको संवृति कहते हैं।

विच्यपदानः सञ्जा । यथ वस्तुयाकर्के प्रमाणं स्वपस्मांपूर्वे तार्से वर्ज्या प्रमाणादिव्यपदानम्लादापन्यपरिपूर्व अँनप अभिगारात् । तदेव स्वाकूवेदनी इयो ज्ञानि ज्ञानस्वरोनि न्यायेन चाग्रा एव वलार्थम् अभिमतलिङ्गिलिरोप' । इति फाजार्थः ।

[0 अथा मुख्यकर्तिक वचन यथा तो निर्दोषकः सिद्ध ही नहीं होता परन्तु भी जो वचन यथाता सहिष्णुके कहः यहा है यह क्या किसी अपने यथो कहा है अथवा यथार्थके लिए है ! यदि किसी यथार्थके लिए ही कहा है तो लिंग यथार्थ स्वरूपको ये कुछ सिद्ध हो नहीं सकता । और यदि किसी प्रयोजनके वश्से कहा है तो स्वरूपको अङ्गीकार अनेकान्तवाद अनेकान्त यथार्थ वस्तु सिद्ध प्रमाण है अथवा अनेक " रूपे स्वरूपोंसे युक्त हो नहीं किंतु यथार्थवादीके मान गए हो यह अनुमान पक्षाभास है । जो यदि अप्रयोजनके लिए वचन मान हो तो उस अनेकान्त यथार्थको ए भी दूषणाभास लिखना ऐसे हो सकता है ' इसलिये अब दूषणाभासे जानेवाला यथार्थ ही होता है अब दूषणा यथार्थाभि लक्षण जानना भी अपना लक्षण होता है । और यदि यथार्थाभी जानेवाला स्वरूप कहा है तो यहाँपर भी दूषणाभास कहना लिखना मुख्य। क्योंकि, एक मनुष्य से अपने कपड़े धुलाने ही लेकर जाता । इस प्रकार न तो प्रमाणसे सिद्धि हो सकती है और न प्रयोजनके लिए ही यह अनेकान्त लिंग है । 'एक बार आपने हैं तो स्वाद लिया है और दूसरी बार खाने में भी मजा आ रही है' इस आपके अनुमान ऐसा ही दूसरे यथार्थवादीको अनेक दूषणाभास कोलाहल दूषणाभासादिका आग्रह नहीं करना चाहिए । क्योंकि, किसी प्रकार भी दूषणाभास सिद्ध नहीं होता । इस प्रकार इस प्रकरणको पूर्ण हुआ ।

अधुना वादिकपरिनि वैहिकाऽपूर्विकाऽनुमानाऽनुकूलकर्मभोगभङ्गप्रसङ्गमोक्षास्मृतिभङ्गदोषान् दर्शयन्नाह ।

कपिलमतानुयायीके स्वरूपके खण्डनका कोई उपदेश दिया है उसको न तो इस लोककी और न परलोककी अपेक्षा थी वचनों है इसलिये यह वचनेश निष्फल ऐसे सिद्ध है ऐसा दिखाते हुए अब आचार्य कहते हैं 1-८

कृतप्रणाशाऽकृतकर्मभोगभवप्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषात् ।
उपेक्ष्य साक्षात् सुगतं कृपालुं छलेन वो महासाहसिकः परस्तेः ॥ १८ ॥

---

१ 'परस्तेः' इति क्वचित् ।

मूलार्थ—यदि वस्तुका स्वभाव क्षणभंगुर ही माना जाय तो पूर्वकृत कर्मोंका फल विना भोगे ही नाश हो जायगा; स्वयं नहीं किये हुए कर्मोंका फल भी भोगना पड़ेगा; संसारका, मोक्षका तथा स्मरणशक्तिका नाश होजायगा । अनुभवसिद्ध इन दोषोंको नहीं गिनता हुआ आपके विरुद्ध मानता हुआ क्षणिकवादी जो वस्तुका स्वरूप क्षणभंगुर होना ही मानता है; हे भगवन् ! वह उसकी बड़ी धृष्टता समझनी चाहिये ।

व्याख्या—कृतप्रणाशदोषमकृतकर्मभोगदोषं भवभङ्गदोषं प्रमोक्षभङ्गदोषं स्मृतिभङ्गदोषमित्येतान् साक्षादित्य नुभवसिद्धान् उपेक्ष्यानादृत्य साक्षात्कुर्वन्नपि गजनिमीलिकामवलम्बमानः सर्वभावानां क्षणभङ्गमुदयानन्तरविनाशरूपक्षणक्षयितामिच्छन् प्रतिपद्यमानस्ते तव परः प्रतिपक्षी वैनाशिकः [ सौगत इत्यर्थः ] अहो महासाहसिकः । सहसा अविमर्शात्मकेन बलेन वर्तते साहसिकः । भाविनमनर्थमविभाव्य यः प्रवर्तते स एवमुच्यते । महांश्चासौ साहसिकश्च महासाहसिकोऽत्यन्तमविमृश्य प्रवृत्तिकारी । इति मुकुलितार्थः ।

व्याख्यार्थ—पूर्वकृत कर्मोंका फल भोगे विना ही नाश हो जाना, स्वयं नहीं किये हुए कर्मोंका भी फल भोगने पड़ना, संसारका नाश हो जाना, मोक्षका नाश हो जाना तथा स्मरणशक्तिका नाश हो जाना इन अनुभवसिद्ध दोषोंको नहीं गिनकर संपूर्ण वस्तुओंको क्षणभंगुर माननेवाला तुम्हारा प्रतिपक्षी बौद्ध देखो ! बड़ा साहसी है । जिन संसारमोक्षादिक संपूर्ण विषयोंको क्षणिकवादी स्वयं मानता है उन्हींका अभाव सर्वथा क्षणभंगुरपना माननेसे होता है तो भी जैसे हस्ती नेत्र मूंदकर सब कुछ करता है वैसे ही संसारमोक्षादि संपूर्ण विषयोंका अनुभव करता हुआ तथा वस्तुकी स्थिति क्षणभंगुर माननेसे संसारमोक्षादि कुछ भी नहीं सिद्ध हो सकते हैं ऐसा समझता हुआ भी जो वस्तुको उत्पत्तिके अनंतर क्षण क्षणमें नष्ट होते हुए मानता है सो ही दोषोंकी तरफ ध्यान नहीं देता है । भावार्थ—हे भगवन्—वस्तुका क्षण क्षणमें विनाश होना माननेवाला यह एक प्रकारका बौद्ध आपके मतका द्वेषी है । क्योंकि; आपकी युक्तिसे तो वस्तुका स्वरूप कथंचित् नित्य तथा कथंचित् अनित्य सिद्ध होता है परंतु इसने वस्तुका स्वरूप सर्वथा क्षणध्वंसी माना है और यह मानना उसके ही आचरणसे दूषित सिद्ध होता है। आगे आनेवाले कष्टोंको विचारे विना ही अपनी शिरजोरीसे जो साहस प्रवृत्त हो उसको साहसी कहते हैं । इस बौद्धकी भी ऐसी ही प्रवृत्ति है। क्योंकि;

मानते हैं। बौद्धमतमें ऐसा माना गया है कि विचारके जिस क्षणने कुछ सत्स्वरूप अथवा असत्स्वरूप कार्य किया है उस क्षणका आगेकी पर्यायोंकी तरफ संबंधरहित सर्वथा नाश हो जाता है इसलिये अपने आपको अपने कृत्यका फल स्वयं नहीं भोगना पड़ता है। जिसको उस कृत्यका फल भोगना पड़ता है वह एक नवीन ही उत्पन्न होता है इसलिये उसका वह कर्म किया हुआ नहीं होता। इसप्रकार जिस पहिले क्षणने कर्म किया था उसको भोगना न पड़ा किंतु वह यों ही नष्ट हो गया इसलिये किये हुए कर्मका फल भोगेविना ही नष्ट हो जाना सिद्ध हुआ। तथा जिस आगेके ज्ञान क्षणने स्वयं उस कर्मको किया नहीं था उसको उसका फल भोगना पड़ा इसलिये स्वयं नहीं किये हुए कर्मका भी फल भोगना सिद्ध हुआ। इस कारिकामें 'कृतप्रणाश' शब्द जो पड़ा हुआ है उसका अर्थ किये हुए का नाश हो जाना होता है। परंतु यह शंका बनी ही रहती है कि ऐसा क्या किया है जिसका नाश हो जायगा? इस शंकाकी निवृत्ति करनेकेलिये आगे कहे हुए 'अकृतकर्मभोग' पदसे 'कर्म' शब्द लेकर 'कृतप्रणाश' शब्दके बीचमें भी जोड़ देना चाहिये और फिर ऐसा अर्थ करना चाहिये कि पूर्वकृत जो कर्म है उसका नाश फल भोगेविना ही हो जायगा। रचनाकी रीति सरल होनेसे भी प्रकरणानुसार यह अर्थ हो सकता है। तथा क्षणिकपना माननेसे जिसका चारो गतिओंमें परिभ्रमण करना स्वरूप है ऐसा संसार भी सिद्ध न होसकैगा। अर्थात् परलोकका अभाव हो जायगा। क्योंकि; जब सभीका स्वभाव क्षणभंगुर माना गया है तब परलोक जानेके लिये बचा कौन रहैगा? जीव इस जन्ममें जैसा कर्म करता है उसीके अनुसार परलोकमें जाकर सुख दुःख भोगता है। परंतु बौद्धमतमें तो ऐसी नित्य कोई चीज ही नहीं है जो जन्मान्तरमें जाकर सुखदुःख भोगनेकेलिये बची रहे। क्योंकि; जो पूर्वके ज्ञानक्षण हैं वे आगे उत्पन्न होनेवाले क्षणोंके साथ कुछ भी संबंध न रखकर पहिले ही नष्ट हो जाते हैं इसलिये जन्मांतरमें जानेके लिये ऐसा कौन बचता है जो वहांके सुखदुःख भोगै? और जो मोक्षाकरगुप्तने इस दोषके दूर करनेके अभिप्रायसे यह कहा कि जो कोई चैतन्यका क्षण होता है वह आगेके दूसरे चैतन्यक्षणमें अपने सरूपका संस्कार उत्पन्न करके ही नष्ट होता है। जिस प्रकार जीवनके मध्यका प्रत्येक चैतन्यक्षण आगेके चैतन्यक्षणमें संस्कार डालकर ही नष्ट होता दीखता है। मरणके अंतसमयमें होनेवाला चैतन्यक्षण भी एक चैतन्यक्षण है इसलिये वह भी आगामी परलोकके प्रथम चैतन्यक्षणमें अपने संपूर्ण संस्कारको जोड़कर ही नष्ट होता है। इस प्रकार परिपाटी दिखलानेसे मोक्षाकरगुप्तने यह सिद्ध किया कि बौद्धमतके अनुसार भी चैतन्य-

ब्रह्मको आगे चूर्णित फलीका शुल्लुअ पत्र फलोंके बीजाग पड़ता है। परंतु इस परिणामीय विज्ञान अर्थ से क्योंकि, अप चूर्णके वैज्ञानिकुल पर्यंत नह होते जाते हैं अप वालोंके पौष्टिकताओं पूर्णके वैज्ञानिकोंका गर्भ होना भी आवश्यक है। अप मुखोंको कोमो फलु एक सफलो प्रयोगान हो नह कदापि होनेसे पर्यंत अभिलाषी किसी एक दार्शनिके द्वारा एक मुखोंके वाक्यांका गाय मका परिणाम हो सकता है। जो दोनों पर्यायोंमें अर्थात् वैज्ञानिकोंमें गर्भ कारणेवाला वाक्यांश है उसको योगोंने आकृतिक ही गई किया है। भाला ही मका वाक्यांश है इसलिये यही एक पर्यायसे मुखाकृत्र कलेंद्र फलानिको छोटे गर्भवोंमें परिवर्तन कारणेवाला है। आगेके पर्यायमें पूर्व भागका परिवर्तन करना अर्थात् वैज्ञ कारना यह अर्थ मानना नहीं होसकता क्योंकि, वैज्ञ होनेमें तो कार्यव्यवहार संबंध होनेही कारणेका होसकता है और वैज्ञसे इसके गाय संबंध किया हो है : तो अर्थसे व्यवहारके हैं : संबंधका पर्या भी होना है अर्थ संबंधका होगा हो। और तात्पर्य संबंध सभी सम्बन्ध से एक दूसरेके वैज्ञानिकुल एकत्व विद्यमान नहीं। यहां दृष्टांतके वैज्ञानिकुल पर्यंत भिन्न भिन्न प्रकारकी गाणेगये हैं यहां उसका तात्पर्य केसे होसकता है ' और यदि यह कहोगे की दृष्टांत वैज्ञानिकोंकी विचार पारनेका आह तो भी यह विचार यही होसकता है कि मनुष्य वैज्ञानिकुल तो अपने अपूर्व संबंधपर्यंत परिणाम पारनेवाला है इस मनुष्यके परिणाम होगा है। क्योंकि, ये वैज्ञानिकुल तीनों एकसी हैं, परंतु इसमें कुछ संदेह नहीं है इसलिये यह विचार केसे होसकेगा कि इसके भी तात्पर्य परिणाम भिन्न भिन्न होंगे और इसके पारणेसे परिणाम होगा। तथापि कुछ पारनेवालोंमें केवल तीनका होना पारनेके वैज्ञानिकुल परिणाम तो भी उस तात्पर्य संबंधका होना अवश्यक है। यदि उस तीनोंका संबंध भिन्न भिन्न भिन्नप्रकार तो भी उस गुणका वैज्ञानिकुल नह होनेसे तो इसके वैज्ञानिकुल जाणेंगे किसी दृष्टांतके कारणसे केसे होसकेगा' इस संबंध विचारमें वैज्ञानिकुलसे पारनेवाला होनेसे कुछ नहीं होगा।

तथा प्रमोक्षप्रकटोपा । पक्षोक्षप्रकुलवर्णोपेक्ष पर्वतप्रकाशनगुणिः प्रगोक्षप्रकाशारि पक्षा गाणेगये। तत्पर्यो गाणेगये आकि । पक्ष तेन सुप्रीक्षपनार्थ कहिष्यते । प्रकाशगोऽपि पक्षाटी कथप्रकाशनः प्रकाशनुप्रिक्षपनाय गाणेगये ! न हि कुलटी देवदत्तो वाक्यप्रकाशुप्राप्त भवतीनो दृष्ट । प्रकाश्य तु मुख्यं स्वप्रकाशाशिप्रायनेव गर्भ दर्शयते । सिद्धान्तस्तु न वाक्यप्रः फलिष्ट् । वाक्यपत्ये त्वाक्यप्रकुलानपप्रकृतः ।

इसी प्रकार मोक्षका भी अभाव होजाता है। कर्मबंधके ऐसे नाश होजानेका नाम मोक्ष है जिसका फिर बंध न हो। ऐसे मोक्षका होना बौद्धमतके अनुसार असंभव है। प्रथम तो उसके मतमें आत्मा कोई वस्तु ही नहीं मानागया है इसलिये आगामी भवमें सुखी होनेके लिये प्रयत्न ही कौन करेगा? जबतक संसार है तबतक जो ज्ञानक्षणरूप पर्याय माने हैं उनमेंसे भी प्रतिसमय पूर्वके सर्वथा नष्ट होते जाते हैं और आगेके नवीन उपजते रहते हैं। उनमें परस्पर कोई संबंध नहीं है इसलिये वे भी सुखी होनेकी इच्छा नहीं कर सकते हैं। चेष्टा वही करता है जिसको आगे चलकर सुखी होनेकी आशा हो। केवल दूसरोंके सुखी होनेके लिये [illegible] प्रयत्न नहीं करता है। जब उनमेंसे कोई भी ज्ञानक्षण नहीं ठहर सकता है किंतु सभी नष्ट होनेवाले हैं तो सुखी होनेकेलिये कोई भी [illegible] न करे? और प्रत्येक ज्ञानक्षणका सुखदुःख भी उसीके साथ नष्ट हो जाता है; आगे चलता नहीं है। इस दोषके दूर करनेके लिये यदि सब ज्ञानक्षणोंमें सुखदुःखको पहुंचानेवाली एक वासना मानीजाय तो जिस मतमें कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं है उसमें वासना भी कोई स्थिर पदार्थ सिद्ध नहीं होसकता; जिसके द्वारा सब क्षणोंमें सुखदुःखोंकी संतान चलती रहे। यदि वासनाको सत्य [illegible] तथा नित्य मानते हों तो वह आत्मा ही है। नामांतरका भेद है।

अपि च [illegible]रा निखिलवासनोच्छेदे निगतविषयाकारोपप्लवविशुद्धज्ञानोत्पादो मोक्ष इत्यप्युक्तं न घटते; कारणाऽभावादेव तदनुपपत्तेः। भावनाप्रचयो हि तस्य कारणमिष्यते। स च स्थिरैकाश्रयाऽभावाद्विशेषाधायकः प्रतिक्षणं पूर्वपदुपजायमानो निरन्वयविनाशी गगनरङ्गनाभ्यासवदनादितश्चकर्तो न स्फुटाऽभिज्ञानजननाय प्रभवतीत्यनुपपत्तिरेव तस्य। समलचित्तक्षणानां स्वाभाविक्याः सदाशारम्भणशक्तेरसदारम्भं प्रत्यशक्तेश्चाकस्मादनुच्छेदात्। किं च समलचित्तक्षणाः पूर्वं स्वरसपरिनिर्वाणाः। अयमपूर्वो जातः। सन्तानश्चैको न विद्यते। बन्धमोक्षौ चैकाधिकरणौ; न विषयभेदेन वर्तेते। सत्कस्येवं मुक्तिर्यं एतदर्थं प्रयतते? अथ हि मोक्षशब्दो

॥१५५॥

१ सर्वे क्षणिकविज्ञानपक्षे [illegible] क्षणक्षयेण [illegible] निर्मलज्ञानो निर्मलज्ञानस्य [illegible] पिकविषयाकारोपप्लवविशुद्धज्ञानोत्पादो मोक्षः इत्यप्युक्तं न घटते; कारणाऽभावादेव तदनुपपत्तेः ॥ २ ननु [illegible] उपपत्ते रुक्तत्वात्समलचित्तक्षणानां स्वाभाविक्याः सदाशारम्भणशक्तेरसदारम्भं प्रत्यशक्तेश्चाकस्मादनुच्छेदात् ॥ ३ ननु पूर्वपूर्वज्ञानक्षणस्य सदाशारम्भणशक्तेरभावे सत्यपि [illegible] क्षणक्षयेण निर्मलज्ञानो निर्मलज्ञानस्य [illegible] न दोष इत्यत्र आह किं चेति ॥

पक्षान्तरविच्छेदमार्गेण । तेनैकत्र क्षेत्रेऽन्यं क्षेत्रं १ प्रतिषेधतस्तत्रैव तस्य क्षेत्रस्य च व्यतिरिक्तयोः क्षेत्रयोरुत्पादः प्रसज्येति । १८ ।

अथ कोऽयं वो नीलपटो नाम येन प्रत्यूहे पक्षान्तरेऽपि नाम क्षेत्रान्तरं तत्र [illegible] तत्रैव क्षेत्रे [illegible] तत्रैव [illegible] । यस्मिन्नेव क्षेत्रे यो नीलपटः प्रतिषिद्धः स एव तस्य क्षेत्रस्य व्यतिरिक्तयोः क्षेत्रयोरुत्पादः प्रसज्येति । १८ ।

अथ कोऽयं वो नीलपटो नाम येन प्रत्यूहे पक्षान्तरेऽपि नाम क्षेत्रान्तरं तत्र [illegible] तत्रैव क्षेत्रे [illegible] तत्रैव [illegible] । यस्मिन्नेव क्षेत्रे यो नीलपटः प्रतिषिद्धः स एव तस्य क्षेत्रस्य व्यतिरिक्तयोः क्षेत्रयोरुत्पादः प्रसज्येति । १८ ।

करता है वह अपने ही सुखी होनेकेलिये; नकि दूसरेकेलिये। क्षणिक बौद्धोंके मतमें बंधता तो पहिला क्षण है और छूटता है दूसरा इसलिये बंधे हुएकी मोक्षका तो अभाव ही रहा।



तथा स्मृतिभङ्गदोषः। तथा हि। पूर्वबुद्धेरनुभूतेऽर्थे नोत्तरबुद्धीनां स्मृतिः संभवति; ततोऽन्यत्वात्सन्तानान्तरबुद्धिवत्। न ह्यन्यदृष्टोऽर्थोऽन्येन स्मर्यते। अन्यथा एकेन दृष्टोऽर्थः सर्वैः स्मर्येत। स्मरणाऽभावे च कौतस्कुती प्रत्यभिज्ञाप्रसूतिः? तस्याः स्मरणानुभवोभयसंभवत्वात्। पदार्थप्रेक्षणप्रबुद्धप्राक्तनसंस्कारस्य हि प्रमातुः स एवायमित्याकारेणेयमुत्पद्यते। अत्र स्यादयं दोषो यदविशेषेणान्यदृष्टमन्यः स्मरतीत्युच्यते किं त्वन्यत्वेऽपि कार्यकारणभावादेव च स्मृतिः। भिन्नसंतानबुद्धीनां तु कार्यकारणभावो नास्ति; तेन संतानान्तराणां स्मृतिर्न भवति। न चैकसांतानिकीनामपि बुद्धीनां कार्यकारणभावो नास्ति येन पूर्वबुद्ध्यनुभूतेऽर्थे तदुत्तरबुद्धीनां स्मृतिर्न स्यात्। तदप्यसंवदातम्; एवमपि अन्यत्वस्य तदवस्थत्वात्। न हि कार्यकारणभावाभिधानेऽपि तदपगतं; क्षणिकत्वेन सर्वासां भिन्नत्वात्। न हि कार्यकारणभावात् स्मृतिरित्यत्रोभयप्रसिद्धोऽस्ति दृष्टान्तः।

तथा क्षणिकपना माननेसे स्मरण भी न होसकैगा ऐसा दोष आता है। जैसे एक बुद्धिके निवारको दूसरेकी बुद्धि नहीं समझ सकती है क्योंकि; वे दोनो बुद्धि परस्पर भिन्न हैं उसी प्रकार बुद्धिके प्रथम क्षण आनेके क्षणोंको नहीं जानसकते हैं क्योंकि; ये पूर्वोत्तर कालवर्ती सभी बुद्धिक्षण परस्परमें भिन्न हैं। जो वस्तु जिस किसीने देखी हो उसका स्मरण उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं करसकता है। यदि एकके देखे हुएका दूसरा भी स्मरण करसकता हो तो एकने जो चीज देखी है उसका स्मरण सभीको होना चाहिये। इस प्रकार जब आगेके बुद्धिक्षणोंमें स्मरण ही नहीं होसकता है तो प्रत्यभिज्ञान कहांसे होगा? क्योंकि; प्रत्यभिज्ञान नामा ज्ञान तभी होता है जब पहिले देखे हुएका स्मरण हुआ हो तथा वर्तमानमें पहिलेके समान किसी चीजको अथवा विलक्षणको अथवा उसी चीजको अथवा अन्य प्रकारकी किसी चीजको प्रत्यक्ष देखा हो। भावार्थ—पहिले देखे हुएका स्मरण तो जैसे 'वह था' तथा वर्तमान किसीका ऐसा अनुभव करना जैसे 'यह है' ऐसे स्मरण तथा अनुभवके बाद उत्पन्न होनेवाले जोड़रूप एक ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे वह यह है अथवा उससे यह भिन्न है अथवा यह उसके समान ही है,

॥१५६॥

इत्यादि । फिर वैशेषिक सम्प्रदायको देखनेसे उक्त पूर्वोक्त व्याख्या ठीक है, इसी अभिप्रायसे यह सूत्रकारने कहा है । वात्स्यायन भाष्यमें लिखा है कि " यदि इस लोक किसी प्रमाणके द्वारा अप्रसिद्ध होवे तथा प्रसिद्ध प्रमाणके साथ होता होवे उसको प्रमेय कहते हैं परन्तु इस को प्रमेयपनेका नियम किसी शास्त्र में नहीं है क्योंकि जो प्रमाण है वह भी प्रमेय होजाता है । जैसे प्रमाणसे जाना जाता है उसमें प्रमाण प्रमेयपनेकी अपेक्षा है इसलिये अन्य प्रमाणके बिना वह प्रमाण भी प्रमेय नहीं होसकता है । किन्तु जो बुद्धिसे भी न जानने योग्य होते हैं उनको तो प्रमेयपनेका नियम ही नहीं है इसलिये अन्य प्रमाणके बिना भी प्रमाण प्रमेय होसकता है । किन्तु जो बुद्धिसे भी जानने योग्य होते हैं उनको प्रमेयपनेका नियम है और जिसे उसका ज्ञान होना है उसलिये उस प्रमेयकी अपेक्षासे संशयके बाद प्रमाणादि पदार्थ बुद्धिक्रमसे कहे होसकते हैं" । यह भी वैशेषिक कथन ठीक नहीं है । क्योंकि, एक संख्याकाले मुखोंसे कणादादिकोंने प्रमेय बतलाये भी पुनः निःशेष सिद्ध नहीं होते हैं । जिसके लिये उन्होंने नहीं कहा वही प्रमेय होजाता है । जब सभी वस्तु ज्ञानके विषय हैं, तब इसलिये नए होते जाते हैं तब अपेक्षापेक्षा ।।।। वात्स्यायने भी प्रमाणका भेद नहीं कहा है ; और अन्य कणादादिकोंने कहा भी है तब भी वादीके लिये प्रमाण होनेसे होता है ।।।। लेकिन यह कथन भी ठीक है क्योंकि दोनों वादीके आश्रय होजाते हैं :

अथ "अस्मिन्नेव हि शास्त्रे मानेषु कथ्यमानेषु । कणादतन्त्रेऽक्षपादे प्रमेयं परिकीर्त्यते" इति कथनेऽपि प्रमाणप्रमेयादीनां चैकादशानामपि शास्त्रप्रयोजनयोरुपयोगात् । तथा हि । सम्यग्ज्ञानसाधनतया शास्त्रस्य । स हि प्रमाणेभ्योऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवर्तमानो न प्रवर्तते कर्तव्यतया प्रमेयादिसम्बन्धः कर्तव्यतेति । नापि यतो न प्रवर्तितव्यं न कर्तव्यतयाऽवधार्यते तस्मिन्नेवोपलब्धिः । प्रवर्तकत्वाधवत्वाभ्यां तु दूषणम् । न हि प्रमाणाद्यज्ञानादेव हेयो कर्तव्ये प्रवर्तितव्यमेव न कथञ्चिदेवेति प्रतिपाद्यते । किं त्वयमत्रार्थः प्रमाणादिज्ञानमपि कथञ्चित्कर्तव्यतया प्रत्यनेकधर्मकलापे तथा हेयत्वादिबुद्धीनामपि कथञ्चित्कर्तव्यतया प्रवर्तकत्वात् । अथ नाम प्रमाणं प्रमेयसंज्ञानलक्षणे प्रवर्तते तिरोधर्मप्रमाणादिति परोक्षप्रमाणम् । प्रमेयादेरप्रवर्तकत्वे तत्प्रमाणत्वायोगात् । प्रमाणस्वरूपलक्षणत्वं हि प्रमाणस्यैव स्यात् । तथा च प्रमेयाद्यज्ञानमपि न विनिवृत्तिनिमित्तमुपैति स्यात् । यदि स्वयमज्ञानमज्ञानिकः पुरुषमात्मानं चाज्ञानी करोतु ? अज्ञानमात्मनि कर्तव्ये प्रवर्तकत्वेन विरुद्धत्वात् । यदि प्रमाणमेवेकमस्ते विषयो भवतु ज्ञानिनो वा । ज्ञानिकत्वे सत्यनिर्विशेष

एवायमिति किमनेन स्तेनभीतस्य स्तेनान्तरशरणस्वीकरणानुकरणेना । स्थिरश्चेदात्मैव संज्ञाभेदतिरोहितः अतिपङ्गः । इति न स्मृतिर्घटते क्षणक्षयवादिनाम् । तदभावे चाऽनुमानस्याऽनुत्थानमित्युक्तं प्रागेव ।

कदाचित् कहो कि "जिस संतानमें कर्मोंकी वासना होती है उसी संतानद्वारा उन कर्मोंका फल भोगा जाता है । जैसे जिस कपासके बीजमें लालिमा होती है उसके बोनेपर उसीसे उपजे कपासमें लालिमा आती है" यह कपासलालिमाका दृष्टांत मिलता है परंतु इस दृष्टांतसे न तो कुछ सधसकता है और न किसी वचनमें बाधा पड़सकती है । कार्यकारणपना जहां जहां होता है वहां वहां स्मरण उत्पन्न होता है जैसे कपास और लालिमा ऐसा अन्वय नहीं संभवता है तथा जहां स्मृति नहीं होती वहां कार्यकारणपना भी नहीं होता ऐसा व्यतिरेक भी नहीं घटता है । जहां अन्वय व्यतिरेक संभव हों वहां ही हेतु सिद्ध होसकता है । यदि अन्वयव्यतिरेक ही नहीं होसके तो कार्यकारणरूप हेतु किस प्रकार सिद्ध होसकता है ? जब हेतु सिद्ध हो तभी कार्यकारणपना होनेसे स्मृति होना भी संभव होसकता है । और हमने जो यह कहा था कि जिनमें परस्पर भेद होता है उनमें एकके देखे हुए पदार्थ की दूसरेको स्मृति होना असंभव है सो इस वचनमें कपास लालिमाके दृष्टांतसे कुछ असिद्धतादिक दोष भी आते नहीं दीखते, जो हमारा कहना असत्य होजाय । और भी एक दोष यह है कि यदि कार्यकारणपनेके संबंधसेवरो भिन्न भिन्न वस्तुओंमें भी स्मृति उपजसकती हो तो शिष्यको गुरु पढ़ाता है इसलिये शिष्यकी बुद्धि तो कार्य है तथा गुरुकी बुद्धि कारण है सो यहां भी गुरुके अनुभव किये पदार्थोंका शिष्यको स्मरण होना चाहिये परंतु होता नहीं है सो क्यों? एक संतानमें ही कार्यकारणरूप संबंधके द्वारा स्मरणका होना मानना भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि; जब संतान और बुद्धिक्षणोंमें परस्पर भिन्नता अभिन्नताका विचार करनेलगते हैं तो संतान कोई चीज सिद्ध नहीं होती । कैसे ? यदि क्षणपरंपरा तथा संतानमें परस्पर अभेद मानाजाय तो क्षणपरंपरा ही रही; संतान कोई भिन्न वस्तु नहीं ठहरी इसलिये संतानसे कोई अपूर्व कार्य होना अयुक्तिसंगत है; जो कुछ कार्य होगा वह क्षणपरंपरासे ही होगा । और यदि क्षणपरंपरासे संतान कोई भिन्न वस्तु है तो भी वह सचमुच कुछ है अथवा कल्पनामात्र ही है ? यदि कल्पनामात्र ही है तब तो फिर भी कुछ कर नहीं सकती है । और यदि सचमुच कोई चीज है तो वह स्थिर है अथवा बुद्धिक्षणादिवत् वह भी क्षणिक है ? यदि संतान भी क्षणिक है तब तो जैसे क्षणपरंपरामें दोष हैं वैसे ही दोष इसमें भी संभव होसकते हैं इसलिये ऐसी संतानके माननेसे भी क्या प्रयोजन ? यह

क्षणभंगुरता माननेमें सर्व व्यवहारोंका लोप होजानेका दोष जो बौद्धोंके ऊपर लगायागया उसकी मरंमत बौद्ध इस प्रकार करेंगे कि यद्यपि संपूर्ण पदार्थ क्षणभंगुर है तो भी वासनाके बलसे उत्पन्न हुए अभेदज्ञानसे इस लोक तथा परलोक संबंधी संपूर्ण व्यवहार चल सकते हैं इसलिये पूर्वकृत कर्मोंका नाश होजायगा इत्यादिक दोष कहना असत्य है। बौद्धोंकी इस आशंकाको दूर करनेकी इच्छासे आचार्य महाराज बौद्धकी कल्पना की हुई वासना क्या क्षणपरंपरासे भिन्न है अथवा अभिन्न है अथवा भिन्न भी नहीं है तथा अभिन्न भी नहीं है ऐसी तीनो कल्पनाओंमेंसे किसी भी कल्पनाके माननेमें वासनाकी सिद्धि नहीं होती ऐसा दिखाते हुए जैनधर्ममें माने हुए कथंचित् भेदाभेद नहीं चाहते हुए भी बौद्धोंको मानने पड़ते हैं ऐसा कहते हैं।

**सा वासना सा क्षणसन्ततिश्च नाऽभेदभेदाऽनुभयैर्घटेते।**
**ततस्तटाऽदर्शिशकुन्तपोतन्या[illegible]स्त्वदुक्तानि परे श्रयन्तु ॥ १९ ॥**

मूलार्थ—सर्वथा एकता मानना अथवा परस्पर भेद ही मानना अथवा भेदाभेद दोनो ही न मानना ऐसे तीन पक्षोंकी कल्पना बौद्धमतमें हो सकती है। परंतु इन तीनो पक्षोंमेंसे किसी भी पक्षके माननेसे बौद्धकर शंकल्पित कीहुई वासना तथा प्रतिसमय उत्पन्न और नष्ट होते हुए ज्ञानक्षणोंकी शृंखला सिद्ध नहीं होसकती है; इसलिये हे अर्हन्! जैसे समुद्रके बीच जहाजसे उड़े हुए पक्षीको जब जहाजके अतिरिक्त कोई भी शरण नहीं दीखता है तब जहाजका ही उसको शरण लेना पड़ता है तैसे बौद्धोंको अपने सिद्धान्तका खंडन होजानेसे आपकर कहे हुए कथंचित् भेदाभेदरूप सिद्धांतका ही शरण लेना चाहिये।

व्याख्या—सा शाक्यपरिकल्पिता त्रुटितमुक्तावलीकल्पानां परस्परविशकलितानां क्षणानामन्योऽन्यानुस्यूत-प्रत्ययजनिका एकसूत्रस्थानीया सन्तानापरपर्याया वासना। वासनेति पूर्वज्ञानजनितामुत्तरज्ञाने शक्तिमाहुः। सा च क्षणसन्ततिस्तद्दर्शनप्रसिद्धा प्रदीपकलिकावन्नवनवोत्पद्यमानापरापरसदृशक्षणपरम्परा। एते द्वे अपि अभेदभेदाऽनुभयैर्न घटेते। न तावदभेदेन तादात्म्येन ते घटेते। तयोर्हि अभेदे वासना वा स्यात् क्षणपरम्परा वा; न द्वयम्। यदि यस्मादभिन्नं न ततस्तत् पृथगुपलभ्यते। यथा घटाद्घटस्वरूपम्। केवलायां वासनायामन्वयि-स्वीकारः। वास्याऽभावे च किं तया वासनीयमस्तु? इति तस्या अपि न स्वरूपमवतिष्ठते। क्षणपरम्परामात्रा-

प्रतिकर्षेण च पाणि पद दीयता। न च अंकुल ते तुल्यतेति। का हि चिन्ता पाठगता कुर्यिका वा खाद्यकर्त्रिका वा। प्रति-पदा चेत्यादि तुल्योपलक्षणम्। पूर्वपक्षस्तत्र अर्थापत्ति। शास्त्रलिका गोदन्यविषदार्थोन्मूलपक्षेत्रागमयोपा। तथा च वर्णा-कृतीनां लक्षणेकलक्षणवद्व्यवहारो जातावपि।

व्याख्यार्थ-यथा शास्त्रकारो जातेरेक मूर्ते व्यक्तिभेदेन तत्रत्र होती हुई व्यक्तिके भागका कहते हैं. इसी तुर्ह लेखिनीकी गतागतिसे प्रथिवि हुए बोलिविकि व्यान पात्रम हुई तुरे व्यक्तिभेदका पक्ष दूसरेगी गिने हुएकेका शान कालेलसे फरना चौदनाकर्मकोंने मानी है। यह पक्षना मैत्री गोपालकोंने इस लक्ष्य व्यक्ति व्यक्ति है किन्तु पक्षा गोलिलोको मध्यमे दोष व्यक्तिभेदका गाय लगाव है। और बीजको लोके व्यवहार क्या। नये नये उत्पन्न होते हुए पूर्वोत्पन्न पर्यायोंसे एकगी जो कुलबधोंकी अपेक्षा पक्षेक व्यापारी कुलके वर्तमानेकी केवी है जातिको बौद्धजिज्ञासाके लक्षणसे पकने है। ये दोनो ही दृष्टमतेपी गुरुत्व कल्पना न हो सकेगा। व्यक्तिभेदकी फलानुपपत्ति है और न पेक्षच्छ कर्तृत्व गोलेका। मानतेपी कोई न पेक्षलेख गोलेगे ही न गाडनेके। क्योंकि व्यक्तिभेद मानते हैं उस गो व्यक्ति व्यक्ति ही व्यक्ति है इस लिये यह अनुभव है जैसे यह एकजातिके ये गोमा। जैसेमेंसे कहीं व्यवहार। अब व्यक्ति विशेषी जातिपक्षका यत्न पूर्वे तब या जो व्यापक है एक गति व्यक्तिभेद या व्यवहारते है। अनेकरूप संसारी विश्वके पालने हुए मत्त नहीं व्यवहारके हैं कि व्यक्तिका तथा व्यवहारसे देनो ही लिए लिए व्यक्ति हैं। जो वस्तु जिसमें व्यक्ति है उसकी प्राप्तिके लिये होकर वहीं नहीं होगाकर्ता है। जैसे गाय और घोड़ेका व्यवहार के होनो व्यक्ति है, गोपका व्यवहार गोके व्यक्तिके व्यक्ति लिए वस्तु नहीं है इसलिये गोपेके व्यवहारका घोड़ेके व्यक्तिमें व्यक्ति नहीं व्यवहार गाय नहीं होगा। इस प्रकार जब दोनों जुदे जुदे नहीं होने तब व्यक्तिभेदका पक्षमा ही व्यक्तिभेद करे तो व्यक्तिभेदके एक अनुयायीपना गाय व्यक्ति है सो इस व्यक्तिमें करने योग्य कोई लिए पदार्थ ही नहीं है तो व्यक्तिभेद व्यवहार व्यक्तिभेद व्यवहार और व्यवहार व्यवहारसे व्यक्तिको व्यक्तिभेद होगा? इस पक्षमें लिए व्यक्तिका व्यक्तिभेद तो व्यक्तिभेद व्यवहार भी नहीं व्यवहार है और यदि केवल व्यक्तिभेदी ही व्यक्तिभाव से व्यक्तिभेदमें व्यक्तिभेद देख व्यक्तिभेदी ही व्यक्तिभेद है। और दोनोंमें भेद व्यक्तिभेद भी व्यक्तिभेद तथा व्यक्तिभेदसे व्यक्तिभेद नहीं होसकता है। क्योंकि, व्यक्तिभेदी लिए व्यक्तिभेद और व्यक्तिभेद व्यक्तिभेदसे व्यक्तिभेद व्यक्तिभेद है अन्यथा लिए व्यक्तिभेद यदि व्यक्तिभेद भी व्यक्तिभेद है तो व्यक्तिभेदके व्यक्तिभेद व्यक्तिभेदकी व्यक्तिभेद व्यक्तिभेद है अर्थात् यदि लिए व्यक्तिभेदकी व्यक्तिभेद व्यक्तिभेदसे एक व्यक्तिभेद यहां व्यक्तिभेद भी व्यक्तिभेद व्यक्तिभेदकी

पुण्यपापादिक आगेके दूसरे क्षणोंमें न पहुंच सकेंगे किंतु फल बिना दिये ही पुण्यपापादिक क्षणनाशके साथ साथ नष्ट होजायंगे। इसलिये पहिले अनुभवको तथा पुण्यपापादिकोंको आगेके क्षणोंमें पहुंचानेकेलिये ही वासनाकी कल्पना की गई है। यह वासना नित्य होनेसे ही आगेके क्षणोंमें पहिले क्षणोंके पुण्यपापादिकोंको पहुंचा सकती है। परंतु यदि यह भी क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाली मानीजाय तो स्मरण तथा पुण्यपापादिक क्षणनाशके साथ साथ नष्ट होजानेका जो दोषारोपण किया था वह दोषारोपण वासना माननेपर भी ज्योंका त्यों बना रहता है इसलिये वासनाका मानना न मानना बराबर है। इस भयसे यदि वासनाको नित्य ही मानने लगें तो इस नित्य पदार्थके स्वीकार होनेसे बौद्धोंके सिद्धांतमें बाधा आती है। क्योंकि; बौद्धोंके सिद्धांतमें कोई भी पदार्थ नित्य नहीं है। और जब वासनाको नित्य मानलिया तो अन्य पदार्थोंको भी नित्य माननेमें क्या बाधा है जो क्षणिक सिद्ध करनेके लिये इतना प्रयास उठानेका व्यसन लग रहा है।

**अनुभयपक्षेणापि न घटेते। स हि कदाचिदेवं ब्रूयात्—नाहं वासनायाः क्षणश्रेणितोऽभेदं प्रतिपद्ये न च भेदं; किं त्वनुभयमिति तदप्यनुचितं; भेदाऽभेदयोर्विधिनिषेधरूपयोरेकतरप्रतिषेधेऽन्यतरस्यावश्यं विधिभावात्। अन्यतरपक्षाभ्युपगमस्तत्र च प्रागुक्त एव दोषः। अथवाऽनुभयरूपत्वेऽवस्तुत्वप्रसङ्गः। भेदाऽभेदलक्षणपक्षद्वयव्यतिरिक्तस्य मार्गान्तरस्य नास्तित्वात्। अनार्हतानां हि वस्तुना भिन्नेनवा भाव्यमभिन्नेन वा; तदुभयाऽतीतस्य वन्ध्यास्तनन्धयप्रायत्वात्। एवं विकल्पत्रयेऽपि क्षणपरम्परावासनयोरनुपपत्तौ पारिशेष्याद्भेदाऽभेदपक्ष एव कक्षीकरणीयः। न च "प्रत्येकं यो भवेद्दोषो द्वयोर्भावे कथं न सः" इति वचनादत्रापि दोषतादवस्थ्यमिति वाच्यं; कुक्कुटसर्पनरसिंहादिवज्जात्यन्तरत्वादनेकान्तपक्षस्य।**

यदि कदाचित् बौद्ध कहै कि न तो मैं वासनामें क्षणसंततिसे भेद ही मानता हूं और न अभेद ही मानता हूं किंतु भेदाभेद दोनोंका अभाव मानता हूं तो यह भी बौद्धका कथन अयोग्य है। क्योंकि; भेद तथा अभेद ये दोनो ऐसे धर्म हैं कि एकके निषेधसे दूसरा आही जाता है इसलिये भेदको न मानै तो अभेद आपड़ता है और अभेदको न मानै तो भेद आपड़ता है। दोनोंका निषेध कदापि नहीं होसकता। और भेदाभेदमेंसे किसी एकको मानै तो प्रत्येकके दोष ऊपर दिखा ही चुके हैं। और यदि भेदाभेद का अभाव माना ही जाय तो दोनोंके निषेध करनेपर कुछ रहेगा ही नहीं किंतु सर्वाभाव होजायगा। क्योंकि;

(वासनासे) कथंचित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न है। इसी प्रकार अन्वयिद्रव्य भी पर्यायपरंपरासे (क्षणपरंपरासे) कथंचित् भिन्न कथंचित् अभिन्न है। जो प्रत्येक पर्यायका ज्ञान जुदा जुदा होना है वह निर्मूल नहीं है इसलिये तो प्रत्येक पर्याय भिन्न भिन्न हैं परंतु वे संपूर्ण पर्याय होते एक ही द्रव्यके हैं इसलिये पर्याय तथा अन्वयि द्रव्य एक दूसरेसे अभिन्न हैं। इस कथंचित् भेदाभेदका खुलासा आगे चलकर सकलादेश विकलादेशका व्याख्यान करते समय करेंगे।

अपि च बौद्धमते वासनापि तावन्न घटते इति निर्विषया तत्र भेदादिविकल्पचिन्ता। तल्लक्षणं हि पूर्वक्षणेनोत्तरक्षणस्य वास्यता। न चाऽस्थिराणां भिन्नकालतयान्योन्याऽसंबद्धानां च तेषां वास्यवासकभावो युज्यते; स्थिरस्य संबद्धस्य च वस्त्रादेर्मृगमदादिना वास्यत्वं दृष्टमिति। अथ पूर्वचित्तसहजाचेतनाविशेषात्पूर्वशक्तिविशिष्टं चित्तमुत्पद्यते। सोऽस्य शक्तिविशिष्टचित्तोत्पादो वासना। तथा हि। पूर्वचित्तं रूपादिविषयं प्रवृत्तिविज्ञानं यत्तत्षड्विधम्। पञ्च रूपादिविज्ञानान्यऽविकल्पकानि। षष्ठं च विकल्पविज्ञानम्। तेन सह जातः समानकालश्चेतनाविशेषोऽहङ्कारास्पदमालयविज्ञानम्। तस्मात्पूर्वशक्तिविशिष्टचित्तोत्पादो वासनेति। तदपि न; अस्थिरत्वाद्वासकेनाऽसम्बन्धाच्च। यश्चासौ चेतनाविशेषः पूर्वचित्तसहभावी स न वर्तमाने चेतस्युपकारं करोति। वर्तमानस्याऽशक्याऽपनेयोपनेयत्वेनाऽविकार्यत्वात्। तद्धि यथाभूतं जायते तथाभूतं विनश्यति इति। नाप्यनागते उपकारं करोति; तेन सहासंबद्धत्वात्। असंबद्धं च न भावयतीत्युक्तम्। तस्मात् सौगतमते वासनापि न घटते। अत्र च स्तुतिकारेणाऽभ्युपेत्यापि सामन्वयिद्रव्यव्यवस्थापनाय भेदाभेदादिचर्चा विवरितेति भावनीयम्।

और भी एक दोष यह है कि बौद्धमतमें वासना भी नहीं सिद्ध होती है इसलिये जब क्षणसंततिसे अतिरिक्त कोई पदार्थ ही नहीं है तो भेदाभेदका झगड़ा विना आधार करना व्यर्थ है। पूर्व क्षणके धर्मोंका उत्तर क्षणोंमें आजाना ही वासना मानी गई है। परंतु जो क्षण स्वयं अस्थिर हैं तथा जुदे जुदे समयोंमें उपजनेसे एक दूसरेसे मिल नहीं सकते हैं उन क्षणोंमेंसे यह क्षण तो वासना पैदा करनेवाला है तथा इस क्षणमें वासना पैदा होती है ऐसा कथन कैसे बनसकता है? जो वस्त्रादि स्वयं स्थिर हों तथा जिनका कस्तूरी आदिकके साथ संबंध भी होसकता हो उन्हींमें कस्तूरी आदिकोंकी वासना होती हुई दीखती है। यहांपर बौद्ध कहता है कि पूर्वचित्तक्षणके साथ साथ उत्पन्न हुए एक प्रकारके चैतन्यके द्वारा पूर्वकीसी शक्तिसहित दूसरा चित्तक्षण

पैवमेवावलोक्यंसटमहट्टैव निर्वेदाद्व्यावृत्य तदेव कूपस्तम्भादिस्थानमाश्रयते; गत्यन्तराऽभावात्। एवं तेऽपि कुतीर्थ्याः प्रागुक्तपक्षत्रयेऽपि वस्तुसिद्धिमनासादयन्तस्त्वदुक्तमेव चतुर्थं भेदाऽभेदपक्षमनिच्छयापि कक्षीकुर्वाणास्त्वच्छासनमेव प्रतिपद्यन्ताम्। नहि स्वस्य बलविकलतामाकलय्य बलीयसः प्रभोः शरणाश्रयणं दोषपोषाय नीतिशालिनाम्। स्वदुक्तानीति बहुवचनं सर्वेषामपि तन्त्रान्तरीयाणां पदे पदेऽनेकान्तवादप्रतिपत्तिरेव यथाऽवस्थितपदार्थप्रतिपादनौपयिकं नान्यदिति ज्ञापनार्थम्; अनन्तधर्मात्मकस्य सर्वस्य वस्तुनः सर्वनयात्मकेन स्याद्वादेन विना यथावद् ग्रहीतुमशक्यत्वात्; इतरथाऽन्धगजन्यायेन पक्षत्रयाहितापसङ्गात्।

अब बांकी रहे हुए आधे श्लोकका व्याख्यान करते है। इससे अर्थात् पक्षत्रयमें दोष होनेसे अन्य कुत्सित धर्मोंके प्रवर्तकोंको भी आपके दिखाये हुए कथंचित् भेदाभेदरूप स्याद्वादवचनोंका ही आश्रय लेना चाहिये। यहांपर अन्य कुत्सित धर्मोंके प्रवर्तकोंको ऐसा सामान्य शब्द होनेपर भी प्रकरणके वशसे बुद्धमतावलंबी ही समझना चाहिये। अर्थात्—बौद्धादिकोंके वचन सर्वथा भेदरूप अथवा अभेदरूप अथवा अनुभयरूप ही हैं इसलिये उन वचनोंमें नाना प्रकारके दोष संभव हैं और आपके वचन कथंचित् भेदाभेदरूप स्याद्वादगर्भित होनेसे किसी प्रकार भी दूषित नहीं है इसलिये परवादियोंको झख मारकर अंतमें आपके ही वचन स्वीकार करने पड़ते हैं। अब यहांपर झख मारकर अंतमें आपके ही वचन किस प्रकार स्वीकार करने पड़ते हैं इस बातको 'तटादर्शि' इत्यादि कहकर दृष्टांत द्वारा समझाते हैं। समुद्रके किनारेसे बहुत दूर पहुंच जानेसे जिस पक्षीके बच्चेको किनारा नहीं दीखता हो उसको तटादर्शि शकुंतपोत कहते हैं। उसीका यहांपर दृष्टांत है। किसी पक्षीका बच्चा जहाजके मस्तूलपर बैठा रहकर किसी प्रकार अथाह तथा विशाल समुद्रके बीचमें पहुंचजानेपर बाहिर निकलनेकी इच्छासे किनारेपर जानेके लिये मूर्खताके कारण जहाजके मस्तूलसे जब उड़जाता है और चारो तरफ जल ही जल देखता है किंतु किनारा किधर भी नहीं दीखता है तब जिस प्रकार पुरुषार्थहीन होकर फिरसे लौटकर उसी मस्तूलका सहारा लेता है। क्योंकि; वहां दूसरा कोई शरण ही नहीं है। उसी प्रकार कुत्सित मतोंके प्रवर्तक बौद्धादिक भी जब पूर्वोक्त भेदादि तीनो पक्षोंमेंसे किसी पक्षसे भी वस्तुसिद्धि नहीं करसकते है तब जिस कथंचित् भेदाभेदरूप चौथे पक्षका आपने उपदेश किया है उसीका आश्रय नहीं चाहते हुए भी झख मारकर लेते हुए आपके मतका सहारा लेते हैं। अपने बलकी हीनता देखकर अपनेसे अधिक बलवान् स्वामीका शरण लेना कुछ भी नीतिविरुद्ध

नहीं है। [illegible] "[illegible]" [illegible] [illegible] है [illegible] यह [illegible] होता है कि और भी [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] ([illegible]) [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं [illegible] है। क्योंकि, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] है [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] होना [illegible] है [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है। यदि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ही [illegible]।

[illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] यदि [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible], [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं है [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] नहीं है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] ही होता है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible] ही [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ही [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible]
यदि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है।

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible]

कूपस्तम्भसन्निभः स्याद्वादः । पक्षिपोतोपमा वादिनः । ते च स्वाभिमतपक्षप्ररूपणोद्यमेन मुक्तिलक्षणतटप्राप्तये कृतप्रयत्ना अपि तत्तादिष्टार्थसिद्धिमपश्यन्तो व्यावृत्य स्याद्वादरूपकूपस्तम्भालङ्कृतसाधर्मीनशासनप्रवहणोपसर्पणमेव यदि शरणीकुर्वते तदा तेषां भवार्णवाद्बहिर्निष्क्रमणमनोरथः सफलतां कलयति । नाऽन्यथा । इति काव्यार्थः ।

इस श्लोकमें कोई तो 'श्रयन्ति' अर्थात् आश्रय लेते हैं ऐसा वर्तमान कालके अर्थका जतानेवाला शब्द मानते हैं और कोई 'श्रयन्तु' अर्थात् आश्रय लेवें ऐसा आज्ञार्थसूचक शब्द मानते हैं परंतु दोनों ही शब्द निर्दोष हैं । दृष्टान्तमें जहांपर समुद्र है वहांपर दार्ष्टान्तमें संसार है तथा जहाजके स्थानमें आपका शासन है, मस्तूलके स्थानमें स्याद्वाद है, पक्षिके बच्चोंके समान वादी जन हैं । इसका अभिप्राय यह है कि; वे वादी अपने अपने अभिमत पक्षोंका निरूपण करनेरूप उद्यमसे मोक्षरूप तटपर पहुंचने के लिये प्रयत्न करते हुए भी जब इष्टसिद्धिको पूर्ति होते नहीं देखते हैं तब यदि लौटकर स्याद्वादरूपी मस्तूलसे सुशोभित आपके शासनरूपी जहाजका शरण लेवें तो संसाररूपी समुद्रके बाहिर निकलनेका उनका मनोरथ पूर्ण होसकता है । अन्यथा यह मनोरथ पूर्ण होना असंभव है । इस प्रकार इस काव्यका अर्थ पूर्ण हुआ ।

एवं क्रियावादिनां मायादुकानां कतिपयकुग्रहनिग्रहं विधाय साम्प्रतमक्रियावादिनां लौकायतिकानां मतं सर्वाधमत्वादन्ते उपन्यस्यन् तन्मतमूल्यस्य प्रत्यक्षप्रमाणस्यानुमानादिप्रमाणान्तरानङ्गीकारेऽकिञ्चित्करत्वप्रदर्शनेन तेषां प्रज्ञायाः प्रमादमादर्शयति ।

इस प्रकार क्रियावादी वादियोंके कुछ दुराग्रहोंका खंडन कर अब अक्रियावादी अर्थात् नास्तिक वादीलोगोंका मत अत्यन्त अधम होनेके कारण सबके अंतमें दिखाते हुए चार्वाकने अपने मतमें जो प्रत्यक्ष प्रमाण माना है वह अनुमानादि प्रमाणोंके मानने विना कुछ कार्यकारी नहीं होसकता है ऐसा दिखाकर नास्तिकोंकी बुद्धिका प्रमाद प्रगट करते हैं ।

## विनाऽनुमानेन पराभिसन्धिमसंविदानस्य तु नास्तिकस्य
## न साम्प्रतं वक्तुमपि क्व चेष्ट क्व दृष्टमात्रं च हहा प्रमादः ॥ २० ॥

मूलार्थ—अनुमानके विना माने यह नास्तिक हमलोगोंका अभिप्राय भी नहीं समझ सकता है इसलिये हमारे सामने अपना

नहीं है। पाणिनि का सूत्र है। पाणिनि अनुमान के लिए हेतु का होना आवश्यक है, हमारे गौतम व्याप्ति संबंध ही है। इसलिये यह केवल वस्तु पदार्थों को मानता जो पाणिनि गौतम दोनों ही मानते हैं।

आक्षेप-केवलान्वयिक पदार्थगिनि अन्वयने पार्थक्य; तत्र संस्कृते। अतु गकारविकुत्तिक्रियाभ्यामनुमानम् नत्वर्थं मीयते परिच्छिद्यते येनाकाशस्याभावविमर्शकोऽनुमानेऽभाव अप्रमितेरेनेत्यनुमानम्। अप्रामाण्यात्। येनानुमानेन [नुमानेन] घटाभाव-पटेन सिद्धा पटाभिधानमनर्थकमप्रमाणत्वात् [नुमानेन घटाभावः पटाभिधानमनर्थकं। घटेन पटाभिधानक्रियायां विषयत्वेनाभावस्य। अनुमानस्य तु यथार्थमणि नास्तिकस्य। कुतः पुनः तेन एतद् लोकानां प्रति तुलयदार्थः। नास्ति परलोकः कुतः पापविनाशे वा गतिरस्य "नास्तिकानास्तिकैर्वादिकः" इति निपातनात्साधुरिकाः। तत्र ] नास्तिकस्य लौकायतिकस्य यथार्थमपि न प्रामाण्यं पदार्थाप्रामाण्यादेतोः नोपिदृष्टं। नास्तीत्यभिधानं पदार्थस्य नेयान। दूरे सापत्नीकादिवादि पदार्थैरन्यायोगोगी।

समाधान-वार्तिक का एक वाक्यांश ही हमारा मत्तव्य है उसका अर्थ खोलना है। 'स्तुः नाम पदेषु अर्थात् क्रिया और विशेषणों के पद आगे कुछ वाक्यों में परिमाणपरक पदांश होने चाहिये, और देखते हैं कि वार्तिक में पदों में क्रिया पद अस्तु आदि लकार प्रथमपुरुष एकवचन के हैं। विशेष यह है कि अनुमान की पदार्थ होता है, उस पदार्थज्ञान और हमारा पदार्थज्ञान। लोकोक्तियों के लिये हो तो अनुमान हो यह लोकोक्तिपरक है और वे अनुमान हमारे सम्बन्धोंहिये अप्रमाण पोलपाल है यह वस्तुतः अज्ञान है। फलतः लक्षणसह ज्ञानानुमान ही लेना चाहिये। वस्तुतः यह एक अनुमान व्यवहारों में पाये जाते हैं दूसरों में अनिवार्यतः नहीं अनिवार्यतः है। इसलिये मनमाने अनुमानादि प्रमाणों[का परलोकादिकों मनमोहने हुनेगे अप्रामाण्य क्योंकि जो लोक है वह एक गणित चार्वाक बोलने से देखा नहीं है, आवेद्य जाना जो कुछ हो स्वा। हम यहां नहीं कि वार्तिकों का अंतर हमारे है वस्तुं' लोगों इन नास्तिकों नास्तिक अस्ति (अस्ति जो विपरीत) कहा है यह 'तु' शब्दों के साथ। अर्थात्-अनुमान अनिवार्य 'तु' शब्द बोलता है आदि यह अनिवार्य अनुमान है। मुख्य यह व्यवहारिक व्यवहार वस्तु तथा सूत्र है जैसी विपरीत नहीं है यह नास्तिकवाक्य है। इसी अर्थों व्याख्यों "नास्तिकानास्तिकैर्वादिकः" इस निपातनों वार्तिक यह बनाया गया है। इस वार्तिक

नास्तिकको ऐसे प्रसंगपर सत्यवादियोंके समुदायमें घुसकर प्रमाणके विषयका विचार करना तो दूर ही रहा किंतु वचन कहनेका भी अधिकार नहीं है। अर्थात् ऐसे प्रसंगपर इसको चुप रहना ही उचित है।



वचनं हि परप्रत्यायनाय प्रतिपाद्यते। परेण चाप्रतिपिप्सितमर्थं प्रतिपादयन्नसौ सतामवधेयवचनो न भवत्युन्मत्तवत्। ननु कथमिव तूष्णीकतैवास्य श्रेयसी? यावता चेष्टाविशेषादिना प्रतिपाद्यस्याऽभिप्रायमनुमाय सुकरमेवानेन वचनोच्चारणमित्याशङ्क्याह "क्व चेष्टा क्व दृष्टमात्रं च" इति। क्वेति बृहदन्तरे। चेष्टा इङ्गितं पराभिप्रायरूपस्यानुमेयस्य लिङ्गम्। क च दृष्टमात्रम्। दर्शनं दृष्टं, भावे क्तः। दृष्टमेव दृष्टमात्रं प्रत्यक्षमात्रम्। तस्य लिङ्गनिरपेक्षप्रवृत्तित्वात्। अत एव दूरमन्तरमेतयोः। न हि प्रत्यक्षेणातीन्द्रियाः परचेतोवृत्तयः परिज्ञातुं शक्यास्तस्यैन्द्रियकत्वात्। मुखप्रसादादिचेष्टया तु लिङ्गभूतया पराभिप्रायस्य निश्चयेऽनुमानप्रमाणमनिच्छतोऽपि तस्य बलादापतितम्। तथा हि। महद्वचनश्रवणाऽभिप्रायवानयं पुरुषस्तादृग्मुखप्रसादादिचेष्टाऽन्यथाऽनुपपत्तेरिति। अतश्च हहा प्रमादः। हहा इति खेदे। अहो तस्य प्रमादः प्रमत्तता, यदनुभूयमानमप्यनुमानं प्रत्यक्षमात्राङ्गीकारेणापह्नुते।

दूसरोंको विश्वास करानेकेलिये ही वचन कहाजाता है। जिस अभिप्रायको दूसरे जानना चाहते हैं उसको न समझकर अन्य अर्थको जब यह नास्तिक सिद्ध करने लगेगा तब उन्मत्तके वचनके समान इसके वचनका निरादर ही होगा; न कि प्रशंसा। अर्थात् इसलिये चुप रहना ही अच्छा है। यहांपर नास्तिक कहता है कि मुझे चुप क्यों रहना चाहिये? क्योंकि; प्रतिपादन करनेयोग्य वादीके अभिप्रायको चेष्टादिके द्वारा समझकर सहज ही उसके विषयमें युक्तिसंगत बोलसकता हूं। नास्तिककी यह शंका सुनकर आचार्य उत्तर देते हैं कि; कहां तो चेष्टा देखकर अभिप्राय समझलेना और कहां केवल प्रत्यक्षसे देखना। (केवल प्रत्यक्षसे देखलेना "दृष्टमात्र" शब्दका अर्थ है। दृष्ट नाम देखनेका है। यहांपर 'क्त' शब्दमें भाववाचक प्रत्यय किया गया है।) अर्थात् सामान्य रीतिसे इंद्रियोंद्वारा देखलेना और चेष्टा देखकर अभिप्राय समझलेना इन दोनोंमें बड़ा अंतर है। चेष्टा तो परके आंतरंग अभिप्रायका अनुमान करानेमें हेतु होती है और जो केवल किसी प्रत्यक्ष वस्तुका देखना है वह हेतुके विना सहज ही होसकता है इसलिये इन दोनो ज्ञानोंमें बड़ा भारी अंतर है। यहांपर 'क' शब्द रखनेसे दोनो ज्ञानोंमें बड़ा भारी अंतर दिखाया गया है। दूसरे वादियोंके मानसिक विचारोंका जो कि अन्य जनोंकी इंद्रियोंके गोचर नहीं हैं जान लेना प्रत्यक्ष ज्ञानसे नहीं

होसकता है। क्योंकि; पदार्थमें वही पदार्थ आता आगामक्त है जो इंद्रियसंबंधवाला हो। नहीं तो पदार्थके आने आनेका चैतन्य सम्बन्ध जान हो तो नहीं चाहते हुए भी नास्तिकको अनुमानप्रमाण स्वीकारना पड़ेगा। क्योंकि, पंखा आदि पदार्थका देहा आत्मा विषय है। जिसको देखनेसे जो ज्ञान उत्पन्न है उसीके अनुमान द्वारा चाहते हैं : पीछे देखकर अपना मुख पदार्थद्वारा नहीं जाना आता। परंतु आप के अनुमान ही मानि होता है। जैसे—नास्तिक सिद्ध करता है कि जैसे पदार्थको यह आगे आनेका सम्बन्ध पूर्वका गाहक है। क्योंकि, यदि नहीं जानता होता तो इस पदार्थके पूर्वकाल चैतन्य देखी न होती। अर्थात्—यह अनुमान सिद्धसेनने यह आना लाद देखा है कि जो चेष्टा देखनेसे व्यभिचार सम्बन्ध आता है यह अनुमान ही है। इसलिये इतना अवश्य, यह चैतन्यमें बात है कि व्यभिचारका यह नया अनन्य है जो अनुमान पदार्थका अनुभव करने द्वारा भी केवल पदार्थको ही प्रमाण पदार्थका अनुमानके लोचर नहीं कहा है।

अब यह संपूर्णरूप संबंधाकर्षकके एकदेशसंबंधका। अथ तु एकदेशेति। इत्यवयवसमुदायात्। अवोच्यते। अत्र संबंधिनु एकस्य संविधानं इति कार्ये "यावत्यक्षिप्तीभूते" इति वचनात् व्यभिचारात्। इत्यवयवाभ्यां एकदेशेन विना यावत्यिक्षिप्ति सम्यग्संबंधिनुपपत्तेस्तेषु : एवं पदार्थविज्ञानाभ्यवयवानुपपन्नमप्यनुमानं प्रमाणमेवेत्यरिहः।

'एकदेशस्य' देश्य शब्द से पूर्वनिर्धारणे बोला है यह' ।' पूर्वक वि वाक्यके आगे आनेवाला वचन होनेका अर्थ है और यह आगेका वचन पहलेका भी होसकता है। तात्पर्य वि यहु यहु अवयवके ही कहे आनेवाले अवयवोंको अपेक्षावाले भी होते हैं। विषय के ज्ञान कर होनेवाले अवयवी कहे हैं। जैसे अनुमान अनुमान पूर्व वीत है। व्यभिचार दोषके निवारके लिए यावत् होनेवाला पूर्व है इसलिये पूर्व ही कहे हैं। इसी तात्पर्यसे जो कोई किसी पदार्थका संबंध बताता है वह तात्पर्यके ज्ञान होता है। जिस पदार्थका संबंध नहीं होता वह व्यभिचार कहता है। इसलिए यदि यह सोचते कि 'तावद्विशेषाप्' अर्थात् एकदेशके अविनाभावी लिंग कहे विशेषाप्त है तब लिंगके पहले आगे आनेवाला अवयव विशेष होता है: और यदि अवयव नहीं लिया जाता है' तो 'लिंगविज्ञान' यह नाम किया सकता कैसा' इसका उत्तर—यहांपर इस पदार्थसे इस प्रकार कहना चाहिये कि जो 'अवयविनु' अर्थात् अवयवोंसहित अवयवी ही यह संविधान है। यहांपर "यावत्यक्षिप्तीभूते" इस सूत्रका व्याख्यान करनेसे इस प्रकार व्याख्यान करनेसे संविधान पाया जाता है। अर्थात् यह सूत्रका ऐसा अर्थ करनेसे अवयवके पहले आगे

ही हो ऐसा नियम नहीं है। सामर्थ्य अर्थसे सिद्ध होनेके कारण संविज्ञान शब्दका ऐसा अर्थ करना चाहिये कि अनुमानके विना यह नास्तिक दूसरोंके अभिप्रायोंको भलेप्रकार समझनेमें असमर्थ है। इस प्रकार वह नास्तिक अनुमान प्रमाण जबतक स्वीकार न करे तबतक दूसरोंके अभिप्राय जानना दुर्लभ है। इस प्रकार विना इच्छा भी इसको अनुमान प्रमाण स्वीकार कराया।

तथा प्रकारान्तरेणाप्ययमङ्गीकारयितव्यः। तथा हि। चार्वाकः काश्चित् ज्ञानव्यक्तीः संवादित्वेनाऽव्यभिचारिणीरुपलभ्यान्याश्च विसंवादित्वेन व्यभिचारिणीः, पुनः कालान्तरे तादृशीतराणां ज्ञानव्यक्तीनामवश्यं प्रमाणेतरते व्यवस्थापयेत्। न च सन्निहितार्थबलेनोत्पद्यमानं पूर्वापरपरामर्शशून्यं प्रत्यक्षं पूर्वापरकालभाविनीनां ज्ञानव्यक्तीनां प्रामाण्याप्रामाण्यव्यवस्थापकं निमित्तमुपलक्षयितुं क्षमते। न चायं स्वप्रतीतिगोचराणामपि ज्ञानव्यक्तीनां परं प्रति प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा व्यवस्थापयितुं प्रभवति। तस्माद्यथाऽदृष्टज्ञानव्यक्तिसाधर्म्यद्वारेणेदानीन्तनज्ञानव्यक्तीनां प्रामाण्याऽप्रामाण्यव्यवस्थापकं परप्रतिपादकं च प्रमाणान्तरमनुमानरूपमुपासीत। परलोकादिनिषेधश्च न प्रत्यक्षमात्रेण शक्यः कर्तुं संनिहितमात्रविषयत्वात्तस्य। परलोकादिकं चाप्रतिषिध्य नायं सुखमास्ते। प्रमाणान्तरं च नेच्छतीति डिम्भहेवाकः।

अब प्रकारांतरसे भी चार्वाकको अनुमानादि प्रमाण अंगीकार कराते हैं। चार्वाक किसी समय कुछ ज्ञानोंको सत्य होनेके कारण प्रमाणभूत मानकर तथा जो ज्ञान झूंठे थे उनको अप्रमाणभूत मानकर फिर कभी दूसरे समय जब पूर्ववत् सत्य असत्य ज्ञानोंको देखता होगा तब उनको अवश्य ही पहिलेकी तरह प्रमाणभूत या अप्रमाणभूत ठहराता होगा। परंतु जिसमें पूर्वापर अवस्थाओंका संमेलनरूप ज्ञान होना असंभव है किंतु जो केवल वर्तमान कालवर्ती विषयको ही जानसकता है ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञानसे पूर्वापर कालवर्ती प्रमाण किंवा अप्रमाणरूप ज्ञानोंमें प्रमाणताका तथा अप्रमाणताका निश्चय ठहराना अशक्य है। भावार्थ—पहिलेके ज्ञानसदृश इस वर्तमान ज्ञानको देखकर प्रमाण किंवा अप्रमाण ठहराना केवल प्रत्यक्ष ज्ञानका कार्य नहीं है। क्योंकि; पहिले सरीखा ही यह है इत्यादि पूर्वोत्तर विषयोंका जोड़रूप ज्ञान होना प्रत्यक्षका कार्य नहीं है; प्रत्यक्ष केवल वर्तमान कालके विषयको ही जानसकता है कि यह है इत्यादि। जो पूर्वोत्तर समयवर्ती दो पदार्थोंका मिला हुआ ज्ञान होता है वह ज्ञान भिन्न ही है। उसको प्रत्यक्ष नहीं कहसकते हैं। इसीलिये वह जुदा ही प्रमाण मानना पड़ता है। तथा यह नास्तिक चार्वाक उन

॥१६४॥

और यह यदि प्रत्यक्षको प्रमाण मानसकता है तो उसी स्थानपर कि जहां प्रत्यक्षसे देखा हुआ विषय झूंठा न हो। यदि इस प्रकारसे प्रत्यक्षको प्रमाण न मानता हो तो जिससे स्नान, पीना, गोते लगाना आदिक प्रयोजन नहीं सधसकते हैं ऐसी मृगतृष्णामें जो जलका ज्ञान होजाता है उसको भी प्रमाण क्यों नहीं मानता है? भावार्थ—इससे यह स्पष्ट है कि सत्य पदार्थका जतानेवाला होनेसे ही प्रत्यक्ष ज्ञानको चार्वाकने प्रमाण माना है। और जब ऐसा है तो इष्ट पदार्थके विना न रहनेवाले हेतुके द्वारा उत्पन्न अनुमानको तथा सत्य विषय कहनेवाले शब्दोंके द्वारा उत्पन्न हुए आगमज्ञानको भी प्रमाण क्यों नहीं मानना चाहिये? अर्थात्—अवश्य मानना चाहिये। क्योंकि इनसे भी निश्चित किया हुआ विषय प्रत्यक्षके समान ही सच्चा होता है। और यदि कहो कि; अनुमान तथा आगम कहीं कहींपर झूंठे भी दीखते हैं इसलिये ये दोनों प्रमाण नहीं हैं तो हम पूछते हैं कि; क्या प्रत्यक्ष कहीं भी झूठा नहीं होता? प्रत्यक्षसे भी जिसके तिमिरादि नेत्ररोग होजाता है उसको एक चंद्रमाके दो दीखते हैं इसलिये उसका प्रत्यक्ष अप्रमाण देखकर संपूर्ण प्रत्यक्षोंको अप्रमाण कहना पड़ैगा। और जो कहो कि; वह प्रत्यक्ष तो प्रत्यक्ष ही नहीं है किंतु प्रत्यक्षाभास है और हम प्रमाण मानते हैं सो तो प्रत्यक्षको मानते हैं इसलिये नेत्ररोगादिके कारण एक चंद्रमाके दो दीखनेवाले ज्ञानसे हमारे मंतव्यमें कुछ बाधा नहीं है तो इसी प्रकार यदि पक्षपात कुछ नहीं है तो अनुमान तथा आगम भी जब झूंठे होते हैं तब वे अनुमानाभास तथा आगमाभास हैं और जब सच्चे होते हैं तब वे ही प्रमाण हैं ऐसा मानलेना चाहिये। इस प्रकार जब वस्तुओंकी व्यवस्था केवल प्रत्यक्षसे होना असंभव है तब जो चार्वाकने प्रत्यक्षमात्रसे ही जीव, पुण्य, पाप, तथा परलोकादिकोंका निषेध किया है वह निषेध करना मिथ्या ठहरता है। क्योंकि; जो वस्तु प्रत्यक्षके गोचर ही नहीं हैं उनका प्रत्यक्षसे न दीखनेके कारण निषेध करना बड़ी भारी मूर्खता है।

**एवं नास्तिकाभिमतो भूतचिद्वादोऽपि निराकार्यः। तथा च द्रव्यालङ्कारकार उपयोगवर्णने "न चायं भूतधर्मः सत्यकठिनत्वादिवन्मद्याङ्गेषु भ्रम्यादिमदशक्तिवत्या प्रत्येकमनुपलम्भात्। अनभिव्यक्तावात्मसिद्धिः"।**

इसी प्रकार नास्तिकोंने जो प्रत्यक्षसे आत्मद्रव्य न दीखनेके कारण पृथिवी जल वायु अग्नि तथा आकाश इन पांचो भूतोंके एकत्रित होनेसे ही चैतन्यका उत्पन्न होना मानलिया है वह भी असत्य है ऐसा दिखाते हैं। द्रव्यालङ्कारके कर्ताने भी चेतनाका वर्णन करते समय यही कहा है कि "यह चैतन्य पृथिव्यादि पांच भूतोंका विकार नहीं है। क्योंकि; जो पांचो भूतोंके धर्म

हुए हैं वे बराबर अनुभवमें आते हैं। जैसे पुष्पित्वादिकोंकी एता (अस्तिता), अतिशय दीर्घत्वादिक सर्व व्यवहार अवयवोंके आश्रित ही दीखते हैं तथा अवयवोंके अलग भी अवयवोंका ही व्यवहार दीखता है; वैसी अवस्था पृथिवी आदि पदार्थोंकी भी होना चाहिये सो तैसी न किसीमें अवयव दीखता परंतु किसीमें भी नहीं दीखता है। यदि कहो कि यह पृथिवी भी दूरसे दीखती है तो हम कहते हैं कि जिसके अवयव ही दूरसे दीखते हैं वही अवयवी है।

कार्याकारप्रतिषेधेऽप्यवयवेषु न अवयवाः इतिवेदाकार्यवयविनोऽपि अभावभावौ न स्याद्वादिनः। अवयवसंयोगैक्यात्। अवयवेषु न देशादिभिन्नत्वम्। गुणादयोऽपि न स्युः। औपचारिकत्वादिति, न च मुख्यव्यवहारोच्छित्तिः। मुख्योपचारयोर्मुख्यत्वात्। अवयवसंयोगस्य च अवयविव्यवहारैकक्रियाकरणत्वे विरुध्यते। अवयवः अवयवशक्तिविशिष्टस्य कार्यमुत्पादयतीति कर्त्रंशस्यापि पक्षत्वात्। तथा भूताकार्यमुपलभ्यते।

यदि कहो कि जब पृथिव्यादिक अवयवी घटादिक हैं तभी उनमें नैरात्म्य दोष आता है तो हम पूछते हैं कि अवयव विनाश यदि पृथिव्यादिकोंके विनाशसे ही होवेगा तो यह क्यों नहीं कहते हो। कभी कभी ऐसे होता है। यदि पृथिव्यादिकोंके अवयवी घटादि भी कालसे ही नाश होते हैं। अथवा—यदि कहो कि अवयवोंसे अवयवीके नाशमें नैरात्म्यकी प्राप्ति होती है तो हम पूछते हैं कि यदि नैरात्म्यकी अपेक्षा होनेसे पहलेका अवयवी विनाश होना ही योग्य है तो अवयवी विनाश होनेपर भी विद्यमान है परंतु उसमें नैरात्म्यका आपादन क्यों नहीं होता है। यदि भेद भी पूर्व अवयवोंका ही है; यदि नैरात्म्य उत्पन्न होनेका आपादक एक जोड़ेका अवयव न हो तो किसी अवयवसे अवयवी होता है और नैरात्म्यसे वही नैरात्म्य निष्पन्न नहीं होसकेगा तथा पूर्वोक्त युक्तिसे भी अवयवी होने लगेगा। यदि यों कहो कि अवयवी अवयवोंसे उत्पन्न होता है इसी हेतु आप दोषोंका देते हैं कि पूर्वोक्त से एकान्त भेद होनेका है परंतु ऐसे हमारे अभिप्रायका आप पूर्वोक्त भी अर्थ क्यों नहीं होता। और भी एक दोष यह है कि यदि अवयव न होने और भी बिना अवयवोंके बिना किसीसे हो नहीं सकती है ऐसी एकान्तेन अवधि किया नहीं होनी चाहिये। जैसे कोई भी वस्तु नहीं उत्पन्न होती है सर्वथा सर्वदा सर्वत्र सर्वोत्पत्ति अवयवोंसे पहले किसी भी अवयवी की अवधि क्यों नहीं होसकती है। यदि अवयव

भी चैतन्यरूप कार्य की उत्पत्तिका कर्ता हो तो गधेके सींग भी उसके कर्ता होने चाहिये। इसलिये चैतन्यकी उत्पत्ति पृथिव्यादिकोंसे नहीं होसकती है।



कुतस्तर्हि सुप्तोत्थितस्य तदुदयः? असंवेदनेन चैतन्यस्याऽभावात्। न; जाग्रदवस्थाऽनुभूतस्य स्मरणात्। असंवेदनं तु निद्रोपघातात्। कथं तर्हि कायविकृतौ चैतन्यविकृतिः? नैकान्तः; श्वित्रादिना कश्मलवपुषोऽपि बुद्धिशुद्धेः; अधिकारे च भावनाविशेषतः प्रीत्यादिभेददर्शनात् शोकादिना बुद्धिविकृतौ कायविकाराऽदर्शनाच्च। परिणामिना विना च न कार्योत्पत्तिः। न च भूतान्येव तथा परिणमन्ते; विजातीयत्वात् काठिन्यादेरनुपलम्भात्।

शंका—पृथिव्यादि भूतोंसे चैतन्यकी उत्पत्ति न मानकर आत्मासे ही माननेपर भी जो जीव सोतेसे उठता है उसके फिरसे चैतन्यकी उत्पत्ति कहांसे होगी? क्योंकि; पूर्व चैतन्यका तो सोते समय नाश हो चुकता है। और यह ऊपर तुमने ही कहा है कि; जिसमें जिस शक्तिका अभाव है उसमें उसकी उत्पत्ति उपादान कारण विना कदापि नहीं होसकती है। उत्तर—यह चार्वाककी शंका ठीक नहीं है। क्योंकि; जो जागृत अवस्थामें अनुभव किया था उसीका सोतेसे उठनेपर स्मरण होता है। सोते समय भी चैतन्य शक्तिका नाश नहीं होजाता है किंतु निद्राके तीव्र उदयसे उस चैतन्यका आच्छादन होजाता है। कदाचित् शंका हो कि; कायका ह्रास होनेके साथ चैतन्यका भी ह्रास क्यों होता है? परंतु यह शंका उचित नहीं है। क्योंकि; ऐसा ही सर्वथा नियम नहीं है कि; कायमें विकार हो तो बुद्धिमें भी विकार होता ही हो। जिसके श्वेत कोढ होता है उसकी भी बुद्धि सच्छ देखी जाती है। और जहां कायमें विकार कुछ होता ही नहीं है तहां भी जिसमें बड़ा रागथा उसमेंसे वैराग्य आदिक भावना भानेपर बुद्धि विरक्त होते दीखती है तथा जिसमें पहिले द्वेष था उसमें प्रीति होते दीखती है। इसी प्रकार शोकादिके कारण बुद्धि तो मलिन होते दीखती है परंतु शरीरमें कुछ अंतर पड़ता ही नहीं है। इस प्रकार शरीरके साथ तो ज्ञानका अन्वयव्यतिरेक बनता नहीं है परंतु जो परिणाम होता है वह किसी न किसी परिणामीका आलंबन लिये विना निर्हेतुक नहीं हो सकता है इसलिये ज्ञानरूप परिणामका मूल आधार कोई दूसरी वस्तु है अवश्य। और पृथिव्यादिकोंका चैतन्यरूप परिणमन होना मानना ठीक नहीं है। क्योंकि; पृथिव्यादिक जड़ जातिके हैं और ज्ञान जड़से उलटा चैतन्य जातिका है। विजातीयसे विजातीयकी उत्पत्ति कभी

होती नहीं है। और सदैव केवल सर्व तृप्तिमात्रिदोका गतिका। ऐसा हो तो उसके लक्ष मात्र दोषका अनिष्ट पर्या ।। जो तृप्तिव्यक्तियोंके दे गिनने परंतु पैनत्वके साथ कला कहिन्यालि सर्व कही नहीं जैसको है।

अथाप यथेन्द्रियपञ्चप्रकाशकानां सकुलानां मतिपक्षस्थे लक्षणादीनि दोषलक्ष्यन्ते। यस्य कुलानां धर्म्म। एवं पा उपयोग। ।ऽथा अलक्ष्य पक्षाश्चिन्तनि उपरस रक्षणम्। ग चाटना लक्षणचिन्तिता। ।तुलानां उपाध्याये परिसंख्ये लक्ष्मीनां लक्षणिलाये तु माधवगुप्तेन। आहारकारणमन्यापात्। अलक्ष्मुपाशलुचानमागत्य अक्षमनिर्दोषोऽपि पुनर्भवः। अर्थः कर्त्ता न मूलकापुपपदेगो सर्वेषवि। अलक्ष्यकुपाठलक्ष। एकाकुलादौ या विज्ञानाद्। १। इति कोजाचार्य।

जो पक्का व्याकुल दुःख होते हैं वे ही कभी निर्दिष्ट पक्ष इंद्रियोंके विषयमात्र देखनेवाले भूतलपर पड़ा करते हैं परंतु गर्भ जो बहुमात्रामें पड़े एकत्र होनेपर और पड़े दीखती है,जहांसे देख नहीं होता है।जबलोग जो कुलानां एकत्रित के अतिरिक्त है एकत्रित तृप्तिमात्रि गुणोंसे उपयोगी दलति रहे होगकती है। और सब जिस फलका आयेद व्यक्ते हैं यदि व्यवहार सिद्ध है। और यह व्यापार करने वाले की व्युत्पत्तिसे जब पहचान है। और जो पुत्रोंसे इकट्ठी उत्पत्ति हो तो से लेकर्म है वासनि जहांसे अंतरंगकी भाव हो कभी दोषी है। कहीं दोष्टे कल्प है होना चाहिये । क्योंकि, चौरासिका शास्त्र पक्ष विषयोंमें ही होके है। और जो व्युत्पत्तिके व्यापार की नहीं मनवादैपा अकर्म व्यापरेक्ष लिंग भी कैसे व्यापक है। ।ऽथवा यदि श्लोक ही पर अल्प कर्म हो के कर्मेकर्मे जाका व्युपक होना चाहिये तब विरोधाभास व्यापेंगे ।। विरोधाभासी उसमें होने चाहिये परंतु ऐसा होता नहीं है ; ऐसा कहा भी है। ।ष व्याप एक वाक्यका अर्थ पूर्ण हुआ।

पुनर्मुक्तपुनिपिनेकल्पकलाद्यतिर्योपपत्तालाय मानपत्रमनदयऽविद्यापार्थनाश्वासिपुरुषमत्तपा अल्पतोपपत्तपाक-मप्तनेकान्त्वपादं पेवमनपन्ने होनापुत्पपत्तेऽविरोगिकलाद ।

यहां पैंड़ कला पकड़की तृप्तिमें पकड़ा रक्षण गर्भका मदन किया। तब यह दिखाते हैं कि। अनादिकालसे काल तने पुरुष व्यापार और पोहके पत्र होता जिन औषधि अनकी तृप्ति तुपकड़ने मर्दन करनेकी है वे अनेकोंव्यापारको अनादिसे होनेसे दुःख की औषधिका नहीं करने हैं इसलिये वे व्यापार हो रहे हैं।

प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगिस्थिरैकमध्यक्षमपीक्षमाणः ।
जिन! त्वदाज्ञामवमन्यते यः स वातकी नाथ पिशाचकी वा ॥ २१ ॥

मूलार्थ–हे जिनेंद्र प्रभो! प्रतिसमय उत्पन्न होते तथा नष्ट होते तथा द्रव्यकी अपेक्षा सदा स्थिर रहते हुए वस्तुओंको प्रत्यक्ष देखता हुआ भी जो इसी प्रकारका जिसमें उपदेश किया गया है ऐसे आपके शासनको अंगीकार नहीं करता है वह या तो पागल है अथवा किसी भूतने उसको घेरलिया है।

व्याख्या–प्रतिक्षणं प्रतिसमयमुत्पादेनोत्तराकारस्वीकाररूपेण विनाशेन च पूर्वाकारपरिहारलक्षणेन युञ्जत इत्येवंशीलं प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगि। किं तत्? स्थिरैकं कर्मतापन्नम्। स्थिरमुत्पादविनाशयोरनुयायित्वात् त्रिकालवर्ति यदेकं द्रव्यं स्थिरैकम्। एकशब्दोऽत्र साधारणवाची। उत्पादे विनाशे च तत्साधारणमन्वयिद्रव्यत्वात्। यथा चैत्रमैत्रयोरेका जननी साधारणेत्यर्थः। इत्थमेव हि तयोरेकाधिकरणता; पर्यायाणां कथंचिदनेकत्वेऽपि तस्य कथंचिदेकत्वात्। एवं त्रयात्मकं वस्तु अध्यक्षमपीक्षमाणः प्रत्यक्षमवलोकयन्नपि हे जिन रागादिजेत! त्वदाज्ञां (आ सामस्त्येनानन्तधर्मविशिष्टतया शासनेऽवबुध्यन्ते जीवादयः पदार्था यया सा आज्ञा आगमः शासनम्। तयाज्ञा त्वदाज्ञा तां त्वदाज्ञां) भवत्प्रणीतस्याद्वादमुद्रां यः कश्चिदविवेकी अवमन्यतेऽवजानाति (आलपेक्षमेकवचनमवज्ञया वा) स पुरुषपशुर्वातकी पिशाचकी वा। वातो रोगविशेषोऽस्यास्तीति वातकी। वातकीव वातकी। वायुल इत्यर्थः। एवं पिशाचकीव पिशाचकी। भूताविष्ट इत्यर्थः। अत्र वाशब्दः समुच्चयार्थ उपमानार्थो वा। स पुरुषापशदो वातकिपिशाचकिभ्यामधिरोहति तुलामित्यर्थः।

व्याख्यार्थ–प्रत्येक समय उत्पन्नों अर्थात् उत्तर कालवर्ती पर्यायोंके धारण करनेमें तथा विनाशमें अर्थात् पहिले पर्यायके विनाश होनेमें जो संयुक्त रहता है उसको प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगि कहते हैं। ऐसी क्या चीज? स्थिरैक। अर्थात् स्थिर नाम सदा उत्पत्ति और विनाशोंमें साथ रहनेवाला ऐसा जो एक अर्थात् द्रव्य है वह स्थिरैक कहाता है। यहांपर एक शब्दका अर्थ साधारण है। उत्पत्ति तथा विनाशोंमें द्रव्य सदा एक ही बना रहता है। जैसे चैत्र और मैत्रकी एक ही माता है अर्थात् जो माता चैत्रकी है

समान तथा भूत पिशाचोंकर घिरे हुएके समान वह है ऐसा सज्ञानपना दिलानेवाला अर्थ 'वा' शब्दका होता है। अर्थात् वह अधम पुरुष वातकी तथा पिशाचकीकी समानता रखता है।



"वातातीसारपिशाचात्कश्चान्तः" इत्यनेन मत्वर्थीयः कश्चान्तः। एवं पिशाचकीलपि। यथा किल वातेन पिशाचेन वाक्रान्तस्तदपूर्वस्तुतत्त्वं साक्षात्कुर्वन्नपि तदावेशवशादन्यथा प्रतिपद्यते एवमयमप्येकान्तवादापस्मारपरवश इति।

"वातातीसारपिशाचात्कश्चान्तः" इस व्याकरणके सूत्रकर वात शब्दसे तथा पिशाच शब्दसे 'वात अथवा पिशाच जिसको लगा हो' ऐसे मत्वर्थमें इन् प्रत्यय तथा उस प्रत्ययके पहिले उस शब्दके अंतमें क प्रत्यय होकर वातकी पिशाचकी शब्द बनते हैं। जिस प्रकार वातकर अथवा भूतपिशाचोंकर घिरा हुआ मनुष्य प्रत्येक चीजको प्रत्यक्ष देखता हुआ भी वात अथवा भूतपिशाचोंके वश होकर कुछ अन्यथा ही समझता तथा बकने लगता है उसी प्रकार आपका निंदक भी एकांतवादरूपी मृगीरोगके अथवा भूत पिशाचोंके परवश होनेसे कुछ अन्यथा ही मानता तथा बकता है।

अत्र च जिनेति साभिप्रायम्। रागादिजेतृत्वाद्धि जिनः। ततश्च यः किल विगलितदोषकालुष्यतयाऽवधेयवचनस्यापि तज्जयतः शासनमवमन्यते तस्य कथं नोन्मत्ततेति भावः। नाथ हे स्वामिन्। अलब्धस्य सम्यग्दर्शनादेर्लम्भकतया लब्धस्य च तस्यैव निरतिचारपरिपालनोपदेशदायितया च योगक्षेमकरत्वोपपत्तेर्नाथः। तस्यामन्त्रणम्।

इस स्तोत्रमें जो संबोधनवाचक जिनशब्द कहा है वह कुछ विशेष प्रयोजनकेलिये है। रागादि दोषोंको जीतनेसे जिन कहते हैं। रागादि दोष नष्ट होजानेसे झूंठ बोलना आदिक दोष आपके नष्ट होगये हैं और इसीलिये आप पूज्य हैं तथा आपके वचन आदरणीय हैं। ऐसे आपके पूज्यरूप शासनका जो तिरस्कार करता है वह उन्मत्त नहीं है तो कैसा है? ऐसा भावार्थ है। नाथ अर्थात् हे स्वामिन्! ऐसा शब्द इसलिये रखा है कि नहीं प्राप्त हुए सम्यग्दर्शनादिरूपी तीन रत्नोंको देनेवाले तथा जिसको प्राप्त हो चुके हैं उनको अतीचार रहित पालन करनेका उपदेश देनेवाले होनेसे आप सुखशांतिके दाता हैं और इसीलिये आपको नाथ कहते हैं। प्रार्थना करते समय आपको पुकारनेको हे नाथ! ऐसा कहा है।

पाठ्यक्रमे चोत्पादकत्वमौषधस्य। एवं हि। वर्षं नास्तु प्रयोजनम्। नोत्पादयते विषमज्वरे वा परीक्षकाणामपदर्शनात्। न्यूनपुनर्जातानामविज्ञानमात्रत्वेन अनिर्देशात् हानेश्च नास्ति। अथवैवम् अध्ययनमात्रेऽधिकारिकुलमात्रात्। न च पक्षपातेऽन्यत्र। अस्माभिरुक्तम् शास्त्रमधिगम्यानिर्देशकरणम्। "गर्भस्थस्थिति निमित्त वर्णोपवर्णजन्मरूपमक्ष न न विरोधः। अक्षोभिलगणगिलोरकुलिनाटेऽप्यपलक्षणात्" इति पक्षलक्षणम्। दत्तो दृष्टान्तमना स्थितिरेव चर्मरूप पक्षानुग्रह। एवमिदमपि तु वर्ण कल्पनीयो विपक्षतो पः अस्तादिगणार्थान्तुपपद्यमानात्। न चैव दृष्टे त्रेते पेशाद्यविषयविरुद्धभयेन व्यभिचारशङ्का एवमनुमानात्। न खलु पोऽस्तीत्यदृष्टो येन गुणोत्कर्षविनश्याद्दृष्टगुणोपलक्षणोत्कर्षविनाशादि गम्येत्। न च क्षीणादौ वस्तुनि हानिमर्गादर्शनात्देवर्षावत्यन्तपरोक्षमनुमया समवत्। पक्षविपक्षापकर्षाद्भागात्।

अनुक्त अथवा अथवा अथवा प्रौष सहित भी है। गति वस्तु प्रयोजनवश न तो अवश्यी है और न विपरीत है। क्योंकि अपने वर्णक वर्णोंके उपयोग परिवर्तन स्वरूप औषधि है। 'जो नाम केवलादिक अक्षरोंका भी पद बनते हैं वे भी 'लोकेलोगे' इस लोकमें पाणिनि ने सिद्ध किया है। दूसरे ही कभी कभी शरीर के लाभ होते हैं ये अनिष्ट ही होते हैं। उनमें वर्णोंके एकत्व सामर्थ्य कारण किया है' ऐसी शंका करना व्यर्थ है। क्योंकि, अन्य केवलादिकोंमें तो विवक्षापूर्वक प्रयोग करने का। दीखती है इसलिये यहाँपर केवलों अथवा नाम केवलादिक पहिलेकी अपेक्षा भिन्न ही है परंतु अन्यत्र। अक्षरों अथवा वर्णोंके बहुपने का अनुभव आता है इसलिये भी उनका प्रयोजन न पानेसे वही कहलाते हैं। प्रत्येक वस्तु के पूर्ण प्रयोग अनुभवसे होने' इस प्रकार बाधित नहीं है। क्योंकि, पहिले बिगड़ी देखनेसे ही अपनी पूरे नाम देखनेसे भी अन्य व्यक्तिको ऐसा पक्ष होता है कि यह वही है जो पहिले देखा था। देखा जाता है कि "पूर्व व्यक्तिमें अथवा एक अक्षरके कुछ अंश होने। पहला दो परंतु अर्थक लिखा नहीं होती है: क्योंकि; पहला नाम व्यक्तिका ही लेने पर होता देखा है। दूसरे उच्चारण नाम कभी नहीं होता है।" इसलिये उच्चारणकी अपेक्षा गणी अनुभव होता है। पर्यायोंमें लोक सभी वस्तु अवश्यी स्थान विनश्वरी होती है। पर्यायोंका व्यवहार लोकाश्रय भी अनुभव होता ही अवश्य होता है। अर्थात् उसके पहले शरीरोंका भी कभी अनुभव होता है परंतु यह अनुभव चिर पर्याय होता है कभी कभी पर्याय। पर्यायोंके

अनुभव भी झूंठे ही होंगे ऐसा नहीं है। क्योंकि; जिस प्रकार शंखमें पीलेपनकी जो प्रतीति होती थी वह रोग दूर होनेपर अपने आपको ही झूंठी भासती है तथा अन्य मनुष्योंको भी वह झूंठी प्रतिभासती है उस प्रकार सभी पर्यायोंके उत्पत्ति नाशकी प्रतीति किसीको झूंठी नहीं भासती है। शंखमें जो पीलापन किसीको दीखने लगता है वह कभी कभी; किंतु सदा ही नहीं दीखता है। इसलिये उस पीलापनको तो पूर्वाकारके विनाशरूप तथा उत्तर आकारके उत्पादरूप उत्पत्तिविनाशका आधार नहीं मानते हैं परंतु इस प्रकार जीवादि सभी वस्तुओंमें हर्ष क्रोध उदासीनता या घट पटादिक पर्यायोंकी शृङ्खला झूंठी नहीं कह सकते हैं। क्योंकि; किसी भी मनुष्यको उनके अनादि आधारभूत द्रव्यमें बाधा नहीं दीखती है।

**ननूत्पादादयः परस्परं भिद्यन्ते न वा? यदि भिद्यन्ते कथमेकं वस्तु त्र्यात्मकम्? न भिद्यन्ते चेत्तथापि कथमेकं त्रयात्मकम्? तथा च "यद्युत्पादादयो भिन्नाः कथमेकं त्रयात्मकम्। अथोत्पादादयोऽभिन्नाः कथमेकं त्रयात्मकम्"। इति चेत्तदयुक्तं; कथंचिद्भिन्नलक्षणत्वेन तेषां कथंचिद्भेदाऽभ्युपगमात्। तथा हि। उत्पादविनाशध्रौव्याणि स्याद्भिन्नानि भिन्नलक्षणत्वाद्रूपादिवदिति। न च भिन्नलक्षणत्वमसिद्धम्। असत आत्मलाभः, सतः सत्तावियोगो, द्रव्यरूपतयानुवर्त्तनं च स्वस्वोत्पादादीनां परस्परमसंकीर्णानि लक्षणानि सकललोकसाक्षिकाण्येव।**

अब वादी पूछता है कि उत्पाद विनाश तथा स्थिरता परस्परमें भिन्न हैं अथवा अभिन्न? यदि भिन्न हैं तो एक ही वस्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्य इन तीनों धर्मरूप किस प्रकार होसकती है? क्योंकि; जो परस्पर भिन्न हैं वे एकस्वरूप नहीं होसकते हैं। और यदि ये तीनों धर्म अभिन्न हैं तो भी एक वस्तुके तीन स्वरूप किस प्रकार होसकते हैं? क्योंकि; जो उत्पत्ति विनाश तथा स्थिरतापनेसे अभिन्न है वह एक समयमें या तो उत्पत्तिसहित ही होसकती है या विनाशसहित अथवा स्थिर ही रहसकती है। परस्पर विरुद्ध तीनों धर्मोंका एक वस्तुमें एक ही समयमें रहना असंभव है। यही कहा है "यदि उत्पादादि धर्म परस्पर भिन्न हैं तो एक वस्तु तीनोंमय किस प्रकार होसकती है? और यदि उत्पादादि धर्म परस्पर अभिन्न हैं तो भी एक वस्तु तीनों स्वरूपवाली किस प्रकार होसकती है?"। यह शंका जो वादीने की है वह ठीक नहीं है। क्योंकि; वे धर्म कथंचित् अर्थात् अपने अपने लक्षण प्रयोजनादिकी अपेक्षा ही भिन्न हैं; न कि सर्वथा। इसलिये उनमें परस्परका भेद कथंचित् ही माना गया है। कथंचित् भेद सिद्ध करनेके लिये अनुमान दिखाते हैं।—उत्पत्ति, विनाश तथा स्थिरता ये तीनों धर्म कथंचित् भिन्न

है । क्योंकि इस लोकमें अनेक पाखण्ड मिल रहे । ऐसे कलियुगके तपस्वी मिल होनेसे भी उनके गलत धारणा मिल होता है । इसलिए मिल लिंग मात्रसे भी कल्याण नहीं है । अतः आत्मार्थी सज्जनोंका कर्तव्य है कि वे सम्यक्त्वी गुरुकी खोज करें । ऐसे गुरुका आश्रय मिलने पर ही उनका कल्याण होगा। तथा सम्यक्त्वी कहलाने के लिए उन्हें देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा करनी चाहिए । इसके अलावा भी सम्यक्त्वी बनने के लिए उन्हें जीव-अजीव आदि नौ तत्त्वोंका ज्ञान होना चाहिए । तभी वे सम्यक्त्वी कहला सकते हैं । इसके बिना कोई भी व्यक्ति सम्यक्त्वी नहीं हो सकता है ।

श्री भगवती विजयलक्ष्मणा अपि पञ्चपञ्चाशद्भेदाः सम्यक्त्वपदस्यागमे । तथाहि । निःशङ्कित कैवलिनो नास्ति किञ्चिदज्ञातम् । सर्वज्ञोक्तत्वात् । तथा निःकाङ्क्षित । कैवलिनो नास्ति किञ्चिदुपादेयम् । सर्वसङ्गपरित्यागेनात्मोपादानात् । तथा निर्विचिकित्सा । कैवलिनो नास्ति विचिकित्सा विचारणीयमुपादेयं वा । ज्ञानगोचरव्यापारेणात्मोपादानात् । तथा अमूढदृष्टि । सकलं वस्तुजातं यथास्थितमेव । तथा चोक्तं "दर्शनमोहसुधर्मापि नाकोरादस्थितिस्थितम् । नोक्तमतिदोषाभावत्वं जगो यावि लोहेनुकम् । १ । पदोगणो न वदन्ति न पणोऽन्ति दर्शितम् । अनेकान्तमतो नीचे नास्माद्वस्तु व्यवस्थितम् । २ ।" इति कल्याणे ।

यहाँ पर लिए गए सम्यक्त्वके लक्षण भी ये दोनों पक्ष इन्हींको अवलम्बित होकर ही दिए गए हैं, यही सम्यक्त्वके दूसरी तरह कुछ लक्षण ही नहीं पाओगे । यही लक्षण सम्यक्त्वी जीवोंके लिए नियत है । इसके सिवाय अन्य कोई लक्षण भी सम्यक्त्वी नहीं है । फिर यहाँ सम्यक्त्वी जीवोंके बारेमें भी कुछ कहा गया है । इसलिये उनकी अलग से भी चर्चा नहीं है । तथा सिद्धों और सम्यक्त्वी रहित जीवों के बारे में कुछ नहीं कहा है । इसी कारण केवल सिद्धों में कोई भेद नहीं है । इन सभी सम्यक्त्वियों की सम्यक्त्वी दशाओंके कारण ही इनमें भेद है । सम्यक्त्व मिल जाने के बाद ही उनमें भेद, अभेद, विशेष ये सभी भावनाएँ मिलती हैं क्योंकि उसके सिवाय किसी प्रकार की एकत्व भावना नहीं है । इस प्रकार यहाँ संपूर्ण सम्यक्त्वियों एवं मुमुक्षुओंकी अपेक्षा कहा है कि सम्यक्त्व पहली सिद्ध होता है । श्रीसमन्तभद्र स्वामीने ऐसा ही कहा है "दुर्गतिकी दुष्कर्मका तीन सम्यक् पुरुषों सम्यग्दर्शनसे आये परंतु उन्होंने वह सम्यक्त्वी जो गुणवंत धर्मी कुल कलंकी, मुमुक्षुओं गुणवंत सम्यक्त्वी तथा मोक्षकी इच्छा पुरुषों सेवनेके लिए । यह सम्यक् सम्यग्दर्शन पुरुषार्थका दाता हुआ कल्प श्रीकृष्ण मुक्त बनाते हुए मुमुक्षुके देवता जो उनके सेवनेसे भी उनके चलित जुदे जुदे हुए । ये तीन लक्षणके पीछाव जो नीतिके कुल में

निष्कारण नहीं हुए। कलश चाहनेवालेके परिणाम तो शोकातुर होगये। क्योंकि; उसको जिसकी चाह थी वही तोड़ डाला गया। जिसको मुकुटकी इच्छा थी वह मुकुट बनते हुए देखकर प्रसन्न हुआ। क्योंकि; उसकी इच्छा पूर्ण होनेवाली जानपड़ती थी। जिसको साधा सुवर्ण लेनेकी इच्छा थी वह न तो प्रसन्न हुआ और न शोकातुर हुआ। क्योंकि; साधा सुवर्ण उसका सदा ही विद्यमान था। जब चाहता तभी लेसकता था। भावार्थ—उन तीनो मनुष्योंके जो तीन प्रकारके परिणाम हुए वे किसी न किसी जुदे जुदे कारणसे ही हुए। वे कारण पर्यायकी उत्पत्ति नाश तथा किसी अपेक्षा स्थिरता ही थे। यदि ये कारण जुदे जुदे न होते तो तीनो मनुष्योंके परिणाम भिन्न भिन्न न होते। क्योंकि; कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति होना असंभव है। इसलिये ये तीनों ही धर्म कथंचित् भिन्न भिन्न है। तथा ये तीनों ही धर्म एक सुवर्णरूप द्रव्यके हैं; प्रत्येक अंश जुदे जुदे नहीं है इसलिये इस अपेक्षासे ये तीनों धर्म अभिन्न भी है।" अन्य प्रकारसे भी इनका भेदाभेद दिखाते हुए श्रीसमन्तभद्रस्वामीने एक दूसरा उदाहरण दिखाया है "जिसने दूध पीनेका नियम किया हो वह दही नहीं खासकता है तथा जिसने दही खानेमात्रकी प्रतिज्ञा की हो वह दूध नहीं पीसकता है और जिसने गोरसमात्र छोड़दिया हो वह न दूध पीता है और न दही खाता है। भावार्थ—जिस प्रकार यद्यपि दूध तथा दही ये दोनो ही एक गोरसके पर्याय है तो भी कथंचित् परस्पर भिन्न हैं। यदि भिन्न न होते तो जिसने दूधमात्रका भक्षण करना नियत करलिया है वह दही भी क्यों नहीं खाता? तथा जिसने दही खानेमात्रकी प्रतिज्ञा की है वह दूध भी क्यों नहीं पीता? एवं सभी वस्तुओंके उत्पत्ति विनाश कथंचित् परस्पर भिन्न हैं। और जिस प्रकार गोरसका त्यागनेवाला न दही खाता है, न दूध पीता है। क्योंकि; गोरस द्रव्यकी अपेक्षा दही दूध आदि सभी एकरूप हैं। उसीप्रकार सभी वस्तु द्रव्यस्वभावकी अपेक्षासे विचार करनेपर एकरूप ही है।" इस प्रकार इस स्तोत्रका अर्थ पूर्ण हुआ।



**अथान्ययोगव्यवच्छेदस्य प्रस्तुतत्वादास्तां तावत्साक्षाद्भवान्। भवदीयप्रवचनावयवा अपि परतीर्थिकतिरस्कारवटुकशा इत्याशयवान् स्तुतिकारः स्याद्वादव्यवस्थापनाय प्रयोगमुपन्यस्यन् स्तुतिमाह।** ॥१७०॥

अपरंच अन्य कर्मादि उपाधियोंका संबंध दूर होजानेसे साक्षात् आपका तो कहना ही क्या है परंतु आपने जिन शास्त्रोंका

तथा मुक्तिलोक अनेक शिला है उनके अग्र भी अष्टमिलोका लोकाग्र। इनके लिये शास्त्रिय है ऐसा शास्त्र लेकाले पुन: मुक्ति एवं ऊर्ध्वलोकाग्रभाग लोकाग्रभी अर्थ इनके लिये अनुमानप्रमाणक साक्षि करते हैं।

अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वमतोऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम्।
इति प्रमाणाग्यपि ते कुवादिकुरङ्गसंतानसिंहनादाः ॥ २८ ॥

मूलार्थ-अनन्तधर्मात्मक ही तत्त्व है यह अन्यथा नहीं है। ऐसे प्रकार परि २ प्रमा। अनेकों एकांती कवादरूप हिरणों के समूह को भगाने के लिये सिंहनाद के समान हैं।

टीकार्थ-अन्ये परमार्थमूलं गतु तीर्थान्तरीयलक्षणप्रमेयम्। योगमणोप १ गानन्ताखिलधर्मविगकवादपरिमिता ये धर्मा। गद्यभाषिका कर्मधारयिनश्च पर्यायास्तद्रूपमात्मा स्वरूपं यस्य तथाभूतं तत्त्वम्। एकान्तेन अन्योऽन्यनिरपेक्षतया। न सत् स्याद् " अक्षोऽक्षरः" इत्यादि। अतोऽन्यथा तथापरापेक्षयैवान्येन रूपेण एकमनुभयरूपत्वम्। तुल्योपाधावपि यदनाकोटिमदनुभवेभ्यते इति एवमादयः। न तथा शास्त्रयवहारः। कुवादिनिर्मुक्तैः ऽनेकैः वाक्यैः सदिभिरा। तथा हि। अस्तीति धर्मि। स्वरूपपररूपाभ्यां सत्त्वासत्त्वे धर्मौ। सत्त्वात्मनोपपत्तेरिति हेतु। अन्यथानुपपत्तेरेकलक्षणत्वात्। । सत्त्वाद्यात्मकत्वे सिद्धत्वात् एवाप्तादिभिर्वचनं प्रमाणमेव। एतावन्मात्रमेव न भवति किन्तर्हि स भवति। एवा। विरुद्धिन्दीयम्। इति कोऽन्यथानुपपत्तेरेको हेतु। सत्त्वस्वरूपत्वात्तत्त्वं पदार्थनिर्णयोपायवाक्यार्थवत्।

व्याख्यार्थ-अन्य अर्थात् सत्त्वपेक्षा और तीर्थान्तरीय अन्य ही है। अनंत धर्मात् विशेषणों होनेसे आदि जिन दो शब्दमात्र पाठ समासके अर्थात्मक धर्म हैं वे ही जिनका आत्मा स्वरूप हो उनके सत्त्वात्मक कहते हैं। इस लोगों अनेकान्तात्मक कहनेके अभिप्राय को 'एव' शब्द है उससे यह तात्पर्य होता है कि वीतादि धर्म अनेक धर्मात्मक हैं किंतु अनेकान्तात्मक नहीं हैं। इसी अभिप्राय "अनेकान्तात्मकमेव तत्त्वम्" ऐसा कहा है। अर्थात् तत्त्व जो अनेकान्तात्मक कहा है उसके सिवाय दूसरे प्रकारसे तत्त्वमात्रका व्यभिचार कहना अनिष्ट है। जिनका प्रतिपादक अनेकान्तवाले

करसके अर्थात् सिद्ध करसकें उसको सूपपाद कहते हैं। और जो सूपपाद न हो किंतु अत्यंत दुःसाध्य हो वह असूपपाद या दुर्घट कहाता है। 'अतोऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम्' इस वाक्यसे अनुमानका हेतुभूत अंग दिखाया है। श्लोकमें कहा हुआ तत्त्व शब्द तो धर्मी है, अनंतधर्मात्मक कहना है सो साध्यधर्म है और 'सत्त्वकी सिद्धि अन्यथा नहीं होसकती है' यह वचन हेतु है। क्योंकि; साध्यके अतिरिक्त न मिलना ही हेतुका मुख्य लक्षण है। अर्थात्–तत्त्व अनंतधर्मात्मक ही है। क्योंकि; दूसरे प्रकारसे सत्त्वकी सिद्धि नहीं होसकती है। इस प्रकारसे अनुमानका वचन इस श्लोकमेंसे बनसकता है। यहांपर हेतु और साध्यकी व्याप्तिका जब विचार करते हैं तभी अनंतधर्मात्मकरूप साध्यकी सिद्धि भी स्पष्ट होजाती है इसलिये दूसरे दृष्टांत उपनय निगमन कहनेकी कुछ आवश्यकता नहीं है। भावार्थ–साध्यके अतिरिक्त कहीं दूसरे स्थानपर हेतुके नहीं मिलनेको व्याप्ति कहते हैं। व्याप्तिका विचार करनेसे हेतुके होनेपर साध्यका होना निश्चित होजाता है। जैसे जहां जहांपर धूआं होता है वहां वहांपर अग्नि अवश्य मिलती है। रसोईके घरमें धूआं है इसलिये अग्नि भी है। इस प्रकार निश्चय होजानेपर जहां हम धूआं देखते हैं वहां ही अग्निका निश्चय कर लेते हैं। इसी प्रकार अनंतधर्मात्मकपना जहां न होगा वहां सत्त्व भी न होगा अथवा सत्त्व होगा वहां अनंतधर्मात्मकपना अवश्य होगा इत्यादि निश्चय होनेसे ही संपूर्ण वस्तुओंमें अनंतधर्मात्मकपना निश्चित होसकता है इसलिये दृष्टांतादि नहीं दिखाये हैं। जो अनंतधर्मात्मक नहीं होता वह सत्‌रूप भी नहीं होता। जैसे आकाशका कमल। आकाशकमलमें अनंतधर्म नहीं है इसलिये वह सत्‌स्वरूप भी नहीं है। इस प्रकार यह हेतु केवलव्यतिरेकी है। क्योंकि; जितने अनंतधर्मसहित वस्तु इस हेतुके अन्वयरूप दृष्टांत होसकते हैं वे सब साध्य अवस्थामें पड़े हुए हैं अर्थात् अभी उन सबको तो साधना ही है इसलिये अन्वयी दृष्टान्त नहीं होनेसे व्यतिरेकी दृष्टांत कहना पड़ा है। साध्य जहां न मिले वहां हेतु भी यदि न मिले तो ऐसे उदाहरणको व्यतिरेकी दृष्टान्त कहते हैं। जहां हेतु हो वहां साध्य भी हो ऐसे उदाहरणको अन्वयी दृष्टान्त कहते हैं।

**अनन्तधर्मात्मकत्वं चात्मनि तावत्साकाराऽनाकारोपयोगिता कर्तृत्वं भोक्तृत्वं प्रदेशाष्टकनिश्चलता अमूर्त्तत्व-मसंख्यातप्रदेशात्मकता जीवत्वमित्यादयः सहभाविनो धर्माः। हर्षविषादशोकसुखदुःखदेवनरनारकतिर्यक्त्वाद-यस्तु क्रमभाविनः। धर्मास्तिकायादिष्वप्यसंख्येयप्रदेशात्मकत्वं गत्यादुपग्रहकारित्वं सत्त्वादिज्ञानविषयत्वं तत्तद्-** ॥१७१॥

[illegible] निमित्तम[illegible] । एवं [illegible] [illegible] । अत्र [illegible] पर्यालोच्य [illegible] ।

[illegible] होते हैं, [illegible] करते हैं। [illegible] जाते हैं और [illegible] करते हैं। [illegible] हुआ। [illegible] और [illegible] हुआ है। [illegible] [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible] [illegible] है और [illegible], [illegible], [illegible], [illegible] [illegible] है। [illegible], [illegible], [illegible] होना, [illegible] होना, [illegible] होना, [illegible] होना, [illegible] होना इत्यादि [illegible] है। [illegible] है। [illegible], [illegible], [illegible], [illegible] होना, [illegible] होना, [illegible] होना, [illegible] होना [illegible] है। [illegible] करने चाहिये।

अथ [illegible] प्रतिपादितम् । तत्र "[illegible]" इति [illegible] । [illegible] । अत्र [illegible] ।

[illegible] है। [illegible] है। [illegible]

1 [illegible]

द्रव्यके नित्य साथ रहनेवाले होते हैं और कुछ उत्पन्न तथा नष्ट भी होते रहते हैं। इसलिये जो सत् है वह सदा उत्पाद व्यय ध्रौव्य इन तीनो धर्मोंकर सहित रहता है ऐसा सिद्ध हुआ। जिस प्रकार एक एक पदार्थमें अनंतो धर्म होते हैं उसी प्रकार उन अर्थोंवाले शब्दोंमेंसे प्रत्येक शब्दमें भी जिसका उच्चारण ऊंचा हो ऐसा उदात्त धर्म, जिसका उच्चारण नीचेसे हो ऐसा अनुदात्त धर्म, उदात्त अनुदात्तोंका मिला हुआ स्वरित धर्म तथा जिसके उच्चारणसे गला फूले ऐसा विवृत धर्म, जिससे न फूले ऐसा संवृत धर्म तथा सोपचार धर्म, अघोष धर्म, अल्पप्राण धर्म तथा महाप्राण आदिक तथा अपने अर्थोंको प्रतिभासित कराने आदिककी शक्ति; इत्यादिक अनेक धर्म होते हैं। 'अन्यथा सत्की सिद्धि होना असंभव है' ऐसे इस हेतुमें यदि कोई असिद्धता विरुद्धता अनैकान्तिकता आदिक दोषरूपी कांटे डाले तो उसका निवारण करदेना पाठकोंकी बुद्धिपर ही छोड़ते हैं।

**इत्येवमुल्लेखशेखराणि ते तव प्रमाणान्यपि न्यायोपपन्नसाधनवाक्यान्यपि ( आस्तां तावत्साक्षात्कृतद्रव्यपर्यायनिकायो भवान् यावदेतान्यपि ) कुवादिकुरङ्गसन्त्रासनसिंहनादाः। कुवादिनः कुत्सितवादिन एकांशग्राहकनयानुयायिनोऽन्यतीर्थिकास्त एव संसारघनगहनवसनव्यसनित्या कुरङ्गा मृगास्तेषां सम्यक्त्रासने सिंहनादा इव सिंहनादाः। यथा सिंहस्य नादमात्रमप्याकर्ण्य कुरङ्गास्त्रासमासूत्रयन्ति तथा भवत्प्रणीतैवंप्रकारप्रमाणवचनान्यपि श्रुत्वा कुवादिनस्त्रासमश्नुवते। प्रतिवचनप्रदानकातरतां बिभ्रतीति यावत्। एकैकं त्वदुपज्ञं प्रमाणमन्ययोगव्यवच्छेदकमित्यर्थः।**

हे प्रभो! आपने तो संपूर्ण द्रव्य, पर्यायोंको प्रत्यक्ष जानलिया है इसलिये आपकी तो बात ही दूर रही परंतु पूर्वोक्त रीतिसे स्याद्वादका भले प्रकार निरूपण करनेवाले आपके न्याययुक्त हेतुओंके वचन ही कुवादीरूप हरिणोंको त्रस्त करनेकेलिये सिंहनादके समान हैं। मुख्यताकी अपेक्षा लेकर एक २ धर्मको ही सर्वथा कहनेवाले एक एक नयके अनुगामी जो कुवादी अर्थात् खोटे मतोंका प्रतिपादन करनेवाले तथा खोटे मतोंके चलानेवाले हैं वे ही यहांपर संसाररूपी गहन वनमें वास करनेके रोचक होनेसे मृगसमान हैं। इन मृगोंको खूब भयभीत करनेकेलिये आपके युक्तिपूर्ण वचन सिंहनादके समान हैं। यद्यपि यथार्थमें सिंहनाद नहीं हैं तो भी सिंहनादसे जिस प्रकार मृग भयभीत होजाते हैं उसी प्रकार आपके वचनोंसे बड़े बड़े कुवादिरूपी मृग त्रस्त होजाते हैं इसलिये सिंहनादके समान

मूलार्थ—विस्तारकी विवक्षा न की जाय तो वस्तु पर्यायरहित है तथा विस्तारसे कहनेपर वस्तु द्रव्यस्वरूपसे रहित है; अर्थात्—सब पर्याय ही पर्याय हैं। इस प्रकार द्रव्यपर्यायोंकी भिन्न भिन्न अपेक्षासे जिन भेदोंका वर्णन कियागया है तथा जिनका विचार बड़े बड़े उत्कृष्ट विद्वान् ही करसकते हैं ऐसे सप्तभेदोंका स्वरूप, हे भगवन्! आपने ही दिखाया।

व्याख्या—समस्तमानं संक्षेपेणोच्यमानं वस्त्वपर्ययमविवक्षितपर्यायम्। वसन्ति गुणाः पर्याया अस्मिन्निति वस्तु धर्माधर्माकाशपुद्गलकालजीवलक्षणं द्रव्यषट्कम्। अयमभिप्रायः। यदैकमेव वस्तु आत्मघटादिकं चेतनाऽचेतनं सतामपि पर्यायाणामविवक्षया द्रव्यरूपमेव वस्तु वक्तुमिष्यते तदा संक्षेपेणाभ्यन्तरीकृतसकलपर्यायनिकायत्वल क्षणेनाभिधीयमानत्वादपर्ययमित्युपदिश्यते। केवलद्रव्यरूपमित्यर्थः। यथात्माऽयं घटोऽयमित्यादिः पर्यायाणां द्रव्याऽनतिरेकात्। अत एव द्रव्यास्तिकनयाः शुद्धसंग्रहादयो द्रव्यमात्रमेवेच्छन्ति पर्यायाणां तदविष्वग्भूतत्वात्। पर्ययः पर्यवः पर्याय इत्यनर्थान्तरम्। अद्रव्यमित्यादि(दौ) चः पुनरर्थे। स च पूर्वस्माद्विशेषद्योतने भिन्नक्रमश्च। विविच्यमानं चेति। विवेकेन पृथग्रूपतयोच्यमानं पुनरेतद्वस्तु अद्रव्यमेव। अविवक्षितान्वयिद्रव्यं केवलपर्याय-रूपमित्यर्थः।

समस्तमान वस्तु पर्यायरहित है। अर्थात् जब वस्तुका सामान्य विवक्षासे विचार करते हैं तब वस्तुमें पर्यायोंकी अपेक्षा छोड़कर शुद्ध द्रव्यका ही आश्रय लिया जाता है। जैसे वस्तु सदा शुद्ध निर्विकार तथा अनाद्यनंत है। ऐसा विचार तभी होता है जब द्रव्यार्थिक नयकी मुख्यता की जाती है। क्योंकि; द्रव्यशब्दका अर्थ उत्पत्ति विनाशको छोड़कर शुद्ध अनुत्पन्न तथा अविनाशीपनेसे रहना है। जिसमें गुण और पर्याय वास करते हों वह वस्तु है। धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, काल तथा जीव इन छह द्रव्योंको ही वस्तु कहते हैं। सारांश यह है कि; चेतनरूप आत्मद्रव्यमें किंवा जड़रूप घटादिक वस्तुमें अनंतो पर्याय होनेपर भी उनकी अपेक्षा नहीं करके जब एक अखंड द्रव्यरूप ही कहनेकी इच्छा होती है तब जिसमें संपूर्ण पर्यायोंका समुदाय अपेक्षित न किया गया हो ऐसे संक्षेपद्वारा कहनेके कारण पर्यायरहित केवल अखंड द्रव्यरूप ही वस्तु कहा जाता है। क्योंकि; यह आत्मा है यह घड़ा है इत्यादिरूप जो पर्याय हैं वे सब द्रव्यस्वरूप ही हैं; द्रव्यसे भिन्न नहीं हैं। इसीलिये शुद्धसंग्रह आदिक द्रव्यार्थिक नय सदा द्रव्यमात्रकी अपेक्षा रखते हैं। क्योंकि; द्रव्योंमें ही पर्यायोंका अंतर्भाव होजाता है। पर्यव,

[illegible] पर [illegible] सर्ग [illegible] है। 'अत्यन्तपेता' इसमें जो 'ना' शब्द [illegible] है [illegible]
[illegible] है। [illegible] और [illegible] है [illegible] देखते हैं
[illegible] हैं [illegible] देखते हैं [illegible]
है। [illegible] है [illegible] है।

[illegible]

[illegible] इति। [illegible]

[illegible]

तथा उपेक्षा करनेसे द्रव्यपर्यायादिस्वरूपोंकी सिद्धि होती है"। इस प्रकारसे वस्तुमें द्रव्यपना, पर्यायपना हे भगवन्! आपने ही दिखाया है; अर्थात् और किसीने भी नहीं दिखाया है। इस प्रकार काकु ध्वनिसे दूसरोंमें वस्तुका स्वरूप दिखानेका निषेध होजाता है।



नन्वन्याभिधानप्रत्ययगोचरं द्रव्यमन्याभिधानप्रत्ययविषयाश्च पर्यायाः। तत्कथमेकमेव वस्तूभयात्मकमित्याशङ्क्य विशेषणद्वारेण परिहरति—आदेशभेदेत्यादि। आदेशभेदेन सकलादेशविकलादेशलक्षणेन आदेशद्वयेन उदिताः प्रतिपादिताः सप्तसंख्या भङ्गा वचनप्रकारा यस्मिन् वस्तुनि तत्तथा। ननु यदि भगवता त्रिभुवनबन्धुना निर्विशेषतया सर्वेभ्य एवंविधं वस्तुतत्त्वमुपदर्शितं तर्हि किमर्थं तीर्थान्तरीयास्तत्र विप्रतिपद्यन्ते इत्याह "बुधरूपवेद्यम्" इति। बुध्यन्ते यथावस्थितं वस्तुतत्त्वं सारेतरविषयविभागविचारणया इति बुधाः। प्रकृष्टा बुधा बुधरूपा नैसर्गिकाधिगमिकाऽन्यतरसम्यग्दर्शनविशदीकृतज्ञानशालिनः प्राणिनः। तैरेव वेदितुं शक्यं वेद्यं परिच्छेद्यम्। न पुनः स्वस्वशास्त्रतत्त्वाभ्यासपरिपाकशाणनिशातबुद्धिभिरप्यन्यैः तेषामनादिमिथ्यादर्शनवासनादूषितमतितया यथास्थितवस्तुतत्त्वाऽनवबोधेन बुधरूपत्वाऽभावात्। तथा चागमः "सदसदऽविसेसणाउ भवहेउजहच्छिओवलंभाउ। णाणफलाभावाउ मिच्छादिट्ठिस्स अण्णाणं"। (संस्कृतच्छाया—सदऽसदऽविशेषणात् भवहेतुयथास्थितोपलम्भात्। ज्ञानफलाभावात्, मिथ्यादृष्टेः अज्ञानम्)।

शंका—पर्यायोंका नाम तथा ज्ञान अन्य ही होता है और द्रव्यका नाम तथा ज्ञान कुछ अन्य प्रकार ही होता है; फिर एक ही वस्तु द्रव्य पर्याय इन दोनो स्वरूपमय कैसे होसकती है! इस शंकाका उत्तर "आदेशभेदोदितसप्तभङ्गम्" इस विशेषणकर देते हैं। अर्थात्—स्तुतिकर्ताने जो श्लोकमें आदेशभेद इत्यादि विशेषण लिया है उससे उपर्युक्त शंका नहीं रहती है। सकलादेश तथा विकलादेश जो दो आदेश हैं उनके द्वारा सात प्रकारकी जिस कथनशैलीसे वस्तुस्वरूप दिखाया गया है उससे वस्तुस्वरूप कथंचित् द्रव्यस्वरूप भी होसकता है और कथंचित् पर्यायस्वरूप तथा उभयस्वरूप भी होसकता है। शङ्का—जो तीनो लोकके बंधु ऐसे श्रीभगवान्ने यदि सामान्यतेकर सभीको वस्तुस्वरूपका ऐसा उपदेश दिया था तो जो अन्य मतोंके प्रवर्तानेवाले वादी हैं वे विवाद क्यों करते हैं? इसी शंकाके उत्तरमें "बुधरूपवेद्यम्" ऐसा कहा है। अर्थात्—इस सूक्ष्म तत्त्वको वे ही समझसकते हैं जो अच्छे विद्वान् हों। सार तथा असारका विवेकपूर्वक विचार करनेवाले जो यथावत् वस्तुस्वरूपको समझसकते हैं उनको बुध

लिखा है कि "अजोंसे यज्ञ करना चाहिये"। ऐसे ऐसे वचनोंमें जहां अजशब्द आता है वहां उसका अर्थ मिथ्यादृष्टी तो बकरा करते हैं परंतु सम्यग्दृष्टी कहते हैं कि जो उपज नहीं सकें ऐसे तीन वर्षके पुराने जौ, धान आदिक तथा पांच वर्षवाले तिल मगूर आदिक तथा सात वर्षके पुराने कांगनी सरसो आदिक धान्य अजशब्दका अर्थ है। और इसी प्रकार पीछेसे गणधर होनेवाले श्रीइन्द्रभूति आदिक विद्वान् वेद की जिन ऋचाओंके अर्थद्वारा जीवतत्त्वका निषेध करते थे उन्हींके अर्थद्वारा चोवीसवे तीर्थंकर श्रीमहावीर स्वामीने जीवतत्त्वका मंडन किया था। उनमेंसे प्रथम ऋचा यह है कि "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्यसंज्ञास्ति"। भावार्थ–इसके दो अर्थ होसकते हैं; एक तो ऐसा होसकता है जिससे जीवतत्त्वका निषेध होजाताहै; दूसरा ऐसा होसकता है जिससे जीवतत्त्वका मंडन होजाताहै। इनमेंसे पहिला अर्थ जो इंद्रभूतिने किया था वह यह है कि विज्ञानमय आत्मा पांचो भूतोंसे ही उत्पन्न होता है और उन्हींमें विलीन होजाता है। इसलिये परलोक कुछ नहीं है। इसीका दूसरा अर्थ श्रीवर्द्धमान स्वामीने ऐसा किया कि ज्ञानका समूह इन पांच भूतोंका निमित्त पाकर उपजता है और उनके पर्यायोंकी पलटनके साथ साथ ही वह ज्ञान बदलजाता है और उसका नाम भी पहिला नहीं रहता है।

तथा स्मार्ता अपि "न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने। प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला" इति श्लोकं पठन्ति। अस्य च यथाश्रुतार्थव्याख्यानेऽसंबद्धप्रलाप एव। यस्मिन् हि अनुष्ठीयमाने दोषो नास्त्येव तस्मान्निवृत्तिः कथमिव महाफला भविष्यति? इज्याध्ययनदानादेरपि निवृत्तिप्रसङ्गात्। तस्मादन्यदेवंपर्यन्तस्य श्लोकस्य। तथा हि। न मांसभक्षणे कृतेऽदोषोऽपि तु दोष एव। एवं मद्यमैथुनयोरपि। कथं नादोष इत्याह–यतः प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्। प्रवर्त्तन्त उत्पद्यन्तेऽस्यामिति प्रवृत्तिरुत्पत्तिस्थानं भूतानां जीवानाम्। तत्तज्जीवसंसक्ति-हेतुरित्यर्थः।

इसी प्रकार स्मृतिकार कहते हैं कि "न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने। प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला"। इसका प्रगट अर्थ यह होता है कि मांसभक्षणमें दोष नहीं है और न मद्य पीनेमें न मैथुन करनेमें। क्योंकि; प्राणियोंकी प्रवृत्ति ही इस तरफ चली आती है। परंतु इसके त्यागनेसे अवश्य महान् फल होता है। परंतु ऐसा अर्थ करनेसे ऐसा समझा जाता है कि, ऐसा कहनेवाला कोई विना विचारे ही बकनेवाला है। क्योंकि; जिसमें प्रवृत्ति करनेमें कुछ पाप नहीं होता उसके त्यागनेसे

वचन कृष्ण ने कैसे होगा? नहीं तो देवगुरुकी कृपा, पढ़ना सुनना धर्मा दूसरोंको कहनेसे नहीं कुछ फल न होना चाहिये। इसलिये एक स्त्रीका पैसा सर्व त्यागना चाहिये कि, मांस छूकर फेंकनेसे त्यागे कहाँतक कृष्ण नहीं है किंतु पाप की बोझ है इसी प्रकार पर मैथुनसे भी अदोष नहीं है किंतु दोष ही है। अतीव बड़ी है। क्योंकि। (१५) यह मैथुनसे उत्पन्न पाप अनंत जन्मोंमें उत्पत्ति देनी वाली है। जैसे तैसे करके अनंत ही उसको पापसे कहते हैं। चीजोंकी उत्पत्तिके कारणका नाश करते हैं। सर्वत्र पांच तरह मैथुन त्याग पांचवें ब्रह्म ही करनेसे कहते हैं।

अस्मिंश्च पञ्चप्रकारमैथुनत्यागे श्रीमद्भगवत्सिद्धान्तागमे। "मदमासु च पर्वसु च दिवसेषु च त्रिवर्षपर्यन्तात् मासगोचरात्। माकन्दिपुत्रवचसो मणिपो तु त्रिगोचरोपरागात् (गर्भकृतस्त्रीसंभोग-जन्यपापात् च पर्वतात् च दिवसेषु च त्रिवर्षपर्यन्तात् मासगोचरात्) मैथुन-पेक्षातु। आत्यन्तिकमुपपापो मणिपः पु निर्द्वेषरसोपरागात्। ) । १ । मद्यं मद्यकृतिं संसक्तिं दापयेत्सेवेतो यावज्जीवं। तत्पञ्चेति पर्वसंज्ञ तत्पञ्चमा ज्ञान्य जीवपूर्वो ( मद्ये मद्यौ मांसे नवनीते पञ्चमे। चलाद्यन्ते अनन्ता। पञ्चमी। उदुम्बर-जन्तवः )। २। मैथुनसङ्गमाख्यो यावज्जीवं द्वयेन् सुब्रह्मचर्योपाख्यं। देवतिर्यग्मनुष्याणां यद्दिवाख्या त्यागकरणं ( मैथुनसंज्ञाख्यो नवकोटि द्वन्द्वि द्वयकरणेन। मैथुनदिवा त्यागिनाम्। यत्तत्रत्याः सर्वाङ्गसम् )। ३। तथा चैव। द्वीन्द्रियोपरांत बेइंद्रिया न ते जीवाः। द्वयो या दो का भेदे वा त्वक्फलं तु वल्कलम्)॥ ४। कुटिलेन्द्र यद्द गवाद्य वेणि श्रीपाद्य दोष्ट्र पद्मगन्धं। मैथुनादिदुर्गुणेन सत्यावर्षिवागगाद्धे ( पुरुषेण यद्द गवाद्यो मेरवो जीवितो। अपरिमि यद्दनम्। मैथुनदोषाप्तेन च गर्भापत्यवधाद्यापातेन )। ५।" संसक्तपो योनौ श्रीन्द्रिया पञ्चे द्वासगोपिनामेस-द्वाम्। सर्वत्यागमेन्द्रिया हणे "योनौविका मैथुना एतमात्मुत्पत्तिनिमित्तो। दक्षरक्त द्वापदवक्त्र जातनी पाणे-द्वाप ( पञ्चेन्द्रिया मनुष्या पञ्चानरपुरुषमाणेगर्भे। दक्षदृष्टे मनुष्या अन्यत्रो एकद्वेद्वाद्याप )। ६। द्वावद्यकद्वाप्ते मद्यं जापद्य एक्ष दुर्गे च द्वाद्यनी। योग पुष्प पत्रेष च विद्यते वर्तन्ति तत्रैव ( नगरद्वाद्यन गर्भे जाताने पञ्चो स्त्री या उपरो। गोप्य। पुन। एतत्रैव च विद्यते वर्तन्ति तत्रैव )। ७।" तत्रैव मांपेक्षणाईहेतुत्वात् गांसभक्षणाद-विरुद्धदुर्गाधिति वेदना।

और आगमोंमें भी मांस मद्य मैथुनको जीवोंकी उत्पत्तिका मूलकारण कहा है। "कच्चेमें पकेमें पकते हुएमें तथा अन्य भी मांसकी प्रत्येक अवस्थाओंमें विशेष जीवोंकी अप्रमाण उत्पत्ति होती रहती है। १। मद्य, मधु, मांसमें तथा लोणे नवनीतमें रंगकी अपेक्षा उसीके समान अनंतो जंतु उत्पन्न होते हैं। २। मैथुन कर्ममें नौ लाख सूक्ष्म जीवोंका घात होना सर्वज्ञ भगवानने कहा है इसलिये उसका श्रद्धान सदा करना चाहिये। ३।" अब योनिके जीवोंका विचार करते हैं। "स्त्रीकी योनिमें द्वीन्द्रिय जीव कभी एक कभी दो कभी तीन इसी प्रकार अधिकसे अधिक कभी कभी नौ लाख तक उत्पन्न हो जाते हैं। ४। जैसे अग्निसे तपाई हुई लोहेकी सलाई बांसकी नलीमें डालनेसे नलीमें पड़े हुए तिल जल जाते हैं वैसे ही पुरुष जब संभोग करने लगता है तब योनिमें जितने जीव होते हैं उन सबोंका नाश हो जाता है। ५।" साक्षात योनिके द्वीन्द्रिय जीवोंकी संख्या तो ऊपर कही। अब रज और वीर्यके मेलसे उत्पन्न होनेवाले पंचेन्द्रियोंकी गिनती कहते हैं। "एक वार नारीका भोग करनेसे उस समय उस गर्भमें पंचेंद्रिय मनुष्य कभी कभी नौ लाख पर्यन्त भी एकदम उत्पन्न हो जाते हैं। ६। उन नौ लाखमेंसे एक या दो तो जी जाते हैं; अवशिष्ट यों ही नष्ट हो जाते हैं। ७।" इस प्रकार जीवहिंसाका कारण होनेसे मांसभक्षणादिक निर्दोष नहीं समझना चाहिये।

अथवा भूतानां पिशाचप्रायाणामेषा प्रवृत्तिः। त एवात्र मांसभक्षणादौ प्रवर्त्तन्ते न पुनर्विवेकिन इति भावः। तदेवं मांसभक्षणादेर्दुष्टतां स्पष्टीकृत्य यदुपदेष्टव्यं तदाह "निवृत्तिस्तु महाफला"। तुरेवकारार्थः "तुः स्याद्धेदेऽवधारणे" इति वचनात्। ततश्चैतेभ्यो मांसभक्षणादिभ्यो निवृत्तिरेव महाफला स्वर्गापवर्गफलप्रदा; न पुनः प्रवृत्तिरपीत्यर्थः। अत एव स्थानान्तरे पठितं "वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः। मांसानि च न खादेद्यस्तयोस्तुल्यं भवेत्फलम्। १। एकरात्रोषितस्यापि या गतिर्ब्रह्मचारिणः। न सा क्रतुसहस्रेण प्राप्तुं शक्या युधिष्ठिर"। मद्यपाने तु कृते सूत्रानुवादैस्तस्य सर्वविगर्हितत्वात्। तानेवंप्रकारानर्थान् कथमिव बुधाभासास्तीर्थिका वेदितुमर्हन्तीति कृतं प्रसङ्गेन।

अथवा "प्रवृत्तिरेषा भूतानां" इसका अर्थ ऐसा करना चाहिये कि; भूत अर्थात् पिशाच राक्षसादिकोंकी ही यह दुष्ट प्रवृत्ति है; वे ही मांसभक्षण आदिक दुष्कर्म करते हैं; न कि विवेकी मनुष्य। इस प्रकार मांसभक्षणादिक दुष्कर्मोंको सदोष ठहरा कर

चक्र कहते हैं। उसके निर्माण करनेके ही अनन्तर यह लिखा है 'यु' इत्यादि अर्थात् वेद भी होगा है इस लिखने से होता है ऐसा कहा है। यही सम्बन्ध तो 'इ' धातु 'लोकविद्' इस लम्बा पद है उसका अर्थ लिखना कहा है। इसलिये 'लिखेत्यु' इत्यादि अर्थ लिखने ही ऐसा किया है : इसे लोगोंके सम्बन्धे पहाड़ा महाराज कहा है। ट्र अनन्तर लि गए अर्थ मानसके लिखने ही कहा जब देखा है; न कि अनुमि ऐ: अक्षिमान पुस्तक होता है : इसलिये एक बुद्धे लोगका भी कहा है कि "पी वर्ष ध्यैन पर्वत्व पर्वदि एक पुरुष पक्ष दो तथा पुनः अन्यथा नहीं हुये से भग नोलिख एक स्वाद होता। ट : है युनिये। एकालिखित्ये जो पहचर्य तब गणितागतेकी वैसा उत्पन्न नहि होती है वैसी दूसरा गया कर लेखनेको भी वहाँ होती : २।" लगभग जो लोकमें ही लिख है उसका लिखे अनुवादनके कहना पर्व है। इस बच्चोंने अंके वेदो अर्थ हो एकने हैं उनके से कैसे कथन लोगों है जो जन। पढ़ाकर्मके हो चलते हैं तब लोहन चलते हैं पढ़ा, पढ़ाने लिखाने नहीं वे। एतना कहना भी बस है।

अब केवली स्वरूपका। कथंभूतमेवंभूतमेव इत्यिं वक्ष्यते। एकस्य लोगाद्यो वस्तुनि एकैकस्वरूपादिधर्म्यांगिपरत्व अपशाप्तिनोपेन पदस्वाद्यिगागपरिहारेण एकाभूतस्यो वस्तुनिस्वरूपोश्च विधिनिषेधयोः पर्यालोचनया प्रमाण स्वा· प्रकाशस्वरूपस्थितो वस्तुमार्गः लक्ष्यते। कथंभूतेनेत्याह। गणितपङ्क्तिनि गणिते। तद्यथा। स्यादस्त्येव सर्वमिति विधिकल्पनया प्रथमो भङ्गः। तत्प्रतिपक्षभूतो सर्वमिति निषेधकल्पनया द्वितीयः। स्यादवक्तव्यमेवेति युगपद्विधिनिषेधकल्पनया तृतीयः। स्यादस्त्येव स्वाद्यात्मनेवेति क्रमाद्विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थः। स्यादवक्तव्यमेवेति विधिकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च पञ्चमः। स्यान्नास्त्येव स्वाद्यात्मनेवेति निषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च षष्ठः। स्यादस्त्येव स्वाद्यात्मनेवेति स्यादवक्तव्यमेवेति विधिनिषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च सप्तमः। तत्र स्यादस्त्येवेत्यत्रास्त्यशब्देनाभिधीयमानस्यास्तित्वधर्मस्य सर्वथा प्रतिक्षेपो न युक्तः सर्वथाप्रतिक्षेपे वाऽतत्प्रसङ्गात्।

सप्तभङ्गी भिन्न प्रकार है और नयोंका भेद भिन्न प्रकार है। यथा—जीवादि किसी एक पदार्थमें अविनाभि धर्मोंमें जैसी एक धर्म की मुख्यतासे सब कहनेका प्रकार एकमें भाषन किये दूसरे विधि निषेध कल्पनाका वस्तुमें वाक्य-

रहितविचार पूर्वक, 'स्यात्' शब्दसे चिन्हित ऐसी वचनरचना को सप्तभंगी कहते हैं। क्योंकि; वह वचनरचना सात प्रकार ही हो सकती है। वह रचना ऐसी होनी चाहिये जिसके कहनेमें प्रत्यक्षादि किसी प्रमाणद्वारा विरोध नहीं आता हो। वे सात भंग इस प्रकार हैं।—किसी धर्मकी अपेक्षा संपूर्ण वस्तु अस्तिरूप ही है। अर्थात् है ही ऐसे विधिधर्मकी कल्पनाकी मुख्यतासे प्रथम भंग है। किसी अपेक्षासे संपूर्ण वस्तु नास्तिरूप ही है। अर्थात् नहीं ही है यह निषेधधर्मकी मुख्यतासे दूसरा भंग है। किसी अपेक्षा है और किसी अपेक्षा नहीं ही है ऐसा क्रमसे विधिनिषेधकी कल्पना मुख्य करनेपर तीसरा भंग होता है। किसी अपेक्षा वस्तु अवक्तव्य ही है ऐसा एकसाथ विधि निषेधोंकी मुख्यता करनेसे चौथा भंग होता है। किसी अपेक्षा अस्तिरूप होकर भी वस्तु अवक्तव्य है ऐसा पांचवां भंग सामान्य विधिकी कल्पनासे तथा एक ही समय विधिनिषेध दोनोंकी मुख्यता करनेसे होता है। किसी अपेक्षा वस्तु नास्तिरूप होकर भी जब अवक्तव्य होता है तब सामान्य निषेधधर्मकी मुख्यतासे तथा विधिनिषेध दोनोंकी एक साथ मुख्यता समझनेसे छट्ठा भंग होता है। किसी अपेक्षा वस्तु अस्तिनास्ति तथा अवक्तव्यरूप है ऐसा भंग सातवां होता है। जब क्रमसे भी विधिनिषेधकी मुख्यता कीजाती है तथा युगपत् भी विधिनिषेधकी मुख्यता कीजाती है तब क्रमकी अपेक्षा अस्तिनास्तिरूप होकर भी उसी समय युगपत् दोनो धर्मोंकीभी मुख्यता रखनेसे कथंचित् अस्तिनास्तिरूप तथा अवक्तव्यरूप मिलकर सातवां भंग होता है। **भावार्थ**—कथंचित् अथवा स्यात् शब्दका अर्थ 'मुखसे स्पष्ट नहीं कही हुई किसी एक इष्ट अपेक्षा से' ऐसा होता है। सो जब अपेक्षाको स्पष्ट नहीं कहकर संक्षेपसे किसी धर्मको कहना होता है तब या तो स्यात् या कथंचित् शब्द जोड़कर बोलते हैं और जब अपेक्षाको स्पष्ट कहना होता है तब कथंचित् वा स्यात् शब्द न कहकर केवल उस विवक्षाको दिखाकर विधिनिषेध करदेते हैं। जैसे—जब संक्षेपसे कहना होताहै तब विवक्षा न कहकर केवल स्यात् अथवा कथंचित् शब्द-द्वारा ही इस प्रकार बोला जाता है कि; स्यात् द्रव्य अस्तिरूप है, कथंचित् द्रव्य अस्तिरूप है अथवा किसी अपेक्षासे वस्तु अस्ति-रूप है। परंतु जब इसी विवक्षाको स्पष्ट कहना होता है तब ऐसा कहते हैं कि घड़ा आदिक कोई भी वस्तु अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावोंकी अपेक्षासे अस्तिरूप है; न कि दूसरे द्रव्योंके द्रव्य क्षेत्र काल भावोंकी अपेक्षासे।

**तथा हि। कुम्भो द्रव्यतः पार्थिवत्वेनास्ति; नाप्यादिरूपत्वेन। क्षेत्रतः पाटलिपुत्रकत्वेन; न कान्यकुब्जादित्वेन। कालतः शैशिरत्वेन; न वासन्तिकादित्वेन। भावतः श्यामत्वेन; न रक्तादित्वेन। अन्यथेतररूपापत्त्या**

[illegible] इति । अथवा [illegible] अनेकान्तात्मकवस्तुप्रतिपादनम् । [illegible] [illegible] प्रमितिप्रकाशा[illegible] । [illegible] "[illegible]" । [illegible]-
[illegible] ॥" ।

जैसे [illegible] दूसरी अपेक्षा [illegible] है [illegible] अपेक्षा है किन्तु [illegible] अपेक्षा [illegible] नहीं है । [illegible] किसी एक [illegible] अपेक्षा है [illegible] दूसरे [illegible] नहीं है । [illegible] किसी [illegible] है, [illegible] संख्या नहीं है । [illegible] है । [illegible] [illegible] है [illegible] किन्तु [illegible] अपेक्षा नहीं है । [illegible] संख्या [illegible] होती [illegible] । [illegible] होता है । क्योंकि, [illegible] है [illegible] है । [illegible] 'ही' [illegible] है [illegible] नहीं है । [illegible] 'ही' [illegible] नहीं [illegible] । [illegible] है "[illegible]" [illegible] 'ही' [illegible] है [illegible] है [illegible] नहीं है [illegible] है । [illegible] है [illegible] नहीं है [illegible] 'ही' के बिना किसी [illegible] नहीं होता है ।

[illegible]-
[illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible]

दिभिरपीत्यर्थः । यत्रापि चासौ न प्रयुज्यते तत्रापि व्यवच्छेदफलैवकारवद् बुद्धिमद्भिः प्रतीयत एव । यदुक्तं "सोऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः सर्वत्रार्थात्प्रतीयते । यथैवकारोऽयोगादिव्यवच्छेदप्रयोजनः" । इति प्रथमो भङ्गः ।

यहांपर शंका होसकती है कि घड़ा है ही इस प्रकार बोलनेसे ही यदि अभिप्राय समझा जाता है तो स्यात् शब्द बोलनेकी क्या आवश्यकता है ? परंतु यह शंका योग्य नहीं है । क्योंकि; 'ही' शब्द जो निश्चयवाचक है वह जब 'है' क्रियाके साथ जोड़दिया जाता है तब घड़ेके अस्तित्व धर्मका तो निश्चय होजाता है कि घड़ा है ही किंतु नास्तिधर्मका निश्चय नहीं होसकता कि घड़ा ही है अन्य कुछ नहीं है । क्योंकि; निश्चयवाचक जो 'ही' शब्द लगाया गया है वह 'है' के साथ लगाया गया है; नकि घड़ेके साथ । इसलिये फिर भी अन्य वस्तुओंसे घड़ेकी जुदायगी प्रतीत होना दुर्लभ है। इसलिये स्यात् शब्द लगाकर ही प्रत्येक वाक्य बोलना चाहिये । भावार्थ—स्यात् शब्दके कहनेसे यह फल होगा कि विधि अथवा निषेधकी मुख्यतासे जो वस्तु बोला जायगा उससे उसीका विधिनिषेध होगा, अन्यका नहीं । जैसे यह घड़ा ही है अन्य कुछ नहीं है । यहांपर इस विधिवाक्यसे घड़ेकी ही विधि होती है और अन्य सबोंका निषेध होता है । और जो 'है' के साथ 'ही' शब्द बोला जायगा उसका यह फल होगा कि जो अमुक वस्तु अस्तिरूप बोली है तो अस्तिरूप ही है निषेधरूप नहीं है और यदि निषेधरूप ही बोली है तो वह निषेधरूप ही है; विधिरूप नहीं है । जैसे घड़ा है ही ऐसे वाक्यसे यही अर्थ समझा जाता है कि यह घड़ा अस्तिरूप ही है । इस प्रकार प्रत्येक वाक्यमें स्यात् शब्द भी बोलना चाहिये तथा 'ही' शब्द भी बोलना चाहिये । इसीसे यह निर्दोष अर्थ होसकता है कि अमुक वस्तु स्यात् अथवा कथंचित् अथवा स्वकीय द्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा ही है; अन्यकी अपेक्षा नहीं है । एवं यदि वह अस्तिरूप कहा है तो अस्तिरूप ही है; नास्तिरूप नहीं है । जहांपर स्यात् शब्दका मुखसे उच्चारण नहीं किया जाता है वहांपर भी उसको ऊपरसे समझ लेते हैं । जैसे अन्यका निषेध करनेवाला 'एव' अथवा 'ही' शब्द न बोलनेपर भी वाक्यमें उसका वैसा ही अभिप्राय बुद्धिमान् ऊपरसे समझ लेते हैं । यही कहा है "जिस वाक्यमें स्यात् शब्द नहीं बोला जाता है वहांपर भी अभिप्रायसे स्यात् शब्दका अर्थ बुद्धिमानोंको प्रतीत होजाता है । जैसे जिस वाक्यमें 'एव' अथवा 'ही' शब्द नहीं बोला जाता है उसमें प्रकरणवश बुद्धिमानोंको 'ही' का अर्थ ऊपरसे झलक जाता है । यह प्रथम भङ्ग हुआ ।



स्यात्कथंचिन्नास्त्येव कुम्भादिः । स्वद्रव्यादिभिरिव परद्रव्यादिभिरपि वस्तुनोऽसत्त्वाऽनिष्टौ हि प्रतिनियतस्व-

अवाङ्मात्रादङ्गुलिनिर्देशविरहे सति। न चालिप्रयोक्तारमादिश्य तत्र नास्तीयमर्थक्रियेति वक्तव्यम्, अर्थक्रियाज्ञानस्य प्रवृत्तिप्रतिबन्धकाभावात्। न हि यत्रैवंविधनिरवधारणो गामश्वं वाऽऽनयेत्यादिसाधनकलापसंसर्गः प्रतिपत्तुः प्रतिभासते तत्रापि साधनत्वाऽसाधनत्वाभ्यां। तथा सति साधनत्वाऽसाधनत्वाभ्यां। तत्प्रतिभासेऽपि तत्र प्रवृत्तिनिवृत्तिदर्शनात्। यथोक्तं धर्मोत्तरेण "अविसंवादनियमेऽपि" इति। तस्मात्सिद्धमेतत्।

अब दूसरा मत कहते हैं। किसी वस्तुके बारेमें उसका वाचक शब्द नास्तिक ही है। जिस व्यक्तिने अपने अभीष्ट अर्थका कभी भी शब्द श्रवण नहीं किया है और प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणसे जिसे वस्तुका ज्ञान नहीं हुआ है, उसके लिये वस्तुका वाचक शब्द नास्तिक ही है। जो लोग वस्तुमें वाचक शब्दका अस्तित्व मानते हैं वे भी ऐसा नहीं कह सकते हैं कि वस्तुमें वाचक शब्द है या नहीं। क्योंकि, ऐसा कहने पर तो किसी व्यक्तिके लिये अपने अभीष्ट अर्थका वाचक शब्द देखे होनेपर भी वह वस्तुमें वाचक शब्दका अस्तित्व नहीं मानेगा। यदि वस्तुमें वाचक शब्दका अस्तित्व माना जाय तो वस्तुज्ञानके लिये शब्दज्ञानकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी। क्योंकि, शब्दज्ञानकी अपेक्षा प्रत्यक्षज्ञान ही वस्तुका ज्ञान करानेमें अधिक समर्थ है। जिसने प्रत्यक्ष न देखा हो उसको शब्द भी वस्तुका ज्ञान नहीं करा सकते हैं। जैसे जिसने कभी भी घोड़ा न देखा हो उसको घोड़ा शब्दका प्रयोग करके घोड़ेका ज्ञान नहीं कराया जा सकता है। क्योंकि, जो व्यक्ति घोड़ेको प्रत्यक्षसे जानता है वही घोड़ा शब्दका प्रयोग करके दूसरेको घोड़ेका ज्ञान करा सकता है। इसलिये—जब शब्दज्ञानकी अपेक्षा देखे अथवा जिसकी अपेक्षा नास्तिक पदार्थ भी शब्द द्वारा बोध हो सके ऐसे पदार्थके लिये शब्दका प्रयोग किया जा सकता है। परन्तु जिसने किसी वस्तुको प्रत्यक्ष नहीं किया है उसको शब्द द्वारा उस वस्तुका बोध नहीं कराया जा सकता है। क्योंकि, जो वस्तु शब्दसे नास्तिक नहीं है उसको भी वह नास्तिक कैसे कह सकता है कि यह वस्तु शब्दसे नास्तिक है; क्योंकि, जो वस्तु शब्दसे नास्तिक है उसमें शब्दका वाचक धर्म नहीं होना चाहिये। किसी वस्तुमें किसी एक धर्मका न पाया जाना भी उस वस्तुके लिये उसका धर्म कहलाता है। जैसा कि जिन वस्तुओंमें पैरोंका अभाव वस्तुतः पाया जाता है उनमें भी पैरोंका अभाव नहीं कहा जाता है। इसलिये यह सिद्ध है कि प्रत्येक वस्तुमें अविसंवादी नास्तिक पदार्थके साथ और नास्तिक अविसंवादी शब्द विषयसे रहनेवाले

अविनाभावी धर्म हैं। विवक्षाके वश कभी नास्तित्व धर्मको उदासीनरूप देखते हुए अस्तित्व धर्मको प्रधान देखते हैं तथा कभी अस्तित्व धर्मको अमुख्य रखकर नास्तित्व धर्मको प्रधान मानने लगते हैं। भावार्थ—इसीलिये एक पदार्थको कभी अस्तिरूप कहते हैं और कभी नास्तिरूप कहते हैं। "अर्पित तथा अनर्पित नयोंकी अपेक्षासे वस्तुमें भंग हो सकते हैं" इस प्रकार ग्रन्थकर्ताओंमें मुख्य श्रीउमास्वामीके वचनानुसार और भी तीसरे आदिक भंगोंमें अस्तित्व नास्तित्व धर्मोंकी प्रधानता अप्रधानता समझलेना चाहिये। इस प्रकार दूसरा भंग हुआ।



तृतीयः स्पष्ट एव। द्वाभ्यामस्तित्वनास्तित्वधर्माभ्यां युगपत्प्रधानतयाऽर्पिताभ्यामेकस्य वस्तुनोऽभिधित्सायां तादृशस्य शब्दस्याऽसंभवादवक्तव्यं जीवादिवस्तु। तथा हि। सदसत्त्वगुणद्वयं युगपदेकत्र सदित्यनेन वक्तुमशक्यं; तस्याऽसत्त्वप्रतिपादनाऽसमर्थत्वात्। तथाऽसदित्यनेनापि; तस्य सत्त्वप्रत्यायनसामर्थ्याऽभावात्। न च पुष्पदन्तादिवत्साङ्केतिकमेकं पदं तद्वक्तुं समर्थं; तस्यापि क्रमेणार्थद्वयप्रत्यायने सामर्थ्योपपत्तेः शबलशानयोः संकेतितसच्छब्दवत्। अत एव द्वन्द्वकर्मधारययुर्योर्वाक्यस्य च न तद्वाचकत्वम्। इति सकलवाचकरहितत्वादवक्तव्यं वस्तु युगपत्सदसत्त्वाभ्यां प्रधानभावार्पिताभ्यामाक्रान्तं व्यवतिष्ठते। न च सर्वथाऽवक्तव्यम्; अवक्तव्यशब्देनाप्यनभिधेयत्वप्रसङ्गात्। इति चतुर्थः। शेषास्त्रयः सुगमाभिप्रायाः।

तीसरा भंग स्पष्ट ही है। अर्थात् जब क्रमसे अस्तित्व और नास्तित्व धर्मकी मुख्यता करते हैं तब वस्तुका स्वरूप अस्तिनास्तिरूप रहता है। इसलिये वस्तु कथंचित् अस्तिनास्ति ऐसे दोनोरूप है। यह तीसरा भंग हुआ। चौथा भंग कथंचित् अवक्तव्यस्वरूप है। जब अस्तित्व नास्तित्व दोनो धर्मोंको एक समयमें प्रधान समझते हैं तब इन परस्परविरुद्ध दोनो धर्मोंका एक साथ कहनेवाला कोई भी शब्द न मिलनेसे वस्तुका स्वरूप अवक्तव्य होजाता है। क्योंकि; जितने शब्द हैं उनमेंसे कुछ तो ऐसे हैं जो वस्तुके किसी धर्मका अस्तित्वमात्र कहसकते हैं और कुछ ऐसे हैं जो नास्तित्वको ही जता सकते है। जो अस्तित्व दिखानेवाले शब्द है वे नास्तित्व धर्मको नहीं कह सकते हैं और जो नास्तित्व धर्मको कहते हैं उनसे अस्तित्व धर्म कहाजाना असंभव है। और जिस प्रकार पुष्पदंत शब्द संकेतित होनेसे किसी विशेषको जतानेवाला है उस प्रकार भी कोई एक शब्द ऐसा संकेतित नहीं है जिसके द्वारा एक साथ परस्पर विरुद्ध धर्मोंका कहना, समझना होसकता हो। जो कोई माना भी जाय तो वह क्रमसे ही परस्पर विरुद्ध अर्थोंको

विधिनिषेधकी अपेक्षा प्रत्येक धर्मके भंग सात ही होंगे। इसलिये सब धर्मोंकी सप्तभङ्गी चाहे अनंती हों परंतु प्रत्येक धर्मके विधिनिषेधकी अपेक्षा सप्तभङ्गी ही कहना उचित है। जिस प्रकार सत् असत् धर्मोंकी सप्तभंगी होसकती है उसी प्रकार सामान्य विशेष इन दो धर्मोंकी भी सप्तभङ्गी होसकती है। जैसे—प्रत्येक वस्तु कथंचित् सामान्य है, कथंचित् विशेष है, कथंचित् सामान्यविशेष इन दोनोंस्वरूप है; कथंचित् अवक्तव्य है; कथंचित् सामान्य होकर भी अवक्तव्य है; कथंचित् विशेष होकर भी अवक्तव्य है तथा कथंचित् सामान्यविशेषरूप होकर भी अवक्तव्य है। कदाचित् कहो कि इसमें विधि तथा निषेध नहीं होसकते हैं सो भी कहना ठीक नहीं है। क्योंकि; सामान्य धर्म तो सदा अस्तिरूप है और विशेष धर्म दूसरेका निषेधकर्ता होनेसे नास्तिरूप है। इसलिये जैसे अस्ति नास्ति भंगोंमें विधि निषेधकी अपेक्षा सात भंग होसकते हैं उसी प्रकार सामान्य विशेष धर्मोंमें भी सात भंग होसकते हैं। अथवा इस प्रकार भी इनमें विधि निषेध कहे जा सकते हैं कि ये दोनों सामान्य विशेष शब्द एक दूसरेके विरुद्ध हैं इसलिये जब सामान्य धर्मकी तो प्रधानता करते हैं और विशेष धर्मकी अप्रधानता रखते हैं तब सामान्य तो विधिरूप होजाता है और विशेष धर्म नास्तिरूप होजाता है। और जब विशेषको मुख्य समझकर सामान्यको अमुख्य समझते हैं तब विशेष धर्म विधिरूप होजाता है और सामान्य निषेधरूप होजाता है। इसलिये स्यात्सामान्य है स्यात् विशेष है इत्यादि प्रकारसे सात भंग होसकते हैं। इसी प्रकार और भी संपूर्ण धर्मोंमें सात सात भंग घट सकते हैं। इसीलिये ठीक कहा है कि "अनंतो धर्मोंमें भी विचार करनेपर प्रत्येकके सात सात ही भंग होनेसे यदि अनंती भी होंगी तो सप्तभंगी ही होंगी"।

**प्रतिपर्यायं प्रतिपाद्यपर्यनुयोगानां सप्तानामेव संभवात्। तेषामपि सप्तत्वं; सप्तविधतज्जिज्ञासानियमात्। तस्या अपि सप्तविधत्वं; सप्तधैव तत्संदेहसमुत्पादात्। तस्यापि सप्तविधत्वनियमः स्वगोचरवस्तुधर्माणां सप्तविधत्वस्यैवोपपत्तेरिति।**

प्रत्येक पर्यायकी अपेक्षा भंग सात ही इसलिये होते हैं कि प्रत्येक पर्यायमें जितनी कहसकते हैं ऐसे समाधान अथवा उत्तर सात ही होतेहैं। उत्तर सात ही इसलिये होते हैं कि उन स्वरूपोंके जाननेकी इच्छा सात प्रकारसे ही होती है। जाननेकी इच्छा भी सात प्रकार ही इसलिये होती है कि; उस विषयके संदेह सात प्रकारके ही उठते हैं। और संदेह भी अधिक इसलिये नहीं उठते कि; प्रत्येक वस्तुमें संभवने योग्य धर्म सात ही हैं।

[illegible] । [illegible] ।
[illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] ।

प्रत्येक [illegible] जाते हैं और कभी [illegible] जाता है। [illegible] करते हैं और [illegible] करते हैं। [illegible] करते हैं। [illegible] है कि [illegible] करते हैं। [illegible] है। [illegible] करते हैं। और [illegible] करते हैं। [illegible] है। [illegible] है। और [illegible] जाता है। क्योंकि, [illegible] है ; [illegible]

धर्मों सहित वस्तुको अभेदरूपसे जानता है और जो नयरूप ज्ञान होता है वह वस्तुके एक एक धर्मका क्रमसे ग्रहण करता है। इसीलिये प्रमाणके विषयको तो सकलादेश कहते हैं और नयात्मक ज्ञानके विषयको विकलादेश कहते हैं।

कः पुनः क्रमः ? किं च यौगपद्यम्? यदाऽस्तित्वादिधर्माणां कालादिभिर्भेदविवक्षा तदैकशब्दस्यानेकार्थप्रत्यायने शक्त्यभावात्क्रमः। यदा तु तेषामेव धर्माणां कालादिभिरभेदेन वृत्तमात्मरूपमुच्यते तदैकेनापि शब्देनैकधर्मप्रत्यायनमुखेन तदात्मकतामापन्नस्याऽनेकशेषधर्मरूपस्य वस्तुनः प्रतिपादनसम्भवाद्यौगपद्यम्।

क्रमसे जानना इस शब्दका अभिप्राय तो क्या है और प्रमाण युगपत् समस्त धर्मोंको जानता है ऐसे वाक्यमें जो युगपत् शब्द कहा उसका अभिप्राय क्या है ? जब एक वस्तुमें रहनेवाले अस्तित्व नास्तित्व आदिक अनंतो धर्मोंमें लक्षण प्रयोजनादि कारणों द्वारा भेदभावकी कल्पना कीजाती है तब एक शब्दके बोलनेसे अनेक धर्मोंका प्रतिबोध नहीं हो सकता है। क्योंकि; उस समय धर्म तो परस्पर भिन्न भिन्न माने हुए हैं और एक शब्द अनेक धर्मोंका वाचक हो नहीं सकता है। इसलिये एक वचनसे एक साथ प्रतिपादन न होसकनेके कारण प्रत्येक धर्मको क्रमसे ही अनेक शब्दोंद्वारा कहना पड़ता है। इसीको क्रमसे जानना कहते हैं। और जब उन्हीं संपूर्ण धर्मोंको कालादिकी अपेक्षा अभिन्न मानकर सबको एकरूप मानते हैं तब सभी धर्म एकरूप विवक्षित होनेसे एक ही समयमें एक ही शब्दद्वारा पुकारे जा सकते हैं। परंतु तब भी एक शब्द जो बोलते हैं वह होता किसी न किसी एक ही धर्मका वाचक है किंतु उस एक धर्मकी मुख्यता करके बोलनेसे उसका अर्थ संपूर्ण धर्मोंका समुदाय माना जाता है। क्योंकि; उस समय संपूर्ण धर्मोंको एकस्वरूप ही मान रक्खा है। इसीका नाम युगपत् है। अर्थात् एक धर्मकी मुख्यता करके एक शब्द बोलनेपर भी अभेद विवक्षासे संपूर्ण धर्मोंमें अभेद समझ लेना ही युगपत्शब्दका अर्थ है।

के पुनः कालादयः ? कालः; आत्मरूपम्, अर्थः, संबन्धः, उपकारः, गुणिदेशः, संसर्गः, शब्द इति। तत्र (१) स्याज्जीवादिवस्त्वस्त्येवेत्यत्र यत्कालमस्तित्वं तत्कालाः शेषानन्तधर्मा वस्तुन्येकत्रेति तेषां कालेनाऽभेदवृत्तिः।(२) यदेव चास्तित्वस्य तद्गुणत्वमात्मरूपं तदेवान्यानन्तगुणानामपीति आत्मरूपेणाऽभेदवृत्तिः। (३) य एव चाधारोऽर्थो द्रव्याख्योऽस्तित्वस्य स एवाऽन्यपर्यायाणामित्यर्थेनाऽभेदवृत्तिः। (४) य एव चाऽविष्वग्भावः कथंचित्तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धोऽस्तित्वस्य स एव शेषविशेषाणामिति सम्बन्धेनाऽभेदवृत्तिः। (५)

य एतद् गोपकालोऽस्तित्वेन लक्षानुरक्तत्वकरणं स एष गौचरचि मुख्यैरित्युपाकारेणकटभेदपूर्वकः । ( ६ ) य एव गुरुत्वेन। गोपनादि वेदुः छेत्रसत्त्वप्रयोऽपेक्षितकालं स दत्तान्यतुलानाटमेनेति तुल्यिरेत्योगाऽभेदपूर्वकः । ( ७ ) य एव पैकेवसपाला-लाऽस्तित्वस्य मैसार्थः स एव गोचयसंकलमिति संबन्धोनाऽभेदपूर्वः । य अस्तित्वनामपेऽभेदो गवार्थे मेलने गोगा; मालो पुरु पैकु सचालनमेलने मंगल धनि पिंडेक । (८) य एव चालनेति शब्दोऽस्तित्वधर्मात्मिकस्य पालुनो गोचयः स एव अनेकाऽवस्थापर्यायसंकलनात्मेति शब्देनाऽभेदपूर्वः। पर्यायाधिकनयगुणभावे द्रव्यार्थिकप्रधानत्वादुपपद्यते ।

ये चत्वारि गवादिशब्दानेकार्थे हैं।। गौ धर्मी अर्थात् अनेक वेदलक्षण वस्तुवें भी अपेक्ष वक्तव्य होता है' अतः, आलंबन अर्थ, क्षेत्रता, चलता, तृप्तिदेता, गौरव, पदत्व से अंतर विचारनेके वाद पाता है ।( ६ ) इतनेमें भी गौ में वस्तु कथंचित् अधिकरण ही है ऐसा शब्द नैगमनय विनमे ।।मनस्य ।।त्व चीजादे लिंगो एक द्रव्यमें अधिक गवीको प्रधानता पत्नी वर्ग हो जाने व्यवहार ।। लिंगे भी भक्त गवि का एक वस्तुके है इसलिये एक की संख्या के वर्ग अविरुद्धत्व है ऐसा स्वतंत्र चाहिये । (२) लिंग पदार्थ संबोधन वर्ग उस वस्तुमें वस्तुस्वरूप है उसी तरह क्षेत्र गुरु पो उस पदार्थो वस्तुस्वरूप भी होकर ।।ते हैं ।।लिये नैगमनयो अपेक्षा से एवं एक ही कथन अपेक्ष हो है । ( ३ ) इलंबनार्थ जो स्वार्थ अधिक एवंभूत व्यवहार है वही अंतर गौ। पदार्थ वस्तुमें वस्तुका व्यवहार पर्यायरूप वाचक है इसलिये अर्थ का एवंभूती अपेक्षा इस एवंभूत व्यवहार है । (४) लोकमें सभी विशेष नहीं देखा जैसा जो शब्दोंके संबंध व्यभिचार व्यावहारिक संज्ञा अधिकारों में नहीं जो पुत्रोंका भेदो ।।विशेष संज्ञाकी अपेक्षा वस्तुके पर्याय पर्याय अधिक व्यवहार आदि है । ।५। अधिकार पर्यायोंके लिंग शब्दोंके लिंग व्यवहारके द्वारा अनुभाग देखा होता है जबकि उत्पादके द्वारा स्वतंत्र पर्याय कहीं भी वस्तुके स्वरूपमें अनुभाव होता है इसलिये व्यवहारकी अपेक्षा वस्तुको अवस्थाएं है । ( ६ ) विशेषो पुरुष कहते हैं ऐसा शब्दरूप देख संज्ञा होने जो एक अधिक पुरुषमें है वही लिंग वाचकोंके व्यवहार पुत्रोंका भी है इसलिये शब्दनयोंमें शब्दरूपमें लिंगभेद अपेक्षे अनेक तीर्थ पर्यायों पाया संबंधपन है । ( ७ ) एवं वस्तुवनेकी पर्यायें जो अधिकारपुरुषत्व होती है वही जीव भी ऐसे पुरुषोंका होता है इसलिये ।।विशेषी अनेक अधिकारत्व है । यद्यपि वस्तुको संबंधकी अनेक हो स्थान अधिकरण ही पाया है चाहे अन्य भेदोंकी अपेक्षा एवं शब्दके लिंगों व्यक्तिरूप सिद्ध करते हैं तब इन पर्यायें अनेकान्तमें व्यवहारीपना होता ।।ता है और अनेकान्त व्यवस्था पाया है। किंतु यह शब्दोंके अपेक्षा अपेक्षाभाव देखते हैं

तब भेदभाव तो मुख्य रखा जाता है और अभेदभाव अमुख्य रखा जाता है। यही संसर्ग तथा संबंधमें अपूर्णता है। ( ८ )

जो अस्ति अथवा है ऐसा शब्द अस्तित्व धर्मवाले वस्तुको बतलाता है उसीसे बाकीके अनंतों धर्मोंका आश्रयभूत वस्तु भी बतलाया जाता है इसलिये शब्दकी अपेक्षा भी अनंतों धर्म तथा उसका आधार वस्तु ये सभी परस्पर अभिन्नरूप हैं। अर्थात् एक ही शब्दसे एक वस्तुके संपूर्ण धर्मोंका बोध होजाता है इस लिये वस्तुके संपूर्ण अंश अभिन्न अथवा एकरूप ही हैं। जब पर्यायोंके आविर्भावकी अपेक्षा तो अमुख्य समझी जाती हो और अखंडरूप द्रव्यकी अपेक्षा रखनेवाली विवक्षाकी प्रधानता मानी जाती हो तब यह आठों प्रकारका अभेदभाव बनसकता है।

**द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्ये तु न गुणानामभेदवृत्तिः संभवति; समकालमेकत्र नानागुणानामसंभवात्। संभवे वा तदाश्रयस्य तावद्भा भेदप्रसङ्गात्। नानागुणानां सम्बन्धिन आत्मरूपस्य च भिन्नत्वात् आत्मरूपाऽभेदे तेषां भेदस्य विरोधात्। स्वाश्रयस्यार्थस्यापि नानात्वादन्यथा नानागुणाश्रयत्वस्य विरोधात्। सम्बन्धस्य च सम्बन्धिभेदेन भेददर्शनान्नानासम्बन्धिभिरेकत्रैकसम्बन्धाऽघटनात्। तैः क्रियमाणस्योपकारस्य च प्रतिनियतरूपस्याऽनेकत्वात् अनेकैरुपकारिभिः क्रियमाणस्योपकारस्य विरोधात्। गुणिदेशस्य च प्रतिगुणं भेदात्तदभेदे भिन्नार्थगुणानामपि गुणिदेशाऽभेदप्रसङ्गात्। संसर्गस्य च प्रतिसंसर्गि भेदात्तदभेदे संसर्गिभेदविरोधात्। शब्दस्य प्रतिविषयं नानात्वात्सर्वगुणानामेकशब्दवाच्यतायां सर्वार्थानामेकशब्दवाच्यतापत्तेः शब्दान्तरवैफल्यापत्तेश्च ।**

और जब द्रव्यार्थिक अपेक्षा की प्रधानता तथा पर्यायोंके आविर्भावकी मुख्यता ली जाती है तब संपूर्ण गुणोंमें परस्पर अभेदभाव नहीं बनसकता है। क्योंकि; ( १ ) एक ही समयमें नाना भावोंका होना असंभव है और यदि हों भी तो उन भिन्न भिन्न भावोंके आश्रयरूप जो द्रव्य है वह भी उतने ही भेदरूप होजायगा। ( २ ) और संपूर्ण गुणोंके स्वरूपमें तथा उनके आश्रयरूप द्रव्यमें परस्पर अनेकपना है। यदि उन गुणोंमें परस्पर भेद न हो तो वे गुण भिन्न भिन्न न गिने जाने चाहिये। (३) और उन गुणोंका आश्रयभूत जो द्रव्य है वह भी नानाप्रकार है। यदि नानारूप न हो तो नाना गुणोंका आश्रय किस प्रकार बनसके ? (४) और जो अनेक संबंधियोंको संबद्ध रखनेवाले संबंध हैं वे भी अनेक होने चाहिये। क्योंकि; एक वस्तुमें

अनेक पर्यायोंको जाननेवाला ज्ञान प्रमाण कहा गया है। (५) और उन अनेक धर्मोंमें किसी धर्मका उच्चारण है वह भी स्वतंत्र धर्मका द्योतक होकर दूसरे धर्मोंका भी अपेक्षा द्योतक ही होगा। क्योंकि जो वचनप्रयोग अनेक धर्मोंमेंसे किसी धर्मका द्योतक नहीं होता है वह वस्तुका ही लोप करनेवाला होगा। (६) जो वस्तुके गुणका द्योतक है वह भी कथंचित् भिन्न भिन्न ही होना चाहिये। क्योंकि, एक शब्द अनेक धर्मोंको एक साथ नहीं कह सकता है। यही कारण है कि एक वस्तुमें रहनेवाले भिन्न भिन्न अनेक धर्मोंमेंसे वक्ता एक समयमें एक धर्मका ही प्रतिपादन करता है। (७) इसी प्रकार वस्तुमें रहनेवाले अनन्त धर्मोंकी अपेक्षा लिये हुए सात ही वाक्य हैं। जिनसे कि प्रश्नोंके वशसे एक वस्तुमें अविरोधरूपसे विधि और प्रतिषेधकी कल्पना की जाती है। यदि प्रश्न सात प्रकारके न हों तो वचन भी सात प्रकारके नहीं हो सकते। (८) इन सात प्रकार वचनविन्यासके अतिरिक्त वचनप्रयोग भी नहीं हो सकता। क्योंकि जिज्ञासा सात प्रकारकी ही होती है। जिज्ञासाके मूल सात भेद होनेका कारण यह है कि जिज्ञासाके विषयभूत धर्म सात ही हो सकते हैं। इससे कम या अधिक नहीं। यदि जिज्ञासाके विषयभूत धर्म सात ही हैं तो उनके पूछनेवाले प्रश्न भी सात ही हो सकते हैं। प्रश्नोंके सात ही होनेका कारण प्रश्नकर्ताकी सात ही प्रकारकी जिज्ञासा है। और जिज्ञासाके सात ही प्रकार होनेका कारण जिज्ञासाके विषयभूत धर्मोंका सात ही होना है। इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि वस्तुमें अनन्त धर्मोंके होनेपर भी उनके जाननेकी इच्छा सात प्रकारकी ही होती है, न कम न अधिक। इसलिये उन धर्मोंके विषयमें प्रश्न भी सात प्रकारके ही हो सकते हैं। और प्रश्नोंके सात ही प्रकार होनेसे उत्तररूप वचनप्रयोग भी सात प्रकारका ही होता है। इससे कम या अधिक नहीं।

अस्तीति च नास्तीति च स्यादवक्तव्यमिति च त्रयं स्वतन्त्रं च युगपच्च सकलादेशस्य विकल्पा इति सप्तभङ्गी। तत्र प्रमाणसप्तभङ्गी सकलादेशः। नयसप्तभङ्गी विकलादेशः। सकलादेशाधीनाः विकलादेशाः। विकलादेशाधीनाश्च सकलादेशाः। तत्र सकलादेशः सकलधर्मात्मकं वस्तु कालादिभिरभेदवृत्तिप्राधान्येन अभेदोपचाराद्वा अखण्डं प्रतिपादयति। विकलादेशस्तु तदेव वस्तु कालादिभिर्भेदवृत्तिप्राधान्येन भेदोपचाराद्वा सखण्डं प्रतिपादयति। सकलादेशः प्रमाणाधीनः। विकलादेशो नयाधीनः। प्रमाणं सकलादेशि स्वार्थं सकलधर्मात्मकं वस्तु विषयति। नयो विकलादेशी स्वार्थं वस्तुनो धर्मात्मकं विषयति। सकलादेशः प्रमाणवाक्यं विकलादेशो नयवाक्यमिति यावत्। तदुक्तम्—

इस प्रकार पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे यदि विचार किया जाय तो प्रत्येक वस्तुमें अविरोधरूपसे रहनेवाले अनन्त धर्मोंमेंसे कोई भी दो धर्म एक समयमें नहीं रहेंगे। और जब ये दो धर्म एक समय में विद्यमान नहीं हैं तब इनमें कालादिककी दृष्टिसे अभेदवृत्तिका उपचार करना भी असंगत मालूम पड़ता है। इस प्रकार द्रव्यार्थिक नयकी मुख्यता और पर्यायार्थिक नयकी गौणता लेकर एवं द्रव्यार्थिक नयकी गौणता और पर्यायार्थिक नयकी मुख्यता लेकर ही अनेकान्तवाद निकला है इसलिये स्याद्वादमें अपेक्षाको लिये हुए अनेकान्तके साथ अनेकान्तात्मक वस्तुका एक ही प्रतिपादन जो वाक्य है वह प्रमाणरूप है। इसीका दूसरा नाम सकलादेश है। और नयरूप वाक्यसे विवक्षित धर्मका ही

ऐसा जो एकदेशरूप वस्तुका एक धर्म है उसको जो वाक्य भेदभावकी अथवा भेदरूप उपचार की प्रधानता लेकर प्रतिपादन करे वह विकलादेश है। इसीको नयवाक्य भी कहते हैं। इस प्रकार सकलादेश तथा विकलादेश सिद्ध होनेसे यह कहना भी सिद्ध होता है कि सकलादेश विकलादेशरूप आदेशोंमेंसे कभी किसीका और कभी किसीका सहारा लेनेसे वस्तुके स्वरूपमें सात सात भंग होजाते हैं। इस प्रकार इस वाक्यका अर्थ पूर्ण हुआ।



अनन्तरं भगवद्दर्शितस्याऽनेकान्तात्मनो वस्तुनो बुधरूपवेद्यत्वमुक्तम्। अनेकान्तात्मकत्वं च सप्तभङ्गीप्ररूपणेन सुखोन्नेयं स्यादिति सापि निरूपिता। तस्यां च विरुद्धधर्माध्यासितं वस्तु पश्यन्त एकान्तवादिनोऽबुधरूपा विरोधमुद्भावयन्ति। तेषां प्रमाणमार्गाऽव्यवस्थामाह।

अभी पहिले यह कहा कि जिसका प्रतिपादन भगवान् सर्वज्ञने किया ऐसा वस्तुका अनेकान्तात्मक स्वरूप अच्छे विद्वानोंके विचारमें ही आसकता है। और अनेकांतात्मकपनेका ज्ञान सप्तभङ्गीरूप स्याद्वादका प्ररूपण करनेसे ही भलेप्रकार होसकता है इसलिये पीछे से सप्तभङ्गीका निरूपण भी किया। परंतु नाना प्रकारके अस्तित्व नास्तित्व आदिक परस्परविरुद्ध धर्मोंसहित वस्तुको देखते हुए अज्ञानी एकान्तपक्षपाती जन उसमें विरोध समझते हैं। सो अब यह दिखाते हैं कि वे प्रमाणके सच्चे मार्गसे च्युत हैं।

उपाधिभेदोपहितं विरुद्धं नार्थेष्वसत्त्वं सदवाच्यते च।
इत्यप्रबुद्धैव विरोधभीता जडास्तदेकान्तहताः पतन्ति ॥ २४ ॥

मूलार्थ—परस्पर विरुद्ध जो अस्तित्व नास्तित्व तथा अवक्तव्य ये तीन धर्म पदार्थोंमें आरोपित किये गये हैं वे यद्यपि विवक्षाके वश ठीक हैं इसलिये विरुद्ध नहीं हैं परंतु विवक्षाओंका विचार न करनेवाले तथा एकांतपक्षोंके धारण करनेसे जिनकी बुद्धि कुंठित होगई है तथा जो विरोधको देखकर भयभीत हैं ऐसे मूर्ख मनुष्य मार्गसे पतित होरहे हैं।



व्याख्या—अर्थेषु पदार्थेषु चेतनाचेतनेष्वसत्त्वं नास्तित्वं न विरुद्धं न विरोधावरुद्धम्। अस्तित्वेन सह

[illegible] । न [illegible] न [illegible] [illegible] । [illegible] न [illegible] ।
[illegible] । [illegible] । ते अपि न [illegible] ।

[illegible] नहीं है । अर्थात् [illegible] और [illegible]
और [illegible] नहीं है । केवल
[illegible] है [illegible]
[illegible] है । [illegible] जाते हैं और [illegible]
[illegible] करते हैं । इन दोनों [illegible] करते हैं । इन दोनों [illegible]
[illegible] करते हैं और यदि [illegible] करते हैं ।
ये भी दोनों [illegible] नहीं है [illegible] ।

तथा हि । [illegible] न [illegible] । [illegible] न [illegible] ।
[illegible] न [illegible]
[illegible] समीपास्थ [illegible] च [illegible]
[illegible] ।

[illegible] करते हैं । [illegible] नहीं है । [illegible]
[illegible] नहीं है । [illegible]
है [illegible] हैं कि [illegible] नहीं है । इन दोनों
[illegible] चाहिये । क्योंकि, ये [illegible] हैं, [illegible]
[illegible] हैं [illegible] होजाता है ।

[illegible] । [illegible] सम्भवति । इति [illegible]
"[illegible]" [illegible] । [illegible] ( [illegible]

विशेषणमेतत् ) उपाधिभेदोपहितं सदर्थेष्वसत्त्वं न विरुद्धम् । सदवाच्यतयोश्च वचनभेदं कृत्वा योजनीयम् । उपाधिभेदोपहिते सती सदवाच्यते अपि न विरुद्धे ।



कदाचित् ऐसी शंका होसकती है कि ये धर्म परस्पर विरुद्ध हैं इसलिये इन तीनोंका एक एक पदार्थमें समावेश कैसे होसकता है? इसलिये विरोध न आनेमें हेतुरूप विशेषण कहते हुए उत्तर देते हैं कि "उपाधिभेदोपहितम्"। अर्थात् ये धर्म उपाधियोंके कारण माने गये हैं इसलिये इनमें परस्पर विरोध नहीं है। विवक्षित किसी वस्तुमें स्वयं रहकर उसको शेष अनेक वस्तुओंमेंसे जुदा करने-वाला जो धर्म होता है उसको उपाधि कहा है। अथवा नाना प्रकारके भिन्न भिन्न धर्मोंका नाम उपाधि है। उस उपाधिके अनेक भेदोंमेंसे किसी एक भेदके वश सत्स्वरूप पदार्थोंमें स्थापित किया हुआ जो असत्व है वह विरोधी नहीं होसकता है। यहांपर उपाधिभेदोपहितम्' ऐसा जो कहा वह नास्तित्वका विशेषण है तथा विरोध न आनेदेनेके लिये हेतु भी है। अर्थात् यह विशेषण हेतुरूप इसलिये है कि सत् पदार्थमें जो नास्तित्व धर्मका स्थापन है वह किसी न किसी व्यावर्तक धर्मके रहनेसे अवश्य मानना पड़ता है इसलिये अविरोध सिद्ध हो। वहांपर उपाधिका ही नाम व्यावर्तक धर्म है। इसी प्रकार अस्तित्व धर्म तथा अवक्तव्यत्व धर्ममें भी उपाधिके कारण ही अविरोध विचार लेना चाहिये। अर्थात् नाना प्रकारकी उपाधियोंमेंसे किसी एक उपाधिका आश्रय होनेसे ही अस्तित्व तथा अवक्तव्यत्वका भी नास्तित्व धर्मके साथ रहनेमें विरोध नहीं रहता।

अयमभिप्रायः—परस्परपरिहारेण ये वर्तेते तयोः शीतोष्णवत्सहाऽनवस्थानलक्षणो विरोधः। न चात्रैवं; सत्त्वा-ऽसत्त्वयोरितरेतरमविष्वग्भावेन वर्त्तनात्। न हि घटादौ सत्त्वमसत्त्वं परिहृत्य वर्तते पररूपेणाऽपि सत्त्वप्रस-ङ्गात्। तथा च तदुव्यतिरिक्तार्थान्तराणां नैरर्थक्यं तेनैव त्रिभुवनार्थसाध्यार्थक्रियाणां सिद्धेः। न चाऽसत्त्वं सत्त्वं परिहृत्य वर्तते स्वरूपेणाऽप्यसत्त्वप्रासेः। तथा च निरुपाख्यत्वात्सर्वशून्यतेति। तदा हि विरोधः स्याद्यदेको-पाधिकं सत्त्वमसत्त्वं च स्यात्। न चैवं; यतो न हि येनैवांशेन सत्त्वं तेनैवाऽसत्त्वमपि। किं त्वन्योपाधिकं सत्त्वमन्योपाधिकं पुनरसत्त्वम्। स्वरूपेण हि सत्त्वं पररूपेण चासत्त्वम्।

सारांश यह है कि; शीतउष्णताकी तरह जो धर्म परस्परमेंसे एक दूसरेको हठाकर ही रहते हैं; किंतु एकसाथ रहते ही नहीं हैं उन धर्मोंका ही एक साथ न रहनेरूप विरोध कहाजासकता है। परंतु यहांपर ऐसा नहीं है कि एक साथ सत्त्व असत्त्व धर्म रहते

ही न हो। क्योंकि, तब अनेक स्त्रीको इस एक पुरुषके साथ अनेकपतिवाले होते हुए पतिके अतिरिक्त अन्य पतिकी इच्छा नहीं है यह बतानेको लेशमात्र भी नहीं रहती है । यदि कर्मभेद मान ही लें तो आप व्यभिचारके अतिरिक्त अन्य स्त्रीकी अनेक ही आप्त पतिवाला होना चाहिये । और भी द्वितीयादि अनेक भी आपने अधिक होना अर्थात् पुरुषोंकी अपेक्षा भी अधिकता मान अवश्य ही लेनी चाहिये। क्योंकि, दूसरे पतियोंका रहना व्यभिचार ही निश्चित है । क्योंकि, यह एक ही पतिवाली होनेसे पतिके तुल्य सपत्नी सम्बन्ध होनेसे अर्थात् अनेक पतिवाली होनेसे ही व्यभिचार होता है। इस प्रकार जैसे यहां पर अनेक पतिवाली स्त्रीका दृष्टान्त नहीं हो सकता है वैसे ही अनेक पत्नी भी अनेक पतिवाली स्त्रीका दृष्टान्त नहीं हो सकता है । क्योंकि, उसमें भी व्यभिचार ही है । अनेक पतिवाली स्त्रीके समान अनेक पत्नीवाला पति भी व्यभिचारी ही होगा। तो फिर उसकी अनेक पत्नी ही न रहेंगी। और फिर पुत्र न होनेसे पुनरुत्पत्ति होगी नहीं । और इसी बात पर है कि जिसे अनेक आप्तपना है अब कि उस एक आप्तके आगम में तीनों वर्ग एक जैसी अवस्थाको भी प्राप्त होवे । कदापि होना नहीं है । क्योंकि, जिस अवस्थामें अनेक पुरुषों अधिकता मानी है वहांपर अनेक नायिका नहीं मानी है किंतु नायिका किसी अन्य अवस्थामें पायी है और अधिकता किसी अन्य अवस्थामें । गर्भस्थ जीव गर्भावस्थामें जैसे पुरुषोंमें अधिकता मानते हैं तथा लोकमें जिस पुरुषोंकी अपेक्षा उसी स्त्रीके अधिकता मानते हैं ।

इसी श्लोकवार्तिकमें जिनपदापकर्षिणि अन्यैरवगणिके तु बोधवचनयोपायपिपाक्षेत्रे एवमेव । बीजत्वे तु तीर्थकृत्वप्रकृत्यादिके पदार्थान्तरेऽपि च कुलकरादिवचनयोपायपिपाक्षेति । एवं नैकान्तिकत्वेऽपि सम्यक्त्वसंपूर्णत्वोपायपिपाक्षेत्रे विपक्षव्यपदेशेषु । न चैभिर्व्यभिचारोऽसर्वज्ञवाक्ययोर्विशेषवैकल्यपाक्षिकविषयवशात्प्रवर्तनेन च कृत्स्नाधिकविषयेऽपि विशेषैकान्तनिश्चयः । कथंचिदत्यन्तेषु दृष्टान्तेषु एवमिष्टिकेषे च साध्यसिद्धिर्न दुर्लभा ।

अब यहां पर दूसरे पक्षका लेना हुआ। अर्थात् जिनेंद्र तुल्य हुआ तो विशेष होगा है तब तो जीवत्व कर्मक्षयजात है यह तो किसी दूसरे तीर्थंकर गोत्रादि कर्म और भी बंध होते हैं वे सबकी सबकी कुछ कुछ कुछ कारणयोगसे होते हैं । ऐसे कहना अन्य लोग इस तो सर्वज्ञ तो एक हुआ यह होगा है वहांसे भी अनेक कुछ कुछ हैं वे सबकी सबकी कुछ कारणयोगसे ही होते हुए हैं। तात्पर्य—यदि एक ही आगमके सबकी सबकी अवस्था तो संपूर्ण ज्ञान लोकपाल है यह अन्य भी लोकपाल अवश्य

रंगोंका अभाव भी मानना ही पड़ता है। यदि दूसरोंकी अपेक्षा भी अभाव नहीं मानाजाय तो संपूर्ण रंग एक ही होजाने चाहियें। और यदि सर्वथा असत्त्व ही मानाजाय किंतु अपनी अपेक्षा भी सत्त्व नहीं मानाजाय तो सर्वोका अभाव ही होजाय। इसलिये निज निजकी अपेक्षा तो उनमेंसे प्रत्येकका सत्त्व रहता है और परस्वरूपोंकी अपेक्षा असत्त्व रहता है। चित्रविचित्र वस्त्रोंके दृष्टांतसे ऐसा भी नहीं सिद्ध होता है कि सत्त्व तथा असत्त्व ये दोनो धर्म हैं तो अवश्य परंतु भिन्न भिन्न स्थानपर रहते हों। क्योंकि; चित्रवस्त्रादि जो है वह अनेक रंगोंका आश्रय होकर भी अखंड एक ही है और इसीलिये उन संपूर्ण रंगोंका आधार एक ही माना जाता है; नकि भिन्न भिन्न। और फिर स्याद्वादियोंके पाससे कथंचित् बोलना तो कहीं छूट ही नहीं गया है। दृष्टांतमें और दार्ष्टांतमें भी वह विद्यमान है। अर्थात् हम न तो अनेक रंगोंके आधारभूत वस्त्रको ही सर्वथा एक कहते हैं और न सत्त्व असत्त्वके आश्रयको ही सर्वथा अभिन्न कहते हैं किंतु कथंचित् सत्त्व असत्त्वका आश्रय एक है और कथंचित् जुदे जुदे हैं।

**एवमप्यपरितोषश्चेदायुष्मतस्तर्ह्येकस्यैव पुंसस्तत्तदुपाधिभेदात्पितृत्वपुत्रत्वमातुलत्वभागिनेयत्वपितृव्यत्वभ्रातृव्यत्वादिधर्माणां परस्परविरुद्धानामपि प्रसिद्धिदर्शनात् किं वाच्यम्? एवमवक्तव्यत्वादयोऽपि वाच्याः। इत्युक्तप्रकारेण उपाधिभेदेन वास्तवं विरोधाऽभावमप्रबुद्धैवाऽज्ञात्वैव (एवकारोऽवधारणे। स च तेषां सम्यग्ज्ञानस्याऽभाव एव न पुनर्लेशतोऽपि भाव इति व्यनक्ति) ततस्ते विरोधभीताः, सत्त्वाऽसत्त्वादिधर्माणां वहिर्मुखशैमुष्या संभावितो यो विरोधः सहाऽनवस्थामादिस्तस्माद्भीतात्रस्तमानसाः। अत एव जडास्तात्त्विकभयहेतोरभावेऽपि तथाविधपशुवन्मीरुत्वान्मूर्खाः परवादिनस्तदेकान्तहताः। तेषां सत्त्वादिधर्माणां य एकान्त इतरधर्मनिषेधेन स्वाभिमेतधर्मव्यवस्थापननिश्चयस्तेन हता इव हताः पतन्ति स्खलन्ति। पतिताश्च सन्तस्ते न्यायसार्गाक्रमणेनाऽसमर्था न्यायमार्गाध्वनीनानां च सर्वेषामप्याक्रमणीयतां यान्तीति भावः।**

हे चिरंजीव! यदि इतनेपर भी तुमे संतोष नहीं हुआ तो जो पिता होना, पुत्र होना, मामा होना, भानजा होना, काका होना, तथा भतीजा होना इत्यादि धर्म परस्पर विरुद्ध होनेपर भी जो एक ही पुरुषमें संबंधके वश पाये जाते हैं उनके विषयमें क्या कहोगे? भावार्थ—जिस प्रकार ये धर्म विरुद्ध होकर भी एक पुरुषमें रहसकते हैं उसी प्रकार अस्तित्व नास्तित्वादि धर्म भी एक एक वस्तुमें रहसकते हैं। इसी प्रकार अवक्तव्यत्वादि धर्म भी समझलेने चाहियें। इस प्रकार हमने जो संबंधके विशेषपनेसे सच्चा विरोधाभाव

दिखला है उसमें नहीं [illegible] की [illegible] सिद्धिके आधीन होते हैं। सन्देह [illegible] न [illegible]
[illegible] है [illegible] है।
[illegible]
[illegible] है। [illegible]
[illegible] है [illegible]
[illegible] है। और [illegible]
[illegible] होते हैं।

[illegible] । अथ [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible] है।
[illegible] है [illegible]
[illegible]
[illegible] है। [illegible]
[illegible] है [illegible] है,
[illegible] है।

[illegible]
[illegible] । तथा हि । [illegible]
[illegible]

धः। न हि यदेव विधेरधिकरणं तदेव प्रतिषेधस्याधिकरणं भवितुमर्हति एकरूपतापत्तेः। ततो वैयधिकरण्यमपि भवति। अपरं च येनात्मना सामान्यस्याधिकरणं येन च विशेषस्य तावप्यात्मानौ एकेनैव स्वभावेनाधिकरोति द्वाभ्यां वा स्वभावाभ्याम्? एकेनैव चेत्तत्र पूर्ववद्विरोधः। द्वाभ्यां वा स्वभावाभ्यां सामान्यविशेषाख्यं स्वभावद्वयमधिकरोति तदाऽनवस्था। तावपि स्वभावान्तराभ्यां तावपि स्वभावान्तराभ्यामिति।

मूल स्तुतिमें एक विरोधका ही निराकरण किया है परंतु वह संकेतमात्र है, इसलिये वादीके दिखाये हुए वैयधिकरण्य, अनवस्था, संकर, व्यतिकर, संशय, अप्रतिपत्ति तथा विषयव्यवस्थाहानि इन दोषोंका भी निराकरण ऊपरसे विचारना चाहिये। वस्तु सामान्यविशेषात्मक है ऐसा हमारे कहनेपर अन्यवादी दोष उठाते हैं कि विधि तथा निषेधरूप जो सामान्य और विशेष धर्म हैं वे शीत उष्णताके समान एक स्थानमें नहीं रहसकते हैं इसलिये विरोध संभव होता है। जो वस्तु अस्तित्वका आधार है वही प्रतिषेध धर्मका आधार नहीं होसकती, नहीं तो विधि और निषेध एक ही होजायंगे। इस प्रकार वैयधिकरण्य दोष भी आता है। और जिस स्वरूपसे वस्तु सामान्य धर्मका आश्रय है तथा जिस स्वरूपसे विशेष धर्मका आश्रय है उन दोनों स्वरूपोंको यह जो वस्तु अपने अधीन रखती है सो अपने किसी एक ही स्वभावसे अथवा जुदे जुदे स्वभावोंसे? यदि एक ही स्वभावसे उन दोनो स्वरूपोंको धारती है तो पूर्व कहे अनुसार विरोध संभव है और जुदे जुदे स्वभावोंसे यदि उन सामान्यविशेषरूप दो स्वभावोंको वह वस्तु अपनेमें धारती हो तो आगे भी ऐसे ही दो दो स्वभाव मानने पड़ेंगे इसलिये कहीं स्थिति ही न रहैगी। क्योंकि; उन दो स्वभावोंको धारण करनेकेलिये भी अन्य दो स्वभाव मानने ही चाहिये तथा फिर भी उन दो स्वभावोंको धारनेकेलिये दूसरे दो स्वभाव मानने चाहिये। इस प्रकार कहीं भी ठिकाना नहीं रहैगा। इसीको अनवस्था दोष कहते हैं।

येनात्मना सामान्यस्याधिकरणं तेन सामान्यस्य विशेषस्य च, येन च विशेषस्याधिकरणं तेन विशेषस्य सामान्यस्य चेति संकरदोषः। येन स्वभावेन सामान्यं तेन विशेषो, येन विशेषस्तेन सामान्यमिति व्यतिकरः। ततश्च वस्तुनोऽसाधारणाकारेण निश्चेतुमशक्तेः संशयः। ततश्चाऽप्रतिपत्तिः। ततश्च प्रमाणविषयव्यवस्थाहानिरिति। एते च दोषाः स्याद्वादस्य जात्यन्तरत्वान्निरवकाशा एव। अतः स्याद्वादमर्मवेदिभिरुद्धुरणीयास्तदुपपत्तिमिरिति; स्वतन्त्रतया निरपेक्षयोरेव सामान्यविशेषयोर्विधिप्रतिषेधरूपयोस्तेषामवकाशात्।

[illegible] लिये गया। [illegible] है [illegible] है [illegible]

[illegible] हो [illegible] है [illegible]

है। [illegible] है [illegible]

भी है [illegible] है। और [illegible] है [illegible]

न [illegible] नहीं [illegible] और [illegible]

[illegible] है। और [illegible] नहीं [illegible]

[illegible] है। [illegible] है

[illegible] नहीं [illegible]। क्योंकि; [illegible]

[illegible] होती है; [illegible] ही है [illegible]

[illegible] नहीं [illegible] है। [illegible]

[illegible] चाहिये। [illegible]

[illegible] है, नहीं तो नहीं।

[illegible] विशेषेभ्यो [illegible]

[illegible] विशेषेभ्यो [illegible] इति [illegible]। [illegible] सामान्य [illegible]

[illegible]।

[illegible] है कि [illegible] है [illegible] है [illegible]

[illegible] है [illegible]

[illegible] है। [illegible] है और [illegible]

[illegible] था। इसलिये [illegible]। [illegible]

[illegible] है [illegible] है [illegible]

संपूर्ण दोषोंका ग्रहण इसी विरोधशब्दसे होसकता है। ऐसा अर्थ माननेपर 'विरोधसे भयभीत होकर' ऐसे शब्दका अर्थ ऐसा ही करना चाहिये कि 'विरोध वैयधिकरण्य अनवस्था आदिक जो दोष संभव होसकते हैं उनसे भयभीत होकर'। इस प्रकार सामान्य दोषवाची विरोध शब्दसे ही संपूर्ण दोषोंका ग्रहण होसकता है। इस प्रकार इस काव्यका अर्थ पूर्ण हुआ।



**अथाऽनेकान्तवादस्य सर्वद्रव्यपर्यायव्याप्तित्वेऽपि मूलभेदापेक्षया चातुर्विध्याभिधानद्वारेण भगवतस्तत्त्वाऽमृतरसास्वादसौहित्यमुपवर्णयन्नाह।**

यद्यपि अनेकान्तवाद संपूर्ण द्रव्य पर्यायोंमें व्यापता है परंतु मुख्य भेदोंकी अपेक्षा उसको चार प्रकारसे दिखाते हुए तथा भगवान्ने तत्वरूपी अमृतरसका आस्वादन कराकर हमारा अत्यंत हित किया इस बातका वर्णन करते हुए अब बोलते हैं।

**स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपं वाच्यं न वाच्यं सदसत्तदेव ॥**
**विपश्चितां नाथ निपीततत्त्वसुधोद्गतोद्गारपरम्परेयम् ॥ २५ ॥**

मूलार्थ—हे विद्वानोंके शिरोमणि प्रभो! आपने जो अनेकान्त तत्वरूपी अमृतको पीया उसीसे यह उद्गार उत्पन्न हुआ है कि एक ही वस्तु कथंचित् नश्वर है कथंचित् नित्य है, कथंचित् समान है; कथंचित् असमान है; कथंचित् वक्तव्य है कथंचित् अवक्तव्य है, कथंचित् सत्‌रूप है और कथंचित् असत्‌रूप है।

**व्याख्या—स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकमष्टास्वपि पदेषु योज्यम्। तदेवाधिकृतमेवैकं वस्तु स्यात्कथंचिन्नाशि विनशनशीलमनित्यमित्यर्थः। स्यान्नित्यमविनाशधर्म्मीत्यर्थः। एतावता नित्याऽनित्यलक्षणमेकं विधानम्। तथा स्यात्सदृशमनुवृत्तिहेतुसामान्यरूपम्। स्याद्विरूपं विविधरूपं विसदृशपरिणामात्मकं व्यावृत्तिहेतुविशेषरूपमित्यर्थः। अनेन सामान्यविशेषरूपो द्वितीयः प्रकारः।**

व्याख्यार्थ—अनेकान्त अर्थका प्रकाशक जो 'स्यात्' अव्यय पद है उसको आठो ही वचनोंके साथ लगाना चाहिये। जैसे (१) स्यात् नाशि, (२) स्यात् नित्यम्, (३) स्यात् सदृशम्, (४) स्याद्विसदृशम्, (५) स्याद्वाच्यम्, (६) स्यात् न वाच्यम्, (७) स्यात् सत्, (८) स्यात् असत् ऐसे आठो ही पदोंमें स्यात् शब्द लगाया जाता है। जो प्रत्येक लिङ्गोंका,

[illegible] है। [illegible] है कि [illegible]

[illegible] है। [illegible] 'नोटेम' [illegible] है [illegible] है। [illegible]

[illegible] होता है। अर्थात् [illegible] कथंचित् [illegible] है। [illegible] है। [illegible]

[illegible] है कि [illegible] है। अर्थात् [illegible] है।

[illegible] है। [illegible] है। [illegible]

[illegible] है कि [illegible] है। [illegible]

[illegible] है कि [illegible] कथंचित् [illegible] है। [illegible]

[illegible] है। [illegible]

[illegible] हो सकता है।

[illegible]।

[illegible] है कि [illegible] कथंचित् [illegible] है [illegible] कथंचित् [illegible] है, [illegible]

[illegible] है। [illegible]

[illegible] है। [illegible] है कि [illegible]

[illegible] है। [illegible]

कथंचित् अस्तिरूप है और कथंचित् नास्तिरूप है । भावार्थ– इस चतुर्थ भेदके दो पक्षोंसे यह दिखाया है कि एक ही वस्तु कथंचित् विद्यमानरूप तथा कथंचित् अभावरूप है ।

हे विपश्चितां नाथ संख्यावतां मुख्य! इयमनन्तरोक्ता निपीततत्त्वसुधोद्गतोद्गारपरम्परा त्वयेति प्रकरणात्सामर्थ्याद्वा गम्यते । तत्त्वं यथावस्थितवस्तुस्वरूपपरिच्छेदस्तदेव जरामरणापहारित्वाद्विबुधोपभोग्यत्वान्मिथ्यात्वविषोन्निर्विराकरिष्णुत्वादान्तराह्लादकारित्वाच्च पीयूषं तत्त्वसुधा । नितरामनन्यसामान्यतया पीता आस्वादिता या तत्त्वसुधा तस्या उद्गता प्रादुर्भूता तत्कारणिका उद्गारपरम्परा उद्गारश्रेणिरित्येवंलक्षणः । यथा हि कश्चिदाकण्ठं पीयूषरसमापीय तदनुविधायिनीमुद्गारपरम्परां मुञ्चति तथा भगवानपि जरामरणापहारितत्त्वामृतं स्वैरमास्वाद्य तदनुविधायिनीं प्रस्तुताऽनेकान्तवादभेदचतुष्टयीलक्षणामुद्गारपरम्परां देशनामुखेनोद्गीर्णवानित्याशयः ।

हे विद्वानोंके नाथ! अर्थात् प्रख्यात पण्डितोंके मुखिया! यह अभी कही जो स्यात्नित्यानित्यादिरूप व्याख्या है वह ऐसी भासती है मानों आपने जो तत्त्वरूपी सुधाका पान किया है उससे उठी हुई उद्गारोंकी परंपरा है । प्रकरणवश अथवा आपके सामर्थ्यका वर्णन होनेसे हम जानते हैं कि वह उद्गारपरंपरा आपकी ही है । जिस प्रकार पदार्थ हैं उनका उसी प्रकार निश्चय करनेको तत्त्व कहते हैं । जरामरणका नाश करनेवाला होनेसे, विबुधोंका ( विद्वान् तथा पण्डितोंका ) उपभोग्य होनेसे, मिथ्यात्वरूपी विषको निर्विष करनेवाला होनेसे तथा हृदयको आल्हादकारी होनेसे यह तत्त्वज्ञान ही अमृत है । भावार्थ–जिसके पीनेसे बुढापा न हो तथा मरण न हो उसीको सुधा कहते हैं । तथा विबुध नाम विद्वानोंका तथा देवोंका है सो जिस प्रकार सुधाको विबुध पीते हैं अर्थात् देवता पीते हैं उसी प्रकार इस तत्त्वरूपी सुधाको भी विबुध पीते हैं अर्थात् विद्वान् पीते है । जिस तत्त्वसुधाको दूसरे नहीं पीसके हैं ऐसी तत्त्वसुधाको जो आपने पीया है उसमेंसे उत्पन्न हुए उद्गारोंकी यह परंपरा समझनी चाहिये जो स्यादस्ति स्यान्नास्ति इत्यादि वचन निकले हैं । सारांश यह है कि जिस प्रकार कोई प्राणी गलेतक अमृत पीकर पीछे बारंबार डकार लेता है उसी प्रकार भगवान्ने भी स्वाधीन होकर जरामरणका नाशक तत्त्वरूपी अमृत पीकर उसके अनंतर उपदेशके बहाने होनेवाली अनेकांताके अंशरूप स्यादस्ति स्यान्नास्ति, स्यान्नित्यं स्यादनित्यम्, स्याद्वक्तव्यं स्यादवक्तव्यम्, स्यात्समानं स्यादसमानम् ऐसे चारभेदरूप यह उद्गारोंकी परंपरा निकाली है ।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

य एव दोषाः किल नित्यवादे विनाशवादेऽपि समास्त एव ।
परस्परध्वंसिषु कण्टकेषु जयत्यधृष्यं जिनशासनं ते ॥ २६ ॥

मूलार्थ—सर्वथा नित्यपक्ष माननेमें जैसे दोष संभवते है तैसे ही सर्वथा अनित्य माननेमें भी संभवते हैं। भावार्थ—जिस प्रकार सर्वथा अनित्यवाद माननेमें नित्यवादी कुछ दूषण दिखाता है उसीप्रकार सर्वथा नित्यपक्षमें अनित्यपक्षवाला भी कुछ दूषण दिखाता है इसलिये एकदूसरेसे ही उन दोनोंका निराकरण होजाता है। इस प्रकार हे भगवन्! कंटकोंका नाश परस्पर ही होजानेपर आपका जिनशासन विनापरिश्रम यों ही विजयलक्ष्मीको प्राप्त होरहा है।

व्याख्या—किलेति निश्चये। य एव नित्यवादे नित्यैकान्तवादे दोषा अनित्यैकान्तवादिभिः प्रसञ्जिताः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाऽनुपपत्त्यादयस्त एव विनाशवादेऽपि क्षणिकैकान्तवादेऽपि समास्तुल्या नित्यैकान्तवादिभिः प्रसज्यमाना अन्यूनाधिकाः। तथा हि।

व्याख्यार्थ—श्लोकमें जो 'किल' शब्द पड़ा है उसका अर्थ 'निश्चयसे' ऐसा होता है। जो दोष सर्वथा नित्यपक्ष माननेवालोंने दिखाये हैं वे ही अनित्यपक्षमें अर्थात् सर्वथा क्षणिकपक्ष माननेमें नित्यपक्षवालोंने दिखाये हैं। वे सर्वथा अनित्य पक्ष माननेवालोंने दिखाये हैं वे ही नित्यपक्षमें अर्थात् सर्वथा क्षणिकपक्ष माननेमें नित्यपक्षवालोंने दिखाये हैं। वे ही कहनेसे ऐसा अभिप्राय है कि दोनो पक्षोंमें समान ही दोष संभव हैं; न तो हीन हैं और न अधिक। क्रमसे अथवा एकसाथ प्रयोजनीभूत क्रियाओंका न होसकना इत्यादि वे दूषण हैं।

नित्यवादी प्रमाणयति 'सर्वं नित्यं सत्त्वात्। क्षणिके सदसत्कालयोरर्थक्रियाविरोधात्सलक्षणं सत्त्वं नावस्थां लभतीति। ततो निवर्तमानमनन्यशरणतया नित्यत्वेऽवतिष्ठते। तथा हि। क्षणिकोऽर्थः सन्वा कार्यं कुर्यादसन्वा? नास्त्यन्तराऽभावात्। न तावदाद्यः पक्षः, समसमयवर्तिनि व्यापाराऽयोगात् सकलभावानां परस्परं कार्यकारणभावप्राप्त्याऽतिप्रसङ्गाच्च। नापि द्वितीयः पक्षः क्षोदं क्षमते; असतः कार्यकरणशक्तिविकलत्वात्। अन्यथा शशविषाणादयोऽपि कार्यकरणायोत्सहेरन् विशेषाऽभावात् इति।

नित्यवादी अनित्यवादीसे कहता है कि सत् होनेके कारण संपूर्ण वस्तु नित्य ही है। जो नित्य होता है वही सत् या अस्तिरूप

न एकसाथ । जो प्रयोजनकारी क्रियाका होना है वह तो कूटस्थरूप स्थितिको बदलनेवाला ही है । क्योंकि; जो पदार्थमें क्रियाका परिवर्तन होता है वह तबतक नहीं संभव है जबतक उस पदार्थका स्वयं परिवर्तन न माना जाय । इसलिये जो प्रयोजनभूत क्रिया बदलेगी वह अपने साथ रहनेवाली सत्ताको अवश्य बदलादेगी । और जब सत्ता बदलेगी तब क्षणिकपना होगा ही । जो पदार्थ सर्वथा सदा नित्य है अर्थात् कूटस्थ है उसके द्वारा प्रयोजनीभूत क्रियाकी उत्पत्ति कभी तो हो नहीं सकती है । क्योंकि; जब पूर्वमें प्रवर्तती हुई क्रियाका नाश होजायगा तभी पहिली क्रिया बदलकर दूसरी क्रिया होसकेगी । जब पदार्थ सर्वथा नित्य है तो उसमें न तो पूर्व क्रियाका नाश ही संभव है और न उत्तरक्रियाकी उत्पत्ति ही संभव है । यदि पूर्वक्रियाका विनाश हुए विना ही उत्तर क्रियाका प्रादुर्भाव होता हो तो प्रत्येक पदार्थकी पूर्वक्रिया नष्ट ही न होती किंतु चलती ही रहती । और यदि पूर्वक्रियाका नाश होकर उत्तर क्रियाकी उत्पत्ति होना मानते हैं तो पूर्वस्वभावका नाश होना ही अनित्यपना है इसलिये नित्यपना नहीं रहता है । क्योंकि; जैसाका तैसा न रहनेको ही अनित्यता कहते हैं ।

**अथ नित्योऽपि क्रमवर्तिनं सहकारिकारणमर्थमुदीक्षमाणस्तावदासीत् । पश्चात् तमासाद्य क्रमेण कार्यं कुर्यादिति चेन्न; सहकारिकारणस्य नित्येऽकिंचित्करत्वात्, अकिंचित्करस्यापि प्रतीक्षणेऽनवस्थाप्रसङ्गात् । नापि यौगपद्येन नित्योऽर्थोऽर्थक्रियां कुरुते; अध्यक्षविरोधात् । न ह्येककालं सकलाः क्रियाः प्रारभमाणः कश्चिदुपलभ्यते । करोतु वा । तथाप्याद्यक्षणे एव सकलक्रियापरिसमाप्तेर्द्वितीयादिक्षणेष्वकुर्वाणस्याऽनित्यता बलादाढौकते; करणाकरणयोरेकस्मिन्विरोधात्' इति ।**

शंका—जिससे कार्य उत्पन्न होनेवाला है वह चाहे नित्य ही है परंतु प्रत्येक उपादानकारण सहकारी कारणोंकी प्रतीक्षा अवश्य करता है और सहकारी पदार्थ क्रमवर्ती होते हैं इसलिये सहकारी जब मिलते हैं तभी उपादान कारण कार्यको जन सकता है; किंतु पहिले नहीं । इस प्रकार नित्य पदार्थसे भी क्रमपूर्वक कार्यकी उत्पत्ति होना अनुचित नहीं है । **उत्तर**—यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि; जो सर्वथा कूटस्थ है उसमें सहकारी भी कुछ फेरफार नहीं करसकता है । और जो कुछ कर ही नहीं सकता है उसकी सहायताकी भी प्रतीक्षा यदि नित्यपदार्थ कार्य उत्पन्न करनेमें करे तो कहीं ठिकाना ही नहीं रहै । कदाचित् नित्यवादी कहेंगे कि नित्य पदार्थ जो कुछ क्रिया करनी होती हैं उनको एकसाथ ही करदेता है परंतु यह कहना भी मिथ्या है । क्योंकि; प्रयोजनकारी

भवनीयं "शक्यार्हे कृत्याश्चेति" कृत्यविधानाच्छक्तिमशक्यं धर्षितुमनर्हं वा जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते । यथा कश्चिन्महाराजः पीवरपुण्यपरीपाकः परस्परं विगृह्य स्वयमेव क्षयमुपेयिवत्सु द्विषत्सु अवग्रहसिद्धनिष्कण्टकत्वं समृद्धं राज्यमुपभुञ्जानः सर्वोत्कृष्टो भवत्येवं स्वच्छासनमपि । इति काव्यार्थः ।

अब श्लोकके बाकी रहे आधे हिस्सेका भी अर्थ दिखाते हैं । वह आधा श्लोक "परस्परघ्नेषु कण्टकेषु जयत्यभूत्वं जिनशासनं ते" यह है । ऐसे पूर्वोक्त प्रकारसे कंटकोंका अर्थात् एकान्तवादी क्षुद्र शत्रुओंका सुन्द उपसुन्द नामक दो राक्षसोंके समान परस्परसे ही नाश होजानेपर, हे जिनेन्द्र ! जिसने स्याद्वादका निरूपण पूर्णतया किया है ऐसा द्वादशांगरूपी आपका शासन अर्थात् उपदेश अजेय है । क्योंकि; जो पराभव करनेकी वांछा करनेवाले शत्रु हैं उनका उच्छेद स्वयमेव ही होगया है । 'शक्यार्हे कृत्याश्च' इस सूत्रकर 'क्यप्' प्रत्यय होकर सिद्ध होनेसे 'अभूत्य' शब्दका अर्थ ऐसा होता है कि जिसका पराभव नहीं होसकता है उसको अभूत्य कहते हैं । अभूत्य होनेसे ही यह आपका शासन सबोंसे उत्कृष्ट गाजाजाता है । जिस प्रकार जिसके पुण्यकर्मका पाक तीव्रतासे होरहा है ऐसा कोई नरपति शत्रुओंके परस्पर लड़कर नष्ट होजानेपर परिश्रमके विना ही निष्कंटक समृद्ध राज्यको भोगता हुआ सर्वोत्कृष्ट होजाता है उसी प्रकार आपका शासन उस नृपतिके समान स्वयमेव सर्वोत्कृष्ट हो रहा है । इस प्रकार इस काव्यका अर्थ पूर्ण हुआ ।

अनन्तरकाव्ये नित्यानित्याद्येकान्तवादे दोषसामान्यमभिहितम् । इदानीं कतिपयतद्विशेषसामग्र्यं दर्शयंस्तत्स्वरूपकाणामसद्भूतोद्भावकतयोद्युक्ततथाविधरिपुजनजनितोपद्रवमिव परित्रातुर्धरित्रीगतेस्त्रिजगत्पतेः पुरतो भुवनत्रयं प्रत्युपकारकारितामाविष्करोति ।

इस ऊपरके काव्यमें नित्यअनित्य आदिक एकांत पक्षोंके माननेमें संभव होते हुए दोष सामान्यपनेसे तो दिखा दिये । परंतु यह स्पष्ट नहीं कहा कि वे दोष कौन कौनसे हैं ? इसलिये अब उनमेंसे कुछ दोषोंके नाम दिखाते हुए यह भी दिखाते हैं कि जिस प्रकार प्रजापर शत्रु जो नानाप्रकारके उपद्रव खड़े करते हैं उनको रक्षा करनेवाले नृपतिका प्रजाके ऊपर महान् उपकार समझा जाता है उसी प्रकार हे भगवन् ! जिन नित्य अनित्य आदिक खोटे पक्षोंका कुवादी प्रतिपादन करते हैं उन कुमतोंसे तीनों जगत्की रक्षा करनेवाले आपका तीनों लोकके प्रति बड़ा उपकार है ।

नैकान्तवादे सुखदुःखभोगौ न पुण्यपापे न च बन्धमोक्षौ ।
दुर्नीतिवादव्यसनासिनैवं परैर्विलुप्तं जगदप्यशेषम् ॥ ८७ ॥

हिन्दी—इस प्रकार एकान्तवादमें न तो सुख दुःखका भोगना ही बन सकता है और न पुण्य पाप तथा बन्ध मोक्ष भी बन सकते हैं। इसलिये जो पुरुषार्थ की मानते हैं वह सर्वथा अयुक्त है और जब उसमें इन वस्तुओंकी व्यवस्था नहीं बन सकती है।

संस्कृतार्थ—एतावतैवात्र विशेषाऽभिलेषाकाङ्क्षाहान्युपायो न सुखदुःखभोगौ घटेते, न च पुण्यपापे घटेते न च बन्धमोक्षौ घटेते। पुनः पुनर्नत्र प्रयोगोऽनेकवारकथनादर्शनार्थं। एवं हि । एकान्तनित्ये आत्मनि नास्ति सुखदुःखभोगौ नोपपद्येते। नित्यत्वं हि सदाप्यविकृतेऽनुभवितृत्वमिति विरुद्धत्वात्। तथैव अनात्मनि क्षणिकत्वे सन्तानस्यैकत्वाभावात्सौगतानां च सुखदुःखे न घटेते यदा स्वलक्षणभेदान्नित्यत्वभङ्गतया क्षणिकैकान्तवादिनां च। एवं पुण्यपापे सुखदुःखबन्धमोक्षौ च वक्तव्यम्।

भावार्थ—नित्य अथवा सर्वथा एकांत पक्षोंके मानने पर आत्मामें सुख दुःख भोगना कभी नहीं सिद्ध होसक्ता है और न पुण्य पाप ही बन सक्ते हैं। ऊपरके श्लोकमें जो 'न' लिखनेसे ही सब वस्तुओंका अभाव नहीं हो जाता। 'न' लिखकर ये सब वस्तुएं अनिर्वचनीय बतायी हैं। तात्पर्य यही है कि एकान्तपक्ष मानने से किसी पक्षमें भी वस्तुव्यवस्था नहीं होसक्ती है। यदि कोई कहे कि, किसी अपेक्षासे भी अनेकांत सिद्धान्त न मानकर भी आत्मामें सुख दुःखादि होना ही स्वीकार है। क्योंकि, अनेक सिद्धान्तवादी कहते हैं कि जैसी वस्तु की अवस्था सिद्धान्तोंमें कही गयी है वैसी ही वस्तु स्वरूप वास्तवमें सिद्ध नहीं है। तो यहां पर हम इतना ही कहेंगे कि आपने एकांतमें जो दोष बतलाकर सिद्धांत पक्षमें दूषण दिया है वह दूषण अनेकांत पक्षमें किसी अपेक्षासे लागू नहीं होता है। इसलिये आपका दूषण देना व्यर्थ है। हम तो अनेकांत वस्तुको मानते हैं और उसमें एकांत वस्तुओंकी सिद्धता होती है। किन्तु एकांत पक्षमें अनेकांत वस्तुकी सिद्धता कभी भी नहीं होती है। इसलिये आपका दूषण देना व्यर्थ है। हम तो अनेकांत वस्तुको मानते हैं और उसमें एकांत वस्तुओंकी सिद्धता होती है। किन्तु एकांत पक्षमें अनेकांत वस्तुकी सिद्धता कभी भी नहीं होती है। इसलिये आपका दूषण देना व्यर्थ है।

अथाऽवस्थाभेदादयं व्यवहारः । न चावस्थासु भिद्यमानास्वपि तद्वतो भेदः; सर्वस्येव कुण्डलार्जवाद्यवस्थासु । इति चेन्नन्वसौ तासतो व्यतिरिक्ता अव्यतिरिक्ता वा? व्यतिरेके तासस्येति संबन्धाऽभावोऽतिप्रसङ्गात्? अव्यतिरेके तु तद्वानेवेति तदवस्थितैव स्थिरैकरूपताहानिः । कथं च तदेकान्तैकरूपत्वेऽवस्थाभेदोऽपि भवेदिति?

कदाचित् कहो कि सुखदुःखादिरूप अवस्थाओंमें भेद पड़नेसे यह केवल व्यवहार मात्र जाता है कि यह पदार्थमें भेद हुआ परंतु वास्तवमें विचारा जाय तो जिस प्रकार सर्प कभी सीधा होजाता है, कभी कुण्डलाकार होजाता है परंतु उन अवस्थाओंके पलटनेसे कुछ सर्पमें फेरफार नहीं मानाजाता है उसीप्रकार अवस्थाओंमें परिवर्तन होनेपर भी अवस्थावाले पदार्थमें कुछ भी परिवर्तन नहीं होता है । परंतु यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि; जो अवस्थाएं पदार्थमें बदलती रहती है वे पदार्थसे कोई भिन्न चीज हैं अथवा पदार्थमय ही होती है ? यदि भिन्न चीज हैं तो वे अवस्थाएं उन्ही पदार्थोंकी हैं जिनसे वे उपजती हैं ऐसा कहनेके लिये कौनसा संबन्ध दोनोंके बीचमें दीखता है जिस संबन्धसे ऐसा कहसकें ? और यदि कोई संबन्ध नहीं है तो वे अवस्थाएं जिसमें नहीं हुई हैं उसकी भी वे अवस्था मानीजावें तो कौन रोकसकता है ? और यदि उस पदार्थमय ही है, भिन्न नहीं हैं तो अवस्थाओंमें परिवर्तन होनेसे उस पदार्थमें भी परिवर्तन होना मानना ही चाहिये । इस प्रकार फिर भी नित्यतामें बाधा आपड़ती है । और यदि पदार्थको सर्वथा एकरूप ही मानें तो अवस्थाओंमें परिवर्तन होना भी किस प्रकार होसकता है ?

किं च सुखदुःखभोगौ पुण्यपापनिर्वर्त्यौ । तन्निर्वर्तनं चार्थक्रिया । सा च कूटस्थनित्यस्य क्रमेणाऽक्रमेण वा नोपपद्यत इत्युक्तप्रायम् । अत एवोक्तं "न पुण्यपापे" इति । पुण्यं दानादिक्रियोपार्जनीयं शुभं कर्म । पापं हिंसादिक्रियासाध्यमशुभं कर्म । ते अपि न घटेते प्रागुक्तनीतेः । तथा न बन्धमोक्षौ । बन्धः कर्मपुद्गलैः सह प्रतिप्रदेशमात्मनो वन्ह्ययःपिण्डवदन्योऽन्यसंश्लेषः । मोक्षः कृत्स्नकर्मक्षयः । तावप्येकान्तनित्ये न स्याताम् । बन्धो हि संयोगविशेषः । स चाऽप्राप्तानां प्राप्तिरितिलक्षणः । प्राक्कालभाविनी अप्राप्तिरन्यावस्था । उत्तरकालभाविनी प्राप्तिरन्या । तदनयोरप्यवस्थाभेददोषो दुस्तरः ।

इसीप्रकार सुखदुःखोंका भोगना जो होता है वह पुण्यपापके उदयसे होता है और पुण्य पापकी उत्पत्ति शुभाशुभ क्रियाओंके करनेसे होती है । इसलिये जो आत्मा सदा कूटस्थ एकरूप है उसमें न तो क्रमसे और न एकसाथ ही वह क्रिया होसकती है जिसके

होनेसे पुत्रका नाम होता है । जैसे जिसका पत्नी नहीं होसकती है उस ब्रह्मचारी उदासी आदि होते हैं । उन पुरुषोंका संबंध कार्य किया ही नहीं होती तब पुत्र कहांसे कैसा संबंध हो है । इसलिये कहा है कि "न पुत्रसंबंधे" । अर्थात् जिस संबंध पुत्रका होता है उसका पुत्रसंबंध होना भी असंभव है । पुत्र से उसको कहो है जो शास्त्रादि पुण्य कार्य करनेसे पुत्र कहा जाता है । जिससे शास्त्रादि पवित्रकर्मके अनुष्ठान कर्मसे पार उतरते हैं । इसीप्रकार जैसा पाना पुत्रका है वही होसकता है । जिस पत्नीका संबंधसे अनुष्ठान नहीं होसकती है कि जैसेका एक अंश भी पत्नी नहीं कहा जासकता तो आपके पत्नीके संबंधसे पुत्रोंके उत्पन्न होनेका एक दूसरेके अधिकार असंभव सिद्ध होता है । जिस पत्नीके संबंधसे पुत्रोंकी उत्पत्ति होती है उसके साथ पुत्रोंके संबंधका नहीं कहा जासकता, उसीका नाम पत्नी है । जैसे दासी पुत्रोंके साथ होते हैं उस पत्नीके साथ पुत्रोंका संबंध नहीं होसकता है । जैसे दासी पुत्रोंके साथ होते हैं । जो संबंध करके उत्पन्न हुये पुत्र होते हैं उसी पुत्रोंके साथ पिता संबंधी होता है । इसीसे उसके पुत्रोंको अधिकार होता है । एकांत पक्षपातसे ही ऐसी व्यवस्था किया गया है । इसी व्यवस्थाके परिवर्तन होना असंभव सिद्धान्तकी अपेक्षा दृढ़ कथन ही है । अर्थात् परिवर्तन नहीं होसकता है उस पक्षसे किसी तरह सिद्धान्त नहीं कहा जाय ।

अथ नैयोगपक्षे तस्मिं श्लोकान्तरमिश्रणे पक्षान्तरमाह । ते वाप्यनापदीत्यादि । ते वाप्यनापदि नाथे मुख्यकल्पात् ? किं च तेन नियोगेनार्थो विद्यते अनुभवति नेत्यर्थः । अनुभवति चेत्यत्र विधिवदविधिवत् । न वानुभवति नियोगेऽधिकारत्वे सति अकरणात् तत्र नियोगस्यैव न प्रवृत्तत्वेन निरोधः । न वृत्ति पक्षान्तरमाह । अथ विधीनां प्रवृत्ति पक्षान्तरमाह । तथा च दर्शयति " पर्यायेणार्थो किं चोपसंहारेष्वित्ति तयोः फलम् । गर्भेऽप्यसंस्कृतोऽनित्यः शास्त्रेष्वधिकृतस्तथा । " । अत्राऽनुक्तानां तु गौणकल्पेनुमतिर्यत्र तत्रातिदेशादर्थप्राप्तानुवादेऽन्तर्भवति ।

अब यह पशुओंके संबंधमें तो है ही नहीं तो नियोगका कर्तव्य कैसे होगा ? और कर्तव्यरूप नहीं कहा है तो फिर उसकी प्रवृत्ति कैसी जाय तो कहा है । क्योंकि; शुद्ध अर्थवाद ही नाम श्रुति है : और एक विधायीमें पहले है कि यह अंग कहा है अब उस वाक्यके साथमें पुत्र भी विधेय होता है अवश्य नहीं । यदि

विकार होता है तो जिस प्रकार बँधने पर चर्ममें विकार होजाता है इसलिये वह अनित्य है उसी प्रकार जीवमें भी बँधनेपर विकार होजाता है इसलिये जीवको अनित्य मानना चाहिये। और यदि बँधनेसे जीवमें कुछ विकार उपजता ही नहीं तो उनको बंधने-पर बँधा तथा बंध टूटनेपर मुक्त भी नहीं कहना चाहिये। जैसे—किसी वस्तुमें कैसा ही उत्पाद विनाश होता रहै परंतु वहांका गगन सदा निर्विकार रहता है इसलिये वह सदा ही शुद्ध मानागया है। इसी प्रकार बंधन निष्फल होनेसे आत्मा सदा ही मुक्त रहना चाहिये। और जब बंधमोक्ष कुछ है नहीं तो जगत्में बंध मोक्षकी व्यवस्था मानना ही मिथ्या ठहरता है। यही कहा है "वर्षा होनेसे तो गीलापन तथा गरमी पड़नेसे कठोरता चर्ममेंही होजाती है; गगनमें नहीं। इसलिये यदि आत्मा गगनके समान है तो बंधमोक्ष होना निष्फल है और यदि चर्मके समान है तो अनित्यता सिद्ध होती है"। इस प्रकार जब बंधन कोई चीज नहीं है तो मोक्ष कहना भी अनुचित है। क्योंकि; बंधके निच्छेद होजानेका नाम ही मोक्ष है।

एवमनित्यैकान्तवादेऽपि सुखदुःखाद्यनुपपत्तिः। अनित्यं हि अत्यन्तोच्छेदधर्मकम्। तथाभूते चात्मनि पुण्यो-पादानक्रियाकारिणो निरन्वयं विनष्टत्वात् कस्य नाम तत्फलभूतसुखानुभवः? एवं पापोपादानक्रियाकारिणोऽपि निरवयवनाशे कस्य दुःखसंवेदनमस्तु? एवं चान्यः क्रियाकारी अन्यश्च तत्फलभोक्तेत्यसमञ्जसमापद्यते। अथ "यस्मिन्नेव हि सन्ताने आहिता कर्मवासना। फलं तत्रैव सन्धत्ते कर्पासे रक्तता यथा" इति वचनान्नासमञ्जस-मित्यपि ब्राऊमात्रं; सन्तानयासनयोरवास्तवत्वेन प्रागेव निर्लोठितत्वात्। तथा पुण्यपापे अपि न घटेते। तयोर्ह्य-र्थक्रिया सुखदुःखोपभोगः। तदनुपपत्तिश्चानन्तरमेवोक्ता। ततोऽर्थक्रियाकारित्वाऽभावात्तयोरप्यघटमानत्वम्।

इसी प्रकार सर्वथा क्षणिकता माननेसे भी सुखदुःखादिककी उत्पत्ति होना असंभव ही दीखता है। जिसका एक अंशमात्र अथवा एकधर्ममात्र भी शेष न रहै किंतु सर्वनाश हो जानेवाले पदार्थको यहांपर बौद्धोंने अनित्य माना है। इस प्रकारसे संपूर्ण ही पदार्थ बौद्धमतानुसार अनित्य हैं। सो जो ऐसा आत्मा है तो जिस आत्माने पुण्यकर्मका अथवा पापकर्मका उपार्जन किया उसका दूसरे ही समय यदि सर्वथा नाश होजायगा तो पुण्यकर्मसे मिलनेवाले सुखका अथवा पापकर्मसे मिलनेवाले दुःखका अनुभव कौन करेगा? यदि कहो कि आगेका आत्मा जो नवीन उत्पन्न होगा वह इस सुखदुःखका अनुभव करेगा तो जिसने किया वह तो भोगने ही नहीं पाया तथा जिसने कुछ भी नहीं किया उसको भोगना पड़ा सो यह प्रवृत्ति अनुचित है। और ऐसा होनेपर

पुरुष सिवाय भी कई लोग ऐसे हैं जिन्हें पुरुषों से भयंकर घृणा होती है। ऐसे लोगों को समलिंगी कामुक कहा जाता है। जैसे कि आज कल समलैंगिक शादियों की भी अच्छी खासी चर्चा होती है। दुनिया में कई देशों में इसे कानूनी मान्यता भी प्राप्त है। भारत में भी इसे कानूनी मान्यता मिलने की कवायद चल रही है। मैं इसका पक्ष या विपक्ष नहीं ले रहा हूँ। क्योंकि, हमारा धर्म भी ऐसे लोगों को अपराधी नहीं मानता है। हमारे धर्म में भी ऐसे लोगों के लिए कोई दंड का प्रावधान नहीं है। इसलिए यह पुरुष-वेदी वेदनेंद्रिय विकार है। यही हमारी दृष्टि है। यह पुरुषवेद कैसे कार्य करता है।

किं पात्रनियम: स्त्रीपात्रस्वीकारो ॥ तत्रैकस्मिन् पुंसि तत्तत्स्त्रीविषयव्यापारकलापः पुंसः पुंसमपेक्षोपाख्यानकिंवासनेषु ॥ द्वित्रीणास्त्रियंषु चापरस्यात्तत्रैव न कामरं। पुंस्वभावनेपथ्यादानकिंवाऽऽलापे च पुंसः पुंसो निर्मुखत्वात् ? ऽऽख्यने च पुंसस्य। ऽऽख्यनुस्त्रीयोग । भावतो या कर्मणिदेवात्। तथापि पूर्वापरसम्पर्कोनैकस्वरूपं नापेक्षत्यम्; तथाऽऽनाऽऽकल्पापुपायेऽपत्व । तत्र पूर्वेषुगात् पुंसिस्तपुंसत्वेऽ कर्म पुंसिश्च अपराधे । कर्म च सुस्त्रिनाश्रव। ष पुंस्किः स्यात् ? विसङ्गतोपागानसंश्लेषे । यदि पुंस्वगावस्थायि ६ तस्मात्यक्तिपिपेक्षत्। ।

और फिर कामिक तनाव दोनों में ही एक समान होते हैं अर्थात् दोनों को ही समान रूप से स्खलन होता है। ऐसे में यह पुरुषवेदक तो कह ही नहीं सकता है : और न ही उसके स्खलन को कहीं पकड़ा है जो पुरुषवेद कहलाने की पुष्टि कर सके। और यदि पुरुष का यौनांग ही नहीं हुआ तो। तो ऐसे पुरुषवेदक का पहचान संभव ? नहीं। यदि पुरुषवेदक का यह रूप हो तो। पुरुष-योनि संभव कहाँ होगा ? यह तथा कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि पुरुषवेदक का यौनांग किसी विशेष प्रकार का ही होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है। यदि पुरुषवेदक में स्त्री-योनि है तो वह स्त्रीवेदक ही कहलाएगा। यदि पुरुषवेदक में पुरुष-योनि है तो वह पुरुषवेदक ही कहलाएगा। यदि पुरुषवेदक में दोनों योनि हैं तो वह नपुंसकवेदक कहलाएगा। यदि पुरुषवेदक में दोनों योनि नहीं हैं तो वह नपुंसकवेदक कहलाएगा। यदि पुरुषवेदक में दोनों योनि हैं तो वह नपुंसकवेदक कहलाएगा। यदि पुरुषवेदक में दोनों योनि नहीं हैं तो वह नपुंसकवेदक कहलाएगा।

तथा उसका आत्मा उसका उपादेय है। अर्थात् कार्य है। सो कार्यकारणोंमें ऐसा नियम होता है कि जैसा उपादान कारण होगा वैसा ही कार्य उपजैगा। इसलिये जो आत्मा सुखी है उसके अनंतरका आत्मा कभी दुःखी नहीं होसकैगा और जो पहिला दुःखी है उससे आगेका आत्मा कभी सुखी नहीं होसकैगा; नहीं तो यदि सुखीसे दुःखी तथा दुःखीसे सुखी भी होजायगा तो उपादानके समान ही कार्य होता है ऐसा नियम नहीं रह सकैगा। इसीप्रकार पुण्यपापमें भी समझना चाहिये। अर्थात् जिसके पास पुण्यका संचय है उसके पास कभी पापका संचय नहीं होसकैगा तथा जो पापी है वह कभी पुण्यात्मा नहीं होसकैगा; नहीं तो उपादानकारणसदृश ही कार्य होता है ऐसा नियम टूट जायगा। ऐसे दोष आनेसे क्षणिक मानना व्यर्थ है।

**एवं बन्धमोक्षयोरप्यसंभवः। लोकेऽपि हि य एव बद्धः स एव मुच्यते। निरन्वयनाशाऽभ्युपगमे चैकाधिकरणत्वाऽभावात्सन्तानस्य चावास्तवत्वात् कुतस्तयोः संभावनामात्रमपीति? परिणामिनि चात्मनि स्वीक्रियमाणे सर्वं निर्बाधमुपपद्यते "परिणामोऽवस्थान्तरगमनं न च सर्वथा ह्यवस्थानम्। न च सर्वथा विनाशः परिणामस्तद्विदामिष्टः" इति वचनात्।**

इसीप्रकार बंध मोक्ष मानना भी नहीं बनसकता है। संसारमें भी जो प्रथम बँधा होता है वही कदाचित् छूटता है। जब नाश होनेपर कुछ भी नहीं बचता है किंतु सर्वथा नाश होजाता है ऐसा मानागया है तो बँधनेवाला तथा छूटनेवाला ये दोनों एकरूप नहीं कहेजा सकते हैं। तथा संतान भी कोई सच्ची वस्तु नहीं है इसलिये बंधमोक्षकी संभावना भी करना असंभव है। और यदि एक ही आत्मा मानकर प्रतिक्षण नवीन नवीन उत्पन्न होनेवाले तथा पूर्वपूर्वके नष्ट होनेवाले जो हैं उनको उस आत्माके परिणामविशेष ही बौद्ध मानते हों तो सभी निर्बाध सिद्ध होजाता है। ऐसा कहा भी है कि "एक अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्था धारण करनेका नाम परिणाम है। न तो कोई भी द्रव्य सदा कूटस्थ एक अवस्थाविशिष्ट ही रहती है और न सर्वथा सदा विनाश ही होता रहता है। किंतु प्रत्येकका परिणमन वा पर्याय होते रहना ही विद्वानोंको इष्ट है।

**पातञ्जलटीकाकारोऽप्याह "अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः" इति। एवं सामान्यविशेषसदसदभिलाप्याऽनभिलाप्यैकान्तवादेष्वपि सुखदुःखाद्यभावः स्वयमभियुक्तैरभ्यूह्यः।**

पतञ्जलिके ग्रन्थकी टीका करनेवालेने भी कहा है कि "ध्रुवपरिणामविशिष्ट वस्तुमें एक धर्मका विलय होकर दूसरे धर्मका

[illegible] है" । [illegible] है [illegible]
[illegible]
[illegible] चाहिये ।

[illegible] ( [illegible] ) [illegible]
[illegible] ।

[illegible] है । [illegible] है । [illegible]
[illegible]

[illegible] । [illegible]

सम्यग्ज्ञानादिभावप्राणव्यपरोपणेन व्यापादितम् । तत्रायस्येत्याशयः । सम्यग्ज्ञानादयो हि भावप्राणाः शाश्वतिकैर्गीयन्ते । अत एव सिद्धेष्वपि जीवव्यपदेशः । अन्यथा हि जीवधातुः प्राणधारणार्थेऽभिधीयते । तेषां च दशविधप्राणधारणाऽभावादजीवत्वप्राप्तिः । सा च विरुद्धा । तस्मात्संसारिणो दशविधद्रव्यप्राणधारणाज्जीवाः सिद्धाश्च ज्ञानादिभावप्राणधारणादिति सिद्धम् । दुर्नयस्वरूपं चोत्तरकाव्ये व्याख्यास्यामः । इति काव्यार्थः ।

इस दुर्नीति वादरूपी खड्गके द्वारा एक दोका नहीं किंतु अशेष जगतका घात होरहा है । 'एतं' शब्द जो पड़ा है उसका अर्थ अनुभवसिद्ध होता है। श्लोकमें जो 'जगदपि' ऐसा शब्द पड़ा है उसमेंसे 'अपि' शब्द 'अशेष' शब्दके साथ लगानेसे अर्थ ठीक बनता है । भावार्थ—एक दो नहीं किंतु अशेष ही जगत् अर्थात् त्रैलोक्यमें होनेवाले जीवोंका समूह इसने विलुप्त करदिया है । अर्थात् सम्यग्ज्ञानरूप भावप्राणोंका घातकर उन जीवोंका नाश करदिया है । प्राणोंके घात होनेका ही नाम मृत्यु है । एक द्रव्यप्राण और एक भावप्राण ऐसे प्राण दोप्रकार हैं । ५ इंद्रिय, ३ बल ( मन, वचन, काय), १ श्वासोच्छ्वास तथा १ आयु इन दशको द्रव्यप्राण कहते हैं । सम्यग्ज्ञानादिकोंको प्रवचनके ज्ञाताओंने भावप्राण कहा है । जो प्राण धारण करते हैं वे जीव कहे जाते हैं । प्राण धारणकरना जिसका अर्थ है ऐसे जीव धातुसे जीव शब्द बनता है । संसारी जीव तो द्रव्यप्राणोंसे जीते हैं इसलिये उनको जीव कहते हैं । सिद्धात्मा भावप्राणोंकी अपेक्षा जीते हैं इसलिये उनको भी जीव कहसकते हैं । यदि द्रव्य प्राणोंके धारण करनेवाले ही जीव कहलाते तो सिद्ध जीव जीव ही नहीं कहे जाते । परंतु सिद्धोंको जीव नहीं कहना सर्वथा विरुद्ध है। इसलिये संसारी जीवोंको दशप्रकार द्रव्यप्राणोंकी अपेक्षा तथा मुक्त जीवोंको भावप्राणोंकी अपेक्षा जीव कहना चाहिये ऐसा सिद्ध है । दुर्नयका स्वरूप इस काव्यमें स्पष्ट नहीं किया है किंतु आगेके काव्यमें कहेंगे । इस प्रकार इस काव्यका अर्थ पूर्ण हुआ ।

साम्प्रतं दुर्नयनयप्रमाणप्ररूपणद्वारेण " प्रमाणनयैरधिगमः " इति वचनाज्जीवाऽजीवादितत्त्वाऽधिगममिच्छन्तानां प्रमाणनयानां प्रतिपादयितुः स्वामिनः स्याद्वादविरोधिदुर्नयमार्गनिराकरिष्णुमनन्यसामान्यं वचनातिशयं स्तुवन्नाह ।

अब खोटे नय, सच्चे नय तथा प्रमाणके स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए आचार्य अर्हन् भगवान्की इस प्रकार स्तुति करते हैं कि—प्रमाण नयसे जीवादि पदार्थोंका निश्चय होता है इस अभिप्रायवाले " प्रमाणनयैरधिगमः " इस वचनके अनुसार जिन प्रमाण-

गयेतो जैन अनीश्वरादे गत्वोदा भाव होगये अधाभाव आले पाहा है तत्र ज्ञानलक्षणेन प्रमेयाभाव कार्येकाने चर्चित पाणिनीके वचन भाक्षात्पत्र पाणिनीके वचन है तथा इन वचनोंमें लाइनके किसीभी दूषणोंका लगे नहीं होसकता है।

सदेव सत् स्यात्सदिति त्रिधाऽर्थो मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः ।
यथार्थदर्शी तु नयप्रमाणाभ्यामेव दुर्नीतिपथं त्वमाख्यः ॥ २८ ॥

भूमार्थ- दुर्नयके द्वारा भी ऐसा निश्चय होता है कि पदार्थ अस्तिरूप ही है तथा नास्तिरूप पदार्थ द्वारा ऐसा निश्चय होता है कि पदार्थ नास्तिरूप है. एवं अवाच्य द्वारा ऐसा निश्चय होता है कि पदार्थ अवक्तव्यरूप है। परंतु यथार्थदर्शी नयोंके और प्रमाणोंके आश्रय ही करके अनेकधर्मात्मक वस्तुका दुर्नयरूप मिथ्यात्व दिखाया है।

व्याख्या—अर्थात् परिशेषन्यायसे दुर्नयके पदार्थोंसिवा तिनिपि प्रकारके पदार्थोंमें परिच्छिन्नेत्व। सेयही सप्तभंगी। जैसेकि पिछे अस्तिरूपवस्तु दुर्नीतिनयप्रमाणोंके द्वारा जानेजाते परदेशादिविशिष्टत्वेन अनीतिरूप भी जाना। इसका जीवादि दुर्नीतिपथे दुर्नयका प्रकार। तथा नेयमाणाः प्रतीयमाने परिच्छिद्यमानेऽन्योऽन्यैकस्वविषयविशेषेऽन्तर्नयति प्रमाण स्याद्वादः तमकं वस्त्वावलोकनरूपत्वात्। दुर्नीतिरूपश्च गाढतम प्रमाणो च दुर्नीतिनयप्रमाणाभ्यामिति।

व्याकरणार्थ—'क' प्रत्यय भावे निश्चय जानो है। [illegible] निश्चय किया। जाऐं अनेको अर्थ उचित प्रसंगे ग्रहणे है। एह पदार्थका निश्चय तीन प्रकारसे होजाता है, प्रथम तो दुर्नयसे, दूजा सुनयसे तथा तीसरा प्रमाणसे। जिसमें प्रथमोक्त एक अनेक निश्चय होजाता हो ये तीनि ही नय कहाते है। तीसरी नीतिवाली दुर्नीति अथवा दुर्नय कहाते है। पुनश्च यथार्थदर्शी नय जे है सो तत्त्वार्थसूत्रके पञ्चाध्यायके आलापपद्धति तत्त्वार्थ, संग्रह, पञ्चाध्यायि तत्त्व लेखा कहे गये है। संपूर्ण अनेकधर्मात्मक वस्तुका निर्णय होना सो ही यह प्रमाण कहाता है। यह प्रमाणलक्षण स्याद्वादको होता है। इसके भीतर भेद सो है- परिच्छेद्य वस्तुके दूजा। दुर्नीति. तथा इसके स्याद्वादके तथा संग्रहके पदमें एक साथ विरुद्ध बोलता पाते है तब 'दुर्नीतिका-[illegible]' ऐसा बोलते है। तात्पर्य यह है कि, एकांतके द्वारा तो वस्तुका यथार्थ होता है किंतु क्योंके द्वारा एक एक धर्मका ही ज्ञान होता है। इसलिये तो वस्तुके एक एक धर्मका दीपक होता है परंतु वह एक एक धर्म है वही यह तीनों नय तीन प्रकारके वस्तुके धर्मोंका निश्चय करता है इस वास्ते तीनोंको दुर्नय कहते है।

केनोल्लेखेन मीयेतेत्याह सदेव सत्स्यात्सदिति । सदित्यव्यक्तत्वान्नपुंसकत्वम् । यथा किं तव्या गर्भे जातमिति। सदेवेति दुर्नयः । सदिति नयः । स्यात्सदिति प्रमाणम् । तथा हि। दुर्नयस्तावत्सदेवेति ब्रवीति । अस्त्येव घट इति। अयं वस्तुन्येकान्ताऽस्तित्वमेवाभ्युपगच्छन्नितरधर्माणां तिरस्कारेण स्वाभिप्रेतमेव धर्मं व्यवस्थापयति । दुर्नयत्वं चास्य मिथ्यारूपत्वात् । मिथ्यारूपत्वं च तत्र धर्म्मान्तराणां सतामपि निह्नवात् ।

दुर्नीति, सुनीति तथा प्रमाणके द्वारा जो पदार्थका तीन प्रकारसे निश्चय होता है उसका स्वरूप कैसा है ऐसा प्रश्न होनेपर " सदेव, सत्, स्यात् सदिति " ऐसा उत्तर देते हैं । इसका अर्थ यह है कि; पदार्थ सत्रूप ही है ऐसा एकान्तरूप ज्ञान कुनयके द्वारा होता है । सुनयके द्वारा जो ऐसा ज्ञान होता है कि पदार्थ सत्रूप है उसमें तथा उपर्युक्त कुनयके ज्ञानमें इतना ही अंतर है कि कुनयजन्य ज्ञान तो एक विवक्षित धर्मको छोड़कर बाकी धर्मोंका निषेध करता है किंतु जो सुनयजन्य ज्ञान होता है उसमें मुख्य तो एक विवक्षित धर्म ही रहता है परंतु बाकीके अमुख्य धर्मोंका भी उदासीनरूपसे ग्रहण किया जाता है । जैसे कुनयसे तो ज्ञान होता है कि पदार्थ सत् ही है। अर्थात् सत्को छोड़कर अन्य कोई भी धर्म पदार्थमें नहीं है। सुनयसे जो ज्ञान होता है उसका उदाहरण ऐसा है कि पदार्थ सत्रूप है । अर्थात् केवल सत्रूप ही नहीं है; उसमें धर्म तो अनंतों हैं परंतु अमुक समयपर विवक्षित धर्म सत्त्व ही है। प्रमाणद्वारा जो ज्ञान होता है उसका उदाहरण ऐसा है कि पदार्थ कथंचित् सत्रूप है। अर्थात् कथंचित् कहनेसे पदार्थमें असत्त्वादि धर्म भी रहते प्रतीत होते हैं । ' सत् शब्द है सो यहांपर नपुंसकलिङ्ग है । नपुंसलिङ्गी शब्दका उच्चारण यहां इसलिये किया है कि सत्शब्दका अर्थ यहांपर कोई खास पदार्थ नहीं है किंतु सामान्य सभी सत्रूप पदार्थ उसके वाच्य हैं । सामान्य अर्थकी विवक्षा होनेपर शब्द नपुंसकलिङ्गी ही बोला जाता है । जैसे अमुक स्त्रीके गर्भमें क्या हुआ ? । 'क्या हुआ' इसमें भी क्या ( किम् ) शब्द जो है वह नपुंसकलिङ्गी ही है । यहांपर जो दुर्नय है वह प्रत्येक पदार्थको एक धर्मविशिष्ट ही मनाता है । जैसे घड़ा केवल सत्रूप ही है । यहां यह दुर्नय वस्तुमें एक मात्र अस्तित्व धर्मका ही निरूपण करता हुआ शेष धर्मोंके निषेधपूर्वक विवक्षित धर्मको ही पदार्थका स्वरूप बतलाता है । खोटा नय होनेसे इसको दुर्नय कहते हैं । विवक्षित धर्मको छोड़कर बाकीके विद्यमान् धर्मोंका भी यह अपलाप करता है इसलिये इस नयको खोटा कहते हैं ।

तथा सदित्युल्लेखवान्नयः । स ह्यस्ति घट इति घटे स्वाभिमतमस्तित्वधर्मं प्रसाधयन् शेषधर्मेषु गजनिमीलिका

[illegible] । [illegible] दुर्नयकं [illegible] । [illegible]
[illegible] इति [illegible] । [illegible] । [illegible]
[illegible] । [illegible] । [illegible]
[illegible] ।

अतः [illegible] है । [illegible] ऐसे ही [illegible] है । [illegible] है । [illegible] नहीं है । क्योंकि [illegible] है । [illegible] नहीं हो सकते है । क्योंकि [illegible] किन्तु [illegible] है । [illegible] है । [illegible] है । [illegible] है । [illegible] है । [illegible] है । [illegible] है [illegible] विभाग, [illegible], [illegible], [illegible], आदि [illegible] चाहिये :

इत्थं [illegible] । दुर्नीतिपथे [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] ।

इस प्रकार [illegible] 'नवाकर्ण' [illegible] होती है । 'दु' [illegible]

शुक्त श्लोकमें जहां पड़ा है वहा ही उसका संबंध नहीं होता किंतु 'त्वमास:' इस स्थानमें पड़े हुए 'त्वम्' ऐसे शब्दके साथ होता है। तथा इस 'तु' शब्दका अर्थ 'ही' अथवा 'निश्चय' होता है। इसलिये श्लोकके अन्तिम भागका अर्थ ऐसा करना चाहिये कि आप ही दुर्नयरूप खोटे मार्गके मिटानेवाले हों; अन्य कोई भी देव दुर्नयरूप खोटे मार्गको नहीं मिटा सकता है। कैसे ? सच्चे नय प्रमाणका मार्ग दिखानेसे। नय प्रमाणोंका स्वरूप कह ही चुके है। इन नय प्रमाणोंका सच्चा प्रकाश करना ही नय प्रमाणोंके मार्गका दिखाना है। आप सच्चे मार्गको दिखानेवाले इसीसे सिद्ध हैं कि आप यथार्थदर्शी है। जैसा कुछ पदार्थ है उसको जो वैसा ही देखता हो उसको यथार्थदर्शी कहते हैं। निर्मल केवलज्ञानरूपी ज्योतिसे आपने ही वस्तुका यथावस्थित स्वरूप देखा है, और जो अन्यमतोंके प्रवर्तक हैं वे रागद्वेषादि दोषोंसे कलंकित रहनेके कारण सच्चा ज्ञान नहीं पासके हैं और इसीलिये वे यथार्थदर्शी नहीं हैं। यथार्थदर्शी न होनेसे वे बेचारे दुर्नयरूप खोटे मार्गका निराकरण भी नहीं कर सकते हैं।

**न हि स्वयमनयप्रवृत्तः परेषामनयं निषेद्धुमुद्धरतां धत्ते। इदमुक्तं भवति। यथा-कश्चित्सन्मार्गवेदी परोपकारदुर्ललितः पुरुषश्चौरश्वापदकण्टकाद्याकीर्णं मार्गं परित्याज्य पथिकानां गुणदोषोभयविकलं दोषाऽस्पृष्टं गुणयुक्तं च मार्गमुपदर्शयति एवं जगन्नाथोऽपि दुर्नयतिरस्करणेन भव्येभ्यो नयप्रमाणमार्गं प्ररूपयतीति।**

जो स्वयं ही अनीति मार्गमें पड़ा है वह दूसरोंको अनीतिमार्गसे अलग नहीं कर सकता है। कहनेका अभिप्राय यह है कि; जिस प्रकार कोई पुरुष सच्चे मार्गको जानता हुआ और परोपकार करनेमें तत्पर होता हुआ जीवोंको खोटे मार्गसे बचानेकी इच्छाकर चोर सिंह व्याघ्रादि भयानक जंतुओंसे तथा कंटक आदि दुःखदाई चीजोंसे भरा हुआ मार्ग छुड़ाकर पथिकोंको ऐसा मार्ग दिखा देता है जो गुणदोष रहित हो अथवा दोषरहित गुणसहित हो; उसी प्रकार जगत्के नाथ जिनेन्द्र भगवान् भी दुर्नयोंका खंडन करते हुए भव्योंको सच्चा नयप्रमाणरूप मार्ग दिखाते हैं।

**आस्थ इत्यस्यतेरद्यतन्यां "शास्त्यस्तिवक्तिख्यातेरङ्" इत्यङि "श्वयत्यस्तवचपतः श्वास्थवोचपसम्" इति स्थादेशे "स्वरादेस्तासु" इति वृद्धौ रूपम्।**



श्लोकके अंतमें जो 'आस्थः' पद है उसका अर्थ निराकरण करना है। अस् धातुके आगे अद्यतनी अथवा लुङ् लकारवाचक भूतकालिक प्रत्ययके अर्थमें 'शास्त्यस्तिवक्तिख्यातेरङ्' इस सूत्रसे अङ् प्रत्यय होकर पीछे 'श्वयत्यस्तिवचपतः श्वास्थवोचपसम्'

ण्ड कुछले अहंके अन्तर्गत मान अवश्य होकर यौगिक शब्द 'अहंकार' बन जाता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'अहंकार' का अर्थ 'अहंभाव' होता है।

मुख्यप्रवृत्या च अस्मादाक्षेप पाक्षान्यात्। यथात्र नयादौ अयोगव्यवच्छेदप्रधानत्वात् तत्रैवापतुपयोगद्वारमुख्यया प्रधानान्तरव्यवच्छेदपर्यवसानात्। यत्तावदि हि यथावस्थितपदार्थोपादानात्मकत्वं द्वारत्वे। यथाक्रमो निश्चयेनेऽनुमानेन नयाश्रयेति। एतेषां च प्रकरणवाक्यैकवाक्यत्वाभ्यामेकफलत्वात्। द्वार तु नोपचारे सम्यगैरपसमयात्। सत्र चैकत्र कृत्यानात्मकः पक्षिनरच्छोन्यत्र पाठकमुद्राया प्रयोगाद्योत्पन्न इति यथाक्रमदत्र द्विरुच्चारणे च मुख्यत्वे।

एतेन अवार्ड रेखा अप्र नो तुल्यत्वेन अभावानामे ही अन्तर्भाव कहा है वह भी भी जो भवोंको पदार्थके ज्ञान कहा है तो यह अनिष्टप्रसंग आनेके लिए कहा है कि सब जो पदार्थका एक धर्मका विज्ञानवाले ज्ञाने गये हैं वे अनुयोगोंके द्वारा होनेसे भोक्ता ही कहे गये हैं। यद्यपि अनुयोगद्वारोंके विधान करनेमें अनेक प्रयोजन पाए जाते हैं। जैसा, निर्देश, अनुमान आदि। इन प्रयोजनोंका संग्रह करना हो तो आवश्यकवाक्यादि शब्दोंसे कहा है, नहीं ऐसा नियम नहीं है। इस श्लोकमें एक आवश्यक जो पाठान्तर 'नोक्त' शब्द है इस पूरे वाक्यका अनुवाद अवश्यक 'पद' शब्द है इसलिये यह पाठान्तर जो नहीं लेखक गलतीसे नहीं है।

अथ सुनैपनकस्यालक्षण निरूपितिकिञ्चनमे। अनादि आत्मा अनादिकर्मतो बद्धमोक्षे मुनैपनकलक्षण मुख्यनिरूपणार्थम्। अत्र पाठान्तरेण अथवा मुनैपनिर्देशे यथोद्देशं पाठानुपपत्तेरुपन्यासः। मुख्यः। यत्र प्रमाणनयनिक्षेपवर्णकरूपेण-रात्मकत्वं कथा। अमन्तरभवाभिधानेन तु सूत्रविशेषैकवाक्यतया अथवा सामान्यतो विशेषैकवाक्यतया अथवा संक्षेपतोऽभिधेयोपवर्णनेति कथा। नयानामप्रधानभावेनैकवस्तुन्यनेकधर्मनिरूपणा परामर्श इत्यर्थः। ५

अब हमें, अब इस पदार्थका निरूपण हमें करना चाहिये यहाँ पर अथवा शब्द विशेष महत्व रखता है। क्योंकि यहाँ पर यह शब्द यह नहीं बतलाता कि अनेक दृष्टिकोण प्रस्तुत करेंगे। बल्कि यह तो अपने से पहले कहे गये दृष्टिकोणोंमें से किसी एक दृष्टिकोण को चुनने का संकेत करता है। इसका तात्पर्य यह है कि पदार्थका जो प्रतिपादक उपदेश आवश्यक है। अर्थात् इनमें से जो उपयुक्त है वह किसी श्रोता को देना है इसका तात्पर्य यही है। यहाँ पर्याप्त निर्णय किये गये पदार्थके

एक अंशका जो विचार करना है वह नय है। वस्तु तो प्रत्येक अनंत धर्मसहित है परंतु विवक्षित किसी एक धर्मरूप उस वस्तुको जो सिद्ध करै अथवा आरोपित करै वह नय है। अर्थात् प्रत्येक वस्तु अनंतो धर्मवाली होती है उनमेंसे किसी एक धर्मकी मुख्यता करके किसी वस्तुको उसी एक विवक्षित धर्ममय कहना तथा मानना सो नय है। नय सदा तभी प्रवर्तता है तथा उसी वस्तुमें प्रवर्तता है जब जो वस्तु प्रमाणज्ञानद्वारा जानी जा चुकती है।

नयाश्चानन्ता अनन्तधर्मत्वाद्वस्तुनस्तदेकधर्मपर्यवसितानां वक्तुरभिप्रायाणां च नयत्वात्। तथा च वृद्धाः "जावइया वयणपहा तावइया चेव हुंति नयवाया" इति। तथापि चिरन्तनाचार्यैः सर्वसंग्राहिसक्षाभिप्रायपरिकल्पनाद्वारेण सप्त नयाः प्रतिपादिताः। तद्यथा। नैगमसंग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता इति। कथमेषां सर्वग्राहकत्वमिति चेदुच्यते। अभिप्रायस्तावदर्थद्वारेण शब्दद्वारेण वा प्रवर्तते; गत्यन्तराऽभावात्। तत्र ये केचनाऽर्थनिरूपणप्रवणाः प्रमात्रभिप्रायास्ते सर्वेऽप्याद्ये नयचतुष्टयेऽन्तर्भवन्ति। ये च शब्दविचारचतुरास्ते शब्दादिनयत्रये इति।

नय वस्तुके उसी एक धर्मको ग्रहण करता है जो वक्ताको इष्ट हो। प्रत्येक वस्तुमें धर्म अनंतो होते हैं इसलिये नय भी अनंतो ही हो सकते हैं। पूर्वाचार्योंने ऐसा ही कहा है कि "जितने प्रकारसे वचन बोले जा सकते हैं उतने ही प्रकारके नय हैं"। इस प्रकार यद्यपि नय बहुत हैं परंतु उन संपूर्ण नयोंका अभिप्राय वक्ष्यमाण सात प्रकारके भेदोंमें ही अन्तर्गत हो जाता है इसलिये पूर्वाचार्योंने नयोंको संक्षेपसे सातप्रकार ही कहा है; नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवंभूत। इन्हीं सात प्रकारोंमें संपूर्ण नयोंके अभिप्राय जिस प्रकार अन्तर्हित हो सकते हैं सो दिखाते हैं। अभिप्रायका प्रगट करना या तो किसी पदार्थके द्वारा हो सकता है अथवा किसी शब्द द्वारा हो सकता है। तीसरा तो कोई मार्ग ही नहीं है। इनमेंसे जो अभिप्राय ऐसे हैं जिनका प्रगट करना पदार्थोंद्वारा हो सकै वे तो सर्व आदिके चार नयोंमें गर्भित हो जाते हैं और जो विचार शब्दद्वारा प्रगट हो सकते हैं उनका अन्तर्भाव अंतके शब्दादि तीन नयोंमें होता है।

तत्र नैगमः सत्तालक्षणं महासामान्यमवान्तरसामान्यानि च द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादीनि तथाऽन्त्यान्विशेषान्सकलाऽसाधारणरूपलक्षणानऽवान्तरविशेषांश्चाऽपेक्षया पररूपव्यावर्त्तनक्षमान् सामान्यादत्यन्तविनिर्लुठितस्वरूपान- ॥१९८॥

[illegible] । इदं च [illegible] सामान्यविशेषवादे [illegible] [illegible] । [illegible]
[illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible]
पाक् [illegible] ।

[illegible] जो [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है । [illegible]

[illegible] । [illegible] [illegible] । [illegible]

तीसरा व्यवहार नय ऐसा कहता है कि वस्तु उतने मात्र ही है जितनी लौकिक व्यवहारमें काम आती है तथा जिस जिस प्रकार लोक व्यवहारमें मानी जाती है। जिसका दर्शनमात्र भी नहीं है तथा जो लोकोंके व्यवहारमें हो भी आती नहीं हो ऐसी वस्तुकी कल्पना करनेका कष्ट उठानेसे क्या प्रयोजन ? जितनी कुछ वस्तु लोकव्यवहारमें आवश्यकीय हैं उन्हींका प्रमाणद्वारा निश्चय होता है। जो लोकव्यवहारके मार्गमें नहीं आती उसका प्रमाणद्वारा निश्चय भी नहीं होता है। अर्थात् लोकव्यवहारमें जो कुछ वस्तु आवश्यकीय होती है वह विशेषरूप ही होती है। जो अनादिनिधन संग्रहनयका विषयभूत एकत्वरूप सामान्य माना गया है उसका किसी प्रकार भी अनुभवसे निश्चय नहीं होता। अर्थात् व्यवहार दृष्टिसे देखते हैं तो सभी वस्तु विशेषरूप ही कार्यक्षेत्रमें उपयोगी जान पड़ती हैं। यदि सामान्य धर्मका भी जीवोंको अनुभव होता हो तो वे मनुष्य सर्वदर्शी अर्थात् सर्वज्ञ होजाने चाहिये। क्योंकि; जिस सामान्य धर्मका अवलोकन होना माना जायगा वह सामान्य सभी चराचर त्रिलोक तथा त्रिकालवर्ती पदार्थोंमें विद्यमान रहनेवाला है। जो क्षण क्षणमें नष्ट माने जाते हैं ऐसे परमाणुरूप सर्वथा विशेष पदार्थ भी प्रमाणसे निश्चित नहीं होते। क्योंकि; यदि ऐसे पदार्थ भी प्रमाणगोचर होते तो उनमें जीवोंकी प्रवृत्ति भी उसके अनुकूल ही दीखती, परंतु ऐसे पदार्थोंको विषय करनेवाली लोकोंकी प्रवृत्ति नहीं दीखती है इसलिये ऐसे पदार्थ हैं ही नहीं जिनका कि क्षण क्षणमें विध्वंस होता रहता हो।

**अवस्तुत्वाच्च तेषां किं तद्गोचरपर्यालोचनेन। तथा हि। पूर्वोत्तरकालभाविनो द्रव्यविवर्त्ताः क्षणक्षयिपरमाणुलक्षणा वा विशेषा न कथंचन लोकव्यवहारमुपरचयन्ति। तन्न ते वस्तुरूपा लोकव्यवहारोपयोगिनामेव वस्तुत्वात्। अत एव पन्था गच्छति, कुण्डिका स्रवति, गिरिर्दह्यते, मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादिव्यवहाराणां प्रामाण्यम्। तथा च वाचकमुख्यः " लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहारः " इति।**

इसलिये लोगोंको यही निर्बाध प्रतीति होरही है कि जो वस्तु कुछ समयतक ठहरनेवाली स्थूल पर्याय धार रही हों वे ही तो जिनके द्वारा जल लाने आदिक कर्म होसकते हों वे ही यथार्थमें पदार्थ हैं। पूर्वोत्तर पर्यायोंकी कल्पना करके उनमें सदा रहनेवाला कोई एक शाश्वता पदार्थ मानना निस्सार है। क्योंकि; ऐसा माननेमें कोई भी प्रमाण काम नहीं देता है। और जिसमें प्रमाण प्रवेश नहीं कर सकता है उसका सिद्ध होना कठिन है। तथा ऐसा कोई एक अनायनिधन पदार्थ ही नहीं है जिसमें नाना प्रकारके दृष्टिगोचर पर्याय होते हुए अनुभवमें आते हों। क्योंकि; विचार करनेपर ऐसा कोई भी पदार्थ सिद्ध नहीं होता। पूर्वोत्तर कालमें

होनेवाले पदार्थोंका ज्ञानकरना। जैसा कोई एक दूर पदार्थ अथवा भूतभविष्यमें यह दीपकके प्रकाशसे लौकिक-लिंगसे स्पष्ट लौकिक प्रत्यक्षोंसे नहीं जाने हैं इसलिये ये पदार्थोंके सम्बन्धे प्रमाण ही नहीं हैं। क्योंकि, सभी स्थलमें वे भी हैं जो लौकिक पुरुषोंसे भी जाने हैं। इसीलिये अनुमान है। पूर्वी पश्चिमी है, पर्वत अग्नि वाला है, इत्यादि लौकिक प्रमाणसे जाने हुए पदार्थोंमें जाने गये हैं। सम्बन्धग्रहणके विशेषसे ज्ञानसामान्यसे अनुमानके अन्तर्गत ही "जो लौकिक प्रमाणसे अनुमान नहीं, किन्तु स्वयम् स्वतन्त्र ही एक विशेष लौकिक प्रयोजन सिद्धि हो वह प्रमाण नय है"।

अनुमान पुनरिदं मन्यते। वर्तमानलक्षणविषयत्वेन वस्तुनः। नाऽतीतानुमानमागमे च। अतीतस्य विनष्टपदार्थस्य लक्षणं लक्षयति विषयोऽविनिर्भागलक्षणः। सकलेऽतीतेऽविनष्टस्य कार्यविज्ञानविषयत्वाभावात्। एतदपास्तं न वस्तुनः; तदेवार्थक्रियाकारि तदेव चक्षुरादिवत्। वर्तमानलक्षणविशिष्टं प्रमाणमनुकूल-प्रत्यक्षादिवत्। किञ्च इति एवंप्रकारेण वाक्यार्थविज्ञानं। वस्तुनि यद्विशेषाभ्युपगमात्। तत्सम्बन्धोपपत्तिर्विशेषतः। एकस्मात्लैकलक्षणात्तत्सम्बन्धोपपत्तेर्लोकस्यैकत्वप्रसङ्गात्। अनेकलक्षणसम्बन्धोपपत्तौ चैष विशेषव्यवहारः प्रमाणसिद्धः। तथा हि ः

कोई अनुमान यह मानता है कि न तो अतीत ही वस्तुका लक्षण है और न अनागत ही: किन्तु जो कुछ वर्तमान समयमें विद्यमान है वही वस्तुका लक्षण है। जो बीत चुका है वह तो बिलकुल ही चला गया। जो आनेमें है वह अभी वैसा ही नहीं हुआ है इसलिये ये दोनों वर्तमानके लक्षण लक्षित नहीं होते हैं। इसलिये इन्हीं स्वरूपोंसहित होनेसे इनके द्वारा किसी भी प्रयोजनकी सिद्धिकी आशा नहीं की जाती है। और इसीसे परोक्षकारी लिंग भी नहीं है तो वह प्रमाण होगा? ऐसा कहा जाता है कि "जो वर्तमानकालमें होता है उसीको पदार्थमें वस्तु कहना चाहिये"। और जो वस्तु स्वरूप प्रकाशित होता है वही प्रकृत प्रयोजनकी सिद्धिका कारण है इसलिये उसीके पदार्थ वस्तु कहना उचित है। अतीतानागत भी जो विशेष हो वही वस्तु कहा जाता है: क्योंकि; अनेक धर्मविशिष्ट किसी एक वस्तुके लक्षणमें कोई विशेष भी नहीं है। यदि एक ही वस्तु अपने अनेक प्रयोजनोंमें आती होती हुई मानी जाय तो वह अनेक पदार्थके लक्षण बनकर बिना नहीं आती हो सकती है और एक ही वस्तुमें अनेक लक्षणयोग होना आवश्यक है: और यह कहना भी ठीक

नहीं है कि एक वस्तुमें अनेक स्वभाव यदि रहें तो क्या हानि है ?। क्योंकि; एक ही वस्तुमें यदि अनेक स्वभावोंकी सत्ता मानी जायगी तो उस वस्तुको विरोधरूपी व्याघ्र सूंघने लगेगा। उस विरोधको आगे दिखाते हैं।

यद्येकः स्वभावः कथमनेकोऽनेकश्चेत्कथमेकः? एकाऽनेकयोः परस्परपरिहारेणाऽवस्थानात्। तस्मात्स्वरूपनिमग्नाः परमाणव एव परस्परोपसर्पणद्वारेण कथंचिन्निचयरूपतामापन्ना निखिलकार्येषु व्यापारभाजः। इति त एव स्वलक्षणं, न स्थूलतां धारयत् पारमार्थिकमिति। एवमस्याभिप्रायेण यदेव स्वकीयं तदेव वस्तु, न परकीयम्; अनुपयोगित्वादिति।

अनेक स्वभाव एक ही वस्तुमें माननेसे विरोध आने लगता है। क्योंकि; जितने स्वभाव होते हैं वे एक दूसरेसे विरुद्ध होते हैं। यदि विरुद्धस्वभाववाले न हों तो उन स्वभावोंमें अनेकपना ही कैसा ? और जो परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले होते हैं वे एक स्थानमें किसी प्रकार नहीं रह सकते हैं। तथा यदि एक ही स्वभाव है तो अनेक स्वभाव कैसे ? और यदि अनेक स्वभाव हैं तो उनको एक कैसे कह सकते हैं? क्योंकि; एकपना तथा अनेकपना ये दोनों धर्म परस्परमें विरोधी होनेसे एक स्थानमें नहीं रह सकते हैं; किंतु एक स्थानमें एक ही रहेगा। इसलिये अपने अपने स्वरूपमें निमग्न ऐसे परमाणु ही परस्परमें एक दूसरेके साथ मिलकर इकट्ठे होते हुए संपूर्ण कार्योंको करते हैं और इसलिये वे शुद्ध परमाणु ही यथार्थ वस्तु हैं; न कि जो स्थूल रूपको धारण करते हैं ऐसा कोई स्थूल पदार्थ परमार्थ वस्तु हो। इस प्रकार जब इस नयकी अपेक्षा देखते हैं तो जितना शुद्ध एक एक निज वस्तु है वही केवल सच्ची वस्तु है और जो पररूप है अथवा जो अनेक परमाणुओंके समूहसे उत्पन्न हुई दीखती है वह कोई सच्ची वस्तु नहीं है। क्योंकि; ऐसी वस्तुका कुछ उपयोग नहीं हो सकता है। सच्चा उपयोग परमाणुओंसे ही हो सकता है।

शब्दस्तु-रूढितो यावन्तो ध्वनयः कस्मिंश्चिदर्थे प्रवर्तन्ते; यथेन्द्रशक्रपुरन्दरादयः सुरपतौ[1] तेषां सर्वेषामप्येकमर्थमभिप्रैति किल। प्रतीतिविशात्यथा शब्दाऽव्यतिरेकोऽर्थस्य प्रतिपाद्यते तथैव तस्यैकत्वमनेकत्वं वा प्रतिपादनीयम्। न चेन्द्रशक्रपुरन्दरादयः पर्यायशब्दा विभिन्नार्थवाचितया कदाचन प्रतीयन्ते; तेभ्यः सर्वदैकाकारपरामर्शो- ॥२००॥

1 ' सुरपतौ ' इति पाठो जालोग्रन्थकृतः।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

माना जाता है उसीप्रकार संख्या, काल, कारककी तथा पुरुषादिकी अपेक्षा शब्दोंमें भेद होनेपर भी अर्थमें भेद मानाजाता है। संख्या तो एकवचनादि। जैसे पुरुष ( एक ) है, पुरुष ( दो अथवा बहुत ) हैं। कालका भेद अतीतकालादि—जैसे वह है, वह था, वह होगा। कारक कर्ता कर्म करणादि। जैसे 'वह भागता है' इस वाक्यमें तो 'वह' शब्द कर्ताकारक है और 'उसको खाता है' यहांपर 'उसको' शब्द कर्मकारक है। पुरुष—प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष, उत्तम पुरुष। जैसे 'वह है' यहांपर प्रथम पुरुष है; 'तू है' यहांपर मध्यम पुरुष है तथा 'मैं हूं' यहांपर पुरुष उत्तम है। इसी प्रकार सर्वत्र लिङ्गादिके भेदसे शब्दोंके अर्थमें परस्पर भेद मानाजाता है।

**समभिरूढस्तु पर्यायशब्दानां प्रविभक्तमेवार्थमभिमन्यते। तद्यथा। इन्दनादिन्द्रः। परमैश्वर्यमिन्द्रशब्दवाच्यं परमार्थतस्तद्वत्त्वार्थे। अतद्वति पुनरुपचारतो वर्तते। न वा कश्चित् तद्वान्; सर्वशब्दानां परस्परविभक्तार्थप्रतिपादितया आश्रयाश्रयिभावेन प्रवृत्त्यसिद्धेः।**

छट्ठा समभिरूढ नय पर्यायवाची शब्दोंके अर्थको परस्पर भिन्न भिन्न मानता है। इंद्रशब्दका यथार्थ अर्थ परम ऐश्वर्य होता है। इसलिये जिसमें परम ऐश्वर्य संभव हो उसीको इंद्र मानना समभिरूढ नयका कर्तव्य है। क्योंकि; इन्द्रशब्दका वाच्य अर्थ जो परम ऐश्वर्य है वह यथार्थमें उसीमें मिलसकता है जिसमें परम ऐश्वर्य सचमुच हो। जिसमें परम ऐश्वर्य नहीं है उसको इंद्र कहना उपचारमात्र है। सचमुचमें देखा जाय तो जिसमें परम ऐश्वर्य नहीं है उसको इन्द्र कहना ही नहीं चाहिये। क्योंकि; यथार्थमें वह परम ऐश्वर्यवाला है ही नहीं। सो भी क्योंकि; जितने शब्द हैं वे सब अलग अलग अर्थको कहनेवाले होनेसे जिसमें किसी शब्दका वाच्य अर्थ संभव न हो उसमें उस वाच्य अर्थका आश्रयपना होनेमात्रसे ही उस शब्दकी प्रवृत्ति नहीं होसकती है। **भावार्थ**—जब समभिरूढ नयकी अपेक्षा की जाती है तब किसी शब्दकी कहींपर भी इतनेमात्रसे प्रवृत्ति नहीं हो जाती कि अमुक पदार्थमें यद्यपि उस शब्दका वाच्यरूप धर्म तो नहीं है परंतु इसमें स्थापना आदिकसे आरोपित होसक ता है इसलिये उस धर्मका आश्रय होनेसे उस शब्दका वाच्य अमुक होसकता है। किंतु समभिरूढ नयकी अपेक्षा किसी भी शब्दकी तभी प्रवृत्ति होती है जब उस शब्दका वाच्यरूप धर्म उस पदार्थमें सचमुच विद्यमान हो।

**एवं शकनाच्छक्रः, पूर्दारणात्पुरन्दर इत्यादिभिन्नार्थत्वं सर्वशब्दानां दर्शयति प्रमाणयति च। पर्यायशब्दा**

आदि भिन्नार्थक शब्दों के प्रयोग में विवेक की आवश्यकता है। इन दो के अतिरिक्त अन्य शब्दों के प्रयोग में विशेष सावधानी अपेक्षित है।

किसी व्यक्ति विशेष अथवा वस्तु के लिए प्रयुक्त होने वाला शब्द संज्ञा कहलाता है। संज्ञा शब्द के बिना हमारा काम नहीं चलता। हम प्रतिदिन अनेक व्यक्तियों और वस्तुओं से मिलते हैं। उन सबके लिए हमें अलग-अलग नाम याद रखने पड़ते हैं। यदि संज्ञा शब्द न होते तो हमें प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु के लिए अलग-अलग विशेषण याद रखने पड़ते। संज्ञा शब्द के कारण ही हम किसी व्यक्ति या वस्तु को उसके नाम से पुकार सकते हैं। संज्ञा शब्द के कारण ही हम किसी व्यक्ति या वस्तु को उसके नाम से पुकार सकते हैं। संज्ञा शब्द के कारण ही हम किसी व्यक्ति या वस्तु को उसके नाम से पुकार सकते हैं।

अथवा होनेवाला हो उसकी भूत या भावी चेष्टा वर्तमानमें गधेके सींगसमान असत्‌रूप है अर्थात् वर्तमानमें कुछ है ही नहीं। इसलिये ऐसी भूत या भावी पर्यायोंकी चेष्टाका कहना लेकर किसी पदार्थमें उस भूत भावी पर्यायके वाचक शब्दका प्रयोग करना सर्वथा अनुचित जान पड़ता है।

**तथापि तद्वारेण शब्दप्रवर्तने सर्वत्र प्रवर्तयितव्यो विशेषाऽभावात्। किं च यद्यतीतवर्त्त्यचेष्टापेक्षया घटशब्दोऽचेष्टावत्यपि प्रयुज्येत, कपालमृत्पिण्डादावपि तत्प्रवर्तनं दुर्निवारं स्याद्विशेषाऽभावात्। तस्माद्यत्र क्षणे व्युत्पत्तिनिमित्तमविकलमस्ति तस्मिन्नेव सोऽर्थस्तच्छब्दवाच्य इति।**

यदि वर्तमानमें किसी शब्दके वाच्यरूप पर्यायका अभाव रहनेपर भी केवल भूत भावी पर्यायोंकी कल्पनाकर उस पर्यायरूप मानकर वह उस शब्दका वाच्य मानना ठीक हो तो सभी शब्दोंका प्रयोग सभी पदार्थोंमें करना चाहिये। क्योंकि; प्रत्येक सभी पुद्गल कभी न कभी विवक्षित पर्यायरूप होगया ही होगा; नहीं तो आगे होजायगा। और यदि अतीत अनागत चेष्टाओंकी अपेक्षा लेकर भी वर्तमानमें घड़ेकी चेष्टा न होनेपर भी घड़ेमें घड़ाशब्दका प्रयोग होसकता हो तो जबतक घड़ा बना ही नहीं है तबतक कपाल मट्टी आदि अवस्थाओंमें भी घड़ाशब्द क्यों नहीं बोलाजाता? क्योंकि; भूत भावी घटचेष्टाकी अपेक्षा जैसी कपाल मट्टी आदिकोंकी अवस्था है तैसी ही जब घड़ा अपनेरूप चेष्टा नहीं कररहा हो तबकी अवस्था है। इसलिये जिस समय किसी शब्दकी व्युत्पत्तिका निमित्तकारण परिपूर्ण विद्यमान मिलता हो उसी समय उस शब्दका उपयोग करना उचित है।

**अत्र संग्रहश्लोकाः। अन्वयेव हि सामान्यमभिन्नज्ञानकारणम्। विशेषोऽप्यन्य एवेति मन्यते नैगमो नयः। १। सद्रूपताऽनतिक्रान्तं स्वस्वभावमिदं जगत्। सत्तारूपतया सर्वं संगृह्णन् संग्रहो मतः। २। व्यवहारस्तु तामेव प्रतिवस्तु व्यवस्थितिम्। तथैव दृश्यमानत्वाल्लोकापारयति देहिनः। ३। तत्पर्युसूत्रनीतिः स्याच्छुद्धपर्यायसंश्रिता। नश्वरस्यैव भावस्य भावात् स्थितिवियोगतः। ४। विरोधिलिङ्गसंख्यादिभेदाच्चिन्नस्वभावताम्। तस्यैव मन्यमानोऽयं शब्दः प्रत्यवतिष्ठते। ५। तथाविधस्य तस्यापि वस्तुनः क्षणवर्तिनः। भूते समभिरूढस्तु संज्ञाभेदेन भिन्नताम्। ६। एकस्यापि ध्वनेर्वाच्यं सदा तन्नोपपद्यते। क्रियाभेदेन भिन्नत्वादेवंभूतोऽभिमन्यते। ७।**

अब इन सबके श्लोकोंके ऊपर किये हुए श्रीधरीय अर्थ लिखते हैं। [illegible] है तथा [illegible] कुछ [illegible] ही है [illegible] है। १। [illegible] है, [illegible] है। २। [illegible] है। क्योंकि, [illegible] है। ३। [illegible] है। क्योंकि [illegible] है [illegible] है। भावार्थ—[illegible] हैं। इसलिये [illegible] है [illegible] चाहिये। ४। [illegible] है [illegible] है। ५। [illegible] है। ६। [illegible] है। क्योंकि, [illegible] है [illegible] है। ७।

[illegible] परामर्श [illegible]।

[illegible] है [illegible] है। [illegible] है। [illegible] है [illegible] है। [illegible] है।

उक्तं च सोदाहरणं नयदुर्नयस्वरूपं श्रीदेवसूरिपादैः । तथा च सङ्ग्रन्थः "नीयते येन श्रुतारव्यप्रमाणविषयीकृतस्यार्थस्यांशस्तदितरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः" इति । स्वाभिप्रेतादंशादितरांशापलापी पुनर्नयाभासः । स व्याससमासाभ्यां द्विप्रकारः । व्यासतोऽनेकविकल्पः । समासतस्तु द्विभेदो; द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च । आद्यो नैगमसंग्रहव्यवहारभेदात् त्रेधा । धर्मयोर्धर्मिणोर्धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन यद्विवक्षणं स नैकगमो नैगमः । सच्चैतन्यमात्मनीति धर्मयोः । वस्तुपर्यायवद्द्रव्यमिति धर्मिणोः । क्षणमेकं सुखी विषयासक्तजीव इति धर्मधर्मिणोः । धर्मद्वयादीनामैकान्तिकपार्थक्याभिसंधिर्नैगमाभासः । यथात्मनि सत्त्वचैतन्ये परस्परमत्यन्तपृथग्भूते ।

उदाहरण सहित सम्यक् नय तथा दुर्नयोंका स्वरूप श्रीदेवसूरि महाराजने भी कहा है । उनके ग्रन्थमें इस प्रकार कहा है कि—जो श्रुत प्रमाणके विषयभूत हुए पदार्थके एक अंशका ग्रहण करे तथा बाकीके सभी अंशोंमें उदासीन हो ऐसे वक्ताके एक प्रकारके अभिप्राय को नय कहते हैं । विवक्षित अंशको ग्रहणकर बाकीके अंशोंका सर्वथा निषेध करनेवालेको नयाभास कहते हैं । वह नय विस्तार संक्षेपके भेदोंकी अपेक्षा दो प्रकारका है । विस्तारकी अपेक्षा तो अनेक भेद होते हैं परंतु संक्षेपसे देखा जाय तो मूल भेद दो हैं; पहिला द्रव्यार्थिक दूसरा पर्यायार्थिक । द्रव्यार्थिकके नैगम, संग्रह, व्यवहार ये तीन भेद हैं । दो धर्मोंमें अथवा दो धर्मियोंमें या एक धर्म एक धर्मीमें प्रधानताकी अपेक्षा करनेको नैगम अथवा नैकगम कहते हैं । सत्त्व और चैतन्य ये दोनों धर्म आत्मामें हैं ऐसे विचारमें तो दो धर्मोंकी प्रधानता है । तथा वस्तु और पर्याय जिसमें हो वह द्रव्य है ऐसे वचनमें दो धर्मियोंकी मुख्यता है । क्योंकि; वस्तु भी धर्मी है तथा पर्याय भी एक प्रकारका धर्मी ही है । विषयासक्त जीव क्षणभरकेलिये सुखी होजाता है इस वाक्यमें जीव तो धर्मी तथा सुखीपना धर्म ये दोनों प्रधान हैं । दो धर्मोंमें, धर्मधर्मियोंमें अथवा दो धर्मियोंमें जो सर्वथा भेदभाव दिखावे उसको नैगमाभास अथवा खोटा नैगमनय कहते हैं । जैसे आत्माने सत्त्व धर्म तथा चैतन्य धर्म सर्वथा भिन्न है ।



सामान्यमात्रग्राही परामर्शः संग्रहः । अयमुभयविकल्पः, परोऽपरश्च । अशेषविशेषेष्वौदासीन्यं भजमानः शुद्धद्रव्यं सन्मात्रमभिमन्यमानः परः संग्रहः । विश्वमेकं सदविशेषादिति यथा । सत्ताऽद्वैतं स्वीकुर्वाणः सकलविशेषाक्षिराचक्षाणस्तदाभासः । यथा सर्वमेव तत्त्वं सतः पृथग्भूतानां विशेषाणामदर्शनात् । द्रव्यत्वादीन्यवान्तर-

मानवाधिकार कानून के अंतर्गत, राज्य विधायिका द्वारा बनाए गए कानूनों को संविधान के अनुरूप होना चाहिए। यदि कोई कानून संविधान के मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करता है, तो उसे न्यायालय द्वारा रद्द किया जा सकता है।

किसी व्यक्ति को गिरफ्तार करने के बाद, पुलिस को उसे 24 घंटे के भीतर निकटतम मजिस्ट्रेट के समक्ष पेश करना होता है। इस अवधि में यात्रा का समय शामिल नहीं होता। यदि गिरफ्तारी किसी दूरस्थ स्थान से की गई है, तो मजिस्ट्रेट के न्यायालय तक पहुँचने में लगने वाला समय इस अवधि से घटा दिया जाता है। इस प्रावधान का उद्देश्य मनमानी हिरासत को रोकना है। यदि पुलिस इस समय सीमा का पालन नहीं करती है, तो गिरफ्तारी अवैध हो जाती है और व्यक्ति को तत्काल रिहा किया जा सकता है। हालाँकि, व्यवहार में अक्सर इस नियम का उल्लंघन होता है, खासकर ग्रामीण इलाकों में जहाँ न्यायालय दूर होते हैं।

मजिस्ट्रेट के समक्ष पेश किए जाने पर, पुलिस को हिरासत की आवश्यकता के लिए ठोस कारण बताने होते हैं। यदि मजिस्ट्रेट को लगता है कि हिरासत अनावश्यक है, तो वह आरोपी को जमानत पर रिहा कर सकता है। यह प्रक्रिया व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा करती है और पुलिस की शक्ति पर एक महत्वपूर्ण नियंत्रण के रूप में कार्य करती है।

हालाँकि, इस नियम में कुछ अपवाद भी हैं। उदाहरण के लिए, यदि आरोपी पर आतंकवाद या राष्ट्रीय सुरक्षा से संबंधित गंभीर अपराध का आरोप है, तो हिरासत की अवधि बढ़ाई जा सकती है। इसके अलावा, यदि आरोपी को किसी अन्य मामले में पहले से ही हिरासत में लिया गया है, तो यह नियम लागू नहीं होता। इन अपवादों का उद्देश्य जटिल मामलों में जाँच को प्रभावी बनाना है, लेकिन इनका दुरुपयोग होने की संभावना भी बनी रहती है।

पर्यायार्थिकश्चतुर्धा । ऋजुसूत्रः शब्दः समभिरूढ एवंभूतश्च । ऋजु वर्तमानक्षणस्थायि पर्यायमात्रं प्राधान्यतः सूत्रयन्नभिप्राय ऋजुसूत्रः । यथा सुखविवर्तः सम्प्रत्यस्तीत्यादिः । सर्वथा द्रव्याऽपलापी पुनस्तदाभासः । यथा तथागतमतम् । कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमानः शब्दः । यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादिः । तद्भेदेन तस्य तमेव समर्थयमानस्तदाभासः । यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादयो भिन्नकालाः शब्दा भिन्नमेवार्थमभिदधति भिन्नकालशब्दत्वात्साद्यसिद्धाऽन्यशब्दवदित्यादिः ।

पर्यायार्थिक नयके भेद चार हैं; ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवंभूत । ऋजु अर्थात् केवल वर्तमान क्षणवर्ती पर्यायको जो प्रधानतासे ग्रहण करता हो उस अभिप्रायको ऋजुसूत्र कहते हैं । जैसे सुखीपना इस समय है । अर्थात् इस समय सुखी है, इस समय दुःखी है इत्यादि वर्तमान पर्यायरूप जैसा हो तैसा कहनेका ज्ञान ऋजुसूत्र है । जो सर्वथा अनादिनिधन द्रव्यका निषेध कर केवल पर्यायोंको ही अपने अपने समयमें सच्चा मानता है वह ऋजुसूत्राभास है । जैसे बौद्धोंका मत । कालादिके, भेदोंसे जो शब्दोंमें भेद पड़ता है उसके द्वारा जो वाच्य वस्तुको भी भिन्न भिन्न मानता है वह शब्दनय है । जैसे सुमेरु यद्यपि त्रिकालवर्ती है परंतु 'सुमेरु' था इस वाक्यका अर्थ तो परोक्ष भूतकालके आश्रयसे कुछ जुदा ही है; तथा 'सुमेरु होगा' इस वाक्यका अर्थ जुदा ही है; एवं 'सुमेरु है' इस वाक्यका अर्थ कुछ और ही है । इस शब्दभेदका आश्रय लेकर जो वस्तुको सर्वथा जुदा ही मानता है वह शब्दनयाभास है । जैसे ' सुमेरु है, सुमेरु था, सुमेरु होगा' इत्यादि जुदे जुदे कालवाची शब्दोंका अर्थ सर्वथा जुदा जुदा ही होता है । क्योंकि; और भी ऐसे बहुतसे शब्द है जो भिन्नकालोंके कारण अर्थमें भेद डालते है इसलिये कालभेदके कारण अर्थमें भेद होना ही चाहिये ।

पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढः । इन्दनादिन्द्रः, शकनाच्छक्रः पूर्दारणात् पुरन्दर इत्यादिषु यथा । पर्यायध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कक्षीकुर्वाणस्तदाभासः । यथेन्द्रशक्रपुरन्दर इत्यादयः शब्दा भिन्नाभिधेया एव भिन्नशब्दत्वात्करिकुरङ्गतुरङ्गशब्दवदित्यादिः । शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाविशिष्टमर्थं वाच्यत्वेनाऽभ्युपगच्छन्नेवंभूतः । यथेन्दनमनुभवन्निन्द्रः, शकनक्रियापरिणतः शक्रः, पूर्दारणप्रवृतः

सुन्दर हनुमच्छले । किलष्टस्त्रियि वस्तु गच्यस्तच्छटया पतिक्षिपक्तु गदाभास । गगा सिंहिहथोरुस्तुग गदाऽऽ वासु मेघ पटकम्पयाक्ष पटचम्पक्तुलिमिश्रिमहुलकिंगाऽऽम्पायाप्टपदिलाहि: ।

गर्भसन्धि। पुल्लोंदि भी एकगीतिप्रिपिक्ष वेद है इसलिये उनके गच्य गर्भोंको सूचि बनाकेला प्रविक्रिया मय है । जैसे पत्र वेदगीको जोला एक आना चाहिए है, गतिमें श्लेष्मा हाद आदक गोपेट है, गुणेसे लिंगवे छनेगाले। अगेच्छ पुलए पदना हैक है । एकहि वेद भी जो पर्यायपर्यं शब्द होते हैं मे सब एकदेवके भाव पुरु न पुरु भेद को दिखाते हैं । जोपदार्थ पत्नीको लक्ष्य ही लिए लिस अर्थ कहनेवाला मानना। स्पर्शिहस्तवाद है । जैसे इसी देवी हरिण अतिरिक्त शब्द लिंगभेद होनेसे लिए सब्द पतने गर्भोंके भी भिन्न भिन्न लिखाते हैं इसीप्रकार एक एक पुरुषवाचिक शब्द भी लिंग भिन्न होनेसे भिन्न भिन्न गर्भोंको बोधक हुआ करते हैं । जैसे विष्णु, हरि इत्यादि । इसी प्रकारसे अन्य किसी शब्दके भावार्थका विचार कीजिये तो भी यही बात मालूम होती है अर्थात् एक शब्दके अनेक अर्थ होते हैं । इस विषय संबंधमें अधिक कहना व्यर्थ है । जिज्ञासु पुरुषोंको उचित है कि वे अपने अपने गुरुसे इस विषयको अच्छी तरह समझ लें । जिस विषय संबंधमें गुरुसे भी कुछ न समझ पड़े उसको अपनी बुद्धिसे विचार करना चाहिए । तात्पर्य—जब पदार्थ जिस विशेषण सहित न होगा तो उस शब्द द्वारा भी वह उस गुणसंबंधसे उस विशेषण सहित नहीं है परंतु उस विशेषण सहित पदार्थमें विशेष भी यही उपदेश है जिस उस विषयमें यह उपयोगी उपाय है । और जो एकाक्षर नपुंसक है वह स्त्रीलिंग पुंलिंग दोनोंमें उसको उस लिंगसंबंध उसके विशेषण होनेसे लेना है : जैसे विधा अथवा यहां शब्दों बोध लिखने आवश्यक न हो जाय शब्द उसके यहांपर कहा कभी नहीं कहना चाहिये । क्योंकि, एक शब्द उसमें लिंग विशेषके प्रति वह कहा जाता है वह लिंग है ही नहीं । यदि उसमें लिंगके सूचक शब्द और एकदम वाचक अर्थ होजायेंगे तो अर्थमें भी गड़बड़ उपस्थित होगा ।

परंतु व्याकरण। पदसंज्ञाधिनिकाशकल्पकरणेन्याः । तेषामपि एवः शब्दशास्त्रार्थबोधनेवा यच्छब्दपदः पूर्णः। पूर्णे सति। पदार्थबोधका वा। पदस्य पदिनिरूपिवया ।

इस शब्दों पदोंके अन्वयके जो नाम नय है वे ही शब्दके आवश्यकी मुख्यता न रखकर केवल अर्थका ज्ञान पुरुषोंको

लेकर प्रवृत्त होते हैं इसलिये अर्थनय कहाते हैं और बाकीके तीन नय मुख्यतासे शब्दका आश्रय लेकर ही प्रवर्तते हैं इसलिये वे शब्दनय कहाते हैं। इन सातों नयोंमेंसे जो पूर्व पूर्वके हैं वे उत्तरोंकी अपेक्षा विषयका ग्रहण अधिक अधिक करते हैं और उनमें जो उत्तरके हैं वे पूर्व पूर्व नयकी अपेक्षा अल्प विषयवाले हैं।



**सन्मात्रगोचरात्संग्रहान्नैगमो भावाभावभूमिकत्वाद् भूमविषयः। सद्विशेषप्रकाशकाद् व्यवहारतः संग्रहः समस्तसत्समूहोपदर्शकत्वाद्बहुविषयः। वर्तमानविषयादृजुसूत्राद्व्यवहारस्त्रिकालविषयावलम्बित्वादल्पार्थः। कालादिभेदेन भिन्नार्थोपदर्शिनः शब्दादृजुसूत्रस्तद्विपरीतवेदकत्वान्महार्थः। प्रतिपर्यायशब्दमर्थभेदमभीप्सतः समभिरूढाच्छब्दस्तद्विपर्ययानुयायित्वात्भूतविषयः। प्रतिक्रियं विभिन्नमर्थं प्रतिजानानादेवंभूतात्समभिरूढस्तदन्यथार्थस्यापकत्वान्महागोचरः।**

संग्रह केवल सत्धर्मका ही ग्रहण करता है और नैगम नय सत्असत् दोनों धर्मोंका ग्रहण करता है इसलिये संग्रहकी अपेक्षा नैगमका विषय बहुत है। सत्ता धर्मके किसी विशेष अंशका ग्रहण करनेवाले व्यवहारकी अपेक्षा संग्रह नय संपूर्ण सत्ताविशिष्टका प्रकाशक होनेसे अधिक विषयवाला है। ऋजुसूत्र नय केवल वर्तमान कालवर्ती पर्यायको ही प्रकाशता है इसलिये तीनो कालवर्ती वस्तुको प्रकाशनेवाला व्यवहार नय इस नयसे अधिक विषयवाला है। लिङ्ग संख्या कालादिके भेदसे वर्तमान कालवर्ती पर्यायोंमें भी शब्द नय भेद दिखाता है इसलिये इसकी अपेक्षा वर्तमान पर्यायमें अभेद रखनेवाला ऋजुसूत्र नय महाविषयवाला है। शब्द नय पर्यायवाची शब्दोंमें अभेदभाव दिखाता है तथा समभिरूढ नय पर्यायवाची शब्दोंमें परस्पर भेद प्रकाशता है इसलिये समभिरूढ नयकी अपेक्षा शब्द नयका विषय बहुत है। समभिरूढ नय कुछ क्रियाओंका परिवर्तन होनेसे अर्थमें भेद नहीं मानता है परंतु एवंभूत क्रियाओंके भेदसे एक ही वस्तुको भिन्न भिन्न मानता है इसलिये एवंभूतकी अपेक्षा समभिरूढका विषय बड़ा है।

**नयवाक्यमपि स्वविषये प्रवर्तमानं विधिप्रतिषेधाभ्यां सप्तभङ्गीमनुव्रजतीति विशेषार्थिना नयानां नामान्यर्थविशेषलक्षणाक्षेपपरिहारादिचर्चस्तु भाष्यमहोदधिगन्धहस्तिटीकान्यायावतारादिग्रन्थेभ्यो निरीक्षणीयः। प्रमाणं तु सम्यगर्थनिर्णयलक्षणं सर्वनयात्मकं स्याच्छब्दलाञ्छितानां नयानामेव प्रमाणव्यपदेशभाक्त्वात्। तथा च श्रीविमलनाथस्तवे श्रीसमन्तभद्रः "नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे रसोपविद्धा इव लोहधातवः। भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः" इति।**

वायवलाक्षेत्रे मनार स्वनाम्य थी अपर मनने दिनोगी शेगा।दिनके ऐगो रूपम शैनेगे गाम पल्लव होल्कने दे वाहिने निम्बे हुआ विलाये अनिज मानना हो उनको पुत्र वर्षिन स्वन. नागके अनुकूल स्वयंत्र विष्ट मिग लक्षन. बॉक्स, पलाश्च करेंद्र विम्बोक्त निवाह पाल्कहोनेपे, स्वयंदेन शैक्षा, नाल्यनालारि वर्षेसुगा अनवेला चाहिने। जे सने अवेक्ष निवेग हनेनेपा तो तुपा ।पूर्ण नर्दोके गाहुपवन्त अवेंदो पहुन हो अनको पवाव पहते दे। क्योंकि, नाहरुन्द् कगाडा ४गरेव हनेनी नवगरोंका ही गवाह रूप होनेना है। एही रोगने ऐकेन्द्र वीनेवनरूप की पुष्टि करते हुए धीहुगान्नाभद्रपत्नीने एना है कि "जेग एवाह हाल्वनके रोगी ब्रेम इनिगत एक बूंदे गाना है उसीपका 'लक्ष' शब्द लालिमे पे भागे पहे हुए नव ही अनिना एकके गाना शैनाते दे हालेने दिनेन्नु अन भागो नवनार काने दे"।

गाय दिविधि अलाप्त ग्रंथ : एक यहाक दिया, गाव्यवहारिके पारमार्थिक च । गा व्यवहारिक दोविधिमि-न्निवयनिन्दिगन्निगिगनेदान्। गाहिलपन्चमंहदावायणारगोदार्थैकलक्षनुपिकलन्। गायत्रादीना हरहा मुपमीमसन्ना ब्रनन्यके। गाहवाधिके दुनहारसेनाधारवाचावेकन्। वहिर्निग। धारोपहारिमेक स्वाधिक च। साक्ष-ब्रवधिमनगर्वयेभेदाद् द्विपन। गाधिक तु केवलज्ञानाधिति । परोक्ष च मतिनिबन्धिनोहाद्नुमानागमो-धालक्षकन्।

दिस्त्र जो पनला दे वाहके दो दक्ष दे, ब्रन्य तथा पोगि। दिन पलवके पं.दो वेद है एक गाव्यवहारिक दूसरा गाव्यविक : एक गाव्यवहारिक प्रत्यक्ष तो वेगा है।जिसमें इंद्रियोंकी अपेक्षा रहती है और दूसरा लोक अलौकिक है जिसमें केवल मनकी ही सहायता रहती है। उसी ।पूर्ण गाव्यवहारिक प्रत्यक्षके चार भेद होते है, अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा : गाथार्थ— ये चारों भेद सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके भेद कहे जा सकते है। एक ही विषयके ज्ञानमें जबतक जैसी जैसी अधिक स्पष्टता होती है वैसे वैसे ही अन्त ज्ञानके ये उत्तरोत्तर भेद किये गये है। प्रथम क्षण। ज्ञान है उसमें कुछ नहीं कहते है। जो पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा है उसमें क्रमसे पूर्व पूर्वज्ञानादिकी अपेक्षा नहीं होती !किन्तु परस्परमिन्न भिन्न प्रकाशमें ही होती है। इस प्रकारविधिके भी दो भेद है, एक सांव्यवहारिक दूसरा पारमार्थिक केवलज्ञानरूप। जिसमें सब

मनःपर्याय ये दो तो क्षायोपशमिक पारमार्थिक हैं तथा केवलज्ञान क्षायिक पारमार्थिक प्रत्यक्ष है। परोक्ष प्रमाण पांच प्रकारका है; स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, ऊह (तर्क), अनुमान तथा आगमज्ञान।



तत्र संस्कारप्रबोधसम्भूतमनुभूतार्थविषयं तदित्याकारं वेदनं स्मृतिः। तत्तीर्थंकरबिम्बमिति यथा। अनुभवस्मृतिहेतुकं तिर्यगूर्ध्वतासामान्यादिगोचरं संकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्। यथा तज्जातीय एवायं गोपिण्डः, गोसदृशो गवयः, स एवायं जिनदत्त इत्यादिः।

किसी समय किसी पदार्थका अनुभव करनेके बाद जो संस्कार होजाता है उसका उद्बव होनेसे उसी अनुभव किये हुए पदार्थका 'वह' ऐसा याद आना सो स्मृति अथवा स्मरण है। जैसे वह तीर्थंकरका प्रतिबिम्ब। वर्तमान समयमें किसी वस्तुको प्रत्यक्ष देखनेपर तथा पहिले देखे हुए किसी सदृश या विलक्षण आदि वस्तुके याद आनेपर वर्तमान देखे हुए तथा स्मरण किये हुए पदार्थोंमें जो जोड़रूप ज्ञान होता है उसको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे पूर्वोक्तसा ही यह गोपिंड है, तथा गौके समान ही यह गवय है। एवं यह वही जिनदत्त है। अर्थात्—'वह' ऐसा तो स्मरणांश है तथा 'यह' ऐसा वर्तमानांश प्रत्यक्ष है। इन दोनों ज्ञानोंके हो जानेपर पीछेसे एक ज्ञान ऐसा होता है जिसके द्वारा पूर्वके देखे हुए पदार्थसे वर्तमानके पदार्थमें या तो समानता दीखती है या भेद प्रतीत होता है अथवा एकताकी प्रतीति होती है। जैसे अमुक वस्तु पूर्व देखे हुएसे भिन्न है अथवा वैसा ही है या वही है इत्यादि अनेक प्रकारसे प्रतीति होती है। सादृश्य दिखानेवाले प्रत्यभिज्ञानमें जिस सादृश्यका ज्ञान होता है कि यह वैसा ही है, वह सादृश्य धर्म दो प्रकारका है; एक तिर्यक् सामान्य तथा दूसरा ऊर्द्धतासामान्य। वर्तमान कालवर्ती एक जातिके पदार्थोंमें रहनेवाली समानताको तिर्यक् सामान्य कहते हैं। जैसे यह गौ इस गौके समान है। एक ही पदार्थके क्रमवर्ती संपूर्ण पर्यायोंमें रहनेवाली समानताको ऊर्द्धतासामान्य कहते हैं। जैसे एक ही पुद्गल अनेक पर्यायोंमें क्रमसे परिवर्तन करता है सो उन संपूर्ण पर्यायोंमें परस्पर उस एक पुद्गलकी अपेक्षा समानता है।

उपलम्भाऽनुपलम्भसम्भवं त्रिकालीकलितसाध्यसाधनसम्बन्धाद्यालम्बनमिदमस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकारं संवेदनमूहस्तर्काऽपरपर्यायः। यथा यावान् कश्चिद्धूमः स सर्वो वह्नौ सत्येव भवतीति, तस्मिन्नसत्यसौ न भवत्येवेति वा। अनुमानं द्विधा; स्वार्थं परार्थं च। तत्राऽन्यथाऽनुपपत्त्येकलक्षणहेतुग्रहणसम्बन्धस्मरणकारणकं साध्य-

नित्यत्वं सार्थकम् । [illegible] । [illegible]

[illegible] है । [illegible] है । [illegible] है । [illegible] चाहिये ।

[illegible] । [illegible] । इति भावार्थः ।

[illegible] है । [illegible]

मानना ही उचित नहीं है। क्योंकि; संनिकर्षादिक जड़स्वरूप होनेसे प्रमाण नहीं होसक्ते। इस प्रकार हे भगवन्! आपने सच्चे नय पमाणोंका स्वरूप दिखाकर दुर्नयका मार्ग रोक दिया है। इस प्रकार इस काव्यका अर्थ पूर्ण हुआ।

इदानीं सप्तद्वीपसमुद्रमात्रो लोक इति वादूकानां तन्मात्रलोके परिमितानामेव सत्त्वानां सम्भवात् परिमितात्मवादिनां दोषदर्शनमुखेन भगवत्प्रणीतं जीवाऽनन्त्यवादं निर्दोषतयाऽभिष्टुवन्नाह।

अब जो केवल सातद्वीपसमुद्रप्रमाणही लोक मानते हैं उनको इतने बड़े लोकमें परिमित जीव ही संभव होसक्ते है इसलिये जीवोंकोभी अक्षय अनंत न मानकर परिमित ही मानना पड़ता हैं सो उनके माननेमें दोष दिखाते हुए आचार्य इस बातकी स्तुति करते हैं कि हे भगवन्! आपने जो जीवोंको अनंतो बताये हैं वही बताना निर्दोष है।

**मुक्तोऽपि वाऽभ्येतु भवं भवो वा भवस्थशून्योऽस्तु मितात्मवादे।**
**षड्जीवकायं त्वमनन्तसंख्यमाख्यस्तथा नाथ यथा न दोषः॥ २९॥**

**मूलार्थ**—संख्यातमात्र ही जीवोंको माननेवालोंके मतमें या तो मुक्त हुआ जीव फिरसे इसी संसारमें आफसता मानागया होगा या यह संसार किसी दिन मुक्तिमें जीव सदा चलते जाते हैं इसलिये जीवोंसे खाली होजायगा। **भावार्थ**—यह दोष दूसरोंके मतोंमें ही संभव है। हे भगवन्! आपने जीवोंके छह मूल भेद बताकर एक एक भेद की अपेक्षा जीवोंकी संख्या अक्षयानंत बताई है इसलिये यही उपदेश ऐसा है जिसमें किसी प्रकारसे भी दोष नहीं है।

**व्याख्या**—मितात्मवादे संख्यातानामात्मनामभ्युपगमे दूषणद्वयमुपतिष्ठते। तत्क्रमेण दर्शयति। मुक्तोऽपि वाऽभ्येतु भवमिति। मुक्तो निर्वृतिप्राप्तः। सोऽपि वा (अपिर्विस्मये। वा शब्द उत्तरदोषापेक्षया समुच्चयार्थः। यथा देवो वा दानवो वेति।) भवमभ्येतु संसारमभ्यागच्छतु। इत्येको दोषप्रसङ्गः। भवो वा भवस्थशून्योऽस्तु। भवः संसारः। स वा भवस्थशून्यः। संसारिभिर्जीवैर्विरहितोऽस्तु भवतु। इति द्वितीयो दोषप्रसङ्गः।

**व्याख्यार्थ**—आत्माओंको परिमित माननेवालोंने जो जीवोंको संख्यात ही माना है उसमें दो दोष आसक्ते हैं। उन दोनों दोषोंको क्रमसे दिखाते हैं। पहिला दोष तो यह है कि मुक्तिको प्राप्त हुआ जीव भी फिरसे संसारमें आफसेगा। यहांपर 'मुक्तोपि'

स्वरूप है। परिमित होनेसे किसी समय जब सभी जीव इस संसारसे निकलकर मुक्त होनेवाले हैं तब तो अगला यह संसार उनसे रिक्त कहना पड़ेगा। क्योंकि; उत्तर देनेका दूसरा कोई मार्ग ही नहीं है।





**मुक्तैर्या पुनर्भवे आगन्तव्यम्। न च क्षीणकर्मणां भयाधिकारः "दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः। कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः" इति वचनात्।**

जो संसारका खाली होना भी नहीं मानते तथा जीवोंको परिमित ही मानते है उनको मुक्त हुए जीवोंका संसारमें फिरसे लौटना मानना चाहिये। परंतु यथार्थमें विचार किया जाय तो जो कर्मोंका नाश करके मुक्त होगये हैं वे फिर संसारमें नहीं आसकते हैं। क्योंकि; उनके यहां आनेका कारण कोई बाकी नहीं रहा है। संसारमें भ्रमानेके कारण कर्म हैं सो वहां उन कर्मोंका सर्वथा नाश होचुका है। कहा भी है कि "जिस प्रकार कोई बीज जो उपजानेका कारण है यदि सर्वथा जलजाय तो फिर उससे अंकुर नहीं उगसकता है उसी प्रकार यदि कर्मरूपी बीज जो कि संसारकी उत्पत्तिका कारण है, सर्वथा दग्ध होजाय तो फिर उससे जीवमें संसाररूपी अंकुर नहीं निकल सकता है"।

**आह च पतञ्जलिः "सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः" इति। एतट्टीका च "सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति, नोच्छिन्नक्लेशमूलः। यथा तुषावनद्धाः शालितण्डुला अदग्धबीजभावाः प्ररोहणसमर्था भवन्ति नाऽपनीततुषा दग्धबीजभावा वा। तथा क्लेशावनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति; नाऽपनीतक्लेशो न दग्धबीजभावो वेति। स च विपाकस्त्रिविधो जातिरायुर्भोगः" इति।**

वैदिक योगमतके प्रवर्तक पतंजलिने भी कहा है कि "मूल कारण रहनेपर ही जाति, आयु तथा भोग होते है। ये जाति, आयु, भोग उसी मूल कारणके विपाकरूप हैं"। इसकी टीका इस प्रकार है कि "जबतक क्लेश रहते हैं तभीतक कर्मोंकी शक्ति अपना विपाकफल देसकती है। जब क्लेशरूप मूल कारणका उच्छेद होजाता है तब कर्मोंका विपाकफल नहीं होसकता। जिस प्रकार शाली चावलोंपरसे जबतक ऊपरका तुष नहीं उतार दिया जाता है तभीतक उनमें बीजपना बनारहता है और बोनेपर वे उपज सकते हैं परंतु जब उनके ऊपरसे तुष उतार दिया जाय तो बीजपनेका नाश होजानेसे वे उपज नहीं सकते हैं। उसी प्रकार

[illegible] [illegible] [illegible] थी है [illegible] [illegible] [illegible] है, [illegible] [illegible] [illegible]
हो जाता है [illegible] नहीं [illegible] । इस [illegible] है, [illegible] वायु तथा [illegible] ।

[illegible] "[illegible]" इत्यादि [illegible]-
[illegible] । [illegible] [illegible]-
[illegible]— ।

[illegible] (अग्निने) भी ऐसा ही कहा है कि [illegible] है उसकी [illegible] भी
[illegible] नहीं है" । [illegible] (चोटी) [illegible]
[illegible] । [illegible] है ।
"[illegible] । [illegible] है । [illegible] । [illegible]
[illegible] और [illegible] है कि [illegible]
[illegible] नहीं [illegible] है ।

अजीवन् [illegible] इति [illegible] । [illegible] "[illegible]-
[illegible]" इति [illegible] । [illegible]-
[illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible]-
[illegible] । [illegible],
यथा [illegible] न [illegible], न [illegible] । [illegible]
[illegible] । '[illegible]' इति [illegible] सिद्धिः । [illegible]-
[illegible] ।

[illegible] भी [illegible] है [illegible] भी [illegible]
[illegible] है । [illegible] श्री [illegible] है ।

" संघे शऽनूर्वे " इस व्याकरणसूत्रके अनुसार ' चि ' धातुके आगे 'घञ्' प्रत्यय होनेसे तथा 'च' को 'क' करदेनेसे काय शब्द बनजाता है। कायका अर्थ समूह होता है। ऊपर कहे हुए जीवोंके समूहोंको जीवकाय कहते है। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति ये पांच स्थावर तथा त्रस ऐसे छह कायोंके जीवोंके समूहको षड्जीवकाय कहते हैं। व्याकरणमें जहांपर समूह अर्थ लेकर अनेक शब्दोंका समास (संग्रह) दिखाया है वहांपर ऐसा कहा है कि पात्रशब्दादि बहुतसे ऐसे शब्द है जो सामासमें नपुंसक-लिङ्ग ही होजाते है। उन्ही पात्रादि शब्दोंमें षड्जीवकाय शब्दको मानकर यहांपर नपुंसकलिंगी 'षड्जीवकायं' ऐसा कहा है। अथवा समूह अर्थमें समास न करके इस प्रकारसे समास करनेपर शब्द पुल्लिङ्ग ही बना रहेगा कि छह जातके जीवोंका जो प्रत्येक संघात है उसको षड्जीवकाय कहते है। पुल्लिङ्गी रहनेसे यद्यपि 'षड्जीवकायाः' ऐसा होना चाहिये परंतु इस श्लोकमें वह शब्द कर्मकारकरूप रक्खागया है इसलिये पुल्लिङ्ग होनेपर भी कर्मकारकमें 'षड्जीवकायं' ऐसा कहागया है। जब शब्द जातिवाचक माने जाते है तब वे एक वचनांत ही रक्खे जाते हैं। यहांपर भी जातिकी अपेक्षा ही 'षड्जीवकायं' ऐसा एकवचनान्त कहा है। सारांश—जीवोंको परिमित माननेमें संभव जो दोष है वे तथा और भी अनेक दोष जिस प्रकार वर्णन करनेसे नही आसकते उस प्रकारसे आपने जीवोंका वर्णन किया है। आङ्पूर्वक ख्या धातुके आगे अङ् प्रत्यय लगानेसे भूतकालके अर्थमें 'आख्यः' ऐसा क्रियापद बनता है। 'त्वम्' शब्दको एक वचनान्त रखनेसे यह अभिप्राय प्रकट होता है कि ऐसे निर्दोष उपदेश करनेका सामर्थ्य एकमात्र त्रिजगद्गुरुका ( आपका ) ही है; न कि अन्य भी धर्मों या मतोंके उपदेश करनेवालोंका।

**पृथिव्यादीनां पुनर्जीवत्वमित्थं साधनीयम्। यथा सात्मिका विद्रुमशिलादिरूपा पृथिवी; छेदे समानधातूत्थानाद्भोऽङ्कुरवत्। भौममम्भोऽपि सात्मकं क्षतभूसजातीयस्य स्वभावस्य सम्भवात् शालूरवत्। आन्तरिक्षमपि सात्मकम्; अभ्रादिविकारे स्वतः सम्भूय पातात् मत्स्यादिवत्।**

छह कायके जीव बताते हुए अर्हंतने जो पृथिवीजीवादिक जीव कहे है उनकी सिद्धि इस प्रकारसे करनी चाहिये कि जैसे मूंगा पाषाणादि जो पृथिवी है वह सजीव है। क्योंकि; जैसे काटनेपर डाभमें अंकुर उपज आता है उसी प्रकार इसको भी काटनेपर इसमें पहिलेके समान मूंगा या पाषाणादि फिरसे उग आते हैं। इसी प्रकार भूमिका जल भी सजीव है। क्योंकि; भूमिके जलका





१ दर्भोऽङ्कुरवत्, इति द्विर्नास्त्यनुकलाक्षः।

क्योंकि; बाध उसीका नाम है जो अप्रामाणवादी न हो। दो इन्द्रियवालोंको आदि लेकर कृमि, चींटी, भ्रमर, मनुष्यादिक जो त्रस जीव हैं उनमें तो जीव मानना किसीको अनिष्ट ही नहीं है। इस प्रकार जिनको जिनेन्द्रदेवने जीव कहा है उन सबोंमें जीवपना अच्छी तरह सिद्ध होता है।

**यथा च भगवदुपक्रमे जीवाऽनन्त्ये न दोषस्तथा दिग्मात्रं भाव्यते। भगवन्मते हि षण्णां जीवनिकायानामेतदल्पबहुत्वम्। सर्वे स्तोकास्त्रसकायिकाः। तेभ्योऽसंख्यातगुणास्तेजःकायिकाः। तेभ्यो विशेषाधिका पृथ्वीकायिकाः। तेभ्यो विशेषाधिका अप्कायिकाः। तेभ्यो विशेषाधिका वायुकायिकाः। तेभ्योऽनन्तगुणा वनस्पतिकायिकास्ते च व्यावहारिका अव्यावहारिकाश्च।**

अब जिनेन्द्रने जो जीवोंका उपदेश अनंतरूपसे किया है उसमें किसी प्रकारका दोष जैसे नहीं आवे उसी प्रकारसे कुछ दिखाते हैं। भगवत्ने छहो कायोंके जीवोंमें परस्पर इस प्रकार संख्याकी हीनाधिकता कही है कि—सब कायोंसे थोड़े त्रस कायके जीव हैं। उनसे असंख्यात गुणे अधिक अग्निकायिक जीव हैं। उनसे अधिक पृथिवीकायिक हैं। पृथिवीकायिकोंसे कुछ अधिक जलकायिक हैं। जलकायिकोंसे कुछ अधिक वायुकायिक हैं। उनसे अनन्तगुणे वनस्पतिकायिक हैं। ये वनस्पति कुछ तो व्यवहारराशिमें रहनेवाले हैं और कुछ व्यवहारराशिसे भिन्न निगोदनामक राशिमें बसरहे हैं।

**"गोला य असंखिज्जा असंखणिग्गोय गोलओ भणिओ। इक्किक्कणिगोयम्हि अणन्तजीवा मुणेयव्वा। १। सिज्झंति जत्तिया खलु इह संववहारजीवरासीदो। एंति अणाइवणस्सइरासीदो तत्तिआ तत्थि। २।" इति वचनात् यावन्तश्च यतो गच्छन्ति मुक्तिं जीवास्तावन्तोऽनादिनिगोदवनस्पतिराशेस्तत्रागच्छन्ति।**

"गोल असंख्याते हैं और एक एक गोलमें असंख्याते निगोद हैं। तथा एक एक निगोदमें अनंते अनंते जीव मानने चाहिये। १। व्यवहार राशिमेंसे जितने जीव मुक्त होजाते हैं उतने ही जीव अनादि निगोद नामक वनस्पतिराशिसे निकलकर व्यवहारराशिमें आजाते हैं। २।" इस वचनके अनुसार जितने जीव व्यवहारराशिसे मोक्षको जाते हैं उतनोंका

१ गोलाश्च असंख्याताः असंख्यनिगोदः गोलः भणितः। एकैकस्मिन् निगोदे अनन्तजीवाः ज्ञातव्याः। १। सिध्यन्ति यावन्तः खलु इह संव्यवहारजीवराशितः। आयान्ति अनादिवनस्पतिराशितः तावन्तः तत्रैव। २। इति छायाः।

[illegible] निगोदजीवोंके स्वरूपका निरूपण करते हैं। गाथार्थ—आगमोंमें जो वेद हैं, पदोंका समूह वेदक है। फिर वेदकोंका एक समूह होता है। उन सबमें जीवोंका एक ही आधार है, एक ही आधारका आश्रय है उसको आगमज्ञ कहा है। असंख्यातोंके असंख्यात भेदों वाली वेदकोंकी संख्या कही गयी है। आगमोंका प्रमाण अब निगोद है। वे निगोद दो प्रकारके हैं, नित्य इतर भेद। जो जीव अब तक निकले हैं निकलते हैं उनको नित्यनिगोद कहते हैं। नित्यनिगोदसे निकलकर आकर जो फिर निगोदादिमें जन्म लेते हैं उनको इतर निगोद कहते हैं। नित्य और इतर निगोदोंके अतिरिक्त जितने जीव हैं उनके आधार प्रतिष्ठित कहते हैं और जो निगोदोंके आश्रित हैं उनको अप्रतिष्ठित जीव कहते हैं। नित्य और इतर निगोदोंके एक एक भेद और भी होते हैं। देव नारकी तिर्यंच एवं पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवोंके आश्रय रहते हैं। उन्हींको निगोद कहा है।

न च तत्रासंख्यातानां कायस्थितिरेवेति नियमेनोत्पत्तिरेवाभ्युपगन्तव्या, अनभ्युपगमे कृतहानिप्रसङ्गात्। निगोदस्थितेश्च असंख्यातलोकमात्रत्वात्। यत्रायुष्कमेकमुत्पन्नं ते चोत्पित्सवो वर्तन्ते। निर्वर्तन्ति निर्वृत्तास्तिष्ठन्ति च ते निगोदनामानमाधारमाश्रित्य। न चैवं सर्वेषां सुखानां भवप्रत्ययत्वप्रसङ्गः। कर्म च संसारस्य निमित्तमाश्रयिष्यमाणं नियमेन पौद्गलिकमनुपचरितमभ्युपगन्तव्यम्। तथा चोक्तं वाचकेन "अत्र एव च विद्वद्भिः गुणप्रधानतेषु प्रत्यक्षादि। सङ्ख्याप्रमाणभेदाधारकृत्स्नता। १। आदिमध्यान्तभेदाभावाप्रदेशत्वं। २। अविभागपरिच्छेदेषु तु मूल नेषामसंख्या। ३ ४।" इति सूत्रार्थः।

इस प्रकार निगोदोंमें गए निकले हुए जीवोंका भी निगोद जैसा स्थान नहीं होगा ऐसे है। क्योंकि, उनका आश्रय अवश्य है। इसलिए सारा संसार एक ओरसे निगोद जीवोंसे व्याप्त समझना चाहिये। जितने जीव अनादिकालसे निकलते चले हैं और असंख्यात लोक प्रमाण निकले होंगे वे सब मिलाकर निगोदोंके असंख्यातवें भागमात्र भी नहीं हुए हैं इसका भी कारण है। इसलिये कुछ कुछ जीवोंको नित्य निगोदसे निकलना बराबर जारी है। अतः अनादिकालसे यह क्रम चलता आया है। शास्त्रकारने कहा है— "इसीलिये संसारी अनंत जीवोंका निगोद दृष्टि होने पर भी अनादि कालसे अनंतका होनेसे कभी अंत नहीं आता है। [illegible] जैसा कहा है

संख्यावरूप परिणाम होता है उसीका किसी समय अंत आजाता है, वही घट जाती है तथा कभी संगति भी होजाती है परंतु जो वस्तु अपरिणेय होती है उसका न तो कभी अंत ही आता है, न वह घटती ही है और न कभी संगति ही होती है । २ ।" इस प्रकार इस श्लोकका अर्थ पूर्ण हुआ ।



**अधुना परदर्शनानां परस्परविरुद्धार्थसमर्थकतया मत्सरित्वं प्रकाशयन् सर्वज्ञोपज्ञसिद्धान्तस्याऽन्योन्यानुगत-सर्वनयमयतया मात्सर्याऽभावमाविर्भावयति ।**

अब यह दिखाते हैं कि जितने अन्य दर्शन हैं वे सब एक दूसरेसे विरुद्ध अर्थको कहनेवाले होनेसे एक दूसरेसे द्वेष रखते हैं और अर्हन् सर्वज्ञ देवका कहा हुआ दर्शन सापेक्ष होकर विचारनेपर परस्पर सब दर्शनोंसे मिलता हुआ है इसलिये इसमें मत्सरभावका नाम भी नहीं है ।

**अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद् यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः ॥**
**नयानशेषानविशेषमिच्छन् न पक्षपाती समयस्तथा ते ॥ ३० ॥**

**मूलार्थ**–जिस प्रकार अन्य दर्शनोंका यह हमारा पक्ष है तथा यह विरुद्ध पक्ष है ऐसा दुराग्रह होनेसे अन्य दर्शन मत्सरभाव रखते हैं उस प्रकार आपके दर्शनमें मत्सरभाव नहीं है । क्योंकि; संपूर्ण नयोंको या परस्पर विरुद्ध विचारोंको आप अपेक्षावश एकसमान देखते हैं ।

**व्याख्या–प्रकर्षेणोच्यते प्रतिपाद्यते स्वाभ्युपगतोऽर्थो यैरिति प्रवादाः । यथा येन प्रकारेण परे भवच्छासनाद-न्ये प्रवादा दर्शनानि मत्सरिणः, अतिशयेन मत्सर्थीयविधानात्सातिशयाऽसहनताशालिनः क्रोधकषायकलु-षितान्तःकरणाः सन्तः पक्षपातिन इतरपक्षतिरस्कारेण स्वकक्षीकृतपदव्यवस्थानप्रवणा वर्तन्ते ।**

व्याख्यार्थ—अपने दृढ अर्थका जिनमें प्र अर्थात् अत्यंत, वाद अर्थात् प्रतिपादन किया जाता हो उनको प्रवाद कहते हैं । मत या दर्शनको प्रवाद कहते हैं । जिस प्रकार आपके मतके सिवाय अन्य मत परस्परमें ईर्ष्या द्वेष रखते हैं उस प्रकार आपके मतमें किसीके साथ भी द्वेषभाव नहीं है । मत्सरी बनकर जो मूल श्लोकमें है उसमें मतु प्रत्ययके अर्थवाला इन् प्रत्यय अतिशय



१ 'उस प्रकार' इत्यादि वचन, संबंध मिलानेके लिये लिखा है।

[illegible] है ।
अर्थात्— [illegible] रहा है ।

[illegible] इत्यादि— [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] ।

[illegible] है । [illegible] है । अर्थात्— [illegible] है । [illegible] है । [illegible] है । [illegible] है । [illegible] है । [illegible] चाहिये ।

[illegible] "[illegible]" [illegible] । [illegible] ।

इस प्रकारसे जैसा इन अन्य दर्शनोंमें परस्पर पक्षप्रतिपक्षके दुराग्रहसे द्वेष होरहा है वैसा तुम्हारे समयमें अर्थात् दर्शनमें नहीं है। जिसके जाननेसे शब्दका अर्थ ठीक ठीक जानाजाय उसको समय कहते हैं। यहांपर 'सम्' पूर्वक 'इ' धातुका उपर्युक्त अर्थकी विवक्षामें 'पुंनामि घञ्' इस व्याकरणके सूत्रकर समय शब्द बना है। ऐसा विग्रह करनेपर समयका अर्थ संकेत होता है। अथवा सम्यक् अर्थात् जैसेके तैसे जीव अजीवादि पदार्थ जिसके द्वारा जाने जासकते हैं उसको समय कहते हैं। ऐसी विवक्षा होनेपर समय शब्दका अर्थ सिद्धांत होता है। अथवा जीवादि पदार्थ जिसमें यथावत् कहे हों अर्थात् अपने अपने स्वरूपमें स्थिति पाते हुए जिसमें वर्णन किये हों उसको समय कहते हैं। ऐसा अर्थ लेनेपर समय शब्दका अर्थ आगम है।

**न पक्षपाती नैकपक्षानुरागी। पक्षपातित्वस्य हि कारणं मत्सरित्वं परमतादेरुक्तम्। स्वसमयस्य च मत्सरित्वाऽभावान्न पक्षपातित्वम्। पक्षपातित्वं हि मत्सरित्वेन व्याप्तम्। व्यापकं च निवर्तमानं व्याप्यमपि निवर्तयतीति मत्सरित्वे निवर्तमाने पक्षपातित्वमपि निवर्त्तते इति भावः। 'तव समयः' इति वाच्यवाचकभावलक्षणे सम्बन्धे षष्ठी।**

यह आपका समय पक्षपाती नहीं है अर्थात् किसी एक पक्षमें अनुराग नहीं करता है। पक्षपाती होनेका कारण मत्सर भावका होना है। वह मत्सरभाव अन्य वादियोंमें ही है। आपके समयमें मत्सरभाव न होनेसे पक्षपात भी नहीं है। मत्सरभाव होनेसे ही पक्षपात होता है। इसीको न्याय शैलीसे ऐसा कहसकते हैं कि मत्सरभाव व्यापक है और पक्षपात व्याप्य है। जहांपर व्यापक अर्थात् बहुदेशव्यापी धर्म नहीं रहता है, वहांपरसे उसी व्यापकके अन्तर्गत रहनेवाला व्याप्य धर्म भी अवश्य निवृत्त होजाता है। इसलिये मत्सरभाव छूट जानेपर पक्षपात तो अवश्य ही निवृत्त होजाना चाहिये। संस्कृतमें जितने शब्द बोलेजाते हैं वे किसी न किसी विभक्तीको लगाकर ही बोले जाते हैं ऐसा नियम है। 'तव समयः' अर्थात् तुम्हारा समय यहांपर जो 'तव' शब्द बोलागया है वह भी षष्ठी विभक्ती जोड़नेसेही बनता है। षष्ठी विभक्ती किसी न किसीका संबंध होनेपर होती है। यहांपर 'तव' शब्दमें भी वाच्यवाचकरूप संबंध होनेसे षष्ठी विभक्ती हुई है। अर्थात् समय तो आपकर कहागया है इसलिये वाच्यरूप है तथा आप उसके वक्ता होनेसे वाचक हैं। इस प्रकार 'तव' और 'समय' इन दोनों शब्दोंमें वाच्यवाचकभाव संबंध होनेसे तव शब्द षष्ठीविभक्त्यन्त है।

**सूत्रापेक्षया गणधरकर्तृकत्वेऽपि समयस्यार्थापेक्षया भगवत्कर्तृकत्वाद्वाच्यवाचकभावो न विरुध्यते "अत्थं भासइ**

समवाय शब्दो गच्छति गणवाचा विशेषणं इति वचनात्। अथवा समवायोऽवयवीत्यवयवाः समवायः। तेषां च समवायस्य वाक्यस्यान्वयाभिधानात्; तथा चाहुः "वाक्यस्थो हयर्थ विभागे सति पदेषु इति" इत्यादिना॥

दे ।।४४२।। यूपोकि स्थान करेछ। कर्ता यदि देहधारण की गमपाटेछ हो कार्य है जो असंख्य पाप गढ़े हैं और चारक्ष बनेहेतु तुर लर्छेछे गाकड़ाकले हो पट्ट अन पूर्वोरे लिख कर्तव्य बनेल है यह अर्थ अपने ही चलती दिव लिखिया गढ़ा-छि लिख ये छ ध्रुपिछे पवर्गमे चपथ चुमध्यो ऊन्नाजास ऐ सब ही है। इस सकल चारके साथ सुमध्यम अभिधानकलाप संख्य फलाग अनुचित नहीं है। येना कहा भी है कि "अर्थका लक्षिनोद तो व्यंग्य वेचनी ही करते हैं किन्तु यूपोकि सपना चलती विशुद्ध पढ़िछे समवायेव अनेते हैं"। अथवा उन्नाल अब फैल्पके गाथो ही पुरुष चढ़ाकरते हैं। यहां अन्वय शब्द विशेष समवायके साथ अपनी गुरुता चढ़ाकर कहा ही है। आर्य वाक्य ने देख लिखा है कि "चलक की होना है लिंगए ।।। होता है एक प्रेत भी सरता है"। इसलिये समवाय समवाय् गोत्रसंघ शब्द अन्वयकलाप शब्द अनंतर कुछ दोष नहीं है।

अस्मिन्विशाऽवयवसंग विशेषणात्तावेव गार्ग्यालिति भेदाभेदानविशेषसंसर्गम्' इति। अयोपात् कुमरात्, नवान् नैकमादीन्, नगिनेषे निर्दिशेष वथा मवन्त्यमिषलक्षाकाङ्क्षन्, सर्वनपाऽसम्भवानेकत्वादयः वथा विशाङ्गितान् कुन्धगोधिनसंफपूजाऽन्नुन्मूलाद्यं द्वारव्यपदेश एण पृथक्संसर्गाभ्यां गवता व्यावृत्तव्यपदेशनुपयोगात् अवयवाकलक्षणालक्षणेश इति। अनु पदेषु नवानां विस्तरे यव क्षुद्दिनानां निर्दिशेषिता? नव्यते। अथवा विशेषीभाव गाथस्य न्यायनिर्वेशावमाणाय पदेषव गिरावमाना अपि यावियो विशादाद्विरमन्ति यदं वथा अन्योऽन्य वेदावन्तरः अनि छापेछे श्वासनगुरोल्ल सगच्छन्त्यपयोकोन्त्र गिरविपत्तिरक्षकः छन्दः पक्षपक्षगाथगसूत्रसूत्रपा-ऽवनिपन्ने।

'समासेऽनाशीरोगिन्' इत्र पतञ्जलि अन्यथा व्याख्या करते हुए ही पतञ्जलि देख सकते हैं कि अन्तरे गमाना नहीं है। कहने लगादि गवेषो केवल समस्त पदिने वाल गढ़ते हैं। क्योंकि; चारक गमन संयोगात्मक है और अभेदान्वय स्वीके पक्षपाती कहते हैं। जिस पदार्थ जिसमें हुए तोसिलोगो यह गुणों विशेषसंसर्गो हुन्न व्यवहार है उसी प्रकार जिस पदे हुए नगरक सेसिलोगो लक्षाकाली एक कुलों सिलोकेमेरे लक्षणी 'कुलगाला' संज्ञा होगाली है। अंतः- यदि वर्णक्य नव

भिन्न भिन्न रहनेपर विरोधी है तो सबोंको मिलादेनेपर भी विरोध कैसे मिट सकता है ? उत्तर—जिस प्रकार परस्पर विवाद करते हुए वादियोंको यदि कोई मध्यस्थ युक्तिपूर्वक निर्णय करनेवाला मिलजाता है तो वे विवाद छोड़कर शांत होजाते हैं उसी प्रकार नय भी परस्परमें शत्रुता धारण करते हैं परंतु जब सर्वज्ञ देवका शासन पाकर स्यात्शब्दके मिल जानेसे परस्परका विरोधभाव छोड़कर शान्त होजाते हैं तब वे ही नय परस्परमें अत्यंत मैत्रीभाव धारणकरके ठहरजाते हैं।



**एवं च सर्वनयात्मकत्वे भगवत्समयस्य सर्वदर्शनमयत्वमविरुद्धमेव नयरूपत्वाद्दर्शनानाम्। न च वाच्यं तर्हि भगवत्समयस्तेषु कथं नोपलभ्यत इति; समुद्रस्य सर्वसरिन्मयत्वेऽपि विभक्तासु तास्वनुपलम्भात्। तथा च वक्तृवचनयोरैक्यमध्यवस्य श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादाः "उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः। न च तासु भवान्प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः"।**

इस प्रकार हे भगवन्! आपका दर्शन सर्व नयस्वरूप होनेसे संपूर्ण दर्शनोंसे अविरुद्ध है। क्योंकि; एक एक नयस्वरूप ही संपूर्ण दर्शन हैं। ऐसा होनेसे ऐसी शंका होना सहज है कि यदि भगवत्का दर्शन संपूर्ण दर्शनस्वरूप है तो वह संपूर्ण भिन्न भिन्न दर्शनोंमें क्यों नहीं दीखता ? परंतु यह शंका ठीक नहीं। क्योंकि; संपूर्ण नदियोंका समूह ही समुद्र है परंतु भिन्न भिन्न बहती हुई नदियोंमें वह नहीं दीखता है। बोलनेवालेमें तथा उसके वचनोंमें परस्पर अभेदभाव मानकर श्रीसिद्धसेन दिवाकर भी ऐसा ही कहते हैं कि "यद्यपि जिस प्रकार संपूर्ण नदियां समुद्रमें मिलती हैं उसी प्रकार संपूर्ण दर्शन आपके दर्शनमें तो मिलते हैं परंतु तो भी जिस प्रकार भिन्न भिन्न रहनेवाली नदियोंमें समुद्र नहीं दीखता उसी प्रकार आप का दर्शन भी उन भिन्न भिन्न दर्शनोंमें नहीं दीखता।

**अन्ये त्वेवं व्याचक्षते 'यथा अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावात्परे प्रवादा मत्सरिणस्तथा तव समयः सर्वनयान्मध्यस्थतयाऽङ्गीकुर्वाणो न मत्सरी। यतः कथंभूतः ? पक्षपाती। पक्षमेकपक्षाभिनिवेशं पातयति तिरस्करोतीति पक्षपाती रागस्य जीवनाशं नष्टत्वात्।' अत्र च व्याख्याने मत्सरीति विधेयपदं, पूर्वस्मिंश्च पक्षपातीति विशेषः। अत्र च क्लिष्टाऽक्लिष्टव्याख्यानविवेको विवेकिभिः स्वयं कार्यः। इति काव्यार्थः।**

कोई इस प्रकार भी इस श्लोकका अर्थ करते हैं कि 'जिस प्रकार अन्य वादियोंके मतोंमें पक्ष प्रतिपक्षका दुराग्रह होनेसे परस्पर मत्सरभाव रहता है उस प्रकार आपका मत सर्वनयस्वरूप होनेसे मध्यस्थ होजानेके कारण मत्सरभाववाला नहीं है। क्योंकि; आपका

यह कथनकी कला अलग है। अर्थात् जो एक पक्षमें गुणकारको कह कर फिर दूसरे अर्थमें उसीसे विपरीत रहित भेदका हो जाना कहा जाता है।' इस लोके व्याख्यानमें यह कहा है कि इस व्याख्यासे 'अनादि-अनन्ते' इत्यादि व्याख्यान किया है सो। यहां व्याख्यामें 'अनन्ते' शब्द विशेषण का। इस देनो व्याख्यानोंमें कौनसा भला है इसका करेगा कहना है ऐसा विचार बुद्धिमानोंको स्वयं करलेना चाहिये। इस प्रकार इस श्लोकका अर्थ पूर्ण हुआ।

इसप्रकार अनिपपक्षार्थनिर्णयकरनेवाले श्लोकमें यथार्थवक्तार्थ गुणाल्लंकृत्व रागादिदोषक्षयार्थाने स्वाभाविकाभ्यां इत्यादिकपूर्वाक्षुणादर्शयतीत्यस्य प्रकरणस्यादिरोधिते स्वनिधाने च यद्वागपरिगमनमयम्।

इस प्रकार मंगल व्याख्यानद्वारा होते हुए ग्रन्थकर्ता श्री समन्तभद्र स्वामीने श्री वीतराग सर्वज्ञ की स्तुति करनेका जो कुछ है उसको पूर्ण करते हैं और व्याख्याके संबंधसे व्याख्येयको। अर्थात् ग्रन्थकर्ता अपनी भक्तिको प्रगट करते हुए अपने इष्टदेवका अभीष्ट सिद्धानेके लिये अपने स्तवनको उपसंहारसे लिखकर समाप्त करते हुए नमस्कार करते हैं।

वाग्वैभवं ते निखिलं विवेक्तुमाशास्महे चेन्मुनीयमुख्य।
स्तोमे जडोल्लासतया समुद्रे यद्वोम चन्द्रद्युतिपानतृष्णाम्॥ ३१॥

शब्दार्थ-हे मुनीश्वरोंमें श्रेष्ठ! हमको आपके संपूर्ण वैभव यदि हम विवेचन करना। चाहें तो उसका कारण यह है कि जैसे समुद्र अपने में अत्यन्त जड़ता होनेसे चन्द्रमाकी किरणोंके पीनेकी इच्छा करता है। भावार्थ—यह अर्थ जड़ा। अलंकार है कि जिस प्रकार समुद्रमें जड़ता। होने पर भी चन्द्रकिरणोंके पीनेकी इच्छा होती है।

व्याकरण—विवेक्तुं धातु वैभवात्। आशास्महे आङ्पूर्वक। स्तोमे पुंलिंग या वैभववाचक शब्दका पर्यायवाची शब्द होनेसे पुंलिंग। जडोल्लासतया यहां तृतीया विभक्ति है। विशेषार्थ इति यहां पर सर्वनामशब्दका विशेषण। विशेषणरूप जो शब्द पूर्वमें कहे हुए शब्दके अनुसार होते हैं उनको। ते शब्द यहांपर निखिलं गुणका विशेषण। विवेक्तुं धातु चेत्यादि पदसमाप्तिपर्यन्त इत्यादि:—।

इत्यादि—'आशास्महे' शब्दका व्याख्यानरूप अर्थ होनेसे क्रिया शब्दका है। जैसे वीप्सा में 'अनन्त विशेषण अर्थात्

व्यापीका जो विभुपना या व्यापीका जो कर्तव्य हो सो भी वैभव कहाता है। क्योंकि; विभु शब्दका प्रचलित अर्थ व्यापी होता है। वचनोंका जो वैभव है उसको वाग्वैभव कहते हैं। वाग्वैभव शब्दका अर्थ वचनरूप संपत्तिकी अधिकता होता है। जब वैभव शब्दका अर्थ विभुका विभुपना करते हैं और विभु शब्दका अर्थ व्यापक मानते हैं तब वाग्वैभव शब्दका अर्थ 'संपूर्ण नयवचनोंमें व्यापकपना' ऐसा होता है। इसका भावार्थ यों है कि आपका संपूर्ण वचनवैभव विचारनेकेलिये यदि हम आशा करें। तो समझना चाहिये कि समुद्रको तरना चाहते हैं इत्यादि।

हे महनीयमुख्य!। महनीयाः पूज्याः पञ्च परमेष्ठिनः। तेषु मुख्यः प्रधानभूतः आद्यत्वात्। तस्य संबोधनम्। ननु सिद्धेभ्यो हीनगुणत्वादर्हतां कथं वागतिशयशालिनामपि तेषां मुख्यत्वम्? न च हीनगुणत्वमसिद्धं; प्रव्रज्याऽवसरे सिद्धेभ्यस्तेषां नमस्कारकरणश्रवणात् "काऊण णमुक्कारं सिद्धाणमभिग्गहंतु सो गिण्हे" इति श्रुतकेवलिवचनात्। मैवम्; अर्हदुपदेशेनैव सिद्धानामपि परिज्ञानात्। तथा चार्षम् "अरहन्तुवएसेणं सिद्धा णज्झंति तेण अरिहाई" इति। ततः सिद्धं भगवत एव मुख्यत्वम्।

महनीय पूज्यको कहते हैं। सो पांचो ही परमेष्ठी पूज्य हैं परंतु उन पांचोंमें सबसे प्रथमके होनेसे आपको उन सबोंसे प्रधान मानकर हे महनीयमुख्य ऐसा संबोधन कहा है। शंका—यद्यपि अर्हन्तोंमें उपदेशका माहात्म्य विद्यमान है परंतु सिद्धोंसे तो भी गुणोंकी अपेक्षा हीन ही हैं इसलिये सर्वोंमें मुख्य कैसे होसकते हैं? दीक्षाके समय वे सिद्धोंको नमस्कार करते हैं इसलिये सिद्धोंकी अपेक्षा गुणोंमें हीनता तो प्रगट ही है। ऐसा श्रुतकेवलियोंका वचन भी मिलता है कि "सिद्धोंको नमस्कार करके वे दीक्षा ग्रहण करते हैं।" उत्तर—अर्हत्केवलीके उपदेशसे ही सिद्धोंका परिचय होता है। ऋषियोंने ऐसा कहा भी है कि "अर्हत्के उपदेशसे ही सिद्ध जान पड़ते हैं इसलिये अर्हन्त भगवान् ही सबसे मुख्य हैं"। इस प्रकार अर्हन् ही सबकी अपेक्षा मुख्य सिद्ध हुए।

यदि तव वाग्वैभवं निखिलं विवेक्तुमाशास्महे ततः किमित्याह लक्षेमेत्यादि। तदा इत्यध्याहार्यम्। तदा



१ यह वाक्यरचना संबंधकी योजनाके लिये ऊपरसे लिया है। २ अर्हन्-जिन्होंने चार घाति कर्म नष्ट करके फिर केवल ज्ञानदर्शन प्रगट किया हो। सिद्ध-अष्टकर्मरहित। आचार्य-दीक्षाके तथा संघके स्वामी। उपाध्याय-जो पढ़ें पढ़ावें। साधु-सामान्य मुनिजन। इनही पांचोंको पंचपरमेष्ठी कहते हैं। ३ श्रुतकी मर्यादा अवधि है पारमार्थिक श्रुतको जाननेवाले साधु श्रुतकेवली कहाते हैं।

अथवा लघु धातुका शोघना अर्थ है तथा जङ्घालताका अर्थ शीघ्रता है। इसलिये 'जङ्घालतया समुद्रं लङ्घेम' का अर्थ ऐसा होना चाहिये कि समुद्रको शीघ्रतासे शोघना चाहते हैं। उल्लंघन करने अर्थमें जो लङ्घि धातु है वह परस्मैपदी नहीं है और 'लङ्घेम' यह शब्द परस्मैपदका ही बनता है इसलिये शोघनार्थक परस्मैपदी 'लघि' धातुका यह शब्द बना हुआ समझना चाहिये। अथवा यदि आत्मनेपद होना अनिष्ट माना जाय तो जिसका उल्लंघन करना अर्थ है ऐसे लङ्घि धातुका भी यह शब्द बनसकता है। इस श्लोकमें यद्यपि 'आशास्महे' इस पदके देखनेसे ज्ञात होता है कि ग्रन्थकर्ता आचार्यने अपने विषयमें उद्धतताका निषेध दिखाते हुए भी अपनेमें बहुवचनका उपयोग किया है परंतु इस बहुवचनसे उद्धतता नहीं झलकती है किंतु यह दीखता है कि जिनेन्द्रकी स्तुति करनेवाले मुझसमान मंदबुद्धि इस जगत्में बहुत हैं। इसलिये उद्धतताकी शंका करना तो उचित नहीं है किंतु उलटा निरभिमानतारूप महत्त्वके ऊपर इस वचनसे पताकाका आरोपण होता है ऐसा समझना चाहिये। भावार्थ—यहांपर बहुवचनान्त क्रियाशब्द कहनेसे निरहंकारताकी और भी विशेषता दीखती है। इस प्रकार इस काव्यका अर्थ पूर्ण हुआ। अबतकके इकतीस श्लोकोंमें उपजाति नामक छन्द है।

**एवं विप्रतारकैः परतीर्थिकैर्व्यामोहमये तमसि निमज्जितस्य जगतोऽभ्युद्धरणेऽव्यभिचारिवचनतासाध्येनाऽन्ययोगव्यवच्छेदेन भगवत एव सामर्थ्यं दर्शयन् तदुपास्तिचिन्यस्तमानसानां पुरुषाणामौचितीचतुरतां प्रतिपादयति।**

इस प्रकार अन्य दर्शनवाले ठगोंके विस्तारित व्यामोहरूपी अन्धकारमें डूबे हुए जगत्का उद्धार करनेमें बाधारहित असाधारण कारणरूप आपके ही वचनोंसे अन्य मतोंका निराकरण होसकता है इसलिये हे भगवन्! आपका ही ऐसा उद्धार करनेमें सामर्थ्य है ऐसा दिखाते हुए हेमचन्द्राचार्य यह कहते हैं कि इसलिये आपकी उपासना करनेमें जिन्होंने मन लगा रक्खा है वे पुरुष ही अपने कर्तव्यमें चतुर समझने चाहिये।



**इदं तत्त्वाऽतत्त्वव्यतिकरकरालेऽन्धतमसे**
**जगन्मायाकारैरिव हतपरैर्हा विनिहितम्।**

तदुक्तम्—शास्त्रीः नियतमविसंवादिवचन—

स्त्यमेवातस्तात्स्त्यपि कृतसमयाः कृतधियः ॥ ३२ ॥

पृष्ठार्थ—अर्थ है कि इन्द्रियों आदिसे जनक भाव इन्द्रियादिकोंके ज्ञान जनकपना नीलादि होनेसे पश्चात् होने अर्थपरिणति वह आत्म व्यवस्था है सो इस व्यवस्था करनेवालेके भाव ही समर्थ हैं। पाणिनि पाठके कर्ता पिशलादिक हैं. हे शाकटायन प्रभृति। इसलिये बुद्धिमान् लोग आपकी सेवा करते हैं।

व्याकरण—इदं सकलशेषपदप्रधानं आत्मनेपदम्। व्याधारावाक्यपद्धती उक्तम्। [इदं व्याधारा ये परे वैयाकरणा इति] व्याधाकारेणेन्द्र इत्यादिकेन [व्याधारीश्वरयोगविभागैरित्येवं यत्पदम्] अन्यगुरुत्वे लिखितव्याधकारे [या श्रुति लेखे] लेखनिहित विरोधेन निर्मितं स्यादिति यादिभिरिलर्थः। अन्यैः कतीरीत्यत्वपरि। अन्यथरीयमन्यात्। अथ तत्समभेदसम्बन्धेषणात्। "समवायोवाक्यगाः" इत्यमरसंज्ञा। शास्त्रैकदेशत्वमसे। व्याधेषूत्पन्नपरामर्शे यदि। इत्यादिप्रकारान्यपदार्थमादाय—वस्तुतस्तत्त्वपरिकल्पकरोति।

पदार्थार्थ—यह, अर्थात् पहला शीघ्रता युक्त विधि। लेखकके अभ्यासके लिये शीघ्र चलनेको कहता है। अर्थात् इस कहने से और पत्र अर्थात्वनीसे यहांतक यह पढ़ा है इसलिये इस शब्द का अभ्यासके लिखनेको इतना काल व्यतीत है। चीन्द्र और लिखनेवाले आदिकोंको पत्राकार कहते हैं। 'तु' शब्द शेष अर्थको कहता है। इसलिये ऐसा अर्थ होना चाहिये कि पहले दीर्घसे हृस्व और दीर्घ अक्षरोंके उच्चारणके प्रमाण करना। परंतु कायस्थके आगम करने वर्णनवालोंने, शेष है कि, अक्षरोंके लिखने करनेमें गर्भित शब्द किया है। जो अंग बनाये लेखने की चाहे करते हैं। जैसा पाणिनीयोंने तो कहा है यह अनावश्यक कहना है। यहांपर भाष्यकार पूर्व सूत्रोंका अर्थ बनाए करके लेखों प्रकार लिखनेसे "समवायोवाक्यगाः" इस सूत्रसे यह संबंध होता है और यह पत्रका अवयवोंके आश्रय रहनेवाला समवाय संबंध है। इस वाक्यार्थको लेकर अन्य व्याकरणके ग्रंथोंमें कहे हैं कि यह वाक्यका भेद है कि जो पत्र अवयवोंके विषय होनेसे पदार्थ होता है।

अथवा वाक्यार्थ च तत्स्थावस्थे। अथो ऐहिकीको अविद्यीगुरा यथामिषयः स्वभावप्रतिनिधपक्षभाष्टलक्षणविकल्पः।

तेन कराले भयङ्करे । यत्रान्धतमसे तत्त्वेऽतत्त्वाभिनिवेशोऽतत्त्वे च तत्त्वाभिनिवेश इत्येवंरूपो व्यतिकरः संजायत इत्यर्थः । अनेन च विशेषणेन परमार्थतो मिथ्यात्वमोहनीयमेवान्धतमसं तस्यैवेदृक्षलक्षणत्वात् । तथा च ग्रन्थान्तरे प्रस्तुतस्तुतिकारपादाः "अदेवे देवबुद्धिर्या गुरुधीरगुरौ च या । अधर्मे धर्मबुद्धिश्च मिथ्यात्वं तद्विपर्ययात्" । ततोऽयमर्थो—यथा किलैन्द्रजालिकास्तथाविधसुशिक्षितपरव्यामोहनकलाप्रपञ्चास्तथाविधौषधीमन्त्रहस्तलाघवादिप्रायं किंचिदुपयुज्य परिपञ्जनं मायामये तमसि मज्जयन्ति तथा परतीर्थिकैरपि सादृक्प्रकारदुरधीतकुतर्कयुक्तीरुपदिश्य जगदिदं व्यामोहमहान्धकारे निक्षिप्तमिति ।

स्या.जै.श.

तत्त्व अतत्त्वके मिलजानेसे तत्त्वातत्त्व शब्द होता है । इन तत्त्वातत्त्वोंका व्यतिकर अर्थात् इनके स्वभावका फेरफार होजानेसे यह अन्धतमस भयंकर होरहा है । इस अन्धतमसके होनेसे तत्त्वमें अतत्त्वका अभिनिवेश और अतत्त्वमें तत्त्वका आग्रह उत्पन्न होता है । अर्थात् इस पूर्वोक्त प्रकारसे बुद्धिकी विपरीतता होजाती है । इस विशेषणके कहनेसे यथार्थ विचारा जाय तो मिथ्यात्वमोहनीय नामक कर्म ही अन्धतमस है ऐसा मालूम पड़ जाता है । क्योंकि; उसीका ऐसा स्वरूप कहागया है । सोई स्तुतिकर्ता श्रीहेमचन्द्राचार्यने स्वयं एक दूसरे ग्रन्थमें कहा है "अदेवको देव मानना, अगुरुको गुरु मानना तथा अधर्मको धर्म मानना ही मिथ्यात्व है । क्योंकि; यह मानना विपर्यय है और विपर्ययको ही मिथ्यात्व कहते हैं" । इससे यह अभिप्राय स्पष्ट हुआ कि; अन्य लोगोंको व्यामोहित करनेवाली नाना कला जिन्होंने सीखी है ऐसे जादूगर, जिससे मनुष्य मोहित हों ऐसे मंत्र औषधि या हाथ की सफाई आदि कुछ दिखाकर जिस प्रकार दर्शक लोगोंको मायामयी अंधकारमें पटक देते हैं उसी प्रकार अन्य दर्शनवालोंने भी जिनके प्रयोगसे लोग विभ्रममें पड़जाय ऐसे अध्ययन किये हुए कुतर्क या कुयुक्तियोंका उपदेश करके इस जगत्को विभ्रमरूपी महान् अंधकारमें पटक रक्खा है ।

तज्जगदुद्धर्तुं मोहमहान्धकारोपप्लवात् कर्तुं नियतं निश्चितं त्वमेव । नान्यः शक्तः समर्थः । किमर्थमित्थमेकस्यैव भगवतः सामर्थ्यमुपवर्ण्यते ? इति विशेषणद्वारेण कारणमाह—अविसंवादिवचनः । कषच्छेदतापलक्षणपरीक्षात्रयविशुद्धत्वेन फलप्राप्तौ न विसंवदतीत्येवंशीलमविसंवादि । तथाभूतं वचनमुपदेशो यस्याऽसावविसंवा- ॥२१६॥

विषयाणाम्। ६ अन्यत्रेभ्यानेषादेशाद्यर्थाः। पक्षे। प्र चारसेन्द्रादि गतम् न विसंवादपालहिंसादि तथा नाम तस्य आहारादिपाचने सर्वत्रैव।

वैसे चरित्र मालूम अथवा कल्पसूत्रके केवल नाम ही सुने हैं, उनमें कोई भी कथा नहीं है ऐसा निश्चय हो चुका है। बल्कि अब भी ॥७ कल्पसूत्र पूजा करनेके लिये गाये जाते हैं, किंतु अर्थ कोई नहीं देखे। इस दशामें यह कैसे कहा जा सकता है कि आजके पठन विद्यार्थ गलत गये हैं। क्योंकि—आजके ये पठन विद्यमानादिक हैं इसलिये आज ही अलभ्य वस्तुरूप कल्पसूत्र है। पर, सिद्ध, साध्य और व्याख्योंकी शैलीसे भाषके पठन ॥गुरु हटाते हैं इन लेखों चलती पाठिके लिखने पठनोंमें पुस्तक विरोध नहीं है : इसीलिये इन पठनोंको गणिगणके कहा है। एक पक्षका विरुद्ध पठन या पठनेश अशिक्षकोंकी ही यह अविचारितरम्य दशा है।अर्थ।—आजके पठन चाहे वे किसी किसी प्रकारसे भी पठनका यही स्वरूप है। आजके पठनोंसे जिस पक्षका आशय नहीं जानी ॥ पक्षाक्षे विरुद्ध लाल लालसा लालसा लालसे पक्षमें जाने भाव हैं।

कल्पनिर्युक्तिकर्ता नीयगात्यंत्रके सापक्षनिर्युक्ति। "पोगमहाई भोगि पायछापयण गो य परिणेहो। झागउज्झपयतोगं ओ य पिंडो एस धम्मक्खो ।१। अवसाणुहागोग जेण य पाहिएण एवं पियवत्त। अणाएड य गारिसुचे सो पुण धम्मोहिकेसीहि ।२। सोपाइमपच्छमए पंचाइसगाइगो इमं नाणं। पणवीं परीसुतो पन्नो धम्मकप्पसुणेत्र ।३।"

इस लेख शास्त्रका साहस पर्यंतके आशयसे एवं लगता है।—"अवसपणादिक पदवाक्योंका जो नेपेग रूप और अध्ययन नारिक क्रीडी जो अन्या कह उल्लेख है ।१। जिन पाप जिनके लिये जिनमें नाम न बदुकालके कर्मन्, न्यिधन, न मरणके लिए निश्चित पाती है उनको पनेके लेखपर लिए पढ़ते हैं ।२। जिसने बीस पुरु अन्त कर धीर वीर न हो ऐसा पिताके प्यारीकर जिसमें पठन दो कह पर जिसकी इस तरहका पाठेहे ।३।"

गणिगणनरोपाख्या हि न अनुकल्पदरीधाख्यविशुद्धपरिहिन हिति से साहस्रोद्धारपक्षमके एवं आदरणविशुद्धे समर्पा।,

---

। अन्यत्रेभ्यानेषादेशाद्यर्थाः। पक्षे। प्र चारसेन्द्रादि गतम् न विसंवादपालहिंसादि तथा नाम तस्य आहारादिपाचने सर्वत्रैव। ॥ ७ ॥ कल्पसूत्रस्य जेण य पाहिएण एवं पियवत्त। अणाएड य गारिसुचे सो पुण धम्मोहिकेसीहि ।२। सोपाइमपच्छमए पंचाइसगाइगो इमं नाणं। पणवीं परीसुतो पन्नो धम्मकप्पसुणेत्र ।३।

न पुनस्त्वदुद्धर्तुम्। अतः कारणात्। कुतः कारणात्? कुमतध्वान्तार्णवान्तःपतितभुवनाऽभ्युद्धारणाऽसाधारणसामर्थ्यलक्षणात्। हे त्रातस्त्रिभुवनपरित्राणप्रवीण! त्वयि [काङ्क्षाऽवधारणस्य गम्यमानत्वात् त्वय्येव विषये, न देवान्तरे] कृतधियः [करोतिरत्र परिकर्मणि वर्त्तते। यथा हस्तौ कुरु पादौ कुरु इति। कृता परिकर्मिता तत्त्वोपदेशपेशलतत्त्वच्छास्त्राभ्यासप्रकर्षेण संस्कृता धीर्बुद्धिर्येषां ते कृतधियश्चिद्रूपाः] पुरुषाः कृतसपर्याः। प्रादिकं विनाप्यादिकर्मणो गम्यमानत्वात् कृता कर्तुमारब्धा सपर्या सेवाविधिर्यैस्ते कृतसपर्याः। आराध्यान्तरपरित्यागेन त्वय्येव सेवाहेवाकितां परिशीलयन्ति। इति शिखरिणीच्छन्दोऽलंकृतकाव्यार्थः॥

समाप्ता चेयमन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तवटीका॥

---

अन्य धर्मोंके प्रवर्तक लोग कष, छेद, ताप रूप तीन परीक्षाओंद्वारा विशुद्ध वचन बोलनेवाले नहीं है इसलिये वे लोग जगत्को महामोहमयी अंधकारमें गिरा तो सकते हैं परंतु उनसे जीवोंका उद्धार होना असंभव है। नाना प्रकारके कुमतरूपी समुद्रमें पड़े हुए लोगोंका उद्धार करनेमें असामान्य सामर्थ्यके धारक होनेसे; हे त्रिजगदुद्धारक प्रभो! अन्य देवोंकी नहीं किंतु आपकी ही विद्वानोंने सेवा करना प्रारंभ किया है। 'कृतधियः' शब्दका अर्थ विद्वान् है। क्योंकि; जिनमें तत्त्वोपदेश भलेप्रकार हो ऐसे शास्त्रोंका अभ्यास अत्यंत करनेसे जिनकी बुद्धि निर्मल होगई है उनको 'कृतधियः' या ज्ञानी कहते हैं। यहांपर 'कृ' धातुका अर्थ परिकर्म है। जैसे 'हाथोंको कर, पैरोंको कर' इन वाक्योंका अर्थ हाथ पैरोंको ठीक करना होता है। सेवा करना प्रारंभ किया है ऐसा अर्थ 'कृतसपर्याः' शब्दका होता है। इसमें जो कृतशब्द है उसका अर्थ प्रारंभ करना है। क्योंकि; 'प्र' आदिक कोई उपसर्ग न लगानेपर भी 'कृ' धातुका अर्थ यहां प्रारंभ करना है ऐसी प्रतीति वहां हो जाती है। विद्वानोंने आपकी ही सेवा करना विचारा है; अन्य किसीकी नहीं ऐसा निश्चय काकुरूप ध्वनिसे होजाता है। अर्थात्—विद्वानोंने दूसरोंकी आराधना छोड़कर आपकी ही सेवा करनेमें बुद्धि लगाई है। इस प्रकार शिखरिणी छन्दवाले इस अंतिम काव्यका अर्थ पूर्ण हुआ।

इति स्याद्वादमंजरीहिंदीभाषानुवादः।

---

## ॥ श्रीटीकाकारस्य प्रशस्तिः ॥

---

देवानुजश्चलेकुलेऽजनिष्ट पालपिच्चाभ्यसूत्रो हेमाचार्यागुरुश्चपलमनहरैः पद्यैः गद्यैः गद्यैः। तेनो पूर्णोदयसुत-
मयस्यायःसूत्रेऽस्मिन् पद्यव्याख्यामेन विना विनागमपुरस्सिद्धि हिंदुस्तीमदः ॥ ६ ॥ श्रीमुनिचन्द्रपदोर्मन्त्रात्।
श्रीहेमसूरिसिंहे गणीक्ष्यविलोक्यो मयचक्षु हरिः सहस्रे गमे । ग्रन्थीयः सत्यवादनसद्गुणाकृतेसपुरुषेण ।ग्रन्थ
गुरुपादेशुपणिपत्या सिद्धाङ्गुलस्तोत्रेण ॥ ८ ॥ पन्यान्यपारुत्तुलसंगातचेतःपरिगुम्फोपसेपक्षलिन्धिनिकायपर्यैः ।
दृष्ट्वा गणान्तिगाजिनलुतेषुभिमेनां सङ्घाकिंगाकमहो मुदये भवन्तु ॥ ९ ॥ ५मारनिसन्त्वविरुद्धमाय कलिंपि
पुरे मतिमोन्यवेशात् । तमदर्थमुत्सार्य नदार्थनिष्ठा। मसादमाधाद विशोधयन्तु ॥ ५ ॥ कवर्यामेन सुधाशुना
गुरविति चिलेष्यनिमाल्के पदेव ब्रलिगतागत्रकुर्यालिंगेंगपुरस्सम्मे । ब्रि नामी विदुषाः कृतेति पद्यगोद्धार
पदीर्घ कृत्वा धीलब्धः पद्यपद्धेन गाजविरगां सेवकशोधयिनीम् ॥ ५ ॥ मार्केन्द्रगाक्षगोर्विन्त्रस्तेरन्तेक्षरोस्तु-
मात । ते विक्रमान्ता नन्धापुस्तदपत्रपपुरक ६ ॥ पुष्पक् । श्रीमल्लिषेणसूरिमित्रकारे तत्पदगणविमलसिद्धि।
गुणोदये मनुरपिमित्रवाक्यले दीपमहीपे शनौ ॥ ७ ॥ पीत्विन्द्रभूतीगां सङ्घाक्योत्थिमोरमा । सुरागुनानन्तु
लाभ पूर्णिः आदृष्टपत्रप्रति ॥ ८ ॥ विक्रमेण चिल निर्जेपाजिनगुला पौष्टेन्द्रचन्द्रपमी रुद्रपगनुलिपूचिन्तेविलिसि
पत्रकिनेना पिस्तृता । लिखेतु गुरुपूपरो निजनेत्रा रक्षार्थे पत्रलाभे नक्षत्रफलकाकृचिमे ब्रह्मन्ति: सारन्यप
सम्पाद् पटः ॥ ९ ॥

पालपिच्चैर्ये नाम्ने अनुवेचाले जिन पद्युओंके प्रिंके हेतुकरी तेजो पद्यालाम्ब तथा सीहेमचंद्राचार्यके अवतरो। उत्तम कृपा
पेणः साम्प्रतिमाने जिन चैपयान है यन गद्युओंको तुलेन करी। चोरेवे मत नहीं होसकर है एसलिये सेवकवर्गका पत्मंक तेन
॥मे निवासगली पुस्तो भाने जिना पर्यालक्ष शेषाभ्रि है । १ । व्याख्याके समान चतुर्विधसंघी। करके पत्रक भगवान्

श्रीहेमचंद्राचार्यकी वाणीका गंभीर अर्थ देखनेकेलिये जो मेरी दृष्टि समर्थ हुई तथा बड़े बड़े सिद्धान्तोंका आदरपूर्वक ग्रहण करनेमें उपस्थित हुए प्रबल विघ्नोंका नाश हुआ वह सर्व गुरुके चरणकमलोंकी धूलिरूप सिद्ध अंजनका ही माहात्म्य है ।२। जुदे जुदे शास्त्ररूपी वृक्षोंमें लगे हुए प्रमेयरूपी पुष्पोंके गुच्छोंसे बनाई हुई मालाके समान अंतिमजिनस्तुतिकी इस टीकाको देखकर विशुद्धमति सज्जन अपने हृदयमें धारण करें । ३ । प्रमाण अथवा सिद्धान्तके विरुद्ध जो कुछ मैंने यहांपर अल्पमति होनेके कारण कहा हो उसको सरलचित्त सज्जन वैरभाव न रखकर प्रसन्नतापूर्वक शोधलें । ४ । तीनों लोकमें विस्तरी हुई बुद्धि देखकर जिसके विषयमें लोग यह अनुमान करते हैं कि पृथ्वीके ऊपर यह ( हेमचंद्राचार्य ) देवताओंका गुरु बृहस्पति ही है । और जिसके निकले हुए वचनोंको यह सुधा है ऐसा प्रशंसते हुए ये विद्वान् संवादसे पुष्ट हुई उस वाणीकी अत्यंत ख्याति करते है । ५ । तथा नागेन्द्र गच्छरूपी विष्णुके गलेको शोभित करनेवाले कौस्तुभ मणिके समान ऐसे लोकपूज्य श्रीउदयप्रभ सूरि जयवंते प्रवर्तें । ६ । आकाशरूपी इनके पदको सूर्यके समान प्रकाशित करनेवाले श्रीमल्लिषेण सूरिने यह वृत्ति शकाब्द १२१४ के दिवालीके दिन पूर्ण की ।७। श्रीजिनप्रभसूरिकी सहायतासे उत्पन्न हुआ है सुगंध जिसमें ऐसी यह स्याद्वादमंजरी-नामक वृत्ति सत्पुरुषोंके कर्णोंको मंजरीके समान शोभित करे । ८ । विजय करनेसे जिनेन्द्रकी तुलना रखनेवाले श्रीहेमचंद्र प्रभुकी मैंने उनकी बनाई हुई स्तुतिकी वृत्ति बनानेके बहानेसे भक्ति की है इसलिये अपनी वाणीके गुणदोषोंका निर्णय करानेके लिये मैं सज्जनोंसे प्रार्थना नहीं करता हूं । क्योंकि; बहुमति होना ही वाणीका अकृत्रिम भूषण है और वह भूषण इसमें भले प्रकार विद्यमान है ।

इति श्रीटीकाकारप्रशस्तिः ।